

सद्धर्ममण्डनम्

पूज्य श्री हुम्मीचन्दजी महाराजके पाटानुपाठ पर विराजमान
प्रतिपादिमानमहर्षेन विद्वद्भ्यः १००८ पूज्य श्री
जगद्गुरु लालजी महागुरु द्वारा
विरचित ।

सरदार सहर निवासी तनसुखदास फूसराज दृगढने
छपाकर प्रकाशित किया ।

मन्त्रजगजोवरनखणदयद्वयाए पावयण
भगवता सुकहियं

वीर निर्माणद्वय २५५८ ई. १९८८
रानीजी (रानीजी)

विश्वमित्र कार्यालय
१४१ प. रामजी स्ट्रीट, कलकत्ता ।

प्रथमावृत्ति २०००]

मूल्य ३।।

प्रस्तावना ।

—*—

यस्य ज्ञान मनत वस्तुविषय य पूज्यते देवते
नित्य यस्य वचो न दुर्नय कृते कोलाहलैलुप्यते
रागद्वेषमुत्पदिषाथ परिपत् क्षिप्ता क्षणागेन सा
सश्रीवीरविभु विधूतकलुषा बुद्धि विवत्ता मम ?

जिसका ज्ञान अनंत वस्तुओंको विषय करता है, देवता जिसकी पूजा करते हैं, जिसका वचन दुर्नयकृत कोलाहलोसे लुप्त नहीं होता, और जिसने रागद्वेष प्रमुल शत्रु-समूहको क्षणभरमें भगा दिया था वह श्री वीर प्रभु हमारी बुद्धिको निर्मल करें ।

प्रिय वाचकशृणु ।

इस समारंभमें धर्मके समान दूसरा कोई श्रेष्ठ और उपकारक वस्तु नहीं है । धर्म ही प्राणियोंको विपत्तिमें सहायता देने वाला सच्चा मित्र है । सासारिक सभी पदार्थ शरीर के साथ ही इस लोकमें रह जाते हैं पर धर्म परलोकमें भी जीरके साथ जाता है और विपत्तिसे दृढ़ कर जीवको सुख शांति देता है । जैसे कि कहा है—

“धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे भार्या गृह द्वारि जना श्मशाने । देहक्षिताया परलोक मार्गे धर्मानुगो गच्छति जीव एक ”

अर्थात् धन पृथिवी पर, पशु गोष्ठमें स्त्री, घरके द्वार पर और बन्धु बान्धव श्मशानमें, देह चिता पर रह जाते हैं पर एक धर्म इस जीव के साथ परलोक में भी जाता है । अतः जो मनुष्य धर्मका संग्रह नहीं करता, उसको पशुकी उपमा दी गयी है । क्योंकि पशु और मनुष्योमें यही अन्तर है कि पशु धर्मका संग्रह नहीं कर सकता और मनुष्य कर सकता है ।

बड़े बड़े ऋषि महर्षियोंने मनुष्योंके कल्याणार्थ धर्माचरण करनेका उपदेश किया है और धर्मकी बड़ी विशद व्याख्या की है । शास्त्र धर्मकी व्याख्या मात्र हैं । जैसे वस्त्र तन्तुमय और घट मृण्मय होता है उसी तरह शास्त्र भी धर्ममय हैं । शास्त्रोंमें अनेक प्रकार के धर्म बतलाए हैं पर सब धर्मोंमें श्रेष्ठ और सबका मूलभूत धर्म जीवरक्षा रूप धर्म कहा गया है । जैनागमका तो इसीके लिये निर्माण ही हुआ है । प्रश्न व्याकरण सूत्रके प्रथम संवर द्वारमें लिखा है कि “सर्व जग जीव रक्षण दयकृपाय पात्रयण भयया सुकहिय”

अर्थात् जगत्के सम्पूर्ण जीवोंकी रक्षा रूप दयाके लिये भगवान्ने प्रवचन कहा है। इस मूलपाठमें जीवरक्षा रूप धर्मके लिये जैनागमकी रचना होना बतलायी गई है। अतः जीवरक्षा रूप धर्म जैन धर्मका प्रधान अङ्ग है। उस जीवरक्षाको जो धर्म मानता है और विधिवत् उसका पालन करता है वही तीर्थङ्करकी आज्ञाका आराधक पुरुष है। इसके विपरीत जो जीवरक्षाको धर्म नहीं मानता किन्तु इसको पाप अथवा अधर्म बतलाता है वह धर्मका द्रोही और जीवोंकी आज्ञाका तिरस्कार करने वाला है।

वेचल जैनधर्म ही जीवरक्षाको प्रधान धर्म नहीं बतलाता किन्तु दूसरे मतवाले शास्त्र भी इसे सर्वोत्तम और सर्वप्रधान धर्म मानते हैं। महाभारत शान्तिपर्वमें लिखा है कि—“प्राणिना रक्षणं युस्तं मृत्युभीतादि जन्तवः आत्मौपम्येन जानन्निरिष्ट सर्वस्य जीवितम्”

“दीयते मार्ज्यमाणस्य कोटिं जीवितमेव वा। धनकोटिं परित्यज्य जीवो जीवितुं मिच्छति”।

जीवाना रक्षणं श्रेष्ठं जीवा जीवितं काक्षिण
तस्मात्समस्तदानेभ्योऽभयदानं प्रशस्यते
एकत काश्चनो मेरुर्द्वुत्रा वसुन्धरा
एकतो भय भीतस्य प्राणिनः प्राणरक्षणम्’

अर्थात् जैसे अपना जीवन इष्ट है उसी तरह सभी प्राणियोंका अपना अपना जीवन इष्ट है, सभी जीव मरनेसे डरते हैं इसलिये सभीको अपने समान जान कर उनकी प्राणरक्षा करना चाहिये।

मारे जगने वाले पुरुषको एक तरफ करोड़ों धन दिया जाय और दूसरी ओर उसका जीवन दिया जाय तो वह धन छोड़ कर जीवनकी ही इच्छा करता है।

जीव रक्षा करना सबसे प्रधान धर्म है। सभी जीव जीवित रहना चाहते हैं। इसलिये सभी दानोंमें अभयदान यानि जीवरक्षा करना श्रेष्ठ है।

एक तरफ सोनेका पर्वत मरु और बहुत बड़ा पृथ्वी रख दी जाय और दूसरे तरफ मृत्युभीत पुरुषका प्राणरक्षण रूप धर्म रख दियाजाय तो प्राणरक्षा रूप धर्म ही श्रेष्ठ सिद्ध होगा।

इसी प्रकार विष्णु पुराणमें भी लिखा है—

“क पशूना सहस्राण योद्विजन्म प्रयच्छति
एकस्य जीवितं दशान्तच तुल्यं युधिष्ठिर”

अर्थात् जो पुरुष हजार गायें ब्राह्मणों को दान देता है वह यदि एक प्राणी को जीवन दान देवे तो उसके इस कार्यके तुल्य पहला कार्य नहीं है यानी जीवनदान देना गोदानसे भी श्रेष्ठ है ।

इत्यादि अन्य मतानुसारी शास्त्रोक्त भी जीवरक्षा को सर्वोत्तम धर्म माना है और जैनागमका तो यह प्राण ही है । पर आजकल हुण्डा अवधर्षिणी कालके प्रभावसे श्वेत-स्वर जैन धर्मके अन्दर एक 'तेरह पन्थ' नामक सम्प्रदाय प्रकट हुआ है । यह सम्प्रदाय जैनधर्मके मूल भूत जीवरक्षा धर्मको विनाश करके जैनधर्मका मूलोच्छेद करना चाहता है । इसके सिद्धांतोंके नमूने कुछ यहाँ बनलाये जाते हैं ।

(१) गायोंसे भरे हुए बाड़ेमें यदि आग लग जाय और कोई दयावान् पुरुष उस बाड़े के द्वारको खोल कर गायों की रक्षा करे तो उसे तेरह पन्थी एकान्त पापी कहते हैं ।

(२) भारसे पूर्ण गाड़ी आ रही है और मार्गमें कोई बालक सोया हुआ है वह बालकको कोई दयावान् पुरुष उठा लेवे तो इस कार्यको तेरह पन्थ सम्प्रदाय एकान्त पाप बतलाता है ।

(३) तीन मज्जिल पर से कोई बालक गिरता हो तो उस को ऊपर ही पकड़ कर बचाने वाले दयावान् पुरुष को तेरह पन्थी एकान्त पाप करने वाला बतलाते हैं ।

(४) पञ्चमहाव्रतधारी साधु के गले में किसी दुष्ट के द्वारा लगायी हुई फासी को यदि कोई दयालु पुरुष खोल देवे तो उस में तेरह पन्थी एकान्त पाप होना बतलाते हैं ।

(५) कसाई आदि हिंसक प्राणीके हाथसे मारे जाते हुए बकरे आदि की प्राण रक्षा करनेके लिये यदि कोई कसाईको नहीं मारनेका उपदेश देवे तो तेरह पन्थी उसे एकान्त पाप कहते हैं ।

(६) किसी गृहस्थके चौरके नीचे कोई जानवर आ गया हो तो उसको बतलाने वाले दयावान् पुरुषको तेरह पन्थी एकान्त पाप होना कहते हैं ।

(७) तेरह पन्थके साधुओंके सिखाय संसारके सभी प्राणियों को तेरह पन्थी "कुपात्र" कहते हैं ।

(८) तेरह पन्थके साधुओंके सिखाय दूसरेको दान देना, मांस भक्षण मद्यपान और वेश्यागमनके समान एकान्त पाप तेरह पन्थी बतलाते हैं ।

(९) पुत्र अपने माता पिताजी और स्त्री, अपने पतिकी सेवा शुभ्रूपा करे तो इस कार्यको तेरह पन्थी एकान्त पाप कहते हैं ।

(१०) किसी गृहस्थके घरमें आग लग गयी हो और गृहस्थका परिवार घरका द्वार बन्द होनेके कारण बाहर नहीं निकल सकता हो किन्तु घरके भीतर आगमें जलते हुए मनुष्य, स्त्री और बच्चे आदि आर्तनाद करते हों तो उस घरका द्वार खोल कर उन प्राणियोंकी रक्षा करने वालेको तेरह पन्थी एकान्त पाप कानेवाला कहते हैं और उस घरका द्वार नहीं खोलना धम बतलाते हैं। जैसे कि भीषणजीने लिखा है—

“गृहस्थरे लायो लायो घर वारे निकलियो न जायो। बल्ला जीव बिल बिड बोले साधु जाई किमाह न खोले”

यही भीषणजी इस तेरह पन्थ सम्प्रदायके प्रवर्तक हुए हैं। इनका धृतान्त दीप विजयजीकी चर्चामे इस प्रकार लिखा है।

मारवाड देशमे ‘कण्ठालिया’ नामक ग्रामका रहने वाला ओसवाल सकलेश्वर गोत्री भीषणचन्द नामक व्यक्तिले सम्बत् १८०८ मे वाईस सम्प्रदायके पूज्य आचार्य श्री रघुनाथजी महाराजसे दीक्षा ग्रहण की। पश्चात् शहर मेरताके अन्दर श्री रघुनाथजी महाराज, भीषणचन्दजीको भगवती सूत्र पढ़ाने लगे। भीषणजीको कितनी बातें जचतीं और कितनी नहीं जचतीं। यह चेष्टा श्रावक समर्थमलजी धाडीवालने देखी। उक्त श्रावकने पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजसे कहा कि आप भीषणजीको भगवती सूत्र पढ़ा कर सर्पको दूध पिला रहे हैं। यह भीषणजी आगे चल कर निन्दित होगा और उत्सृज प्ररूपणा करेगा।

यह सुन कर पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजने कहा कि पहले भी भगवान् महावीर स्वामीने गोशालक और जामाली को पढ़ाया था और वे निन्दित हुए, यह उनके कर्मोंका दोष था।

इस प्रकार चौमासे भरमे सम्पूर्ण भगवती सूत्र बचवा कर चौमासा उतरने पर पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजने भीषणजीसे कहा कि पुस्तक यहां रख कर जाना। पर भीषणजीने यह बात नहीं मानी। वह भगवतीका पुस्तक लेकर बड़ासे चल दिये। पश्चात् पूज्य श्री रघुनाथजीने दो शिष्योंको भेज कर भीषणजीसे पुस्तक मंगवाई। वहीं पर भीषणजीका पूज्य श्री रघुनाथजी महाराज पर क्रोध उत्पन्न हुआ। और भीषणजीने निश्चय किया कि मैं नवीन मत निकाल कर पूज्य श्री रघुनाथजीको अपमानित करूँ।

यह विचार कर भीषणजीने मेरतासे बिहार का मेनाड़में राजनगरके अन्दर धातुर्मास्य किया। वहाँ सूत्र वाचते हुए भीषणजीने यह प्ररूपणा की कि साधु मुनिराज को किसी व्रत स्नान आदि जोबोकी हिंसा नहीं करनी चाहिये और करानी भी नहीं चाहिये तथा करते हुए को अच्छा भी न समझना चाहिये। तथा किसी प्राणीको बाधना

नहीं चाहिये तथा पधना भी नहीं चाहिये और वाधते हुए को अच्छा भी नहीं समझना चाहिये ।

एव किसी बाधने हुए जीवको रक्षार्थ छोड़ना नहीं चाहिये छोड़ाना भी नहीं चाहिये और छोड़ने वालेको अच्छा भी नहीं जानना चाहिये । यह मुनिराजका आचार है इस प्रकार श्रावक भी तीर्थकरका लघु पुत्र है और देशजनी है इस लिये श्रावकको भी बाधे हुए प्राणीको रक्षार्थ नहीं छोड़ना चाहिये और छोड़ाना भी नहीं चाहिये तथा छोड़ने वालेको अच्छा भी नहीं समझना चाहिये ।

कोई किसी जीवको मारता हो तो छुड़ानेमें अन्तराय लगता है तथा छुड़ानेक बाद जो वह जीव हिंसा, मैथुन, पाप आदि कार्य करता है वह सन पाप छुड़ानेवालेके शिर पर लगता है । तथा गाय बैल आदिसे बाधा भरा हुआ है और उसमें यदि बाग लग गई हो तो उध बाड़ेका द्वार खोल कर उन पशुओंकी रक्षा नहीं करनी चाहिये । क्योंकि मरनेसे बचे हुए वे गाय बैल आदि मैथुन और हिंसा आदि पाप करेंगे वह सन पाप उनकी रक्षा करने वालेको लगेगा । तथा हिंसकसे मारे जाने वाले बकरे, भैंसे आदि जीवित रह कर जो पाप करते हैं वह पाप छुड़ाने वालेको लगता है । यह प्ररूपणा भीषणजीने की थी ।

भीषणजी और जयमलजीके शिष्य वक्तोजी तथा वत्सराजजी ओसवाल और लालजी पोरवाल इन चारों जनोने मिल कर यह प्ररूपणा की थी । यह बात पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजने सौजन्यसे चातुर्मास्यमें सुनी और उन लोगोकी विपरीत श्रद्धा हुई जानी । चातुर्मास्य उतरने पर भीषणजी पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजके पास गये परन्तु पूज्य श्रीने भीषणजीको उत्सूत्र प्ररूपी जान कर आदर नहीं दिया । और शामिलमें आहार भी नहीं किया । यह देख कर भीषणजीने पूज्य श्रीजीसे पूछा कि मैंने क्या अपराध किया है जिससे आप नाराज हो गये हैं । पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजने कहा कि तुमने उत्सूत्र प्ररूपणा की है यही अपराध है । फिर पूज्य श्रीजीने भीषणजीको अच्छी तरह समझा कर पणमासिक प्रायश्चित्त देकर आहार पानी शामिलमें कर लिया । परन्तु भीषणजीके शिष्य भारीमलने अपनी यह श्रद्धा नहीं छोड़ी । पश्चात् पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजने भीषणजीसे कहा कि जयमलजीके शिष्य वक्तोजीको, वत्सराज ओसवालको, लालजी पोरवालको तथा राजनगरके श्रावकोंको तुमने ही विपरीत श्रद्धा दी है इस लिये वह श्रद्धा तुमसे ही मिटेगी तुम-उनको समझाओ । ऐसी गुरुकी आज्ञा होने पर भीषणजी राजनगर आये । वहां आने पर भीषणजीको वक्तोजीने बहुत उपालम्भ दिया और कहा कि हम सबोंने मिल कर एक नवीन पन्थ चलाना सोचा था लेकिन तुम

रघुनाथ जीके पास जाकर उनसे मिल गये। इत्यादि कई कर वक्तोजीने भीषणजीका मत फिरो दिया। अब भीषणजीकी श्रद्धा फिर पूर्वन्तु ज्योंकी त्यों हो गई। पश्चात् दो तीन मासके बाद भीषणजी पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजके पास आये। और पूज्य श्री ने फिर उनका आहार अलग कर दिया। इसके बाद भीषणजी पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजके गुन भाई पूज्य श्री जयमलजी महाराजके पास चले गये। इसी कारण पूज्य श्री रघुनाथजी महाराज और जयमलजी महाराजमें मतभेद उत्पन्न हुआ और छ मास तक यह झंझट चलता रहा परन्तु भीषणजीने अपना मत नहीं छोड़ा।

इसके अनन्तर श्री रघुनाथजी महाराजने गोशालकका दृष्टान्त देकर बगड़ी गांव में मन्वत् १८१५ बैशाख सुदी नवमी शुक्रवारके रोज भीषणजीको गच्छसे अलग कर दिया।

पश्चात् भीषणजी, वक्तोजी, रूपचन्दजी, भारमलजी और गिरिधरजी आदि तेरह जनोंने मिल कर नवीन पन्थ चलाया। तेरह जनोंने इसे चलाया था इसलिये इसका नाम 'तेरह पन्थ' हुआ। ये लोग प्रत्येक मामोमें धूम धूम का अपने मतका प्रचार करने लगे। और शास्त्रके ६५ बोलोंका अर्थ उल्ट पण्डित कर दिया। और शास्त्रमें जहा जहा जीव रक्षा करनेका पाठ देखा उसके अर्थ देर दिये। इन लोगोंने यह प्ररूपणा की थी कि जीव रक्षा आदि करनेमें कोई लाभ नहीं है। ये मन सासारिक कर्म्म हैं।

पहले पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजने भीषणजीको समझाया था कि भगवती सुत्र के पन्द्रहवें शतकमें गोशालकको वैश्यायन बाल तपस्वी तेजो लेख्याके द्वारा जला रहा था वहा भगवान् महावीर स्वामीने अनुकम्पा करके शीतल लेख्याके द्वारा गोशालक को बचाया था। इस लिये सिद्धान्तमें अनुकम्पा करना परम धर्म माना है उसको तुमने क्यों उठाया है।

यह सुन कर भीषणजीने कहा कि वीर समझदार होते तो छद्मस्थपनेमें गोशालकको दीक्षा क्यों देते, गोशालकको तिल क्यों बचाते। वह तिल नहीं बचाते तो गोशालक उसे क्यों उखाड़ फेंकता। तथा वीर गोशालकको तेजो लेख्या क्यों सिखाते। इस तेजो लेख्याके सिद्धान्तसे गोशालकने सुनश्चर और सर्वानुभूतिको जला दिया तथा स्वयं वीरको भी उस तेजो लेख्याके तापसे छ महीने तक रक्त व्याधि भोगनी पड़ी थी। इत्यादि बहुतसे अनर्थ हुए। यदि वीर समझदार होते तो ऐसा अनर्थकर कार्य क्यों करते। किन्तु वीर चूक गये, उनमें छ लेख्यायें और आठ कर्म थे। यह दृष्ट पकड़ कर भीषणजीने वीर भगवान्के प्रति बहुत कुछ अवर्ण वाद कहा।

इसके अनन्तर फिर गुरुने समझाया कि तीर्थकर नीच कुलमें उत्पन्न नहीं होते और उनका गर्भापहार नहीं होता तथा केवल ज्ञान होने पर उनको उत्कृष्ट रक्त व्याधि

नहीं होती। इत्यादि जो दस आश्चर्य हुए हैं वे कभी नहीं होते पर किसी भावी योगसे हुए हैं। इस लिये गोशालक और भगवान् महावीर का पूर्वभवका चैर था उस चैरका फल भोगे बिना वह किस प्रकार मोक्ष पाते ?। तथा वह छ महीने तक रक्तज्याधि भोगे बिना किस प्रकार मुक्त होते ?। २३ वे सयोगी केवली गुणस्थानमें मोक्ष जानेके समय सात कर्म सम्पूर्ण होते हैं और वेदनीय कर्म बहुत होते हैं। केवल समुद्रघातको प्रकट करके वेदनीय कर्मों का क्षपण और आठ कर्मों को पूर्ण करके केवली मोक्ष जाते हैं। इसलिये गोशालक कृत्न वेदना और उसके चैरको सम्पूर्ण किये बिना भगवान् महावीर किस प्रकार मोक्ष जा सकते थे। यह भावी भाव था। इसी कारण भगवान् धीने गोशालकको लेज्या सिप्राई थी अतः धीर भूले यह शब्द तुम मत कहो। इस प्रकार पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजने भीषणजीको बहुत कुछ समझाया पर भीषणजीने अपना हठ नहीं छोड़ा।

फिर पूज्य श्री रघुनाथजीने कहा कि उत्सृज प्ररूपणा करके तुम अनुकम्पा मत उठाओ। उपासक दशाग सूत्रमें श्रेणिक राजाने अनुकम्पा कर कसाई बाड़ा उठा दिया था और जीव नहीं मारनेका दिंडोग पिटवाया था। तथा राजप्रशनीय सूत्रमें प्रवेशी राजाने बारह घन धारण करके अपनी सपत्तिके चतुर्थभागसे अनुकम्पार्थ दानशाखा बनवाई थी। फिर उत्तराध्ययन सूत्रमें श्री नेमिनाथजीने विवाहार्थ जाते हुए पशुओंसे भरा हुआ बाड़ा देखा और अनुकम्पा कर उन्हें दूड़ा दिया। तथा ठाणाङ्ग सूत्रमें दश प्रकारके दान कहे हैं उनमें अनुकम्पा दानका वर्णन है। इस प्रकार शास्त्रमें ६५ जगह अनुकम्पा सम्बन्धी पाठ आये हैं उन पाठोंको चलाकर भी भीषणजीको समझाया पर भीषणजीने अपना हठ नहीं छोड़ा।

यही भीषणजी तेरह पन्थ सम्प्रदायके प्रवर्तक थे। इनका सम्प्रदाय शास्त्र विरुद्ध होनेके कारण यद्यपि क्षण भर भी ठहरने योग्य न था तथापि जनताके अन्दर मूर्खताका आधिपत्य होनेसे और हण्डा अवसर्पिणी कालक प्रभावसे इनका सम्प्रदाय चल निकला। और इस सम्प्रदायके चलनेसे जनताके अन्दर जीव रक्षा करनेमें एकान्त पापका विश्वास उत्पन्न हुआ।

इस भीषणजीके चौथे-पाठ पर जीतमलजी नामक एक व्यक्ति आचार्य हुए। इन्होंने दान दयाका सर्वनाश करनेके लिये भ्रमविच्छेदन नामक एक मथरवा और उसमें शास्त्रके अर्थका अनर्थ करके मूर्ख जनतामें भीषणजीके सिद्धान्तोंको पुष्ट करनेका पूर्ण प्रयास किया। जहा जहा भीषणजीकी श्रद्धा शास्त्रसे विरुद्ध होती थी वहा वहा इन्होंने शास्त्रका अर्थ बदल दिया है। और जहा अर्थ नहीं बदल सका वहाका पाठ ही नहीं

लिखा। तथा कहीं अपूर्ण पाठ लिख कर जनतामें भ्रम खण्डन करनेके बहानेसे भ्रमका प्रचार किया। इस प्रकार जीतमलजीने भ्रमविध्वसनमें दान दया आदि पवित्र धर्मों का उच्छेद करनेके लिये पूर्ण प्रयत्न किया है। इस ग्रंथके प्रचार होनेसे जनताके मन्दिर ऐसा अज्ञान फैल गया है कि थली प्रान्तमें रहने वाले तेरह पन्थी ओषवाल बन्धुओंने जीवरक्षा रूप धर्म का बहिष्कार सा कर दिया है। इस अनर्थ परम्पराको घटते देख कर जनताके कज्याणार्ग पूज्य श्री हुकुमीचन्दजी महाराजके पटानुपाट पर विराजमान १००८ पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराजने बहुत परिश्रम के साथ यह सद्धर्ममण्डन नामक ग्रंथ बनाया है।

इस ग्रंथमें मूल सूत्र और उनसे मिलती हुई टीका, भाष्य, चूर्णी और कहीं कहीं मूलानुसारणी टिप्पणोंका आश्रय लेकर सत्य धर्मको प्रकट करनेकी पूर्ण चेष्टा की गई है। इस ग्रंथको मनन पूर्वक अवलोकन करनेसे शास्त्र विरुद्ध तेरह पन्थियोंका सिद्धान्त साफ साफ मिथ्या नजर आने लगता है और जीवरक्षा तथा दान आदि धर्म, शास्त्रीय प्रमाणित होते हैं। अतः सत्य धर्म ज्ञान की इच्छा करने वाले पुरुषोंको अवश्य यह ग्रंथ देखने योग्य है और वाईस सम्प्रदायके आचर्यों के लिये तो इसे देखना परम आवश्यक है। यद्यपि तेरह पन्थके शास्त्र विरुद्ध सिद्धान्तोंका खण्डन करनेके लिये अनेक सुनि महात्माओंने परिश्रमके साथ अनेक ग्रंथ बनाये हैं और तेरह पन्थकी कुयुक्तियोंसे चतुर्विध सचक्री बहुत ही रक्षा की है। इस उपकारके लिये उन महात्माओंका यह वाईस सम्प्रदाय कर्णी है तथापि उन महात्माओंके ग्रंथ पुरानी भाषामें लिखे हैं और कई जगह दृष्टि दोपसे उनमें त्रुटियाँ भी रह गई हैं तथा कहीं कहीं उनमें अशुद्ध टिप्पण भी छप गयी हैं इस लिये आधुनिक प्रचलित भाषामें इस सर्वोत्तम ग्रंथको निकालनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई।

इस ग्रंथके बनानेमें सबसे प्रधान कारण यह है कि पूर्ण महात्माओंके बनाये हुए ग्रंथोंमें इस “भ्रमविध्वसन” का पूर्ण खण्डन नहीं आया है। क्योंकि वे सब ग्रंथ भ्रमविध्वसनके उपनेसे पहलेके ग्रंथ हैं। इस लिये उन ग्रंथोंमें भ्रमविध्वसनके कुयुक्तियों का खण्डन नहीं होना स्वाभाविक है। इस त्रुटिको दूर करनेके लिये यह ग्रंथ बनाना आवश्यक हुआ। परन्तु किसी अच्छे कार्यके लिये सुभवसरका मिलना सुलभ नहीं है। सौभाग्यवश १००८ पूज्य श्री जवाहिर लालजी महाराजका भीनासरमें सम्यक् १९८४ में चातुर्मास्य हुआ। महाराज साहेबसे इस कार्यके लिये सहजकी पहलसे ही प्रार्थना थी और महाराज साहेब स्वयं भी इस कार्यको करना चाहते थे सुभवसर देख कर महाराजने घोर अन्धकारमें पड़ी हुई असन्मार्गमें प्रवृत्त जनताको सत्पथमें प्रवृत्त करनेके लिये

इस प्रत्यक्ष भीनासरमे ही बनाना आरम्भ कर दिया। और चातुर्मास्य भर भीनासरमे यह कार्य हुआ। पश्चात् सद्ध की प्रार्थनासे पूज्यश्रीका थली प्रान्तमें विहार हुआ वंश पर पोर अज्ञानान्धकारमे पड़ी हुई जनताको देख कर इस प्रत्यक्षो बनानेमें पूज्यश्रीकी और भी प्रबल इच्छा हुई। और सरदार शहरके चातुर्मास्यमे पुन यह कार्य प्रचलित किया पर सरदार शहरके चातुर्मास्य समाप्त होने पर पूज्यश्री का भ्रामानुमाम विहार होनेके कारण यह कार्य चूरुके चातुर्मास्य तक रुका रहा। पश्चात् चूरुके चातुर्मास्यमें होकर श्रीकानेरके चातुर्मास्यमे सम्भूत १९८७ के अन्दर यह कार्य समाप्त हुआ।

बन्धुओ ?

भगवान् महावीर स्वामीसे लेकर आज तक जितने आचार्य्य (हुए हैं किसीने भी जीवरक्षाको पाप नहीं बतलाया है किन्तु सभीने इसे धर्म कहा है। पर आज तेरह पन्थ सम्प्रदाय इसे पाप कहता है यह इसकी अपनी कपोल कल्पना है शास्त्रकी यह राय नहीं है। तेरह पन्थियोंसे जन पूछा जाता है कि तुम्हारे समान प्ररूपणा किसी पूर्वाचार्य्यने पहले कभी की हो तो बतलाओ ?। इसका यथार्थ उत्तर तेरह पन्थियोंसे कुछ भी नहीं दिया जाता किन्तु भोली भाली आवक मण्डलीको बहकानेके लिये वे कहते हैं कि हमारी अद्वा ही पुरानी है और यही सच्चा जिनभाषित धर्म है परन्तु काल पाकर यह नष्ट हो गया था। पश्चात् हमारे पूर्वाचार्य्य भोषणजीने इसका पुनरुद्धार किया है। यह कह कर अन्यविश्रामी जनताको वे भूलाये देते हैं। परन्तु बुद्धिमानों को निर्मूल तथा शास्त्र-विरुद्ध इनकी बातें नहीं माननी चाहिये।

साक्षात् भगवान् महावीर स्वामीने भगवती सुत्र शतक २० उद्देश ६ के मूलपाठ में चतुर्विध सद्धको लगातार २१००० वर्ष तक चरुता रहता बतलाया है इसलिये तेरह पन्थियों का तीर्थक्षिण्डेद बतलाना एकन्त मिथ्या है। भगवती सुत्र का वह मूल-पाठ यह है—

जम्बू दीपेण भन्ते ? दीपे भारए वासे इमीसे ओसप्पिणीए देवानुप्पियाणं केन तिय काल तित्थे अणुसिज्जिस्सइ ? गोयमा ? जम्बूदीवे दीपे भारए वासे इमीसे ओस्स-प्पिणीए मम एगविस वास सइस्सइ तित्थे अणुसिज्जिस्सइ” (सुत्र ६७९)

अर्थ—हे भगवन् ? जम्बू द्वीपके भारतवर्षमें इस अवसरपिणीकालमें आपका पीर किन्तु काल तक लगातार चलता रहेगा ?

उत्तर—हे गोतम ? जम्बूद्वीपके भारतवर्षमें इस अवसरपिणी कालमें मेरा पीर २१००० वर्ष तक लगातार चलता रहेगा।

इस पाठमें चतुर्विध सचका लगातार २१००० वर्ष तक चलता रहना साक्षात् तीर्थङ्करने बतलाया है अतः भगवान्‌के तीर्थको बीचमें टुटनेकी बात तेरह पन्थियों की नितात शास्त्रविरुद्ध समझनी चाहिये ।

अब यह पाठ तेरह पन्थियोंके सामने रक्खा जाता है तब वे कहते हैं कि—इस पाठमें तीर्थ शब्दका चतुर्विध सङ्ग अर्थ नहीं किन्तु शास्त्र अर्थ है । और इस पाठमें भगवान्‌ने अपने शास्त्रको २१००० वर्ष तक चलना बतलाया है पर यह भी उनकी दलील शास्त्रविरुद्ध ही ठहरती है । इसी जगह भगवान्‌ने मूलपाठमें तीर्थ शब्दका अर्थ चतुर्विध सङ्ग बतलाया है वह पाठ—

“तित्था भन्ते ? तित्था तित्थंकरे तित्थ गोयमा ? अरहा ताव णियमा तित्थं करे तित्थं पुण चाउवणगाहणो समणसंघे तजहा समणा समणीयो सावया सावियाओ”
(सूत्रम् ६८१)

अर्थ—हे भगवन् तीर्थको तीर्थ कहते हैं अथवा तीर्थङ्करको तीर्थ कहते हैं ?

(उत्तर) हे गोतम ! अरिहत तो नियमसे तीर्थङ्कर होते हैं किन्तु चतुर्विध भ्रमण सङ्ग को तीर्थ कहते हैं । वह भ्रमण संघ यह है—साधु, साध्वी, आवक और आविकायें ।

यहा भगवान्‌ने तीर्थ शब्दका साफ साफ साधु साध्वी आवक और आविका अर्थ किया है और इनके समूह को ही इसके पूर्व सूत्रमें २१००० वर्ष तक चलना बतलाया है । अतः तीर्थ शब्दका अर्थ यहा शरत्र मानना और चतुर्विध सङ्ग को बीचमें टुटनेकी प्ररूपणा करना एकात मिथ्या है ।

इसी तरह बीचमें तीर्थ टुट जानेके सम्बन्धमें जो तेरह पन्थी यह युक्ति देते हैं कि भगवान् महावीर स्वामीके जन्म नक्षत्र पर भ्रमणका लगना कल्पसूत्रमें कहा है उस भ्रमणके कारण भगवान्‌का चलाया हुआ तीर्थ टूट गया था यह भी मिथ्या है क्योंकि कल्पसूत्रके उसी पाठसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि भ्रमण गृहके लगाने के समय में भी भगवान्‌ का तीर्थ चलना ही रहा था टूटा नहीं था । वह पाठ यह है—

“जप्पमिइं चण से खुदाए भासरासी महगहे दो वास सहस्सठिई समणस्स भगवओ महावीरस्स जन्म नक्खत्त सक्ते तप्पमिइं चण समणाण णिग्गयाण निगं थीणय नोउदिए उदिए पूजा सक्कारे पवत्तइ” (कल्पसूत्र)

अर्थात् भ्रमण भगवान् महावीर स्वामीके जन्म नक्षत्र पर दो हजार वर्ष की स्थितिवाला भ्रमराशि नामक महामह जवसे लगेगा तबसे भ्रमण निग्रन्थ और निग्रन्थियोंका पूजा सत्कार उदय उदय न होगा ।

इस मूलपाठमें भस्मग्रह लगनेसे भगवान् महावीर स्वामीका तीर्थ विच्छेद होना नहीं कहा किन्तु श्रमण निमन्त्र्योंकी उदय उदय पूजा वर्जित की है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि भस्मग्रहके समयमें भी भगवान् महावीर स्वामी का चलाया हुआ तीर्थ चलता ही रहा टूटा नहीं क्योंकि जब तीर्थ ही नहीं रहेगा तब फिर उदय पूजा किस की चन्द होगी ? अतः ऋषसूत्रका नाम लेकर भगवान् महावीर स्वामीके तीर्थका बीच में विच्छेद बतलाना मिथ्या है।

इसी तरह भ्रमविध्यसनकी भूमिकामें जो यह लिखा है कि—

“पश्चात् १८५३ में धूमकेतु ग्रहके उतर जानेके कारण श्री स्वामी हेमराजजीकी दोक्षा होनेके अनन्तर क्रमानुक्रम जिन मार्गकी उन्नति होने लगी” यह भी मिथ्या है। क्योंकि धूमकेतु ग्रह बगचूलियाके पाठानुसार विक्रम संवत् १५६२ में ही उतर गया था। संवत् १८५३ में उस के उतरने की बात मिथ्या है। देखिये बगचूलिया का पाठ यह है—

“ततो सोलस्सर्हि नव नवति सजुर्हि वरीसिंहि ते दुष्ट वाणियग्गा अवमन्नइ-
स्सति सुय मेय तस्मिगए अगिदत्त ? सघे सुय जम्मरासी नक्खत्ते अहतीसमो दुष्टो
छगिस्सइ धूमकेसगहो । तस्सठिई तिन्नि सया ततोसा एगराशि परिमाण तस्मियमि ण
पइहो सघसुयस्स उइथो अत्थि”

अर्थात् इसके अनन्तर १६९९ वर्षमें सघके जन्म नक्षत्र पर अट्टाईसवा धूमकेतु नामक महामह छगेगा वह तीनसौ तैतीस वर्ष तक बड़ा स्थित रहेगा इसकी स्थिति-काल में सङ्घ और शास्त्र की पूजा प्रतिष्ठा कम होमी। यह इस पाठका भावार्थ है।

यहां वीर निर्वाणसे १६९९ पर तीनसौ तैतीस वर्षके लिये धूमकेतु का लगना बतलाया है और विक्रम संवत् १२०९ में वीर निर्वाण काल १६९९ वर्षका होता है। इसका हिसाब इस प्रकार लगाइये वीर निर्वाणके अनन्तर ४७० वर्ष तक नन्दी वाहनका शक चलता रहा उसके बाद विक्रम संवत् आरम्भ हुआ। इसलिये विक्रम संवत् १२०९ में ४७० वर्ष मिला देनेसे १६९९ वर्ष होते हैं। यही बगचूलियाके हिमावसे धूमकेतुग्रहके प्रवेशका समय है। वह धूमकेतु ३३३ वर्ष तक रहा इसलिये विक्रम संवत् १२२९ में ३३३ जोड़ देनेसे १५६२ वर्ष होता है। इसी विक्रम संवत् १५६२ में धूमकेतु ग्रह उतरा। अतः भ्रमविध्यसनकी भूमिकामें विक्रम संवत् १८५३ में धूमकेतुके उतरनेका समय बतलाना मिथ्या समझना चाहिये।

तथा इस ऊपर लिखे हुए बगचूलियाके पाठमें धूमकेतु ग्रहके समयमें चतुर्विध सङ्घकी उदय उदय पूजाका ही निषेध दिया है सङ्घका टूट जाना नहीं बतलाया है

अतः धूमकेतुके समयमें भी चतुर्विध सङ्घ का बना रहना सिद्ध होता है। तथापि जो तेरह पन्थी बीच में चतुर्विध सङ्घ के टूटने की प्ररूपणा करते हैं वह एकान्त मिथ्या है।

तेरह पन्थियोंको अपने सिद्धान्तका समर्थक जब कोई प्रमाण नहीं मिलता तब वे लाचार होकर सङ्घ का टूटना बतलाने लगते हैं। लेकिन इन की यह बात भी जब भगवती शतक २० उद्देशा ६ के मूलपाठके विरुद्ध उद्धरई जाती है तब वे क्रोधान्व हो कर पूजने वालेको अपमानित करने लगते हैं।

इनके जितने ग्रन्थ बने हैं उन सबोंका एकमात्र उद्देश्य दया दानका वहिष्कार करना ही है। पर सभी ग्रन्थोंमें जितमलजाका बनाया हुआ भ्रमविध्वंसन ग्रन्थ प्रधान है। इसमें पड़ी चातुरीके साथ दयादानका खण्डन किया है। इसी एक दयादान का खण्डन करनेके लिये भ्रमविध्वंसनकारको अनेकों जगह शास्त्रके अर्थको अनर्थ करना पडा है। जैसे महाजनकी वहीमें एक जगह परिवर्तन होने पर सारी वहीके रक्तम बदलने पडते हैं वसी तरह एक दयादानका खण्डन करनेके लिये जीतमलजी को अनेकों शास्त्र विरुद्ध बातें स्वीकार करनी पड़ी हैं। जैन दर्शन तथा जैनतर दर्शन समीका यह सिद्धोत है कि अज्ञान तथा विध्यात्वके साथ की जाने वाली क्रिया मोक्ष देनेवाली नहीं होती और उस क्रियाका आराधक पुरुष मोक्षमार्गका आराधक नहीं होता किंतु सम्यक्त्व और ज्ञानपूर्वक की जानेवाली क्रिया ही मोक्षदायिका होती है पर दयादानका खण्डन करनेके लिये तेरह पन्थियोंको अज्ञान और मिथ्यात्वके की जानेवाली क्रियासे भी मोक्षमार्गकी आराधना स्वीकार करनी पड़ी है।

जैन और उससे इतर शास्त्रोंको एकमतसे मिथ्यात्वकी क्रिया के विषयमें यही मान्यता है कि मिथ्यात्वकी क्रियासे मोक्षमार्गकी आराधना नहीं होती। देखिये बृहदारण्यक उपनिषद्में लिखा है कि—

“योवा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिन्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते ब्रह्मि वर्ण सः स्राण्यन्तवदेवास्यतद्भवति

अर्थ—हे गार्गि ! जो अविनाशी—आत्माको बिना जाने इस लोकमें होम करता है यज्ञ करता है तपस्या करता है वह चाहे हजारो वर्ष तक इन क्रियाओं को करता रहे पर वह ससारके लिये ही है। (बृहदारण्यक)

प्राचीन कालसे लेकर इस समय तकके प्रत्येक आन्तिक आर्य्य धर्मने आत्माका आत्माने बन्वनका और मोक्षका वर्णन किया है। जैसे अहिंसा या दयाके विषयमें ये सब धर्म एक मत हैं जैसे ही इस मान्यता में भी किसीको विवाद नहीं है कि बिना

सम्यक् ज्ञानके मोक्ष अथवा मोक्षकी आराधना नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि बन्धनसे छूटना मोक्ष है। जब तक आत्मा अपने असली स्वरूपको, अपने बन्धनको, बन्धन के कारणको, मोक्षके उपायको सम्यक् प्रकारसे नहीं जान लेता तब तक उसे न वर्तमान विकारमय अवस्थासे मुक्त होनेकी इच्छा हो सकती है और न वह उसके लिये-इसी प्रकारकी प्रवृत्ति ही कर सकता है। जिस रोगीको यह मालूम नहीं है कि मैं रोगी हूँ, मैं रोगी हुआ हूँ, रोगसे मुक्त होनेके उपाय क्या हैं नीरोगता क्या चीज है, वह अपना रोग मिटानेकी न कभी इच्छा करेगा और न उसकी प्रवृत्ति ही करेगा।

यही कारण है कि समस्त धर्मों ने सम्यग्ज्ञानको अवश्य ही मुक्तिके साधनोंमें प्रधान माना है। ऊपर बृहदारण्यकके उल्लेखमें भी यही बात बताई गई है। बृहदारण्यक के सिवाय अन्य उपनिषदोंमें तथा प्रत्येक दर्शन शास्त्रमें भी यही मान्यता स्वीकार की गई है। कुछ उदाहरण हम नीचे देते हैं, जिसमें विषय स्पष्ट हो जाय।

“नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसोवाऽप्यलिङ्गान्
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वान्तस्यैव आत्मा विशते ब्रह्मधाम”

अर्थात् जिसमें आत्मरत्न नहीं है वह पुरुष आत्मा (आत्माके असली स्वरूप) को नहीं पा सकता। न वह आत्मा प्रमादसे, और लिंग (साधुका भेष) हीन तपसे ही प्राप्त हो सकता है। हाँ, जो ज्ञानी बन कर इन उपायोंको आत्मरत्न, अप्रमाद, लिंग युक्त तपको काममें लाता है वही ब्रह्मधाम (आत्माके असली निवासस्थान) में प्रवेश करता है।

बृहदारण्यक और मुण्डकोपनिषद्के इन दोनों उल्लेखोंसे यह विषय साफ समझ में आ जाता है कि जो मनुष्य ज्ञान हीन होकर तपस्या आदि करता है वे उसके सप्त कर्म ससारके ही कारण हैं और जो ज्ञान युक्त होकर इन्हीं तपस्या आदि कर्मोंको करता है, उसके वे ही कर्म मुक्तिके कारण होते हैं।

“यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।

न स तत्पदमाप्नोति ससारं चाधिगच्छति।

यस्तु विद्वान्त्वान् भवति समनस्कः सदाऽशुचिः।

स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते।

(कठोपनिषद्)

अर्थात् जो ज्ञानी नहीं है वह ठीक ठीक विचार नहीं कर सकता और वह सदा अपवित्र है। वह मोक्ष नहीं पा सकता प्रत्युत ससारमें ही परिभ्रमण करता है। जो ज्ञानी है वह ठीक ठीक विचार कर सकता है और वह सदा पवित्र है। वह-ऐसे पदधो पाता है जिससे फिर कभी वापस नहीं लौटना पड़ता है।

इस उल्लेखमें अज्ञानीको सदा अपवित्र बताया है 'सदा' शब्द देनेका तात्पर्य यह है कि अज्ञानी चाहे जब जो क्रियाएँ करे पर ज्ञानका अभाव होनेसे उसको सब क्रियाएँ पवित्रताका कारण नहीं हो सकतीं वरन् अपवित्रताका ही कारण होनी हैं।

ठीक इसी प्रकारका उल्लेख जैन सूत्र सूत्ररत्नाग सूत्रमें है—

“जेयऽनुद्धा महाभागो वीरः असम्मत्त दसिणो

असुद्ध तेसिं परक्कं सफळं होइ सव्वसो ।

जेय बुद्धा महाभागो वीरः समत्तदसिणो

सुद्धं तेसिं परक्कं तं अफळं होइ सव्वसो ।”

(सु० ध्रु० १ अ० ८ गाथा २३-२४)

अर्थात् जो असम्यग्दर्शी और अज्ञानी है वह जगतमें महाभाग यानी पूजनीय अथवा बड़ा भारी वीर समझा जाता हो पर उसकी सभी क्रियाएँ अपवित्र और संसारिक फलको ही देने वाली होती हैं। जो सम्यग्दर्शी और ज्ञानी है उस महाभाग और वीर पुरुष की दानाध्ययनादि रूप सभी पारलौकिक क्रियाएँ पवित्र और मोक्ष फल देती हैं।

ऊपर कहे हुए उपनिषद्के वाक्य और मुय० की उक्त गाथाओंके मिलान करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि इस विषयमें जैन और वैदिक सम्प्रदायकी मान्यता एक ही है। क्रियाएँ समान होने पर भी सम्यग्ज्ञानी होनेसे एक व्यक्ति उनसे मोक्ष प्राप्त करता है और दूसरा अज्ञानी होनेसे इन्हीं क्रियाओंको ससारका कारण बना देता है।

“हिरण्ये परे कोपे विरज ब्रह्म निर्ऋतम्

तच्छुभ्र ज्योतिषा ज्योतिस्तद् यद्वाऽऽत्मविदोविदुः”

(मुण्डकोपनिषद्)

सुनहरी परम कोपमें निर्मल निरवयव ब्रह्म (आत्मा) है वह शुभ्र है, ज्योतिषो की ज्योति है उसे वे ही जान सकते हैं जो अपनी आत्माको जानते हैं।

इस वाक्यमें भी ज्ञानको ही मुक्तिका साधन माना है अज्ञान या मिथ्यात्वको नहीं। बौद्ध धर्ममें मुक्तिके अंग आठ माने हैं। उन सभमें सभसे पहले सम्यग्दृष्टि अर्थात् दुःख दुःस्वप्ने के कारण और उन्हें दूर करनेके उपायोंको सम्यक्प्रकार जानना, बतलाया है। मूल पाठ यह है—

“सम्यग्दृष्टि सम्यक्संस्मृत्यं सम्यक्वाकं सम्यक्कामान्तिं सम्यगाजीवं सम्यगव्यवसायं सम्यक्स्मृतिं सम्यक्समाधिश्च । तत्र सम्यग्दृष्टिः दुःखतद्वेतुं तन्निपेधमार्गाणां यथा सध्येन दर्शनम् ।”

यहा सम्यग्दर्शनको पहला स्थान दिया है और सम्यक्चारित्रको चौथा, क्योंकि सम्यग्दर्शनके बिना सम्यक् चारित्र नहीं होता। यहा तक कि सम्यक् प्रकारका संकल्प भी नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शन होने पर ही सम्यक् स्वरूप और मोक्ष प्राप्तिकी दृढ इच्छा होती है, इसी कारण यहा सम्यग्दर्शनके बाद सम्यक् स्वरूप गिनाया गया है।

न्याय दर्शनमें गोतम मुनि कहते हैं—“दुःखा जन्म प्रवृत्ति दोष मिथ्याज्ञानानां मुक्तरोत्तगपाये तदन्तरापायादपरमं” (न्याय अ० १)

अर्थात् मोक्षके लिये सर्व प्रथम मिथ्या ज्ञानका नाश होना आवश्यक है। मिथ्या ज्ञानके नाश होने पर रागादि दोष, रागादि दोषोंके नाशसे प्रवृत्ति और प्रवृत्तिके नाशसे जन्म और जन्मके नाशसे दुःख का नाश होता है। दुःखोंका नाश होने पर मोक्षकी प्राप्ति होती है।

यहा पर भी यह बताया गया है कि मोक्षके लिये सबसे पहले सम्यग्ज्ञानकी आवश्यकता है। बिना सम्यक् ज्ञानके मिथ्या ज्ञानका नाश नहीं होता और मिथ्या ज्ञानके नाशके बिना इह लोक और परलोकके सुखोंका अनुराग आदि नष्ट नहीं होते। जब तक सासारिक सुखोंका अनुराग आदि नष्ट नहीं होते तब तक मोक्ष पाना अत्यन्त दुर्लभ है इस लिये मोक्ष प्राप्तिके लिये सम्यग् ज्ञानकी सर्व प्रथम आवश्यकता न्याय दर्शन में बतलाई है। वैशेषिक दर्शनमें कहा है —

“तत्त्वज्ञानान्नि श्रेयसम्” (वै० सूत्र) तत्त्वज्ञानमात्मसाक्षात्कार इह विप्रक्षित-स्त्वैव सवासन मिथ्याज्ञानोन्मूलनक्षमत्वात्” “तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्य पन्था विद्यतेऽन्या”

अर्थात् आत्माका साक्षात्कार हो जानेकी तत्त्वज्ञान कहते हैं क्योंकि उसीसे मिथ्या ज्ञानका नाश हो सकता है। तत्त्वज्ञान होने पर ही मोक्ष होता है। आत्माका प्रकाशके सिन्हाय मुक्तिका और कोई उपाय नहीं है।

यह मान्यता भी जैन धर्मसे मिलती है। जैन धर्मका मत है कि आत्मामें जब सम्यग्दर्शन होता है तब मिथ्या ज्ञानका नाश होता है और वैशेषिक दर्शन भी यही कहता है कि आत्म साक्षात्कार ही मिथ्या ज्ञानका नाशके द्वारा मोक्ष देनेमें समर्थ है।

कपिल ऋषि प्रणीत साख्य दर्शनमें इस विषय पर और भी अधिक प्रकाश डाला गया है। साख्य दर्शनके प्रारम्भिक सूत्र यो हैं—

“अथ त्रिविध दुःखात्यन्तनिवृत्ति परम पुरुषार्थः । नष्टप्रावृत्तिसिद्धिर्निवृत्तेऽप्यनुवृत्तिर्दर्शनात् । प्रात्यहिकशुत्प्रतीकारवत् तत्प्रतीकार चेष्टनात्पुरुषार्थत्वम्” सर्वासम्भवात् सम्भवेऽपि सत्त्वासम्भवाद्देय प्रमाणकुशलं । उत्कर्षादपिमोक्षस्य सर्वोत्कर्ष भूते”

(साख्य दर्शन सूत्र १-२-३-४-५)

अर्थात् तीन प्रकार (आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक) के दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाना अत्यन्त पुरुषार्थ (मोक्ष) है । दुःखोंकी आत्यन्तिकनिवृत्ति (मोक्ष) लोकमें देगे जाने वाले धन, प्रियजनोंके संयोग आदि उपायोंसे नहीं हो सकती जैसे भोजन करनेसे सदाके लिये भूख नहीं मिटती वैसे ही लौकिक उपायोंसे सदाके लिये दुःख दूर नहीं होते । इन उपायोंसे दुःख पूर्ण रूपसे नष्ट नहीं होते, थोड़े बहुत होते भी हैं तथापि वे विद्यमन रहते हैं । लौकिक उपायोंसे उत्कृष्ट राज्य आदि लौकिक पदार्थ प्राप्त होते हैं लेकिन वेदमें मोक्ष उनसे भी बहुत उत्कृष्ट बताया है इसलिये भी उन उपायों से यह प्राप्त नहीं हो सकता ।

इसके बाद यह प्रश्न किया गया है कि "यदि दृष्ट साधनसे सर्वथा दुःखका नाश नहीं होता तो वेद विहित यज्ञ आदि कर्मों से हो जायगा ? इसका उत्तर ऋषि भगवत् कहते हैं—“अविशेषश्चोभयो” (सू० ६) इसके भाष्यका अर्थ यह है—दोनोंका अर्थात् दृष्ट जो लोभसे देखनेमें आता है व अदृष्ट जो यज्ञ साधन धर्मफल देखनेमें नहीं आता इन दोनोंका जैसा कहा गया है, आत्यन्तिक दुःखकी निवृत्तिके साधन होनेमें विशेष नहीं है । अर्थात् दोनों ही एक समान हैं, अत्यन्त दुःखकी निवृत्ति यज्ञ आदिसे भी नहीं होती । मोक्षके साधक होनेमें विवेक (सम्यग् ज्ञान) होना ही मुख्य उपाय है । विवेक से अविवेकका नाश होने पर दुःख मात्रका नाश होता है अन्यथा नहीं होता”

इस प्रकार बिना विवेक (सम्यग् ज्ञान) के मोक्ष होना अत्यन्त अस्म्भव बता कर सूत्रकार स्वयं कहते हैं “ज्ञानान्मुक्ति” (अ० ३ सूत्र २४) अर्थात् ज्ञान होने पर ही मुक्ति होती है और “बन्धो विपर्ययात्” (सूत्र २५) अज्ञानसे बन्ध होता है ।

इस तरह साध्य दर्शनके अनुसार भी यह सिद्ध है कि कोई व्यक्ति यज्ञ, जप, तप, आदि क्रियाएँ भले ही करता रहे परन्तु जब तक उसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता तब तक उसकी ये क्रियाएँ मुक्तिका कारण नहीं हो सकती ज्ञान होने पर ही मोक्षकी आराधना हो सकती है ।

पतञ्जलि ऋषि अपने योगदर्शनमें कहते हैं—

“तस्यहेतु रजिष्ठा । तदभावात्सयोगाभावो हान तद्दृशे कैवल्यम्”

(साधनपाद सूत्र २४।२५)

अर्थात् संसारका मूल कारण अविद्या है । अविद्या, मिथ्याज्ञानको कहते हैं । मिथ्या ज्ञानका नाश होनेसे आत्माको मोक्ष प्राप्त होता है वही मोक्ष आत्माका कैवल्य है । अन्य वस्तुका ससर्ग न होनेसे वही आत्माकी शुद्ध निरालस अवस्था है ।

पातञ्जल योगसूत्रसे भी उपर्युक्त विषयका ही समर्थन होता है। इसमें ससार का मूलकारण अज्ञान बताया है, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि जब तक आत्मामें अज्ञान है तब तक मोक्षकी आराधना या मोक्ष नहीं हो सकता। इसी विषय का आगे और भी रुलासा किया गया है—

“विवेक ख्याति रविप्लवा हानो पाय” (सूत्र २६)

“मिथ्याज्ञानायासनयाऽन्तराभिभवा विप्लवस्तद्रहितो विवेकत पुत्पसाक्षात्कारो मोक्षोपायः सवासनाविद्योन्मूलनद्वारेत्यर्थः ।” (भाष्य)

अर्थात् मिथ्याज्ञानके सन्धारोसे आत्मामें एक प्रकारका विप्लव होता रहता है। वह विप्लव सम्यग्ज्ञान होने पर नष्ट होता है वही सम्यग्ज्ञान आत्मामें सच्चे स्वरूपका अवलोकन—मोक्ष ही उपाय है। यहा भी वही बात बताई गयी है जिसका उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं।

इन सन उल्लेखोसे भलीभांति सिद्ध है कि मोक्षकी सिद्धिके लिये सम्यग्दर्शन—सम्यग्ज्ञान अनिवार्य है। प्रत्येक मंढमें इनको सर्वप्रथम कारण माना है अतः इस विषयमें भी सन्देह नहीं कि सम्यग्दर्शन—सम्यग्ज्ञान होने पर ही मोक्षकी आकांक्षा होती है। उपनिषदोंके प्रमाणोंसे यह पहले ही स्पष्ट हो चुका है कि जिन सम्यग्ज्ञानके किये जाने वाले तपस्या आदि आचरण मोक्षके कारण नहीं हैं बल्कि ससारके ही कारण हैं।

ऊपर जो मान्यता प्रकट की गयी है ठीक वही जैन धर्मकी भी है। बिना ज्ञान का किये जाने वाले तपको जैन परिभाषामें “बाल तप” कहते हैं और वह ससार का ही कारण है।

प्रत्येक धर्मकी ऐसी मान्यता होने पर भी आश्चर्यकी बात है कि थोड़े दिन पहले पैदा होने वाले भीषणजीने इनसे विरुद्ध एक विचित्र मत निकाला है। इ होने भारत धर्मके समस्त दर्शन—सिद्धार्थोंका खरना ही उल्टा देनेकी चेष्टा की है। इनका मत है कि जो जीव, अपने स्वरूपको, बन्धको, और मोक्षको जानता ही नहीं वह भी मोक्ष की आराधना करता है। अर्थात् जिन व्यक्तिको यह भी ठीक नहीं मालूम है कि, मुझे रोग है या नहीं, है तो क्या रोग है, क्यों उत्पन्न हुआ है, कैसे दूर होगा, दूर होने पर क्या सुख हुआ होगा ? वह भी अपना रोग दूर कर सकता है। जो बात आज तक किसी ऋषि महर्षिको न सुझी थी वह महाशय भिक्खूजीको सुझी। इसीलिये वे कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि जीव भी मोक्षका आराधक है। वस्तुतः यह सिद्धांत प्रत्येक दर्शन से, अनुभवसे और युक्तिसे सर्वथा बाधित है। जिसे जिस वस्तुका सम्यग्ज्ञान ही नहीं है वह उसकी प्राप्तिके लिये कदापि प्रयत्न नहीं कर सकता। अगर कोई करता भी है तो

कृतकार्य नहीं हो सकना अतः सिद्ध हुआ कि सम्पद्दर्शन और सम्पद्ज्ञान होने पर ही मोक्षाराधना का आरम्भ होता है पहले नहीं।

(भीषणजीने सर्व भारतीय दर्शनोके विरुद्ध अज्ञान दशाकी क्रियासे मोक्ष की आराधना क्यों अस्वीकार की ?)

भीषणजीने अपने गुरुको नीचा दिखानेके लिये जो संकल्प किया था उसकी पूर्तिके लिये सिद्धान्तमें हेर फेर करके एक नवीन सम्प्रदाय निराला और इसका मूल-सिद्धान्त दयादानमें एकान्त पाप मानना अस्वीकार किया। ऐसा मानने पर यह सम्प्रदाय अनायास ही वाइस सम्प्रदायके सिद्धान्तोसे असहमत होकर पृथक् हो गया। इन्होंने दयादानको एकान्त पापमें सिद्ध करनेके लिये और कोई मार्ग न देख कर जिन आह्वामें ही धर्म और पुण्य होना मान लिया परन्तु मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव भी अकाम निर्जरा आदि क्रियाके द्वारा पुण्य बांध कर स्वर्ग जाते हैं यह देख कर इनको मिथ्यादृष्टि और अज्ञानी जीवकी क्रिया भी जिन आह्वामें ही माननी पड़ी। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि की क्रियाको आह्वामें सात कर हीन दीन दुःखी जीवोंको दिये जाने वाले अनुकम्पादान की आह्वा बाहर बतार कर उसे एकान्तपाप का कारण बताया।

जीतमलजीने भीषणजीके उक्त मतकी पुष्टिके लिये भ्रमनिवृत्तिसन नामक ग्रन्थ रचवाया और उसके पहले प्रकरणमें विविध कुयुक्तियोंका आश्रय और शास्त्रोंका अनर्थ करके मिथ्यादृष्टि की क्रियाको आह्वामें स्थापन करनेकी चेष्टा की दूसरे प्रकरण दानाधिकारमें हीन दीन जीवोंको दिये जाने वाले अनुकम्पा दानको आज्ञा बाहर ठहरा कर उसमें एकान्त पाप बनलाया। हीन दीन दुःखी जीवोंको दिये जाने वाले दानमें प्रत्यक्ष अनुकम्पारूप गुण देखनेमें आता है और अनुकम्पा करना शास्त्रमें सातवेदनीय कर्मका कारण माना है यह देख कर जीतमलजीने अनुकम्पाका शास्त्रविरुद्ध मान्य और निरवयव दो भेद बताया और इसके लिये अनुकम्पाधिकार नामक तीसरा प्रकरण लिखा। भगवान् महावीर रत्नामीने गोशालकके उपर अनुकम्पा करके उनके प्राण बचाये थे और जगतमें जीववर्क्षा करनेका एक पवित्र आदेश रक्खा था इस कार्यसे अनुकम्पाका समर्थन होता देख कर जीतमलजीने भगवान् महावीर रत्नामीपर चूक जाने का लाठन लगाने के लिये लब्धि गोशालक और गुण वर्णन आदि प्रकरण लिखे और उन प्रकरणोंमें शास्त्र का अर्थका अनर्थ करके यथा कथञ्चित् भगवान् महावीर रत्नामीके चूकनेका साधन किया। यह सब अनर्थ इन लोगो को ब्या दान में पाप स्थापन करनेके लिये करना पडा है।

इन लोगोके शास्त्र विरुद्ध मिथ्यान्तोका प्रकाश करनेके लिये इस सद्धर्ममण्डन नामक ग्रन्थकी रचना हुई है अतः इस ग्रन्थके प्रकरणोंका दूसरा नाम न रखकर भ्रम-

विध्वंसनके प्रकरणोंका ही नाम क्रमशः दिया गया है और उन प्रकरणोंमें भीषणजी और जीतमलजीक शास्त्र विरुद्ध सिद्धान्तोंका प्रमाणानुसार निराकरण किया गया है। भ्रमविध्वसनको सामने रख कर बुद्धिमान् पुरुष यदि इस ग्रन्थका मनन करें तो अनायास ही वे तथ्यातथ्यका निर्णय कर सकते हैं कालिदासने लिखा है कि “हेमन्त सलक्ष्यते ह्यग्रे विगुह्नि ज्यामिकाऽश्विना” अर्थात् मोना विगुह्नी है या, नहीं है यह बात आग में ही जानी जाती है। अतः विद्वान् जीवासे इस ग्रन्थ की सत्यता या असत्यता छिप नहीं सकती।

अन्तिम निवेदन ।

प्रारम्भमें यह ग्रन्थ, प्रतिवादिमानमहर्षेन श्रीमज्जैनाचार्या १००८ पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराजने कच्चे खर्रके रूपमें अपने कन्तोसो लिखवाया था। श्रीयुक्त पण्डित अम्बिकादत्तजी ओझाने उस कच्चे खर्रको देख कर तथा अन्यान्य नये विचार पूज्य श्री के मुगारविन्दसे सुन कर बड़े परिश्रमके साथ ग्रन्थको इस रूपमें तय्यार किया और जहाँ उन्हें उचित प्रतीत हुआ वहाँ संशोधन भी किया। पण्डित महोदय यद्यपि व्याकरण आदिके बहुत अच्छे विद्वान् हैं परन्तु जैन सिद्धान्तोंको जानने और उनके विषय में कुछ लिखनेका यह पहला ही मौका है। इसलिये सम्भव है कि पूज्यश्रीके कहे हुए आशयकी समझनेमें पण्डित महोदयको कहीं भ्रम हुआ हो और इस प्रकार ग्रन्थमें कोई त्रुटि रह गयी हो। साथ ही दृष्टिदोष और प्रेमके कर्मचारियोंकी असावधानीसे भी ग्रन्थ में त्रुटियोंका रहना सम्भव है। अतः पाठकोंसे निवेदन है कि किसी त्रुटिके दृष्टिगोचर होने पर हमें सूचित करनेकी कृपा करें। न्याय्य बातको स्वीकार करनेमें हमको किसी प्रकारका दुर्गमप्रह नहीं हो सकता। तथा त्रुटियोंका मशोधन होना भी उचित है इसलिये पाठकोंकी ओरसे आई हुई ऐसी सूचनाका स्वागत करते हुए हम पाठकों का आभार मानेंगे तथा दुर्गम आवृत्तिमें उन त्रुटियोंको न रहने देनेका भर सफ़ प्रयत्न करेंगे।

गच्छत स्पलन कपि भवत्येव प्रमादत

हसति दुर्जनास्तत्र समावृत्ति साधव ।

भवदीय —

तनसुखशाम फ़सरान्न दूगड (सरदार शहर

अनुक्रमणिका ।

मिथ्यात्व क्रियाविकारः ।

बोल १ पृष्ठ १ से ७ तक

धर्म दो तरहका है—एक श्रुत और दूसरा चानिर्गत । इन्हींका आराधक वीतराग की आज्ञाका आराधक है अज्ञानी मिथ्यादृष्टि नहीं ।

बोल दूसरा पृष्ठ ७ से नौ तक

मिथ्यादृष्टि अज्ञानीकी अज्ञानपूर्वक की जाने वाली अकाम निर्जरा आदिकी क्रिया वीतरागकी आज्ञामें नहीं है ।

बोल तीसरा पृष्ठ १० से ११ तक

अकाम निर्जराको धर्मका भेद ठहरानेके लिये धर्मका दो भेद सवर और निर्जरा बताना शास्त्र विरुद्ध है ।

बोल चौथा पृष्ठ ११ से १३ तक

धर्मो भगल मुक्तिदृष्टे इक्ष गाथामें कहा हुआ तप, चारित्र्यका ही भेद है चारित्र्य रहित मिथ्यादृष्टिका तप नहीं है ।

बोल ५ वा १३ से १७ तक

भगवती सूत्र शतक ८ उद्देश १० की चतुर्भुगीके प्रथम भङ्गका स्वामी देश राघव चारित्री पुरुष है मिथ्यादृष्टि अज्ञानी नहीं है ।

बोल छठा पृष्ठ १७ से १८ तक

सवर रहित निर्जराकी करनी करने वाले मिथ्यादृष्टिको उवाहिसूत्रमें जिन आज्ञा का अनाराधक कहा है ।

बोल सातवा पृष्ठ १९ से २१ तक

असंख्य परिणामसे ढाडी बन्धनादिका दुःख सहने वाले जो बागह हजार वर्ष की आयुके देवता होते हैं वे उपाई सूत्रमें वीतरागकी आज्ञाके अनाराधक कहे गये हैं ।

बोल आठवा पृष्ठ २१ से २२ तक

जो जीव, अज्ञानी तथा मिथ्यादृष्टि हैं, परन्तु माता पिताकी सेवासे चौदह हजार वर्ष की आयुके देवता होते हैं वे उपाई सूत्रमें मोक्ष मार्गके अनाराधक कहे गये हैं ।

बोल ९ वा पृष्ठ २० से २३ तक

अकाम ब्रह्मचर्य पारन करके चौसठ हजार वर्षकी आयुके देवता होने वाली अज्ञानी मिथ्यादृष्टि स्त्री वीनरागकी आज्ञाकी आगधिका नहीं है।

बोल दशम पृष्ठ २३ से २५ तक

अन्न जल आदिका नियम रख कर चौगसी हजार वर्षकी आयुके देवता होने वाले अज्ञानी तापस मोक्ष मार्गक आगधक नहीं हैं।

बोल ११ वा पृष्ठ २५ से २६ तक

कन्द मूल फलादिका आहार करने वाले पञ्चमि सेवी अज्ञानी तापस जो एक पल्योपम और एक लाख वर्षकी आयुके दयता होते हैं वे परलोकक आराधक नहीं हैं।

बोल १२ वा पृष्ठ २६ से २७ तक

सर्वर रहित निर्जराकी क्रिया मोक्ष मार्गके आराधनमें नहीं है।

बोल १३ वा पृष्ठ २७ से २९ तक

भगवती शतक ८ उद्देश १० की चतुर्थ गीके प्रथम भद्रका स्वामी देशागधक पुरुष पापसे सत्रया हटा हुआ चाग्नी है और उगई सूत्रोक्त मोक्ष मार्गका अनाराधक पुरुष पापसे सर्वथा नहीं हटा हुआ मिथ्यादृष्टि है अतः ये दोनों भिन्न भिन्न हैं एक नहीं हैं। अकाम निर्जराभी करनी मोक्षमार्गमें नहीं है इसलिये उगई सूत्रमें अकाम निर्जराकी करनी करने वालेको परलोकका अनाराधक कहा है।

बोल १४ वा पृष्ठ १० से ३२ तक

तामली तापस और पूरण तापस सम्यक्त्व पानेके पहले शास्त्रमें मोक्ष मार्गके आराधक नहीं कहे गये हैं। दूसरी जगह सुद जीतमलजीने अज्ञान दशाकी क्रियासे मोक्ष मार्गका आगधन न होना बतलाया है।

बोल १५ वा पृष्ठ ३२ से ३५ तक

सुदत्त अनगारक्षी भिक्षा देते समय सुमुख गाथापति सम्यग्दृष्टि था मिथ्यादृष्टि नहीं। अनन्तानुबन्धी श्रोत्रादिके नाश हुए बिना समार परिमित नहीं होता और सम्यक्त्व पाये बिना अनन्तानुबन्धी श्रोत्रादि का नाश नहीं होता।

बोल १६ वा पृष्ठ ३५ से ३६ तक

मेघकुमारका जीव हाथीके भयमें शशकादि प्राणियोंकी रक्षा करते समय सम्यग्दृष्टि था मिथ्यादृष्टि नहीं।

बोल १७ वा पृष्ठ ३६ से ३७ तक

दौलतरामजी और दलपति गयजी की प्रश्नोत्तरीमें हाथी तथा सुमुख गाथापति को मिथ्यादृष्टि नहीं कहा है।

बोल १८ वा पृष्ठ ३७ मे १० तक

शकडाल पुत्रने दयनाके करनेसे भगवान् मदाश्री मयमीको बन्दन नमस्कार किया था और मुमुक्षु गाथापतिने अपनी इच्छासे सुदत्त अनगाको बन्दन नमस्कार किये थे इस लिये इन दोनोंके बन्दन नमस्कार एक समान नहीं थे ।

बोल १९ वा पृष्ठ ४० से ४२ तक

यिशिष्ट क्रियावादी मनुष्य और मिथ्यैच एक वैमानिक की ही आयु बाधत हैं सभी क्रियावादी नहीं । सामान्य क्रियावादी नरक योनिकी आयु भी बाधता है । दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र ।

विग्राहक श्रावक क्रियावादी होने पर भी जघन्य सुवनवासी और उत्कृष्ट ज्योतिष्कमे उत्पन्न होता है । प्रमाण भगवती शतक १ उद्देश २ ।

बोल २० वा पृष्ठ ४२ से ४३ तक

भगवती शतक ८ उद्देश दशकी टीकामे चारित्र गहिन ज्ञान दर्शन और देश व्रत की आराधनासे उत्कृष्ट असंख्य भव होना कहा है । जीतमलजीने भी इसे माना है ।

बोल २१ वा पृष्ठ ४३ ४४ तक

उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ७ गाथा २० मे सम्यगदृष्टिको "सुव्रत" कहा है मिथ्यादृष्टिको नहीं ।

बोल २२ वा पृष्ठ ४५ से ४७ तक

वहग नागतूयाका प्रियबाल मित्र सामान्य व्रतधारी होकर भी मनुष्य योनिमें जन्म पाया था । भगवती शतक ७ उद्देश ९

बोल २३ वा पृष्ठ ४७ से ४९ तक

मास मास क्षमण रूप घोर तपस्या करने वाला मिथ्यादृष्टि, जिन भाषित धर्मका आचरण करने वाले पुरुषके सोलहवें अक्षमें भी नहीं है । उत्तराध्ययन अ० ९ गाथा ४४

बोल २४ वा पृष्ठ ४९ से ५१ तक

मिथ्यादृष्टि (अज्ञानी) मास मास पर्यान्त उपवास करके उसका अन्तमें पारणा करता हुआ भी जन्म मरणके चक्रसे नहीं छूटता । सुयगडाग श्रुत स्कन्ध १ अ० २ उद्देश १ गाथा ९)

बोल २५ वा पृष्ठ ५१ से ५३ तक

जिसको जीवाजीवादि पदार्थका ज्ञान नहीं है उसका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है । (भगवती शतक ७ उद्देश २)

बोल २६ वा पृष्ठ ५३ से ५६ तक

मिथ्यादृष्टि (अज्ञानो) की तपोदानादिरूप पारलौकिक क्रियाएँ संसारके ही कारण हैं। सम्यग्दृष्टिकी ये ही क्रियाएँ मोक्षके हेतु हैं। सुयगहाग श्रुत० १ अ० ८ गाथा २३। २४

बोल सत्ताइसवा पृष्ठ ५६ से ६० तक

मिथ्यादृष्टि (अज्ञानी) के घटपटादिज्ञान भी कारण विपर्यय, सङ्गन्ध विपर्यय और स्वरूप विपर्ययके कारण अज्ञान हैं। कर्म विशुद्धिकी उत्कर्षापर्यायो लेकर चौदह गुण स्थान कहे गये हैं मम्यक् श्रद्धाको लेकर नहीं। (समवायाग सूत्र)

बोल २८ वा पृष्ठ ६० से ६३ तक

असौधा केवलीका विभग अज्ञान, सम्यक्त्व प्राप्तिका साक्षात् कारण होने पर भी जन बीतरागकी आज्ञासे नहीं है तब उसके प्रकृति भद्रता आदि गुण, जो कि सम्यक्त्व प्राप्तिके परम्परा कारण हैं वे आज्ञासे कैसे हो सकत हैं।

बोल २९ वा पृष्ठ ६३ से ६४ तक

भगवती शतक १३ उद्देशा १ के मूलपाठमे वस्तुस्वरूपको जाननेकी चेष्टा का नाम "ईहा" है। उस चेष्टाके बाधक कारणोंको हटा देना "अपोह" है। सजातीय और विजातीय धर्मकी आलोचना करनेका नाम क्रमशः मार्गण और गरोपण है अतः मार्गण शब्दका जिनभाषिन् धर्मकी आलोचना और गरोपण शब्दका अधिक धर्मकी आलोचना अर्थ करना अज्ञान है।

बोल ३० वा पृष्ठ ६४ से ६७ तक

उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३४ गाथा ३१-३२ मे विशिष्ट शुभल लेश्यका लक्षण कहा है सामान्य शुभल्लेश्यका नहीं। जो ध्यान, श्रुत और चारित्र धर्मके साथ होता है वही धर्मध्यान है।

बोल ३१ वा पृष्ठ ६७ से ६९ तक

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिकी उपमा क्रमशः सुगन्ध और दुर्गन्ध घटकी नन्दी सूत्रकी टीकामें दी है प्राहण और भङ्गीके घटेकी नहीं।

बोल ३२ वा पृष्ठ ६९ से ७० तक

साधुको साधु समझ कर उसके निकट गोल तप और सुपात्र दानकी आज्ञा मागने वाला पुष्प मिथ्यादृष्टि नहीं है सम्यग्दृष्टि है।

बोल ३३ वा पृष्ठ ७० से ७१ तक

सूर्याम देव क अभियोगिया देवताके मिथ्यादृष्टि होनेमें कोई प्रमाण नहीं है।

बोल ३४ वा पृष्ठ ७१ से ७२ तक

गोतम स्वामीने स्कन्धकजीको भक्तिभावके साथ भावरूप वंदन नमस्कार करने की आज्ञा दी थी मिथ्यात्वके साथ द्रव्य वंदन कानेकी नहीं ।

बोल ३५ वा पृष्ठ ७२ से ७५ तक

तामली वाल तपस्वी और सोमिल ऋषिकी अनित्य जागरणा उनकी प्रव्रज्याके समान वीतराग मत प्रसिद्ध अनित्य जागरणसे भिन्न थी ।

बोल ३६ वा पृष्ठ ७५ से ७७ तक

बाल तपस्या और अकाम निर्जरा जिन आज्ञामें नहीं है तथापि इनसे स्वर्गप्राप्ति होती है । अकाम निर्जरा और बाल तप करने वाले को साक्षात् उचवाई सूत्रमे परलोक का अनाराधक कहा है ।

बोल ३६ वा पृष्ठ ७७ से ७९ तक

गोशालकृतोक्त जिह्वेन्द्रियप्रतिसंलीनता वीतराग मतकी जिह्वेन्द्रिय प्रतिसंलीनतासे भिन्न है ।

बोल ३८ वा ७९ से ८१ तक

प्रश्नव्याकरण सूत्रके दूसरे सम्बर द्वारमें व्रतधारियोंसे सत्यका ग्रहण करना कहा है दाग्भिकोने नहीं ।

बोल ३९ वा पृष्ठ ८१ से ८३ तक

व्यन्तर सङ्गक देवताओंके पूर्वभव के कार्य को आज्ञामें नहीं कहा है किन्तु उनसे भोगे जाते हुए सुग्न विशेष की तरह उसे भी शुभ कह कर वस्तु स्थिति बताई है ।

बोल ४० वा पृष्ठ ८३ से ८६ तक

माता पिताकी सेवा शुश्रूषा करने वाले पुत्रको उचवाई सूत्रमें स्वर्गगामो कहा है ।

अथ दानाधिकारः ।

बोल पहला ८७ से ९४ तक

हीन दीने जीवोंको अनुकम्पा दान देना एकान्त पाप नहीं है । जो अनुकम्पा दानको एकान्त पाप बता कर श्रावकोसे उसका त्याग कराता है वह ठाणाग सूत्रके मूल पाठानुसार "पिहित्वा गामि पथ" नामक अन्तराय कर्म बाधता है ।

बोल दूसरा पृष्ठ ९४ से ९७ तक

आनन्द श्रावकने हीन दीन दुःखी जीवोंको अनुकम्पा दान देनेका अभिग्रह नहीं धारण किया था । किन्तु अन्य तीर्थीको गुरु बुद्धिसे दान न देनेका अभिग्रह धारण किया था ।

बोल तीसरा पृष्ठ ५७ से १०० तक

आनन्द श्रावकके समाप्त ही अभिमह धारी वारह प्रतधारी श्रावक राजा प्रदेशीने दानशाला खोल कर हीन दीन दुखी जीवको अनुकम्पा दान दिया था।

बोल चौथा १०० से १०१ तक

राज प्रश्नीय सूत्रमे राजा प्रदेशी को दाता देता हुआ निचग्ना लिखा है दान देने से न्यारा होकर नहीं।

बोल पाचवा १०१ से १६० तक

भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूलपाठमें मिथ्या धर्मका समर्थन करने वाले तथा मिथ्यादर्शनानुसारी घेस धारण करने वाले असयतिको गुरु बुद्धिसे दान देनेसे एकान्त पाप कहा है अनुकम्पा दान देनेसे नहीं।

बोल छठा पृष्ठ १०६ से २०९ तक

आर्द्रकुमार मुनिने दया धर्मके निंदक और हिंसा धर्मके समर्थक घैंडाल प्रतिक नीच वृत्ति वाले ब्राह्मणको गुरु बुद्धिसे भोजन देनेसे नरक जाना कहा है और मनुस्मृति में भी यही बात कही है, अनुकम्पा दानका रण्डन नहीं किया है।

बोल सातवा पृष्ठ १०९ से ११० तक

भृगु पुण्डितके पुत्रोंने अनुकम्पा दानमे एकान्त पाप नहीं कहा है किन्तु जो लोग यज्ञयागादि करने और पुत्रोत्पादन करनेसे ही दुर्गतिक्षा रुकना बतला कर प्रस्रया प्रहण करनेको व्यर्थ कहते हैं उनके मन्तव्यको मिथ्या कहा है।

बोल ८ वा पृष्ठ ११० से ११२ तक

सुयगडाग सूत्र श्रुतम्कन्ध २ अ० ५ गाथा ३३ मे भाषा सुमतिकी उपदेश किया है अनुकम्पा दानका रण्डन नहीं किया है। उस गाथामे वर्तमान कालका नाम भी नहीं है।

बोल ९ वा पृष्ठ ११२ से ११३ तक

नन्दन मनिहार अनुकम्पा दान देनेसे मेढक नहीं हुआ किन्तु नन्दा नामक पुच्छ-रिणीमें आसक्त होनेसे हुआ। ज्ञाता सूत्र अध्ययन १३।

बोल १० पृ० ११४ से ११९ तक

धर्मदानको छोड़ कर बाकीके नौ दान एकान्त अधर्मदान नहीं हैं। इनके गुणा-नुमार नाम रक्खे गये हैं, यह भोषणजीने भी लिखा है।

बोल ११ पृ० ११९ से ११९ तक

विश्रामस्थानसे बाहरकी सभी त्रियाएँ एकान्त पापमें नहीं हैं।

बोल १२ वा पृष्ठ १२० से १२४ तक

ग्राम धर्मादि लौकिक धर्मे और प्रमत्त्यविरादि लौकिक स्थविर ग्राम आदिके चोरी जारी आदि गुराह्या दूर करते हैं इसलिये उन्हें एकान्त पापमें बताना मूर्खोंका कार्य है।

बोल १३ वा पृष्ठ १२४ से १२७ तक

ठाणाङ्ग ठाणा नौ मे कहे हुए नवविध पुण्य केवल साधुको ही दान देनेसे नहीं किन्तु उनसे इतरको दान देनेसे भी होते हैं।

बोल चौदहवा १२७ से १३० तक

भीषणभीके जन्मसे पहलेके घने टब्बा अर्थमें लिखा है कि “पात्रने विषे अन्ता-दिफ दीजै तेहथकी तोर्य पर नामादिक पुण्य प्रकृतिनो बन्ध तेहथकी अनेराने देवु ते अनेरी पुण्य प्रकृतिनो बन्ध। तीर्थकर नामकी पुण्य प्रकृति ४२ पुण्य प्रकृतियोंके आदिमें नहीं अपितु अन्तमें है अतः तीर्थ करादि कहनेसे सभी पुण्य प्रकृतियोंका प्रहग नहीं हो सकता।

बोल १५ पृष्ठ १३० से १३१ तक

ठाणाङ्ग ठाणा नौके मूलपाठमे न कहे जाने पर भी जैसे साधुको पन्डितारी सुई कतरनी आदिके दानसे पुण्य ही होता है उसी तरह साधुसे इतरको धर्मानुकूल वस्तु देने से पुण्य ही होता है एकान्त पाप नहीं।

बोल १६ वा पृष्ठ १३१ से १३३ तक

साधुसे इतर सभी जीवको कुपात्र कायम करके उनको दान देनेसे मांस भक्षण व्यसन कुशीलादि सेवनकी तरह एकान्त पाप कहना अज्ञान है। साधुसे इतर होने पर भी आवकको तीर्थमें गिना गया है और उसे गुण रत्नका पात्र कहा गया है। कुपात्र नहीं कहा।

बोल १७ वा पृष्ठ १३३ से १३५ तक

ठाणाङ्ग ठाणा ४ की चौमगीमे साधुसे इतरको दान देने वाला अक्षेत्र वर्षों नहीं कहा है अपितु जो प्रवचन प्रभावनाके लिये सबको दान देता है उसकी टीकाकारने प्रशंसा की है क्योंकि प्रवचन प्रभावनाके लिये दान देनेसे ज्ञाता सूत्रमें तीर्थकर गोत्र बाधना कहा है।

बोल १८ वा १३६ से १३८ तक

शकडाल पुत्र आवकने गोशालरुको दान देनेसे धर्म तपका निषेध किया है पुण्य का निषेध नहीं किया है तथा निर्जरा के साथ ही पुण्य बन्ध होनेका कोई नियम भी नहीं है।

बोल १९ वा पृष्ठ १३८ से १४० तक

चोर जार हिंसक आदि महारम्भी प्राणीको चोरी जारी हिंसा आदि महारम्भका कार्य करनेके लिये दान देनेसे मृगालोढके दुःख भोगनेका प्रश्न विपाक सूत्रमें किया गया है अनुकम्पा दानसे नहीं ।

बोल २० वा पृष्ठ १४० से १४२ तक

क्रोधी, मानी, मायी और हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रहके सेवी ब्राह्मणको उत्त-
राध्ययनके अध्याय १२ गाथा २४ में पापकारी क्षेत्र कहा है सभी ब्राह्मणको नहीं ।

बोल २१ वा पृष्ठ १४२ से १४६ तक

व्यभिचारिणी स्त्रीको रख कर आड़े पर उससे व्यभिचार कराना पन्द्रहवें कर्मा-
दानका सेवन करना है हीन दीन दुःखीको अनुकम्पा दान देना अथवा साधुसे इतरको
पोषण करना नहीं ।

बोल २२ वा पृष्ठ १४६ से १४८ तक

किसी भी अभिप्रायसे अपने आश्रित प्राणीका वध, बन्धन छविच्छेद और अति-
भार आदि डालनेसे अतिचार होता है प्राणवियोग करनेके अभिप्रायसे ही नहीं क्योंकि
वह अनाचार है ।

बोल २३ वा पृष्ठ १४९ से १५१ तक

भिक्षुकोका धैरीक टोक प्रवेश करनेके लिये तुङ्गिया नगरीके आवककोके दरवाजे
खुले रहते थे ।

बोल २४ वा पृष्ठ १५१ से १६० तक

आवकको अप्रत्याख्यान (अव्रत) की क्रिया नहीं लगती ।

बोल २५ वा पृष्ठ १६१ से १६२ तक

जैसे मिथ्यादर्शन के अशत नहीं हटने पर भी आवकको मिथ्यात्वकी
क्रिया नहीं लगती उसी तरह अप्रत्याख्यानसे अशत नहीं हटने पर भी आवकको अप्र-
त्याख्यानिकी क्रिया नहीं लगती है ।

बोल २६ वा पृष्ठ १६३ से १६५ तक

भगवती शतक ३ उद्देशा १ में आवकके हित, सुख, पथ्य और अनुकम्पाकी
इच्छा करनेसे सनत्कुमार देवेन्द्रको भव मिद्धिमे लेकर यावत् प्वरम होना कहा है ।
भवार्थ सूत्रमें आवकको धार्मिक, धर्मानुग, धर्मेष्ट, धर्माख्यायी धर्म प्ररजन आदि कहा है ।

बोल २७ वा पृष्ठ १६६ से १६७ तक

जिसमें भाव शस्त्र मौजूद है वह यदि कुपात्र है तो फिर पष्ट गुण स्थान वाले

प्रमादी साधु भी कुपात्र ही ठहरेंगे । राजप्रशस्तीय सूत्रमे साधुके समान आचरने भी आर्मा धर्म सम्पन्धी सुवाक्य सुननेसे दिव्य क्रद्धि की प्राप्ति नहीं गई है ।

बोल २८ वा १६८ से १६१ तक

आचर अन्तपारम्भ और अन्तपरिग्रहसे द्रवता होते हैं प्रत्याख्यान और प्रवृत्ति से नहीं ।

बोल २९ वा १७१ से १७३ तक

सुयगडाग सूत्रकी गाथाका नाम लेकर गृहस्थके दानको सत्कार भ्रमणका हेतु बनाना मूर्खता है ।

बोल ३० पृष्ठ १७३ से १७९ तक

साधु यदि उत्सर्ग मार्गमें गृहस्थको अन्नादि दान देवे तो निशीथ सूत्र उद्देश १५ बोल ७८।७९ में प्रायश्चित्त होना कहा है परन्तु होन दीन दुःखीको अनुकम्पा दान देने वाले गृहस्थको प्रायश्चित्त नहीं कहा है तथा उस गृहस्थके अनुकम्पा का अनुमोदन करने वाले साधुको भी प्रायश्चित्त नहीं कहा है ।

अपवाद मार्गमें अन्य यूर्थिक और गृहस्थको शामिलमें मिली हुई भिक्षाको वापस कर साधु भी देते हैं ।

बोल ३१ वा १७९ से १८२ तक

अपनी निरवय भिक्षा वृत्ति कायम रखनेके लिये तथा ज्ञान दर्शन और चारित्र्यमें शिथिलता न आने देनेके लिये उत्सर्ग मार्गमें साधु गृहस्थको दान नहीं देते एकान्त पाप जान कर ।

बोल ३२ वा पृष्ठ १८२ से १८३ तक

साधुसे इतरको अनुकम्पा दान देनेके लिये जो अन्न बनाया जाता है उसे दस वैकालिक सूत्रमें पुण्यार्थ प्रकृत कहा है पापार्थ प्रकृत नहीं कहा और जिसके घरमें उक्त अन्न बनाया जाता है उसे शिष्ट कहा है ।

बोल ३३ वा १८३ से १८४ तक

भगवती शतक २ उद्देश ५ में साधुकी तरह आचरकी सेवा करनेका भी शास्त्र भ्रमणसे लेकर मोक्ष तक फल मिलना कहा है ।

बोल ३४ पृष्ठ १८५ से १८७ तक

उत्तराव्ययन सूत्रके अष्टादशवें अव्ययनमें सद्धर्मों भाईको मातृपानी आदिमें द्वारा उचित सत्कार करना समक्षितका आचार कहा है । व्यवहार सूत्रके दूसरे उद्देशके मध्य में प्रवचनके द्वारा आचरका साधु और आचर दोनों बहे गये हैं ।

बोल ३५ वा पृष्ठ १८७ से १८८ तक

भगवती शनक १२ उद्देशा १ में अपने सहधर्मी भाईको भोजन कराना पोषण धर्मकी पुष्टिमें माना है ।

बोल ३६ वा पृष्ठ १८८ से १९० तक

एग्यारह प्रतिमाओंका विधान तीर्थकारोने किया है ।

बोल ३७ वा पृष्ठ १९० से १९३ तक

एग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक, दश विध यति धर्मका अनुष्ठान करने वाला ब्रह्मा हो पवित्रात्मा एवं सुपात्र होता है इसे कुपात्र कहने वाले अज्ञानी हैं ।

बोल ३८ वा पृष्ठ १९३ से १९४ तक

अम्वड सन्यासी और वरुण नागत्तूयाके पाठमें आये हुए कल्पका दृष्टान्त देकर एग्यारहवीं प्रतिमाधारीके कल्पको तीर्थ करकी आज्ञासे बाहर कहना अज्ञान है ।

बोल ३९ वा पृष्ठ १९४ से १९७ तक

सामायक और पोषाके समय श्रावक, पूजनी आदि उपकरण जीवदूयाके लिये रखते हैं अपने शरीर रक्षाने लिये नहीं अतः श्रावकके पूजनी आदि उपकरणोंको एकान्त पापमें स्थापन करना मूर्खता है ।

बोल ४० वा पृष्ठ १९७ से १९९ तक

अढाई द्वीपसे बाहर रहने वाले त्रियम्ब श्रावक कई ब्रतोंमें श्रद्धा मात्र रखनेसे बाह्य व्रतधारी माने जाते हैं । अनुस्यू श्रावककी तरह सभी ब्रतोंका शरीरसे स्पर्श और पावन करनेसे नहीं ।

बोल ४१ वा पृष्ठ १९९ से २०३ तक

श्रावक देश समय पालनार्थ जो मन, वचन, काय और उपकरणोंका व्यापार करता है वह सुप्रणिधान है दुष्प्रणिधान नहीं ।

इति दाना बिकर ।

अथ अनुकम्पाधिकारः ।

बोल १ पृष्ठ २०४ से २०७ तक

मरते हुए प्राणीकी प्राणरक्षा और मारने वालेकी हिंसा छोड़ानेके लिये साधु धर्मोपदेश करता है केवल हिंसकको हिंसाके पापसे बचानेके लिये ही नहीं ।

बोल दूसरा पृष्ठ २०७ से पृष्ठ २०९ तक

राज प्रशनीय सूत्रमें चित्त प्रधानने द्विपद, चतुष्पद, मृग पशु पक्षी और सरीसृपों की प्राणरक्षाके लिये वैशी स्वामीसे राजा प्रदेशीको धर्मोपदेश देनेकी प्रार्थना की थी ।

बोल तीसरा २०९ से २११ तक

दूसरेसे भय पाते हुए प्राणीको भयसे मुक्त करना भी अभय दान है केवल अपनी ओरसे भय न देना ही नहीं । अरिदमन राजाकी चौथी रानीने चोरको सुलीसे बचाया था और उसे टीकाकारने अभय दान कहा है ।

बोल चौथा पृष्ठ २११ से २१६ तक

आर्यक्षेत्रके जीवोका उपकार और अपने कर्मों का क्षपण करनेके लिये भगवान् महावीर स्वामी धर्मोपदेश करते थे । जीवोंकी प्राण रक्षा करना उनका प्रधान उपकार है ।

सुय० श्रु० ५ अ० ६ गाथा १७-१८

भगवान् महावीर स्वामी त्रस और स्थावरके क्षेम करने वाले थे क्षेम नाम रक्षा, और शान्तिका है ।

सुय० श्रु० २ अ० ६ गाथा ४

बोल ५ वा २१६ से २१८ तक

साधु असंयति जीवकी प्राण रक्षा उनसे असंयम सेवन करानेके लिये नहीं करते किन्तु उनका आर्तरीद्र ध्यान मिटाने और हिंसकको हिंसाके पापसे बचानेके लिये करते हैं ।

बोल छठा पृ० २१८ से २२१ तक

भगवान् नेमिनाथजी, पिंजड़ेमे मारनेके लिये रोके हुए प्राणियोंको छुड़ा कर लौट गये थे ।

बोल सातवा पृष्ठ २१८ से २२१ तक

दायीने शशकादि प्राणियोंकी प्राणरक्षा काके ससार परिमित किया था ।

बोल आठवा पृष्ठ २२३ से २२५ तक

सुयगडाग सूत्रकी 'वज्झापाणा न वज्जेति' इत्यादि गाथामें वध दण्ड देने योग्य अपराधीको निरपराधी कहनेका निषेध है किन्तु प्राणीकी प्राण रक्षाके लिये मत्त मार कहनेका निषेध नहीं है ।

बोल नवा पृष्ठ २२५ से २२७ तक

आचारान्न सूत्र श्रु० २ अ० १ उद्देशा १ में मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करनेके भयसे साधुको गृहस्थके निवास भूत मकानमें रहना वर्जित नहीं किया है किन्तु ऊँचा नीचा मन होनेकी भावनासे वर्जित किया है ।

बोल दसवा पृष्ठ २२७ से २२९ तक

आचारान्न सूत्र श्रु० २ अ० २ उ० में अपने स्वार्थके लिये गृहस्थ द्वारा अग्नि जलाने और न जलानेकी भावना करना साधुके लिये वर्जित की है कीड़ी आदि जीवों की रक्षाकी भावनासे उक्त फार्म वर्जित नहीं किया है

बोल ११ वा पृष्ठ २२९ से २३१ तक

उत्तराध्ययन सूत्रके २६ वें अध्यायनमें अपनी प्राण रक्षाके लिये साधुको आहार अन्वेषण करनेका विधान किया है। भगवती शतक १ उद्देश ९ में साधुको पृथिवी काय आदिके जीवोंकी रक्षा करनेके लिये प्रामुख और एषणिक आहार लेना लिया है।

बोल १२ वा पृष्ठ २३१ से २३३ तक

स्थ वर जगम जन्तुओंको दण्ड देकर असयमके साथ जीने या चिर काल तक जीनेकी इच्छा साधुके लिये वर्जित की गई है। प्राणियोंकी रक्षाके साथ और यथा प्राप्त आयु तक जीनेकी इच्छा करना वर्जित नहीं है।

सुय० अ० १ गथा २४

बोल १३ वा पृष्ठ २३३ से २३६ तक

सुयगडाह्य श्रु० १ अध्याय १५ सुयगडाह्य श्रु० १ अ० ५ उ० १ गाथा ३ सुयगडाह्य श्रुत० १ अध्याय १० गाथा ३ सुय० श्रु० १ अ० २ गाथा १६ में हिंसक हाथ से मारे जाने वाले प्राणियोंकी प्राण रक्षा करनेका निषेध नहीं है।

बोल १४ वा पृष्ठ २३६ से २३७ तक

उत्तराध्ययन सूत्र ४ गाथा ७ में गुणका उपार्जनके निमित्त साधुको जीवित रहना कहा है। प्राणियोंकी प्राण रक्षाके लिये उपदेश देना गुणका उपार्जन करना है इस लिये जीवरक्षाके लिये उपदेश देनेमें पाप बनलाना अज्ञान है।

बोल १५ पृष्ठ २१८ से २३८ तक

सुय० श्रु० १ अ० २ गाथा १ में समय प्रदान जीवनको दुर्लभ कहा है। जीवरक्षाके लिये जीवन व्यतीत करना समय जीवन है।

बोल १६ वा पृष्ठ २१९ से २४० तक

नमिराज ऋषिसे इन्द्रने जीव रक्षा करनेमें पाप या पुण्यका होना नहीं पूछा था किन्तु सासारिक पदार्थोंमें जनकी ममताके होने व न होनेकी परीक्षा की थी। नमिराज ऋषि प्रत्येक बुद्ध साधु ये स्थविर कल्पी नहीं उनका उदाहरण स्थविर कल्पियोंके लिये देना अज्ञान है।

बोल १७ वा पृष्ठ २४० से २४२ तक

दश वैकालिक सूत्र अ० ७ गाथा ५० में देवता मनुष्य और निर्यन्त्रोंमें परस्पर युद्ध होने पर एककी हार और दूसरेकी जीत कहना साधुके लिये वर्जित है परन्तु उपदेश देकर युद्ध शान्त कर देना या मरते जीवकी रक्षा करनेका निषेध नहीं है।

बोल १८ वा पृष्ठ २४२ से २४४ तक

दशवैकालिक अध्ययन ७ गाथा ५१ में वायु आदि सात वातोंके होने वा न होनेकी प्रार्थना करना साधुको अपने स्वार्थके लिये वर्जित की गई है क्योंकि इससे प्राणियोंका अनिष्ट भी होता है।

बोल १९ वा पृष्ठ २४५ से २४७ तक

ठाणाङ्ग ठाणा चारकी चौमगीमे जो अपनी ही रक्षा करता है दूसरेकी नहीं करता उसे प्रत्येक बुद्ध, जिनरूपी और निर्दय कहा है। स्थविर यत्पीको अपनी और दूसरेकी दोनोंकी रक्षा करने वाला बताया है।

बोल २० वा पृष्ठ २४७ से पृष्ठ २५० तक

जैसे अपना जेवर उतार कर साधुका दर्शन करने वाली स्त्री धार्मिक है उसी तरह जेवर उतार कर मरते जीवकी रक्षा करने वाली स्त्री भी धार्मिक है।

बोल २१ वा पृष्ठ २५० से २५२ तक

अन्य यूथिक और गृहस्थ रास्तामें कदाचित् किसी पशुका घात करे अथवा वे चोर आदिसे छुट लिये जाय इस लिये साधु मार्ग नहीं बताते, अनुश्रुताको सावध जान कर नहीं।

बोल २२ वा पृष्ठ २५२ से २५४ तक

ठाणाङ्ग ठाणा ३ उद्देशा ४ में जीव रक्षा करनेका निषेध नहीं किया है परन्तु अनुश्रुत या प्रतिकूल उपसर्ग करने वालेको धर्मोपदेश देकर समझाना या उसकी उपेक्षा करना अथवा वक्षसे अन्यत्र चला जाना कहा है।

बोल २३ वा पृष्ठ २५४ से २५५ तक

अपने स्वार्थके लिये किसी जीवको सतानेके भावसे भय देना निशीथ सूत्रमें वर्जित किया है, आत्म रक्षा या पर रक्षा के लिये नासमझ प्राणीको भय दिखाकर हटा देना वर्जित नहीं है।

बोल २४ वा पृष्ठ २५५ से २५७ तक

निशीथ सूत्रमें भूति कर्म करने तथा मन्त्र आदि करनेका निषेध है अपनी कल्प मर्यादाके अनुसार मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करने का निषेध नहीं है।

बोल २५ वा पृष्ठ २५७ से २६१ तक

अपराधी प्राणीको मारनेके लिये क्रोध करके दौड़नेसे द्रुतगो प्रियका घ्न और पोषण नष्ट हुआ था माताकी रक्षाके भाव आनेसे नहीं।

बोल २६ वा पृष्ठ २६१ से २६४ तक

नाममें आता हुआ पानी बतलाना छाधुका कल्प नहीं है इसलिये वह नाव में आता हुआ पानी नहीं उतलाता परन्तु शास्त्रीय विधानानुसार वह अपनी और दूसरेकी रक्षा करता है ।

बोल २७ वा पृष्ठ २६४ से २६८ तक

निशीथ सूत्रमें, बन्धन और मोचनसे होने वाले दोषकी निवृत्ति के लिये ग्रम प्राणीको बाधने और छोड़नेका निषेध किया है परन्तु जहा बाधे और छोड़े बिना ग्रस प्राणीकी रक्षा नहीं हो सकती हो वहा बाधने और छोड़नेका निषेध नहीं है ।

बोल २८ वा पृष्ठ २६८ से २६९ तक

आने जानेकी क्रिया दूसरी है और अनुकम्पा दूसरी है इसलिये आने जाने की क्रिया के सावध होने से सुखसापर हर्षणगमेसीकी अनुकम्पा सावध नहीं हो सकती ।

बोल २९ वा पृष्ठ २६९ से २७० तक

श्रीकृष्णजीकी वृद्ध पर अनुकम्पा करना सावध नहीं थी क्योंकि ईद चपाडनेकी क्रिया न्यारी है और अनुकम्पा न्यारी है ।

बोल ३० वा पृष्ठ २७० से २७२ तक

हरिकशी मुनि पा अनुकम्पा करके यक्षने ब्राह्मणोंको समझाया था परन्तु जत्र वे मारने दौड़े तो मारनेके घस्तेमें ठसने भी मारा था ।

बोल ३१ वा पृष्ठ २७३ से २७५ तक

धारिणी रानीकी गर्भानुकम्पाको मोहानुकम्पा कहना अज्ञान है । धारिणी ने गर्भानुकम्पासे मोहको छोड दिया था तथा अजयणाका परित्याग किया था ।

बोल ३२ वा पृष्ठ २७५ से २७६ तक

आज्ञा सूत्रके मूलपाठमें अभयकुमारकी प्रीतिके लिये देवताका मेघ बरसाना कहा है अनुकम्पाके लिये नहीं ।

बोल ३३ वा पृष्ठ २७६ से २७९ तक

रयणा देवी पर जिन ऋषि का करुण रस उत्पन्न हुआ था अनुकम्पा उत्पन्न नहीं हुई थी ।

बोल ३४ वा पृष्ठ २७९ से २८२ तक

वीतरागकी भक्ति दूसरी चीज है और नाटक दूसरा है अब नाटक के सावध होने पर भी भक्ति सावध नहीं है ।

बोल ३५ वा पृष्ठ २८२ से २८४ तक

मुनिका व्यावच दूसरा है और व्यावचके लिये की जाने वाली क्रिया दूसरी है इसलिये यक्षसे किया हुआ हरिकेशी मुनिका व्यावच साग्र्य नहीं है ।

बोल ३६ वा पृष्ठ २८४ से २८५ तक

शीतलदेव्या प्रकट करके भगवान्ने गोशालक की प्रणरक्षा की थी इस अनु-
कम्पाको सावध कहना अज्ञान है । शीतल देव्यासे जीवविराधना नहीं किन्तु जीव
रक्षा होती है ।

बोल ३७ वा पृष्ठ २८५ से २९० तक

विम्बसागका पुत्र राजा कौणिकने भगवान् महाबोर स्वामीके वदनार्थ जाने क
लिये चतुर्द्विणी सेना सजाई थी परन्तु सेना सभाने रूप कार्याके वजहसे जैसे भग-
वान् का वदन सावध नहीं हुआ उसी तरह ईंट उपाडनेसे बुड्डे पर कृष्णजी की अनु-
कम्पा सावध नहीं हुई ।

अथ लब्ध्यधिकारः ।

बोल १ वा पृष्ठ २९९ से २९० तक

शीतल देव्याके प्रकट करनेमें तेजका समुद्रघात नहीं होना इसलिये उसमे जघन्य
तीन और उत्कृष्ट पाच क्रिया नहीं लगती ।

बोल दूसरा पृष्ठ २९२ से २९३ तक

तेजो छविशारी साधु क्रोधित होकर किसीको जलानेके लिये जो दण तेजो-
देव्या का प्रयोग करता है उसीमे तेजका समुद्रघात होना कहा है मत्ते प्राणीकी प्राणरक्षा
करनेके लिये शीतल देव्याका प्रक्षेप कानेमे नहीं ।

बोल तीसरा २९३ से २९६ तक

कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेपिकी, पारितापनिकी, और प्राणातिपातिकी ये
क्रियायें हिंसाके भाव आनेसे लगती हैं रक्षाके भाव आनेसे नहीं ।

बोल चौथा पृष्ठ २९६ से २९७ तक

अतिशय दयालुताके कारण दया करने योग्य पुरुष के प्रति तेजोदेव्याको शान्त
करने में समर्थ शीतल तेजो विशेष के छोडने की शक्तिका नाम शीतल देव्या है ।

बोल पाचवा पृष्ठ २९७ से २९८ तक

गोशालकके द्वारा सुनक्षत्र और सर्पानुभूतिका मरना अवश्य भावी जान कर
भगवान्ने उनकी रक्षा नहीं की रक्षामे पाप जान कर नहीं ।

बोल छठ्ठा २९९ से ३०१ तक

रक्षामें राग करना, सावद्य नहीं है जैसे धर्ममें धर्माचार्यमें राग रखना सावद्य नहीं है ।

बोल सातवा पृष्ठ ३०१ से ३०२ तक

भगवती शतक ७ उद्देशा १० के मूल पाठ में उद्यम तेजो लेश्याके पुद्गल को अचित्त कहा है इस लिये शीतल लेश्या के द्वारा उस को शान्त करने में आरम्भ दोष नहीं लगता ।

बोल आठवा पृष्ठ ३०२ से ३०३ तक

भगवती शतक २० उद्देशा ९ की टीकामें जह्वा चरण और विद्याचरण लब्धिका प्रयोग करना प्रमाद सेवन करना कहा है शीतल लेश्या का प्रयोग करना प्रमाद सेवन करना नहीं कहा है ।

बोल नवा पृष्ठ ३०३ से ३०४ तक

लब्धिका प्रयोग न करके किसी दूसरे उपायसे भी भगवान् यदि गोशालक की प्रागरक्षा करते तो भी जीतमलनीके मतमें पाप ही होता अतः इनका लब्धिकी वर्णन करना व्यर्थ है ।

इति लब्धिकाधिकार ।

अथ प्रायश्चित्ताधिकारः ।

बोल १ पृष्ठ ३०५ से ३०६ तक

शीतल लेश्याका प्रयोग करके मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेमें शास्त्रमें कहीं भी पाप होना नहीं कहा है तथा इस के लिये कहीं प्रायश्चित्तका भी विधान नहीं है अतः सीहो अनगार, अतिमुक्त, रहनेमि आदि की तरह भगवान् के प्रायश्चित्त करने की कल्पना करना अज्ञान है ।

बोल दूसरा ३०६ से पृष्ठ ३०८ तक

भगवान् महावीर स्वामी उच्च श्रेणिके ऋषय कुशील थे अतः भ्रमविध्वसनकारके कथनानुसार भी वह दोषके प्रतिसेवी नहीं हो सकते ।

बोल तीसरा पृष्ठ ३०८ से ३०९ तक

भगवान् महावीर स्वामीने छद्मस्थानस्थामें स्वल्प भी पाप और एक चार भी प्रमादका सेवन नहीं किया था ।

बोल चौथा पृष्ठ ३०९ से ३१० तक

आचाराग सूत्रकी "ण्णानसे" और "अकसाइ" इत्यादि गाथाओं में भगवान् को फल गुण वर्णन मात्र नहीं किंतु उनसे दोषोक्ता निषेध भी है ।

घोल पाचवा पृष्ठ ३१० से ३१२ तक

उपवाई सूत्रमें भगवान् महावीर स्वामीके शिष्योंमें पाप और प्रमाद होने का निषेध नहीं किया है इसलिये उनके दृष्टान्तसे भगवान् महावीर स्वामीमें दोषका स्थापन करना मिथ्या है।

घोल छठा ३१२ से ३१३ तक

उपवाई सूत्रमें यह नहीं कहा है कि कौणिक राजा कभी भी माता पिताका अविनीत नहीं था परन्तु आचाराराम सूत्रमें कहा है कि भगवान् महावीर स्वामीने कभी भी पाप और प्रमादका सेवन नहीं किया था अतः कौणिकके दृष्टान्तसे भगवान् महावीर स्वामीमें दोषका स्थापन करना अज्ञान है।

घोल सातवा पृष्ठ ३१३ से ३१४ तक

उपवाई सूत्रमें आवकोको पापसे सर्वथा दूटा हुआ नहीं कहा है परन्तु आचाराराम में भगवान् को पाप और प्रमादसे सर्वथा दूटा हुआ कहा है अतः आवकके दृष्टान्तसे भी भगवान् में पापका स्थापन करना अज्ञान है।

घोल आठवा पृष्ठ ३१४ से ३१७ तक

जिस समय गौतम स्वामी आनन्द के घर पर बचन बोलने में चूक गये थे उस समय उन में कपाय कुशील नियण्ठा तथा चौदहपूर्वका ज्ञान नहीं था।

घोल नवा पृष्ठ ३१७ से ३१८ तक

दशैकादिक सूत्रके आठवें अध्ययनके दशवीं गांधामे जो दृष्टिवादका अध्ययन कर रहा है उसीका वाक्स्फुल्लन होना लिखा है परन्तु जिसने दृष्टिवादका अध्ययन कर लिया है उसका वाक्स्फुल्लन होना नहीं कहा है।

घोल दशवा ३१८ से ३२० तक

भगवती शतक २५ उ० ६ में स्पष्ट लिखा है कि कपाय कुशील दोषका अप्रति-सेवी होता है।

घोल एग्यागहवा पृष्ठ ३२० से ३२१ तक

जिस सम्बुद्धा साधुका सच्चा स्वप्न देखनेका शास्त्रमें वर्णन है उसीका दृष्टा स्वप्न देखनेका भी शास्त्रमें पाठ है परन्तु कपाय कुशीलके चूकनेका शास्त्रमें कहीं भी पाठ नहीं है।

घोल बागहवा पृष्ठ ३२२ से ३२३ तक

ठाणाङ्ग ठाणा सातके मूल पाठमें यह नहीं कहा है कि सभी छद्मस्थ सात दोषके सेवी ही होते हैं अतः उक्त पाठका उदाहरण देकर भगवान् में दोषका सद्भाव कहना भूलता है।

बोल तेरहवा प्र० ३२३ से ३२४ तक

केतलीकी तरह छद्मस्थ तीर्थ कर भी आगम व्यवहारी और कटपातीत होते हैं इस लिये सूत्र व्यवहारीके कल्पका नाम लेकर उनमें दोषका स्थापन नहीं किया जा सकता ।

बोल चौदहवा प्र० ३२४ से ३२५ तक

भगवती शतक २५ उद्देशा ६ के मूलपाठमें कपाय कुशीलश्च कलपातीत भी कहा है ।

बोल पन्द्रहवा प्र० ३२५ से ३२७ तक

भगवती ठाणाङ्क ओर व्यवहार सूत्रमें व्यवहारके छ भेद कहे हैं उनमें पून पूर्वके होने पर उत्तरोत्तरसे व्यवस्था नहीं दी जाती यह भी कहा है ।

बोल सोलहवा प्र० ३२७ से ३२९ तक

भगवती शतक १५ की टीकामें लिखा है कि भगवान्से गोशालकका स्वीकार करना अवश्यम्भावी भाव था इस लिये भगवान्ने गोशालकको स्वीकार किया था ।

बोल १७ वा ३२९ से ३२९ तक

ठाणाङ्क ठाणा नौ के अर्थमें लिखी हुई गायी किसी मूलपाठ या प्रामाणिक टीका में नहीं मिलती और उसमें शिष्यवर्गको दीक्षा देनेका निषेध है एक शिष्यको दीक्षा देनेका निषेध नहीं है ।

बोल १८ वा ३३० से ३३१ तक

सुवर्मा स्वामीने भगवान् महावीर स्वामीसे सुन कर जम्बू स्वामीसे कहा है कि भगवान् महावीर स्वामीको छद्मस्थ दशमे किञ्चिन्मात्र भी पाप नहीं लगा था ।

बोल १९ वा ३३१ से ३३१ तक

भगवान् महावीर स्वामीको दश स्वप्न आये थे उस समय उनको अन्तर्मुहूर्त तक द्रव्य निद्रा आई थी । विधिपूर्वक द्रव्य निद्रा लेना प्रमादका सेवन नहीं है ।

इति प्रायश्चित्ताधिकारः ।

अथ लेहपाधिकारः ।

बोल १ प्र० ३३२ से ३२५ तक

सयतिथीमें कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेह्याप नहीं होती ।

बोल दूसरा प्र० ३२५ से ३३७ तक

भगवती शतक १ उद्देशा ७ के मूलपाठमें कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेह्याओं में सगामी वीतरागी प्रमादी और अप्रमादी चारों प्रकारके साधुओंका निषेध है ।

बोल ३ रा पृ० ३३७ से ३३९ तक ।

तेज पद्म लेश्यामे ओ सरागीका सदभाव मानते हैं उनके मतमे अष्टम, नवम और दशम गुण स्थान वाले साधुओंमें भी तेज पद्म लेश्या होनी चाहिये ।

बोल चौथा पृ० ३३९ से ३४१ तक

पन्नावणा सूत्र १७ के मूलपाठमे भगवती सूत्रकी तरह साधुओंमें भाव रूप कृष्ण लेश्याका निषेध किया है परन्तु सदभाव नहीं बताया है ।

बोल पाचवा ३४१ से ३४२ तक

भगवती सूत्र शतक २५ उद्देश ६ के मूलपाठमे कपाय कुशीलमे छ द्रव्य लेश्या कही है भाव लेश्या नहीं ।

बोल छठा पृ० ३४२ से ३४५ तक

भगवती शतक २५ उद्देश ६ में कपाय कुशीलको दोषका अप्रतिसेवी कहा है ।

बोल सातवा पृ० ३४३ से ३४५ तक

उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३४ गाथा ३१३२ में अजितेन्द्रियता और चोरी आदिमे प्रवृत्त रहना कृष्ण लेश्याका लक्षण कहा है परन्तु साधु जितेन्द्रिय और चोरी आदि दुष्कर्मसे निवृत्त रहते हैं इस लिये उनमे कृष्ण लेश्याके लक्षण नहीं हैं ।

बोल आठवा पृ० ३४५ से ३४७ तक

उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३४ गाथा ३१३२ मे बताया हुए कृष्ण लेश्याके लक्षण सामान्य साधुमें भी नहीं पाये जाते फिर भगवान् महावीर स्वामी ने उनके होनेके विषय मे कहना ही क्या है ।

बोल नवा पृ० ३४८ से ३४९ तक

पुलाक, वक्रुज और प्रतिसेवना कुशील दोषके प्रतिसेवी होते हैं परन्तु उनमे तीन विशुद्ध भाव लेश्या ही होती है इस लिये अप्रशस्त भाव लेश्याके बिना दोषका प्रतिसेवन नहीं होता यह कहना भी अज्ञान है ।

बोल दसवा पृ० ३५० से ३५१ तक

यदि विराधक होनेसे कपाय कुशील दोषका प्रतिसेवी हो तो फिर निमग्नको भी दोषका प्रतिसेवी कहना चाहिये क्योंकि भगवती शतक २५ उद्देश ६ के मूलपाठमे कपाय कुशीलकी तरह निमग्न भी विराधक कहा गया है ।

बोल ११ वा पृष्ठ ३५१ से ३५३ तक

शास्त्रोक्त चार ध्यानोमें अविग्रहास होनेसे जो अतिचार आता है उसकी निवृत्ति के लिये साधु प्रतिक्रमण करता है परन्तु चार ध्यानोके साधुओंमें होनेसे नहीं ।

बोल १२ वा पृ० ३५३ से ३५४ तक

पन्नावणा सूत्रकी मलयगिरि टीकामें मन पर्यावृत्तानियोंमें कृष्ण लेख्या बताई गई है परन्तु वह टीका भगवतो सूत्रकी टीकामें विरुद्ध होनेसे अप्रामाणिक है ।

बोल १३ वा पृ० ३५४ से ३५८ तक

संघादिकी रक्षा करनेके लिये वैक्रिय लब्धिका प्रयोग करने वाले साधुको शास्त्र-कारने भविनात्मा अनगार कहा है । पङ्क्ति लेख्याओंका स्वरूप समझानेके लिये व्याख्येय सूत्रकी टीकामें जामुनके फल खानेकी इच्छा करने वाले छ पुद्गलका उदाहरण दिया है ।

इति लेख्या प्रस्फरणम् ।

अथ वैयावृत्यधिकारः ।

बोल १ पृष्ठ ३५९ से ३६० तक

जैसे बन्धनार्थ किया जाने वाला वैक्रिय समुद्रघात व दनसे भिन्न है उसी तरह हरि वैशी मुनिका व्यावचके लिये यज्ञसे किया जाने वाला ब्राह्मण कुमारोका वादन मुनि के व्यावचसे भिन्न है ।

बोल दूसरा पृष्ठ ३६० से ३६१ तक

सूर्याग्निने नाटकको भक्ति स्वरूप नहीं कहा है इस लिये नाटकको भक्ति मानकर उसे सावध बताना अज्ञान है ।

बोल तीसरा पृष्ठ ३६१ से ३६२ तक

गुरु आदिके चित्तमें शान्ति उत्पन्न करनेसे ज्ञाता सूत्रमें शीर्षकर गोत्र वाधना कहा है । गुरु केवल साधु ही नहीं होते माता पिता ज्येष्ठ बन्धु आदि भी होते हैं ।

बोल चौथा पृष्ठ ३६२ से ३६५ तक

सुय० सु० १ अ० ३ उ० ४ गाथा ६७ में जो लोग विषय सुख भोगनेसे मोक्षकी प्राप्ति मन्ते हैं उनके सिद्धान्तका खण्डन है परन्तु साधुमें इतर प्राणीको माता देनेसे धर्म पुण्य होनेका निषेध नहीं है ।

बोल पाचवा पृष्ठ ३६६ से ३६८ तक

गृहस्थसे साता पूजना तथा उसका व्यावच करना साधुके लिये अन्याचार है गृहस्थके लिये नहीं ।

बोल छठा पृष्ठ ३६८ से ३७१ तक

उप ई सूत्रमें दशविध व्यावच कह गये हैं उनमें साधर्मिक व्यावच भी शामिल हैं । प्रवचनके द्वारा श्रावक भी श्रावकका साधर्मिक होता है अतः उसका व्यावच भी साधर्मिकके लिये निर्जराका हेतु है ।

बोल सातवा पृष्ठ ३७१ से ३७२ तक

ठाणाद् ठाणा ५ उद्देश २ में आचक्रोंके वर्ण बोलनेसे मुलभ घोड़ी और अर्ग बोलनेसे दुर्लभ घोड़ी होना कहा है अत आचक्रको अन्नदानादि द्वारा धार्मिक सहायता करनेसे एकान्त पाप कइना अज्ञान है।

बोल आठवा पृष्ठ ३७२ से ३७३ तक

आचक्र और आचक्राओंके दिन, सुख और पथ्य आदि की इच्छा करनेसे सन-कुमार देवेन्द्र भवसिद्धिसे लेकर यावत् चरम हो गये हैं। भगवती शतक ३ व० १

बोल नवा पृष्ठ ३७३ से ३७६ तक

साधु या साध्वीकी गनमें या विकालके समय सर्प काटनेपर क्रमश गृहस्थ स्त्री और पुरुषके द्वारा झाडा दिलाना वृद्धकल्प सूत्रमें लिखा है। आचाराग सूत्रमें कहा है कि गह्वे आदिमें गिरनेकी सभाजना होनेपर गृहस्थका हाथ पकड़ कर साधु मार्गको पार कर सकता है।

बोल दशवा पृष्ठ ३७६ से ३७९ तक

साधुकी गलेकी फासी काटने तथा आगमें जलते हुए साधुको बाहर निकालनेमें एकान्त पाप कइने वाले निन्द्य और शास्त्र विरोधी हैं।

बोल ११ वा पृष्ठ ३७९ से ३८१ तक

साधुकी नासिकामें लटकते हुए अर्गको धमे बुद्धिसे काटने वाले गृहस्थको पुण्य बन्धकी क्रिया लगती है और लोभसे काटने वालेको पाप लगता है।

बोल १२ वा ३८१ से ३८२ तक

साधुको गृहस्थके द्वारा अपने फोड़े आदिके छेदन कइनेकी इच्छा करना घुरा है परन्तु गृहस्थको धमेबुद्धिसे साधुके फोड़े आदिका छेदन करना पापका कारण नहीं है।

इति वैयावृत्य प्रकरणम्।

अथ विनयाधिकारः।

बोल १ पृष्ठ ३८३ से ३८५ तक

सम्यग्दृष्टि अपनेसे अधिक गुण वाले सम्यग्दृष्टिकी और आचक्र अपनेसे श्रेष्ठ आचक्रकी तथा ये सभी लोग सम्यग्दृष्टि साधुकी जो सेवा शुश्रूषा करते हैं यह इनका दर्शन विनय सभझना चाहिये।

बोल दूसरा पृष्ठ ३८५ से ३८६ तक

उत्पला आचक्राने पोखली आचक्रको और पोखलीने शङ्ख आचक्रको वन्दन नमस्कार किये थे।

बोल तीसरा पृष्ठ ३८७ से ३९१ तक

सामायक्रमे बैठा हुआ श्रावक सामायक्रमे नहीं बैठे हुए श्रावकसे श्रेष्ठ है इसलिये वह सामायक्रमे नहीं बैठे हुएको नमस्कार नहीं करता है ।

बोल चौथा पृष्ठ ३९१ से ३९६ तक

अम्बहजी के शिष्योंने सधारा पर बैठने के समय बारह व्रत ग्रहण कराने का उक्तर मानकर अम्बहजी को नमस्कार किया था कुप्रावचनिक धर्माचार्य मान कर नहीं ।

बोल पाचवा पृष्ठ ३९७ से ३९९ तक

दिक्कुमारियो ने गर्भस्थ तीर्थङ्कर और उनकी माताको वन्दन नमस्कार किये थे ।

बोल छठा पृष्ठ ३९९ से ४०२ तक

जन्मते समय तीर्थङ्करको वदना नमस्कार धर्म जान कर इन्द्र करते हैं लौकिक रीतिके अनुसार नहीं ।

बोल सातवा पृष्ठ ४०२ से ४०४ तक

भगवती शतक २ उद्देशा ५ में तथारूपके श्रमण और माहन (श्रावक) की सेवा भक्ति करनेसे धर्म अग्रसे लेकर मोक्षपर्यान्त फल मिलना कहा है ।

बोल आठवा पृष्ठ ४०५ से ४०६ तक

जैसे परतीर्थी धर्मोपदेशक श्रमण और माहन दो हैं उसी तरह स्वतीर्थ धर्मोपदेशक भी साधु और श्रावक दो हैं ।

बोल नवा पृष्ठ ४०६ से ४०७ तक

सुबुद्धि प्रधानके उपदेशसे जित्तगु राजाने बारह व्रत ग्रहण किये थे ।

बोल दशवा पृष्ठ ४०७ से ४०८ तक

भगवती शतक १ उद्देशा ७ की टीकामे श्रमण शब्दका साधु और माहन शब्दका श्रावक अर्थ किया है ।

बोल ग्यारहवा पृष्ठ ४०८ से ४११ तक

भगवती शतक १५ के मूलपाठमे साधु और श्रावक दोनों ही से धीरना और दोनोंको वन्दन नमस्कार करना कहा है ।

बोल १२ पृष्ठ ४१० से ४११ तक

उत्तागध्ययन सूत्र की गायार्थों मे कहहुए माहन के लक्षण श्रावकों में भी पाये जाते हैं ।

इति त्रिनयाधिष्ठार ।

अथ पुण्याधिकारः ।

बोल १ पृष्ठ ४१२ से ४१३ तक

पुण्यानुबन्धी पुण्य आदरणीय है, मोक्षार्थी पुरुष भी इसका आदर करते हैं ।

बोल दूसरा पृष्ठ ४१३ से ४१४ तक

साधन दशामें मोक्षार्थी भी पुण्य फलका आदर करते हैं ।

बोल तीसरा पृष्ठ ४१४ से ४१६ तक

मनुष्य शरीर पुण्यका फल है मोक्षार्थियोंके लिये इसकी आवश्यकता उसी तरह है जैसे नदीसे पार जाने वालेको नौका की ।

बोल चौथा पृष्ठ ४१६ से ४१९ तक

भगवती शतक १ उद्देशा ७ में कही हुई पुण्यकामना और स्वर्गकामना बुझी नहीं है किन्तु मोक्षका उपकारक है ।

इति पुण्याधिकारः ।

अथ आश्रवाधिकारः ।

बोल १ ४२० से ४२१ तक

पाच इन्द्रिय, चार कषाय, पाच अव्रत, पचीस क्रिया, तीन योग ये ४२१ आश्रव हैं ।

बोल दूसरा ४२१ से ४२५ तक

पचीस क्रियाएं अजीव की कही हैं और ये आश्रव हैं इस लिये आश्रव अजीव भी हैं ।

बोल तीसरा पृष्ठ ४२५ से ४२६ तक

पुण्य पाप और बन्ध भी व्यवहार दशा में जीव हैं इन्हें एकान्त अजीव कहना अज्ञान है ।

बोल चौथा पृष्ठ ४२६ से ४२७ तक

भगवती शतक १७ उद्देशा २ में साराग सत्तेश्य और समोह जीव को रूपी कहा है अतः जीव स्वरूप आश्रव भी रूपी सिद्ध होता है उसे एकान्त अरूपी कहना अज्ञान है ।

बोल पाचवा पृष्ठ ४२७ से ४२८ तक

पाप, पुण्य, बन्ध, ये व्यवहार दशामें जीव और निश्चयनयके अनुसार अजीव हैं इन्हें एकान्त जीव या एकान्त अजीव कहना मिथ्या है ।

बोल छठा पृष्ठ ४२८ से ४२९ तक

ठाणाङ्ग ठाणा ५ के मूलपाठसे आश्रवको एकान्त अरूपी और जीव सिद्ध करना जनताको धोखा देना है ।

बोल मातवा पृष्ठ ४२९ से ४३० तक

भगवती शतक १२ उद्देश ५ के मूलपाठमें तीन दृष्टियों को अरूपी और मिथ्यादर्शनशाल्य को रूपी कहा है अतः मिथ्यात्व आश्रय एकान्त अरूपी नहीं हो सकता ।

बोल आठवां पृष्ठ ४३० से ४३२ तक

कृष्ण लेख्या ससारी जीव का परिणाम है । ससारी जीव भगवती शतक १७ उद्देश २ में रूपी भी कहा है अतः कृष्णलेख्या रूपी भी सिद्ध होती है ।

बोल नवा पृष्ठ ४३२ से ४३३ तक

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के होने पर जो क्रिया की जाती है वह जीव की हो या पुद्गल की हो क्रमशः सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया कही जाती हैं ।

बोल दशवा पृष्ठ ४३३ से ४३४ तक

ठाणाङ्ग ठाणा १० के पाठ की साक्षी से आश्रय को एकान्त जीव बतलाना मिथ्या है ।

बोल १ वां पृष्ठ ४३४ से ४३५ तक

भगवती शतक १७ उद्देश २ के मूल पाठ की साक्षी से आश्रय को एकान्त जीव कहना अज्ञान है ।

बोल १२ वां पृष्ठ ४३५ से ४३८ तक

ठाणाङ्ग ठाणा १० के मूल पाठ में रूपी अजीव भी जीव का परिणाम कहा गया है ।

बोल तेरहवां पृष्ठ ४३८ से ४३९ तक

भाव गति आदिनी जीवका परिणाम मान कर द्रव्य गति आदिको जीव का परिणाम न मानना मूलपाठ और टीकासे विरुद्ध है ।

बोल चौदहवां पृष्ठ ४३९ से ४४० तक

तुल्य जलकी तरह पकाकार होकर रहनेसे गति आदिको ठाणाग ठाणा दशम जीवका परिणाम कहा है ।

बोल १५ वां पृष्ठ ४४० से ४४१ तक

भगवती शतक १२ उद्देश १० में कषाय और योगको आत्मा कहा है । कषाय और योग रूपी हैं इस लिये ससारी आत्मा भी रूपी हैं और कषयाश्रय तथा योगाश्रय भी रूपी हैं ।

बोल १६ वां पृष्ठ ४४१ से ४४१ तक

भाव कषाय और भाव योग को आत्मा मान कर द्रव्य कषाय और द्रव्य योगको आत्मा न मानना शास्त्र विरुद्ध है ।

बोल १७ वा पृष्ठ ४४२ से ४४४ तक

भगवती शतक १२ उद्देशा १० में आत्म मात्रका भेद कहा गया है भाव आत्मा का ही नहीं । भगवतो शतक १३ उ० ७ में आत्माका शरीरके साथ कथञ्चित् अभेद और कथञ्चित् भेद कहा है ।

बोल १८ वा पृष्ठ ४४५ से ४४६ तक

जीवोद्यतिष्पन्न भावको एकान्त जीव और अजीवोद्यतिष्पन्न भाव को एकान्त अजीव बताना अज्ञान है ।

बोल १९ वा पृष्ठ ४४६ से ४४७ तक

भाव रूप होनेसे न कोई पदार्थ एकान्त अरूपी होता है और द्रव्य रूप होने से न एकान्त रूपी ही हो जाता है अतः भाव रूप होने से क्रोधादि को एकान्त अरूपी कहना मिथ्या है ।

बोल २० वा पृष्ठ ४४७ से ४४९ तक

क्रोध, मान, माया और लोभ कर्मों के उदयसे उत्पन्न होते हैं इस लिये अपने कारणके अनुसार ये रूपी और पौद्गलिक हैं ।

बोल २१ वा पृष्ठ ४४९ से ४५१ तक

भगवती शतक १३ उद्देशा ७ में मन और वचनको रूपी तथा जीव से भिन्न कहा है इसलिये उनके योग भी रूपी और अजीव हैं अतः योगाश्रवको एकान्त अरूपी और जीव कहना अज्ञान है ।

बोल २२ वा ४५१ से ४५३ तक

ठाणाङ्ग सूत्रकी टीकामें आश्रवको जीव और अजीव दोनोंमें गतार्थ किया है ।

बोल २३ वा पृष्ठ ४५३ से ४५४ तक

कर्म भी कर्मके ग्रहण करनेमें काण होनेसे आश्रव है । वर पौद्गलिक कहा गया है इस लिये आश्रवको एकान्त अजीव मानना अज्ञान है ।

इति आश्रवाधिकार ।

अथ जीवाजीवदि पदार्थ विचारः ।

बोल १ पृष्ठ ४५५ से ४५६ तक

जीव और अजीव आदि नौ ही पदार्थ किसी न्यायसे रूपी और किसी न्यायसे अरूपी हैं ।

बोल दूसरा पृष्ठ ४५६ से ४५७ तक

मुख्य नयसे चार पदार्थ रूपी चार अरूपी और एक मिश्र है ।

बोल तीसरा पृष्ठ ४५७ से ४५८ तक

शब्द आदि तीन नव वादोंके मतसे नव ही तत्त्व जीव हैं । किसी अपेक्षासे एक जीव और आठ अजीव हैं । किसी अपेक्षासे एक जीव और आठ जीव हैं ।

बोल चौथा पृष्ठ ४५८ से ४५९ तक

किसी अपेक्षासे चार जीव और पांच अजीव हैं ।

बोल पाचवा पृष्ठ ४५९ से ४६० तक

एक अपेक्षामे एक जीव, एक अजीव और सात दोनोंक पर्याय हैं ।

इति नव तत्त्वविचार ।

अथ जीवभेदाधिकारः ।

बोल १ पृष्ठ ४७१ से ४६३ तक

प्रथम नारिक भुवनपति और व्यन्तर देवोमे जीवका तीसरा भेद न मानना मूर्खता है ।

बोल दूसरा पृष्ठ ४६३ से ४६४ तक

असहोसे मर कर प्रथम नारिक भुवनपति और व्यन्तर देवोमे उत्पन्न होने वाले जीवोंको शास्त्रमें कहीं भी सज्ञी नहीं कहा है अतः पन्नावणा सुनके मनुष्य विषयक पाठक' दृष्टान्त देकर उक्त जीवोमे असहोका अपर्याप्त भेद न मानना अज्ञान है ।

बोल तीसरा पृष्ठ ४६४ से ४६५ तक

छोटे बालक और बालिका मनोयुक्त होते हैं मनोत्रिकल नहीं होते इसलिये उनका दृष्टान्त देकर असहोसे मर कर प्रथम नारिक भुवनपति और व्यन्तर देवोमे उत्पन्न होने वाले जीवोंमे असहोका अपर्याप्त भेद न मानना अज्ञान मूलक है ।

बोल चौथा पृष्ठ ४६५ से ४६६ तक

कीड़ी आदि जीवोंको दशरैकालिक सूत्रमे छोटा होनेके कारण सूक्ष्म कहा है सूक्ष्म जीवका भेद मान कर नहीं क्योंकि वे त्रस जीवमे गिने गये हैं परन्तु असहोसे मर कर नारिक आदिमें उत्पन्न होने वाले जीव कहीं भी सज्ञी नहीं कहे हैं अतः उनमें असहोका भेद न मानना अज्ञान है ।

बोल पाचवा पृष्ठ ४६६ से ४६७ तक

समूर्द्धिम मनुष्यका दृष्टान्त देकर प्रथम नारिक भुवनपति और व्यन्तर देवोमें असहोके अपर्याप्त भेदका निषेध करना मिथ्या है ।

बोल छठा पृष्ठ ४६७ से ४६८ तक

भगवती शतक १३ उद्देशा २ के मूलपाठमें असुरकुमार देवतामे नपुंसक वेदका निषेध इस लिये किया है कि उनकी वह अवस्था अन्तर्मुहूर्तकी होती है ।

इति जीवभेदाधिकार ।

अथ सूत्र पठनाधिकारः ।

बोल १ पृष्ठ ४६९ से ४७१ तक
 श्रावकको भी शास्त्र पढ़नेका अधिकार है ।

बोल दूसरा पृष्ठ ४७१ से ४७२ तक

शास्त्र पढ़नेके चौदह अतिचार श्रावकको भी होते हैं यदि श्रावकको शास्त्र पढ़ने का अधिकार न होता तो उसको अकालमे स्वाध्याय करने और कालमे स्वाध्याय न करनेका अतिचार कैसे लगता ।

बोल तीसरा पृष्ठ ४७२ से ४७३ तक

नन्दी और समवायाग सूत्रमे साधु और श्रावक दोनोंको “सुयपरिगहिया” कहा है इस लिये साधुकी तरह श्रावकका भी सूत्र और अर्थ दोनों जाननेका अधिकार है । उत्तराध्यायन सूत्रमें पालित नामक श्रावकको निग्रथ प्रवचनका पण्डित कहा है ।

बोल चौथा पृष्ठ ४७३ ४७५ तक

प्रश्न व्याकरण सूत्रके मूल पाठमे सत्य रूप महाव्रतकी प्रशंसा की गई है शास्त्र पढ़ने और पढ़ानेका कुछ जिक्र भी नहीं है ।

बोल पाचवा पृष्ठ ४७६ से ४७७ तक

व्यवहार सूत्रमे तीन वर्ष दीक्षा लेनेके पश्चात् निशीथ सूत्र पढ़नेका और दश वर्ष दीक्षा लेनेके पश्चात् भगवती सूत्र पढ़नेका विधान किया है वह एकान्त नहीं है क्योंकि तीन वर्षकी प्रव्रज्या वाला साधु उत्कृष्ट द्वादशागधारी भी कहा गया है ।

बोल छठा पृष्ठ ४७७ से ४७८ तक

गुरुसे बिना पढ़े अपने मनसे शास्त्र पढ़ने पर ‘सुषुप्तिवदिन्न’ नामक अतिचार होता है उसकी निवृत्तिके लिये श्रावक गुरु से पढ़ कर ही शास्त्रका अध्ययन करते हैं ।

बोल सातवा पृष्ठ ४७८ से ४७९ तक

ठाणाग ठाणा तीनका नाम लेकर सभी श्रावकोंको अविनीत लोलुप और क्रोधी ठहरा कर शास्त्र पढ़नेका अनधिकारी बताना मूर्खता है ।

बोल आठवा पृष्ठ ४७९ से ४८१ तक

सूर्य्य प्रज्ञप्तिका नाम लेकर श्रावकको अभाजन कहना मिथ्या है ।

बोल ९ वा पृष्ठ ४८१ से ४८२ तक

उसन्न पासत्थ और कुशील आदि श्रावक भी होते हैं साधु ही नहीं । इसलिये निजीये सूत्र उद्देशा १९ के मूलपाठमे उसन्न पासत्थ और कुशील श्रावक और साधुको शास्त्र पढ़ानेका निषेध है जो श्रावक उसन्न पासत्थ और कुशील नहीं है उसको शास्त्र पढ़नेका निषेध नहीं है ।

बोल १० वा पृष्ठ ४८२ से ४८३ तक

आठ प्रकारके ज्ञानाचारे/मे दोष लगाने वाला पादर्वस्थ कहा जाता है। आचारा इति अह्न और उत्तराध्ययनादि वाह्य अङ्गोको पद कर जो सम्यक्त्वका लाभ करता है उसे उत्तराध्ययन सूत्रमे सूत्र रुचि कहा है।

इति सूत्र पठनाधिकारः ।

अथ क्रियाधिकारः ।

बोल १ पृष्ठ ४८४ से ४८४ तक

आज्ञा बाहरकी करनीसे भी पुण्य बन्व होता है।

बोल दूसरा पृष्ठ ४८४ से ४८५ तक

मिथ्या दर्शनी भी अकाम निर्जरा आदि आज्ञा बाहरकी करनी कर्मे स्वर्गगामी होते हैं।

बोल तीसरा पृष्ठ ४८५ से ४८६ तक

आचार्य, उपाध्याय, कुल, गण और सघकी निन्दा करने वाले वीतरागकी आज्ञाका अनागधक अज्ञानी, आज्ञा बाहरकी क्रियासे स्वर्गगामी होते हैं यह ब्याई सूत्रमे कहा है।

इति क्रियाधिकारः ।

अथ अल्प पाप बहु निर्जराधिकारः ।

बोल १ पृष्ठ ४८७ से ४८९ तक

तथा रूपके त्रमण माह्नको अकल्पनीय बाहार देने वाले आवरुकी थोडा पाप और अधिक निर्जरा होना भगवती शतक ८ उद्देश ६ मे कही है।

बोल दूसरा पृष्ठ ४८९ से ४९० तक

भगवतीके टीका कारने अपराध पाप शब्दका अर्थ निर्जराकी अपेक्षा थोडा पाप लिखा है पाप न होना नहीं।

बोल तीसरा पृष्ठ ४९० से ४९१ तक

बहु शब्दके साथ आया हुआ अल्प शब्दका कहीं भी अभाव अर्थ नहीं होता।

बोल चौथा पृष्ठ ४९१ से ४९२ तक

आचाराग सूत्रकी स्वरचित २७वा अर्थमे जीतमलजीने 'अफामुअ' का अर्थ अकल्पनीय कहा है।

बोल पाचवा ४९२ से ४९६ तक

भगवती शतक पाच उद्देश ६ के मूलपाठमे आधार्कमी बाहार बनाने और शूठ गोल कर उसे साधुको देनेमें जो प्राणातिपात और मिथ्या मापण होता है उससे अल्प आयुका बन्धन होना कहा है वह अल्प आयु क्षुल्लक भय ग्रहण रूप नहीं है किन्तु दीर्घ आयुकी अपेक्षासे अल्प है।

बोल ६ द्वा ४९६ से ४९९ तक

भगवती जनक १८ उद्देशा १० के मूलपाठमें उत्सर्ग मार्गमें अनेपणिक साधुको अभक्ष्य कहा है कारण दशामे नहीं ।

बोल सातवा पृष्ठ ४९९ से ५०० तक

नित्य पिण्ड और उद्दिष्ट भक्त दोनों ही दुर्गतिके कारण कह गये हैं । परन्तु नामधारी साधु बिना कारण ही नित्य पिण्ड लेते हैं ।

इति अल्प पाप बहु निर्जराधिहार ।

अथ कपाटाधिकारः ।

बोल १ पृष्ठ ५०१ से ५०२ तक

तेरह पंथी साधु अपने हाथसे लिहभीका कपाट खोलते हैं और बन्द कान्ते भीषणजी लिङ्गीकी कपाट खोल कर रातमें बाहर गए थे तथा सोजदमें जी नाथाजी आदि सात आर्याओंको अपने हाथसे छत्रीका कपाट खोल कर उतारा

बोल दूसरा पृष्ठ ५०२ से ५०३ तक

उत्तराध्ययन सूत्र अ० ४ गाथा ३५ में इन्द्रियोंकी बचलताको गेहनेके कहा है कि साधु, मनोहर, चित्र युक्त मत्स्य और धूपसे सुवासित तथा कपाट वाले म में न रहे, कपाट बन्द करने और खोलनेके भयसे उक्त मकानमें रहनेका निषेध नहीं

बोल तीसरा पृष्ठ ५०४

आवश्यक सूत्रमें बिना पूजे कपाट खोलनेका प्रायश्चित्त स्वरूप मिच्छामि देना कहा है पूज कर खोलनेका नहीं है ।

बोल ४ पृष्ठ ५०४ से ५०५ तक

सुय० गाथा बाहू तेरहमें अकेला विहार करने वाले साधुके लिये कपाट करनेका निषेध किया है स्थविर कल्पीके लिये नहीं ।

बोल पाँचवा पृष्ठ ५०६ से ५०७ तक

दश वैकालिक अ० ५ उ० १ गाथा १८ में स्रण आदिके पर्देसे ढके हुए गृहस्थकी आज्ञासे कारण दश में खोलनेका विधान किया है ।

आचारारग सूत्रमें गृहस्वामीकी आज्ञासे प्रमाजन आदि करके गृहस्थके खोलनेका विधान किया गया है ।

बोल छठा पृष्ठ ५०७ ५०८ सेतक

आचारारग सूत्रके मूलपाठमें कपाट खोलने और बन्द करनेके भयसे कपाटवाले म रहनेका निषेध नहीं है किन्तु गृहस्थके ससर्ग वाले गृहमें रहनेका निषेध किया गया

बोल सातवा पृष्ठ ५०८ से ५१२ तक

गृहस्वरूप सूत्रके भाष्यमें कारण पड़ने पर साधुको जयगाके साथ कपाट खोल और बन्द करनेका विधान किया है ।

शुद्धाशुद्धि पत्र ।

पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	नियुक्ति	निर्युक्ति
१४	धम	धर्म
३०	सथा	मर्था
११	जा	जो
२	ऐसी	ऐसी
३	मोक्ष मार्ग	मोक्ष मार्ग
४	तथा	तथा
५	लिये गये हैं	लिये गये हैं
८	लटका दिये हैं	लटका दिये गये हैं ।
९	उन्हें मोक्ष	उन्हें अज्ञानी होनेसे
	मार्गका	मोक्ष मार्ग का
७	पठमें	पठमें
१२	देशाराधक	देशाराधक
२४	अर्थात्	अर्थात्
३१	सम्यग्दृष्टिका	सम्यग्दृष्टि या
१८	विपाक	विपाक
३०	ज्ञान अध्ययन	ज्ञानाध्ययन
१८	क्रियावादी	क्रियावादी ही
२७	सुसल	सुसल
२७	विरतिपुक्त	विरतिपुक्त
२०	निमल	निर्मल
२६	मिथ्यात्व	मिथ्यात्व
३०	अद्	अद्
१८	विश्व	विश्व
२०	उत्तर	उत्तर

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६३	१५	उद्देशा १	उद्देशा ३१
६३	२८	"	"
६४	९	"	"
६९	२५	होता	होता है
७२	१४	चन्तवना	चिन्तवना
८२	३	अच्छा	शुभ
८२	७	"	"
८२	२०	"	"
८५	५	पूर्वत	पूर्वेत
८८	१४	चार	चौर
८८	१७	अधम	अधम
९६	६	बनलाते	बतलाते
९६	२८	निर्वाह	जीविका निर्वाह
९९	१७	नुनि	मुनि
१०५	१८	अथमें	अर्थमें
१०७	९	अहत	आहत
१०७	१०	शिरमणि	शिरोमणि
१०७	११	प्रतिग्रह	प्रतिग्रह
१०७	२९	बैडाल आतिथ	बैडाल अतिथ
१०८	५	अना	जाना
१०९	२	अनता	जानता
१११	२३	टकानुसार	ढोकानुसार
१२८	२७	तहर	तरह
१३८	९	अथमें	अर्थमें
१४४	३	करसेने	करनेसे
१४६	११	मरवाने	मारवाने
१४८	१४	करने	कारने
४५३	१३	सरम्भ	संरम्भ
१५५	५	परिग्रहमें	वसक्री ममता परिग्रहमें
१५६	११	गतम	गोतम

पृष्ठ	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३११	२५	अनेक दिनके	अनेक वर्षके
३१४	२८	तिर्णय	निर्णय
३१८	२७	दोष अप्रतिसेवी	दोषका अप्रतिसेवी
३२३	४	घोल (०)	घोल १२ वा
३२४	१७	गाथाका अर्थ है	पाठका अर्थ है
"	२५	छास्य	छास्य
३२५	८	गोशालको	गोशालरु को
३२९	५	टोकामें	अर्थमें
३४८	१७	लेइया	लेइया
३४९	२	पञ्चवखाण	पञ्चमखाण
३५२	४	द्रु	रद्र
३५४	२८	गच्छज्जा	गच्छेज्जा
३५५	९	सादिका	आदिका
"	२०	स्वीकारण	सीरीकारण
३६१	२	भगवत्प्रति	भगवत्प्रति
"	१५	छ	छे
३६९	१३	भगोंमे	भगमें
३७१	१	कतम्य है	कर्त्तव्य है
"	१६	आवकोको	आवकों के
३७५	७	'	श्रु० २ अ० ३ उ० २
३७९	२६	सूत्रको	सूत्रका
३८०	४	अथ	अर्थ
"	९	कराने वाले	कराने वाले
३८२	४	धर्म बुद्धिसे	धर्म बुद्धिसे
"	११	अण्णपरेण	अण्णवरेण
३८३	१३	भगवती शत १-५	भगवती शतक २५
३८४	१	असातना	अनासातना
३८७	५	निर्जराका	निर्जराका
३८९	६	असनानुप्रदान	आसनानुप्रदान
३९१	१	मुनियोको	मुनियोको
३९२	३	वाहर	चारह
३९६	१९	कुप्रावाचनिक	कुप्रावचनिक
३९८	५	सिरसावत्त	सिरसावत्त
४०५	२९	साथ	धर्मके साथ
४०६	१४		अपने ७०० शिष्योंको

पृष्ठ	पक्ति	अक्षर	शुद्ध
४९७	१४	मौनन्द्रागम	मौनीन्द्रागम
४९८	७	उपयोग	उपभोग
"	२८	तथापि	अतएव
५०३	४	रुद्धोच	रुद्धोय
५०४	११	प्रमाज्जत	प्रमार्जन
५०५	१	सुन्नधरस्स	सुन्नधरस्स
५०६	१०	अलसीके काण्डकी टट्टं से	सणके
"	२५	प्रम जन	प्रमार्जन
"	२७	कके	करके
५०८	३०	अन्तो	अन्तो
५०९	५	रुले	रुले
५१०	१९	वाघादय	व्याघ्रादय

परिशिष्ट ।

पृष्ठ ६१, पक्ति चौथीके १५ वें अक्षरके आगेका छूटा हुआ पाठ यह है —

“विमुञ्जमाणेविजाणइ”

पृष्ठ ७६, पक्ति १७ के २३ अक्षरके आगेका पाठ यह है —

“अणाराहगा”

पृष्ठ १६७, पक्ति ११ के १४ अक्षरके आगेका छूटा हुआ पाठ यह है —

“किंवा दद्या”

पृष्ठ २६८ पक्ति २२ के दश अक्षरके आगेका छूटा हुआ वाक्य यह है .--

“वास्तवमे शास्त्रसे मिलती हुई सभी चीजों मान्य हैं ।

पृष्ठ ३२३ के चौथी पंक्ति के आगेका छूटा हुआ श्लोक यह है —

(बोल १२)

३३५ पृष्ठके २९ वीं पंक्ति के आगेका छूटा हुआ वाक्य यह है —

“जहां जहां आरम्भ है वहां सर्वत्र यदि कृष्ण लेखा है तो फिर शुक्ल लेखा केवल अनारम्भों में ही पाई जानी चाहिये परन्तु वह आरम्भों में भी पाई जाती है अतः पूर्वोक्त नियम सिद्ध है ।



❀ श्रीवीतरागाय नमः ❀

सद्धर्ममण्डनम् ।

मिथ्यात्विक्रियाधिकारः ।

अथ सद्धर्ममण्डनमारभ्यते

सिद्धाण नमो किञ्चा संजयाणंच भावओ

अस्य धम्म गइं तच्च अणुसिट्ठिं सुणेहमे १

भव वीजांकुर जनना रागाद्याः क्षय सुपागता यस्य

ब्रह्मावा विष्णुर्वा हरो जिनोवा नमस्तस्मै २

सिद्ध और साधुओंको भावपूर्ण नमस्कार करके हिताहितका ज्ञान देनेवाला सदुपदेश दिया जाता है उसे सुनिये । भगवोज्ञका अकुर उत्पन्न करनेवाले रागादि दोष जिनके क्षीण हो गये हैं वह प्रज्ञा हो, विष्णु हो चाहे शिव या जिन हो उसे मेरा नमस्कार है ।

(सम्यग् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, विद्या चारित्र और श्रुत चाग्रि को “सद्धर्म” कहते हैं । उसका मण्डन तथा मिथ्या ज्ञान दर्शन और चारित्रिका मण्डन और जीविका तथा अनुकम्पा दान आदिके विरोधी सिद्धान्तोंका निराकरण, शास्त्रीय प्रमाणसे इस ग्रन्थमें किया जाता है, इसलिये इसका नाम “सद्धर्म मण्डन” रक्खा है । अन्य जीवोंके उपकारार्थ, तथा आत्मलाभार्थ, यह ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है ।)

श्रीवीतरागादेवकी आज्ञाराधना रूप धर्मके दो भेद ठाणाङ्ग सूत्रके दूसरे ठाणेमें कहे हैं । वह पाठ—

“दुविहे धम्मे पन्नतो तंजहा—सुयधम्मे चेव चारित्तधम्मे चेव” (ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा २)

अर्थ—धर्म दो प्रकारका है एक श्रुत और दूसरा चारित्र ।

(सम्यग्ज्ञान, दर्शन, आठ ज्ञानाचार और आठ सम्यक्त्वके आचार श्रुतधर्म माने जाते हैं । मातु धर्म, तथा गृहस्थ धर्मके मूलगुण एवं आठ चारित्रिक आचार, चारित्र धर्ममें कहे गये हैं ।) इस प्रकार श्रुत और चारित्र ये दो ही वीतरागकी आज्ञाका धर्म हैं । इनसे भिन्न कोई तीसरा धर्म, वीतराग भाषित या वीतरागकी आज्ञाका धर्म नहीं है । इन्हीं श्रुत और चारित्र धर्मोंका आराधक पुरुष वीतरागकी आज्ञाका आराधक है ।

श्रीवीतरागकी आज्ञाराधनाके तीन भेद भगवन्नी सूत्रमें कहे हैं

बह्मपाठ—“कतिविहाणं भन्ते ! आराहणा पणत्ता ?

गोयमा ! तिविहा आराहणा पणत्ता तंजहा नाणाराहणा

दंसणाराहणा चारित्ता राहणा । णाणाराहणाणं भन्ते !

कतिविहा पणत्ता गोयमा ! तिविहा पणत्ता तजहा—

उक्कोसिया मज्झिमा जहण्णा । दंसणाराहणाणं भन्ते !

एवंचेव तिविहावि एवं चारित्तराहणावि”

(भगवन्ती शतक ८ उद्देशा १०)

अर्थ—हे भगवन् ! आराधनाके भेद कितने होते हैं ?

(उत्तर) हे गोतम ! आराधनाके भेद तीन हैं, ज्ञानाराधना (ज्ञानकी आराधना) दर्शनाराधना (दर्शनकी आराधना) और चारित्राराधना (चारित्रिकी आराधना) ।

(प्रश्न) हे भगवन् ! ज्ञानाराधनाके कितने भेद होते हैं ?

(उत्तर) हे गोतम ! ज्ञानाराधनाके तीन भेद हैं, उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य । इसी तरह दर्शनाराधना और चारित्राराधनाके भी तीन तीन भेद समझने चाहिये ।

यहां भगवान्ने आराधनाके तीन प्रकारकी कही हैं ज्ञानाराधना, दर्शनाराधना और चारित्राराधना । इसलिये इन्हींका आराधक पुरुष मोक्ष मार्ग तथा वीतरागकी आज्ञाका आराधक समझा जाता है । परन्तु इनकी आराधना नहीं करूँ, जो किसी दूसरे धर्मका आराधन करता है वह मोक्ष मार्ग तथा वीतरागकी आज्ञाका आराधक नहीं है । ऊपर बताये हुए मूलपाठमें उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्यके भेदसे जो तीनों आराधनाओंको तीन तीन प्रकारका कहा है उनमें किस भेदका आराधक पुरुष कितना भव करता है यह निर्णय भी इसी जगद् भगवन्नीजीके मूलपाठमें कर दिया है वह पाठ—

“उक्कोसियाणं भन्ते ! णाणाराहणां आराहेत्ता कतिहिं भवग-
हणे हिं सिद्धंति जाव अन्तं करेंति ? गोयमा ! अत्थेगहए, तेणेव

भवगहणेणं सिज्झंति जाव अन्तं करेंति अत्येगइए दोच्चेणं भवग-
हणेणं सिज्झंति जाव अन्तं करेंति अत्ये गइए कप्पोवएसुवा कप्पाती
एसुवा उववज्जंति । उक्कोसियणं भन्ते ! दंसणाराहणं आराहेत्ता
कतिहिं भवगहणेहिं एव चेव उक्कोसियणं भन्ते ! चारित्ताराहणं आरा-
हेत्ता एवंचेव नवर अत्येगइए कप्पातीणसुउववज्जंति । मज्झिमियणं
भन्ते ! णाणाराहणं आराहेत्ता कतिहिं भवगहणेहिं सिज्झति जाव
अन्तं करेंति ? गोयमा ! अत्येगइए दोच्चेणं भवगहणेणं सिज्झइ जाव
अन्तं करेंति तच्च पुण भवगहणं नाइक्कमइ । मज्झिमियं णं भन्ते !
दंसणाराहणं आराहेत्ता एवंचेव एवं मज्झिमियं चरित्ताराहणांवि ।
जहन्नियणं भन्ते ! णाणाराहणं आराहेत्ता कतिहिं भवगहणेहिं सि-
ज्झति जाव अन्तं करेंति ? गोयमा ! अत्येगइए तच्चेणं भवगहणेणं
सिज्झइ जाव अन्तं करेंति सत्तइभवगहणाइ पुण नाइक्कमइ एवं
दंसणाराहणं वि एवं चरित्ताराहणं वि” (भगवती शतक ८ उ० १०)

इस पाठमें ज्ञान, दर्शन और चारित्रिकी उत्कृष्ट आराधना करनेवाले पुरुषको जघन्य
एकभ्रम और उत्कृष्ट दूसरे भवमें मोक्ष जाना कहा है तथा उत्कृष्ट ज्ञान और दर्शनकी
आराधना करनेवालेको कल्प और कल्पानीत नामक स्थानोंमें ही देवता होना, एव
उत्कृष्ट चारित्रिकी आराधना करनेवालेको अनुसर विमानमें ही जाना कहा है । इसी तरह
इन तीनों आराधनाओंक मध्यम आराधकको जघन्य दो और उत्कृष्ट तीन भवमें, तथा
इनके जघन्य आराधकको जघन्य तीन और उत्कृष्ट सात आठ भवमें मोक्ष जाना बत-
लाया है । इसका खुलासा करते हुए टीकाकारने लिखा है कि—जिस ज्ञान दर्शनकी
जघन्य आराधनासे उत्कृष्ट सात आठ भवमें मोक्ष जाना इस पाठमें बतलाया है वह ज्ञान
और दर्शनकी आराधना चारित्र्याराधनाके साथ की जानेवाली समझनी चाहिए । परन्तु
चारित्रिकी आराधनासे गृहीत जघन्य ज्ञान और दर्शनकी आराधना नहीं । क्योंकि चारित्र-
की आराधनासे गृहीत जघन्य ज्ञान और दर्शनकी आराधनासे, तथा श्राव्यरूपनेके देशधनकी
आराधनासे उत्कृष्ट असत्य भव भी होते हैं । इस प्रकार जिस पुरुषमें चारित्रिकी आरा-
धना नहीं है किन्तु ज्ञान और दर्शनकी जघन्य आराधना है वह पुत्र्य, तथा दशत्रयी
आधक, जघन्य तीन और उत्कृष्ट असत्य भवमें मोक्ष प्राप्त करते हैं । इस न्यायसे जो

पुरुष वीतरागकी आज्ञाराधनाके किसी भी भेदका आराधक है वह दो तीन भवों अथवा असंख्य भवोंमें अवश्य ही मोक्ष जाता है पर जो पूर्वोक्त आराधनाओंके किसी भी भेदका आराधक नहीं है वह कभी भी मोक्ष नहीं जाता किन्तु वह अनन्त कालक ससारमें ही पड़ा रहता है। अतः मिथ्यादृष्टि पुरुष वीतरागकी आज्ञाका किञ्चित् भी आराधक नहीं है क्योंकि आज्ञाराधक पुरुष पूर्वोक्त पाठ और टीकानुसार दो तीन भवोंमें अथवा उत्कृष्ट असंख्य भवोंमें अवश्य ही मोक्ष जाता है पर मिथ्या दृष्टि नहीं जाना। इसलिये वह वीतराग की आज्ञाराधनाके किसी भी अज्ञान आराधक नहीं है यह उक्त मूल पाठसे सिद्ध होता है। जो लोग मिथ्यादृष्टिको दृष्टसे मोक्ष मार्गका आराधक मानते हैं उन्हें उक्त मूल पाठ और उस की टीकानुसार मिथ्यादृष्टि को उत्कृष्ट असंख्य भवोंमें मोक्ष जाना भी मानना चाहिये। यदि मिथ्यादृष्टिको असंख्य भव में वे मोक्ष जानते नहीं मानते, तो फिर उसे वीतरागकी आज्ञाका देशसे आराधक भी नहीं मान सकते। जो आज्ञाका आराधक तो हो और असंख्य भव में भी मोक्ष न जाय यह बात उक्त मूल पाठ और उस की टीका से विरुद्ध है।

पूर्वोक्त त्रिविध आराधना श्रुत और चारित्रिक ही अन्तर्गत हैं। ज्ञानके बिना दर्शन और दर्शनके बिना ज्ञान नहीं होता इसलिए ज्ञान और दर्शन ये दोनों श्रुत धर्मोंमें माने जाते हैं और चारित्र्याराधना चारित्र्यस्वरूप है इसलिए धर्मके मूलभेद श्रुत और चारित्र्य ये दो ही हैं। दशमस्कंधसूत्र में “अहिंसा सयमो तपो” यह कह कर अहिंसा सयम, और तपको जो धर्म कहा है वह श्रुत और चारित्र्यको ही अहिंसा सयम और तप कह कर घटलाया है। पर श्रुत और चारित्र्य से अतिरिक्त अहिंसा सयम तप धर्म नहीं कहे हैं। अतएव इस गाथा की निर्युक्ति में धर्म की व्याख्या करते हुए लिखा है कि “दुर्विहो लोभुक्तगियो सुयधम्मो एतु चरित्त धम्मोय” अर्थात् लोकोत्तर धर्म दो प्रकारका होता है एक श्रुत और दूसरा चारित्र्य। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रुत और चारित्र्य रूप लोकोत्तर धर्मको ही उक्त गाथा में अहिंसा, सयम और तप कह कर घटलाया है परन्तु किसी लौकिक धर्मको नहीं।

इसी तरह उत्तगव्ययन सूत्रके २८ वें अव्ययनमें मोक्षका मार्ग बतलानेके लिए यह गाथा कही है कि —

“नाणञ्च दम्मणचैव चरित्तंच तवो तत्ता । एसमग्गुत्ति पन्नतो जिणेहिं वरदसिहिं” (उत्तरा० अ० २८ गाथा २)

अर्थात् ज्ञान दत्तन चारित्र्य और तपको सत्त्वशांति जिनसे ही मोक्षका मार्ग बतलाया है।

यहा गाथामे ज्ञान, दर्शन, चाग्रि, और तप ये चार मोक्ष के मार्ग कहे हैं। ये चारो ही श्रुत और चाग्रि धर्म के भेद हैं ज्ञान और दर्शन तो श्रुत के अन्दर और चाग्रि तथा तप चाग्रि के अन्दर माने जात हैं। अत गाथा मे कहे हुए ज्ञान, दर्शन, चाग्रि और तप, श्रुत तथा चाग्रिबे अन्तर्गत हैं। अतएव इस गाथाकी पाई टीका मे तप के विषय में लिखा है कि—

“तपो बालाभ्यन्तर भेद भिन्न यद्वद्वचनानुमार्ग तद्वो पादीयते”

अर्थात् बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे भिन्न अद्विचनानुमार्ग जो तप है उसी का इस गाथा मे प्रहण है।

यहा टीकाकारने वीतगग भाषित तप को ही मुक्तिका मार्ग बतला कर गाथामे उसीका प्रहण होना बतलाया है पर मिथ्यादर्शनानुसारी तपको मुक्ति का मार्ग नहीं कहा है। अत वीतगगकी आज्ञामें होने वाला यह तप चाग्रि का ही भेद है। अतएव इस गाथा की टीकामे चाग्रिसे पृथक् तपको लिखनेका प्रयोजन बतलाते हुए टीकाकारने लिखा है कि—“इहच चाग्रि भेदत्वेऽपि तपस पृथगुपादान मन्यैव क्षपण प्रत्यसाधारण हेतुत्वमुपदर्शयितुम्।” अर्थात् तप, चाग्रिका ही भेद है तथापि कर्मक्षय करनेमे यह सत्यसे प्रगत है यह बतलानेके लिए इस गाथामे चाग्रिमे अलग तप कहा गया है।

यहा टीकाकारने स्पष्ट लिखा है कि तप चाग्रि का ही भेद है अत सिद्ध हुआ कि ऊपर लिखी हुई गाथामे श्रुत और चाग्रि धर्म ही ज्ञान, दर्शन, चाग्रि तथा तप कह कर बतलाये गये हैं इस न्यायसे श्रुत और चाग्रिसे भिन्न कोई तीसरा वीतगगकी आज्ञाका धर्म नहीं है यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है।

ठाणाङ्ग सूत्रमे त्रिधा और चाग्रिके द्वारा संसार-सागरसे पार जाना कहा है, वह त्रिधा और चाग्रि भी श्रुत तथा चाग्रि धर्म ही हैं इनमे पृथक् नहीं। वह पाठ—

“तोहिं ठाणेहिं अणगारे सम्पन्ने अणादिय अणवपरग दीह-
मद्व चाउरतर संसारकंनारं वीतिवत्तोज्जा । तंजहा विज्जाएचेव चर-
णेणचेव” (ठाणाङ्ग ठाणा २ उद्देशा ३)

इस पाठमें त्रिधा और चाग्रिके द्वारा संसार सागर से पार जाना कहा है और मूलपाठ में त्रिधा और चरण शब्द के साथ “एव कारण” लगाकर अत्रमाग को पार करने के लिये अन्य उपाय का निषेध किया है। इसलिए मोक्ष प्राप्ति के लिये त्रिधा और चरण ये दो ही कारण सिद्ध होते हैं इनसे भिन्न कोई तीसरा कारण नहीं। यहा त्रिधा शब्द से ज्ञान दर्शन का और चरण शब्द से चाग्रि का प्रहण है इसलिये इस पाठ मे श्रुत और

चारित्र्य ही विद्या, तथा चरण कहकर बतलाये हैं । अतः इस पाठसे भी यही सिद्ध होता है कि श्रुत और चारित्र्य धर्म ही मोक्ष प्राप्ति के कारण हैं इनसे भिन्न कोई दूसरा नहीं है ।

यहाँ कोई यह शङ्का करे कि विद्या शब्द तो केवल ज्ञान अर्थमें ही प्रसिद्ध है उससे ज्ञान और दर्शन इन दोनों का ग्रहण क्यों होगा ? तो इसका उत्तर यह है कि इस पाठ की टीका में विद्या शब्दसे ज्ञान और दर्शन दोनों ही का ग्रहण होना लिखा है । वह टीका यह है—“ननु सम्यग्ज्ञान दर्शन चारित्र्याणि मोक्ष मार्ग इति श्रूयते इदं तु ज्ञान क्रियाभ्यामसायुक्त इति कथं न तद्विरोधः अथ द्विस्थानकानुरोधादेवं निर्दोशोऽपि न विरोधो नेवमवधारणगर्भत्वान्निर्दोशस्येति । अत्रोच्यते विद्याग्रहणेन दर्शनमप्यविरुद्धं द्रष्टव्यं ज्ञानभेदत्वात्सम्यग्दर्शनस्य । यथाहि अवोधात्मकत्वे सति मतेरनाकारत्वादवग्रहो दर्शन साकारत्वाच्चापायधारणे ज्ञानमुक्तमेव व्यवसायात्मकत्वे सत्यत्रायस्य रचिरुपोऽजोऽत्राय एवेति न विरोधः । अवधारणतु ज्ञानादिव्यतिरेकेण नान्यउपायो भव व्यवच्छेदस्येति दर्शनार्थं मिति”

अर्थ—सम्यग्ज्ञान दर्शन और चारित्र्य मोक्ष के मार्ग सुने जाते हैं परन्तु यहाँ ज्ञान और क्रियासे मोक्ष कहा गया है इस कारण उससे विरोध क्यों नहीं ? यदि कहो कि ठाणाङ्ग सूत्रका यह दूसरा ठाणा है इसमें तीनका समावेश नहीं है इसलिये यहाँ ज्ञान और क्रियासे मोक्ष कहा, किन्तु दर्शनसे नहीं । तो यह अयुक्त है । क्योंकि इस मूल पाठमें “विज्जाए चेव चरणेण चेव” इन पदोंमें विद्या और चरण से ही मोक्ष जाने का नियम करके दूसरे से मोक्ष प्राप्ति का निषेध किया है । इसका उत्तर यह है कि विद्या शब्द से यहाँ दर्शन का भी ग्रहण समझना चाहिये । क्योंकि सम्यग्दर्शन, ज्ञानका ही भेद है । जैसे कि अवबोध स्वरूप और अनाकार स्वरूप होने से मतिज्ञान के अग्रह और ईद्वारूप भेद दर्शन स्वरूप है और साकार होने के कारण अवाय और वारणा रूप मतिज्ञान के भेद, ज्ञान के अन्तर कहें हैं इसी तरह व्यवसाय स्वरूप अत्राय का रचिरूप अग्न सम्यग्दर्शन है और अवगमरूप अग्न अवाय, ज्ञान स्वरूप ही है इसलिये कोई विरोध नहीं है । इस पाठ में जो “एवकार” आया है वह सम्यग्ज्ञान दर्शन और चारित्र्य से भिन्न कोई मोक्ष प्राप्ति का उपाय नहीं है यह दर्शान के लिये समझना चाहिये । यह उक्त टीका का अर्थ है ।

यहाँ टीकाकार ने विद्या शब्द से ज्ञान और दर्शन दोनों ही का ग्रहण बतलाया है और सम्यग्ज्ञान दर्शन ही श्रुत कहलाते हैं इसलिये उक्त मूलपाठ में श्रुत और चारित्र्यधर्म ही विद्या और चरण शब्द से कहे गये हैं । मूलपाठ में ‘एवकार’ देकर इनसे भिन्न पदार्थ को मोक्ष प्राप्ति में निषेध किया है अतः श्रुत और चारित्र्यधर्म ही मोक्ष के मार्ग तथा वीतराग की आज्ञा के धर्म सिद्ध होते हैं । श्रुत तथा चारित्र्य अथवा विद्या या चारित्र्यधर्म

अज्ञानी और मिथ्यात्वियो मे नहीं होत सम्प्रदष्टि पुरुषो मे ही होत हैं अतः सम्प्रदष्टि पुरुष ही बीतरगा की आज्ञाराधक या मोक्ष मार्गके आगधक हैं मिथ्यादष्टि नहीं ।

(१) पहला बोल समाप्त ।

जो जीव अज्ञानी तथा मिथ्यादष्टि हैं उनसे जो परलोक के लिये तपोदानादि रूप क्रिया की जाती हैं वह बीतरगा की आज्ञा में नहीं हैं और वे पुरुष मोक्ष मार्गके किञ्चित् भी आगधक नहीं हैं यह बात शास्त्र के प्रमाण से बतलाई जाती है ।

भगवती सूत्र श्लोक १ उद्देश ४ मे कहा है कि जो पुरुष अज्ञानी तथा मिथ्या-दष्टि हैं उनकी परलोक सम्बन्धी क्रिया मोक्ष कर्म के उद्देश से होती है । वह पाठ—

“जीवेण भन्ते ! मोहणिज्जेण कहेण कस्मेण उदिन्नेण उवट्ठा-
वेज्जा ? हंता गोयमा उवट्ठाएज्जा । से भन्ते ! किं वीरियत्ताए उवट्ठा-
एज्जा अवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ? गोयमा ! वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा
णोअवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा । जइ वीरियत्ताएउवट्ठाएज्जा किं बाल वीरि-
यत्ताए उवट्ठाएज्जा पण्डियवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा बालपंडियवीरिय-
त्ताए उवट्ठाएज्जा गोयमा ! बालवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा णोपंडियवीरि-
यत्ताए उवट्ठाएज्जा णो बालपंडियवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा” (भगवती
शतक १ उद्देश ४)

अर्थ—हे भगवन् ! मिथ्यात्व-मोहनीय कर्मके उद्देशसे जीव परलोककी क्रिया स्वीकार करता है या नहीं ?

(उत्तर) हे भोक्तृ ! करता है ।

(प्रश्न) हे भगवन् धीर्यके द्वारा स्वीकार करता है या अवीर्यके द्वारा करता है ?

(उत्तर) धीर्यके द्वारा स्वीकार करता है अवीर्यके द्वारा नहीं क्योंकि परमेश्वरी प्रिया करनेमें धीर्यकी आवश्यकता होती है ।

(प्रश्न) यदि धीर्यके द्वारा स्वीकार करता है तो क्या बाल धीर्यके द्वारा करता है या पण्डित धीर्यके द्वारा करता है अथवा बाल पण्डित धीर्यके द्वारा स्वीकार करता है ?

(उत्तर) बाल धीर्यके द्वारा स्वीकार करता है पण्डितधीर्य अथवा बालपण्डितधीर्यके द्वारा नहीं । यह हम पाठका अर्थ है ।

यहां “गाल” शब्दका अर्थ टीकाकारने मिथ्यादष्टि किया है । वह टीका यह है—

“बालधीर्यत्ताए” त्ति बाल सम्यगर्थानवरोधान सद्बोधकार्यविगत्यभावाच्च मिथ्यादष्टि तस्य वीर्यना परिणति विज्ञेय सा तथा तथा ”

अर्थात् जिसको सम्यक् अर्थका बोध नहीं है और सद्बोधसे उत्पन्न होनेवाली विरति भी नहीं है वह जीव “बाल” कहलाता है अर्थात् मिथ्यादृष्टि को बाल कहते हैं। उसकी वीर्यता बाल वीर्यता कहलाती है। यह टीकाका अर्थ है।

यहा मूलपाठ और टीकामे मिथ्यात्वमोहनीय कर्मके उदयसे जो परलोक की क्रिया की जाती है उसे बालवीर्यके द्वारा होना कहा है और बालवीर्य (मिथ्यात्वीका वीर्य) वीतराग की आज्ञासे बाहर है इसलिए उस वीर्यके द्वारा जो परलोक की क्रिया की जाती है वह भी आज्ञासे बाहर सिद्ध होती है। अतः अज्ञानी और मिथ्यादृष्टियों की परलोकके लिए की जानेवाली तपोदानादिरूपा क्रिया वीतराग की आज्ञासे बाहर समझनी चाहिए।

ठाणाङ्ग सूत्रके तीसरे ठाणेमे मिथ्यादृष्टियों की क्रिया अज्ञान क्रिया कही है और अज्ञान भगवान् की आज्ञासे बाहर है अतः मिथ्यादृष्टि की क्रिया भी आज्ञा बाहर सिद्ध होती है वह पाठ—

“अण्णाणकिरिया तिविहा पण्णात्ता तंजहा—मतिअण्णाण किरिया सुय अण्णाण किरिया विभंगण्णाण किरिया”

(ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ३ उद्देशा ३)

(टीका) “मइ अण्णाण किरिए” ति । “अविसेसिया मइच्चिय सम्मदिट्ठिस्स मा मइ-
ण्णाण मइअण्णाण मिच्छदिट्ठिस्स सुयं वि एवमेव” ति मत्त्यज्ञानात् क्रियाऽनुष्ठान
मत्त्यज्ञानक्रिया एवमितरेऽपि नगर विभंगो मिथ्यादृष्टेरवधि स एवाज्ञान विभगा
ज्ञानमिति ।”

अर्थान्—जो क्रिया, अज्ञानसे की जाती है उसे “अज्ञान क्रिया” कहते हैं। उसके तीन भेद हैं मत्त्यज्ञानक्रिया, श्रुताज्ञानक्रिया और विभगाज्ञानक्रिया।

यह मूलपाठका अर्थ है। इसमे अज्ञानक्रियाके जो मत्त्यज्ञानादिक तीन भेद धर-
लाए हैं इनका अर्थ जो उपरोक्त टीकामे किया है उसका भाव यह है—

मथ्यादृष्टि पुरुष की मति को “मतिज्ञान” कहते हैं। और मिथ्यादृष्टि की मति को “मतिअज्ञान” कहते हैं। इसी तरह श्रुतके विषयमे भी जानना चाहिये। जो क्रिया मत्त्यज्ञानसे की जाती है वह मत्त्यज्ञानक्रिया कहलाती है। इसी तरह श्रुताज्ञानक्रिया और विभगाज्ञान क्रिया समझनी चाहिये। “विभङ्ग” नाम मिथ्यादृष्टि के अवधि ज्ञान का है वह ज्ञान भी अज्ञान है इसलिए उसे “विभङ्गाज्ञान” कहते हैं। यह टीका का अर्थ है। यहा टीकाकार ने मिथ्यादृष्टि अज्ञानी की मति, श्रुत, और अवधि को मत्त्यज्ञान, श्रुताज्ञान, और विभङ्गाज्ञान कहा है और इनसे की जाने वाली उसकी क्रियाओं को मत्त्यज्ञान क्रिया,

श्रुताज्ञान क्रिया और विभज्ज्ञान क्रिया कहा है। ये सभी क्रियाय उपरोक्त मूल पाठमें अज्ञान क्रिया के भेद कही हैं। अज्ञान, वीतराग की आज्ञा से बाहर है इसलिये अज्ञानसे की जाने वाली मिथ्यादृष्टियों की ये क्रिया भी आज्ञा से बाहर ही हैं।

आवश्यक सूत्र में अज्ञान को त्यागने योग्य और ज्ञानको आदग्ने योग्य कहा है।

वह पाठ—“अन्नाणं परियाणामि नाणं उवसंपवज्जामि मि-
च्छन्तं परियाणामि सम्मत्तं उवसंपवज्जामि” (आवश्यक सूत्र)

अर्थ—साधु प्रतिज्ञा करता है कि मैं अज्ञान को छोड़ता हूँ और ज्ञान को प्राप्त करता हूँ।
तथा मिथ्यात्व को छोड़ता हूँ और सम्पत्त्व को प्राप्त करता हूँ। यह इस पाठका अर्थ है।

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अज्ञान और मिथ्यात्व वीतराग की आज्ञा से बाहर
है इसलिये अज्ञान तथा मिथ्यात्व से जो क्रिया कीजानी है वह भी आज्ञा से बाहर ही
सिद्ध होती है।

भगवती सूत्र शतक ७ उद्देश २ में जिसको जीव, अजीव, व्रस और स्थावरका
ज्ञान नहीं है उसके प्रत्याख्यानको दुष्प्रत्याख्यान कहा है इसलिये अज्ञानी मिथ्यादृष्टि
की क्रिया आज्ञा बाहर सिद्ध होती है क्योंकि मिथ्यादृष्टि को जीव, अजीव, व्रस और
स्थावरका सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

उनाई सूत्रमें कहा है कि जो पुरुष, अकामनिर्जगकी क्रिया करके दश हजार
वर्षकी आयुके देवता होते हैं जो हाडी बन्धनादिक दुःख सह कर बारह हजार वर्षकी
आयुके देवता होते हैं जो माना पिना आदिकी सेनासे चौदह हजार वर्षकी आयुके
देवता होते हैं जो श्री अकाम ब्रह्मचर्य पालन करके चौसठ हजार वर्षकी आयुकी देवता
होती है जो अन्न जल आदिका नियम रखकर चौरासी हजार वर्षकी आयुके देवता
होते हैं जो कन्द मूलादि खाकर एक पल्योपम और एक लाख वर्षकी आयु के देवता
होते हैं जो परिव्राजकरुर्मका पालन करके दश सागरकी आयुके देवता होते हैं तथा
गोशालक भतानुयायी जो चाईस सागरकी आयुके देवता होते हैं ये सभी लोग मोक्षमार्ग
के आराधक नहीं हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अज्ञान तथा मिथ्यात्वसे की जाने
वाली क्रिया वीतराग की आज्ञासे बाहर है और उन क्रियाओका आचरण करनेवाले मिथ्या
दृष्टि पुरुष मोक्ष मार्गके आराधक नहीं हैं किन्तु जो ज्ञानान और सम्यग्दृष्टि हैं वे ही
भगवान् की आज्ञाके आराधक हैं।

(दूसरा बोल समाप्त ।)

(प्रेरक)

आपने पहले बोलमे ठागाङ्ग आदि सूत्रोंका प्रमाण देकर धर्मके दो भेद श्रुत और चारित्र्य बतलाये हैं और मिथ्यादृष्टिमें इन धर्मोंके न होनेसे उसे मोक्ष मार्गका मिथि भी आराधक न होना कहा है। परन्तु भ्रमविध्वंसनकार आपकी तरह धर्मका भेद नहीं करते जैसे कि भ्रमविध्वसनके पहले पृष्ठ पर उन्होंने लिखा है “ते धर्मग दो भेद सग निर्जरा । ए वीटू भेदामे जिन आहा छै । ए सवर निर्जरा वीटूई धर्म छै । ए सवर निर्जरा टाल अनेरो धर्म नहीं छै । कई एक पातरगड़ी सवरने धर्मश्रद्धे पिग निर्जराने धर्म श्रद्धे नहीं । त्यारे सवर निर्जरारी ओलखगा नहीं” इसका क्या समाधान—

(प्ररूपक)

शास्त्रमे कहीं भी धर्मके दो भेद सवर और निर्जरा नहीं कहे हैं। किन्तु ठागाङ्ग सूत्रके दूसरे ठागेमे श्रुत और चारित्र्य ये दो धर्मके भेद बतलाये हैं। वह पाठ पहले बोल में लिखा जा चुका है। इसलिए सवर और निर्जराको धर्मका भेद बतलाना अप्रामाणिक है। * शास्त्रकारको यदि यह इष्ट होता तो ठागाङ्ग सूत्रमे जहा यह पाठ आया है कि “दुवि हे धम्मे पन्नो तजहा—सुय धम्मे चेव चारित्त धम्मेचेव।” वहा ऐसा पाठ आता कि “दुविहे धम्मे पन्नो तजहा सवर धम्मेचेव निजरा धम्मेचेव” मगर ऐसा पाठ नहीं आया। इसलिए सवर और निर्जराको धर्मका भेद कायम करना मिथ्या है। भ्रमविध्वसनकारने मिथ्यादृष्टिकी अप्रशस्त निर्जराको वीतरागकी आज्ञाके धर्ममे कायम करनेके लिये अपने मनसे धर्मके दो भेद सवर और निर्जरा लिख दिये हैं। परन्तु यह बात शास्त्र सम्मत नहीं है। सवर रहित निर्जरा कहीं भी वीतरागकी आज्ञामे नहीं कही है और इसका आराधक भी कहीं मोक्ष मार्गका आराधक नहीं कहा है। तथापि यदि सवर रहित निर्जराको धर्ममें मान कर मिथ्यादृष्टिको मोक्ष मार्गका आराधक माना जाय तो कोई भी जीव मोक्ष मार्गका अनाराधक न होगा। क्योंकि सवर रहित अप्रशस्त निर्जरा सभी प्राणियोंमें होती है। ऐसी निर्जरासे २४ ही दुण्डकके जीव युक्त हैं, अतः

नोट—सवर और सकाम निर्जरा श्रुत तथा चारित्र्यके अन्तर्गत हैं अतः ये धर्म हैं पर अकाम निर्जरा धर्म नहीं है। लेकिन धर्मके दो भेद “सवर और निर्जरा” कहनेसे अकाम निर्जरा भी धर्म में ठहरती है और अकामनिर्जरा मिथ्यादृष्टिमें भी होती है इसलिए वह भी मोक्षमार्ग का आराधक कायम होता है परन्तु यह बात शास्त्र सम्मत नहीं है। इसलिए शास्त्रानुसार धर्मके दो भेद श्रुत और चारित्र्य ही कहने चाहिये। इस प्रकार सवर और सकाम निर्जरा धर्ममें कायम होंगे और अकाम निर्जरा न होगी, क्योंकि वह श्रुत तथा चारित्र्यसे बाहर है और अकाम निर्जरा के धर्मसे पृथक् होनेपर मिथ्यादृष्टि मोक्षमार्गका आराधक न होगा इस प्रकार शास्त्रके कोई विरोध न आवेगा यही यद्वाका सात्पर्य है।

सभी जीव भ्रमविध्वसनकारके मतमें मोक्ष मार्गके आराधक ही ठहरेंगे। पर यह बात शास्त्र विरुद्ध है। भगवती सूत्र शतक ८ उद्देशा १० के मूल पाठमें स्पष्ट लिखा है कि जो मोक्ष मार्गक एक अशका भी आराधक नहीं है वह सर्वविराधक कहलाता है। यदि सवर रहित अप्रशस्त निर्जरा, धर्ममें हो तो कोई भी जीव सब विराधक नहीं हो सकता। अतः अप्रशस्त निजराको धर्ममें कायम करनेके लिए धर्मका दो भेद सवर और निजरा बनलाना दुरापद्धका परिणाम समझना चाहिए।

बौल तीसरा ।

(प्रेरक)

सवर और निर्जरा, ये दो धर्मके भेद हैं ऐसा अर्थ मतलानेवाला यद्यपि कोई मूल पाठ शास्त्रमें नहीं आया है तथापि भ्रमविध्वसनकारने दशवैकालिक सूत्रके पहले अध्ययनकी पहली गाथा लिख कर संवर रहित अप्रशस्त निर्जराको वीतगागकी आत्मासे सिद्ध करनेके लिए उक्त गाथाकी समालोचनामें यह लिखा है कि “इहा धर्मने माङ्गलिक उत्प्लुष्ट कइयो। ते अहिंसाने सयमने अने तपने धर्म कइयो छै। सयमते सवर धम अने तपते निर्जरा धर्म छै। अने त्याग बिना जीउरी दया पाले ते अहिंसा धर्म छै। अने जीव हणवाग त्याग ते सयम पिण कहीजे अने अहिंसा पिण कहीजे अहिंसा तिहा तो सयमनी भजना छै अने सयम तिहा अहिंसानी नियमाउ। ए अहिंसा धम अने तप धम तो पहिला चार गुणठाणा पिण पावे छै”

(अ० पृ० २)

इसका क्या समाधान ।

(रूपक)

दशवैकालिक सूत्रके प्रथम अध्ययनकी पहली गाथामें श्रुत और चारित्र धर्म ही अहिंसा, सयम, तथा तप कह कर बनलाये हैं परन्तु सम्यक्त्व रहित द्रव्य अहिंसा और सवर रहित तप नहीं कहे हैं क्योंकि जो अहिंसा, सम्यक्त्वरु निना होती है और जो तप सवर रहित होता है उनमें कोई महत्त्व नहीं है। ऐसी द्रव्यरूपा अहिंसा और सवर रहित द्रव्य तप जीउने अनन्त वार किये हैं पर उनसे स्वल्प भी मोक्ष मार्गकी आराधना न हुई। अतः उनका कथन न होकर इस गाथामें श्रुत और चारित्र धर्मके अन्तर्गत जो सम्यक्त्वके साथ होनेवाली अहिंसा तथा सवरके साथ होनेवाला तप है उन्हींका कथन है। इसलिए गाथोक्त अहिंसा और तप धर्मको मिथ्यादृष्टिमें कायम करना अज्ञान मूलक है। अतएव गाथामें कहे हुए धर्म पदकी व्याख्या करते हुए नियुक्तिकारने लिखा है कि—

आराधना करता है पर विशेषरूपसे ज्ञानवान् नहीं है। जैसे कोई धनवान् यदि धनकी प्राप्तिके लिये विशेष प्रयत्न नहीं करता तो उसे दगिद्र नहीं कह सकते, वैसे ही यदि कोई पुरुष ज्ञान प्राप्तिके लिये विशेष प्रयत्न (आराधना) नहीं करता तो उसे अज्ञानी नहीं कह सकते। अतः उक्त भगवतीकी चौभट्टीके पहले भङ्गका स्पष्ट अर्थ इस प्रकार है—

(१) देशाराधक—जो चारित्रिकी आराधना करता है पर विशेषरूपसे ज्ञानवान् नहीं है।

ऐसा मानना ही शास्त्रके अनुकूल है इससे विरुद्ध अर्थ करनेमें “अविष्णायधम्म” इस पाठमें दिया हुआ “वि” उपसर्ग निरर्थक ठहरेगा और उत्तराध्ययन सूत्रकी गाथा से भी विरोध होता है। जैसे कि उत्तराध्ययन सूत्रमें यह गाथा कही है—

“नादंसणिस्स नाणं नाणेण विना न होति चरणगुणा”

अर्थात् मिथ्यादृष्टिको ज्ञान नहीं होता और विना ज्ञानके चारित्र सत्ता गुण (पिण्ड विजुडि आदि) नहीं होते। यह उक्त गाथाका अर्थ है।

इसमें ज्ञानके विना चारित्रिका न होना स्पष्ट कहा है इस लिये भगवती सूत्रोक्त प्रथम भङ्गके स्वामी चारित्री पुरुषको अज्ञानी मानना इस गाथासे भी विरुद्ध होता है अतः भगवती सूत्रोक्त प्रथम भङ्गके स्वामीको अज्ञानी मिथ्यादृष्टि कायम करना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिये। मम्यगज्ञान दर्शन और चारित्रिकी आराधनासे भिन्न कोई मोक्ष मार्गकी आराधना नहीं कही है और उक्त आराधना जिसमें नहीं है उसको आराधक भी नहीं कहा है ऐसी दशामें सब रहित निर्जराकी करनीसे कोई मोक्ष मार्गका आराधन करने वाला कैसे हो सकता है? यह पाठकोंको स्वयं सोच लेना चाहिये। अतएव इस चतुर्भट्टी में आराधक विराधकोका चाग्भङ्ग बतला कर आराधनाका भेद बतलाते हुए आगेके मूलपाठमें तीन ही आराधना कही हैं पर चौथी निर्जरा आदिकी आराधना नहीं बतलाई है। वह पाठ—

“कतिविहाणं भन्ते ! आराहणा पण्णत्ता गोयमा ! तिविहा
आराहणा पण्णत्ता तंजहा—णाणाराहणा दंसणाराहणा चारित्ताराहणा”

(भगवती शतक ३ उ० १०)

अर्थ—हे भगवन् ! आराधना कितनी होती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! आराधना तीन प्रकारकी होती है ज्ञानकी आराधना दर्शनकी आराधना और चारित्रिकी आराधना ।

यहा मूल पाठमें ज्ञान दर्शन और चारित्र इन तीनकी ही आराधना कही है पर निर्जराकी करनी आदिकी आराधना वीतरागी आत्मा में नहीं कही है। अतः सब रहित

निर्जराकी करनी करके कोई मोक्षमार्गकी आराधना करने वाला कदापि नहीं हो सकता । ऐसी दशामे सधर रहित निर्जराकी करनीको वीतरागकी आज्ञामे ठहरा कर उस कर्मीसे मिथ्यादृष्टि अज्ञानीको मोक्षमार्गका देशाराधक कहना उत्सूत्र भाषण करनेवालोंका कार्य्य समझना चाहिये ।

बोल पाचवां ।

(प्रेरक)

सधर रहित निर्जरा की करनी मोक्ष मार्ग के आराधन में नहीं है इसलिए उस करनी से कोई मोक्ष मार्ग का आराधक नहीं हो सकता यह मुझे ज्ञात हुआ । परन्तु किसी मूलपाठ में सधर रहित निर्जरा की करनीकरनेवाले को मोक्ष मार्गका आराधक न होना स्पष्ट लिखा हो तो उसे भी बतलाइये ।

(प्ररूपक)

उवाई सूत्र के मूलपाठो में सधर रहित निर्जरा की करनी करने वाले जीयों को अलग अलग गित कर उन्हें मोक्ष मार्ग का आराधक न होना स्पष्ट लिखा है । व पाठ यहां दिये जाते हैं ।

“जीवेणं भन्ते ! असंजए अविरए अपडिहयपचन्त्वाय पाव रुम्मे इओत्तुए पेच्चा देवेसिया ? गोयमा ! अत्ये गइया देवेसिया अत्ये गइया णो देवेसिया । सेकेणट्ठेणं भन्ते ! ऐव बुच्चइ अत्येगइया देवेसिया अत्येगइया णो देवे सिया ? । गोयमा ! जेइमे जीवा गामागर णयर णिगम रायहाणि खेड कब्बड मडं व दोणमुह पट्णा-सम सवाह सणिवेसेसु अकामणहाण अकामछुराए अकामवभ-चेर वासेण अकामअण्हाण सीय ताव दंस मसग सीय जल्ल मल्ल पड्क परितावेणं अप्पतरों वा भुज्जतरोवा काल अप्पाण परिक्किले सन्ति, अप्पतरों वा भुज्जतरोवा कालं अप्पाणं परिक्किलेसित्ता काल मासे काल किंवा अप्पणयरेसु वाणमंतरेसु देवल्लोएसु देवत्ताए उच्च चारो भवन्ति । तहिं तेसिं गनी तहिं तेसिं ठोति तहिं तेसिं उच्चवाण पण्णत्ते । तेसिंणं भन्ते ! देवाण केवइयं काल ठोई पण्णत्ता गोयमा ! दसवाससहस्साड ठिई पण्णत्ता । अत्थिण भन्ते ! तेसिं देवाण

इड्हीवा जुईवा जसेतिवा वलेतिवा वीरिण्वा पुरिसक्कार परिकमेइवा ?
हन्ता ! अत्थि । तेण भन्ते ! देवा परलोकारम आराहगा ? णोइणट्ठे
समट्ठे”

(उवाई मृग)

अर्थ—

(प्रश्न) हे भगवान् ! जो, समय और धरितसे रहित है तथा जिमने भूत काल के पापों का हनन और भविष्यत् के पापों का प्रत्याप्यान नहीं किया है वह हम लोक से मर कर क्या देवता हो सकता है ?

(उत्तर) कोई कोई देवता होता भी है और कोई नहीं भी होता है ।

(प्रश्न) इसका धजह क्या है ?

(उत्तर) ग्राम, नगर, निगम, राजधानी, लेड, कन्वड, मडंघ, प्रोणसुल, पट्टणासम, संवा और सन्निवेशो में रहनेवाले जो जीव निर्जरा की इच्छा के बिना अकाम तृष्णा, अकाम भुधा, अकाम ब्रह्मचर्यपालन, अकाम स्नानका न करना तथा अकाम से शर्दी, गर्मी, दवा, मसक, स्वेद, धूलि, पद्म, और मलका सहन करते हैं वे थोड़े या बहुत दिनों तक कष्टका सहन करके भरण काल आने पर मृत्यु को प्राप्त होकर वाण व्यन्तर मज्झ देवलोक में उत्पन्न होते हैं । यहीं उनकी गति स्थिति और देवभोग की प्राप्ति होती है ।

(प्रश्न) ये जीव देवता होकर देवलोक में कितने काल तक रहते हैं ?

(उत्तर) दस हजार वर्ष तक वे देवलोक में रहते हैं ।

(प्रश्न) उन देवताओं की यहा पारिवारिक सम्पत्ति, दारीर तथा भूषणोंकी वीक्षि, वा, मल, धीर्घ्य पुरपाणिमान और पराक्रम होते हैं ?

(उत्तर) होते हैं ।

(प्रश्न) ये देवता परलोक यात्री मोक्षमार्गके आराधक हैं ?

(उत्तर) नहीं । ये परलोक (मोक्षमार्ग) के आराधक नहीं हैं । यह उवाई स्वयं के ऊपर लिखे हुए मूलपाठ का अर्थ है ।

इस मूलपाठ में अकाम भुधा तृष्णा अकाम ब्रह्मचर्यपालन अकाम शर्दी, गर्मी, दवा मसक आदिका कष्ट सहन करके दस हजार वर्षकी आयुसे देवता होनेवाले जीव को श्री तीर्थकर देवने मोक्ष मार्ग का आराधक न होना बतलाया है । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सदा रहित निर्जग की करनी मोक्ष मार्ग के आराधन में नहीं है । अन्यथा इस मूलपाठ में कहे हुए पुरुष को भगवान् मोक्ष मार्ग का आराधक न होना कैसे बतलाते ? अतः सदा रहित निर्जग की करनी को मोक्ष का मार्ग कह कर उस करनी के करने से मिथ्यादृष्टि अज्ञानीको मोक्ष मार्ग का देशाराधक बतलाना प्रत्यक्ष इस पाठसे विरुद्ध समझना चाहिये ।

(६ छट्टा बोल समाप्त)

(प्ररूपक)

जो जीव असंख्य परिणाम से हाडी (सोडा) बन्धनादि दुःख सह कर बारह हजार वर्षकी आयु से देवता होते हैं उन्हें इमी जगह उवाई सूत्र मे मोक्षमार्ग का आगवक न होना कहा है । वह पाठ—

“से जे इमे गामागर गयर गिगम रायहाण खेड़ कब्बड मडंव दोणसुह पट्टणासम संवाह सन्निवेसेसु मणुआ भवन्ति तंजहा—
अडुवदका गियलवदका हाडिवदगा हथछिन्नका पायछिन्नका कण्ण-
छिन्नका णकछिन्नका उट्टछिन्नका जिग्मछिन्नका सोसछिन्नका मुख-
छिन्नका मज्झछिन्नका वेरुछिन्नका हियउत्पाडियगा गयणुत्पाडियगा
दसणुत्पाडियगा वसणुत्पाडियगा गेवछिण्णका तंडुलछिन्नका कागणि
मंसक्खाइयया ओलंबिया लम्बियया धंसियया धोलियया फाडियया
पोलियया सुलाइयया सुलभिण्णका खारवत्तिया वज्झवत्तिया सीहपु-
च्छियया दवग्गिदड्ढिगा पकोसण्णका पंकेखुत्तका वलयमयका वसट्ठ-
मयका निघाणमयका अन्तोमल्लमयका गिरिपडियका तरुपडियका गिरि-
पंखंदोलिया तरुपखदोलिया मरुपखंदोलिया जलपवेसिका जलण
पवेसिका विसभस्सितका सत्थोवाडितका वेत्ताणसिया गिद्धपिटका
कंतारमतका दुभिकखमतका असंकिलिट्टपरिणामा ते कालमासे
कालं किच्चा अण्णनरेसु धाणमतरेसु देवलोगसु देवत्ताए उवयत्तारो
भयन्ति । तहि तेसि गतो तहिं तेसि ठितो तहि तेसि उववाए
पण्णत्ते । तेसिण भन्ते ! देवाण केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?
गोयमा ! वारसवाससहस्साह ठितो पण्णत्ता । अत्थिणं भन्ते !
तेसि देवाणं इड्ढीवा जुड्ढा जसेत्तिवा चलेत्तिवा वीरिण्णवा पुरिसक्कार
परक्कमेड्ढा ? हन्ता ! अत्थि । तेण भन्ते ! देवा परलोगस्स आरा-
ह्मा ? णोइण्णे समहे”

(उगई सूत्र)

अर्थ—

ग्राम, नगर, निगम, राजधानी, रैड, कन्वेंट, मठ, द्रोणमुख, पट्टासम, सवाह और सन्निवेशों में रहने वाले मनुष्य जो हाथ और पैरों में काष्ठ या लोहे के ग्रन्थन से बांधे गये हैं, जो पैरों में बेलियों द्वारा बांधे गये हैं, जो छाडीग्रन्थन में पड़े हैं, जो बन्धीगृह में पड़े हैं, तथा जिनके हाथ, पाद, कान, नाक, ओष्ठ, जीभ, मस्तक, मुख और पेट काट लिये गये हैं, जो घाद की तरह चीर दिये गये हैं, जिनके हृदय, नेत्र, दांत और अण्डकोश उपाड, लिये गये हैं, एवं घावलकी तरह जिसका शरीर खण्ड खण्ड कर दिया गया है जिसके शरीर के चीकने चीकने मांस खा लिये गये हैं जो रस्सी से बांध कर गड्ढे आदि में लटका दिये हैं, जिनकी भुजा वृक्ष की शाखा में बांध दी गई है, जो पत्थर आदि पर खन्दन के समान घिसे गये हैं, जो डही की तरह धोल दिये गये हैं, जो कुठार से लकड़ी के समान काट दिये गये हैं, जो यन्त्र के द्वारा ईर की तरह पीरे गये हैं, जो शूरी दे दिये गये हैं, जिनका मस्तक फाड़ कर शून्य निरुल गया है, जो क्षार में डाल दिये गये हैं, या निम पर क्षार रक्खा गया है, या, जो, क्षार खिलाये गये हैं, जो रस्सीसे बांधे गये हैं, जिनका लिङ्ग काट लिया गया है, जो वावाग्निमें जल गये हैं, जो कीचड़ में फसकर उमसे पार जाने में असमर्थ हैं, जो धुंधा आदि की पीड़ा से मर गये हैं, जो विषय में परतन्त्र होकर मर गये हैं, जो बालतपस्या करके मृत्यु को प्राप्त हुए हैं, जो मिथ्यात्व आदि शल्य को, तथा पेटमें चुभे हुए भाले आदि को न निकाल कर मर गये हैं, जो पर्वत से गिर कर मर गये हैं, जो वृहत् पायाण के शरीर पर गिरने से मर गये हैं, जो वृक्ष से गिर कर मर गये हैं, जो निर्जल देश में या निर्जल देशके स्थल विशेष से गिराये हुए मर गये हैं, जो वृण कपास आदि के भार से दम कर मर गये हैं, जो मल के लिये पर्वत या वृक्ष के एक देशमें कम्पायमान होकर बहा से गिर कर मर गये हैं, जो शस्त्र के द्वारा अपने शरीर को चीर कर मर गये हैं, जो वृक्ष की शाखा में लटक कर मर गये हैं, जो मरने के लिये हाथी, ऊट, गवड़े आदि के शरीर के नीचे गिर जाते हैं और गीध आदि पक्षियों से मोच कर खा लिये जाते हैं, जो घोर जङ्गल में दुर्मिक्षसे मर जाते हैं, ये सब मनुष्य यदि असंख्य परिणामी होते हैं तो काल मास में काल करके वाणव्यन्तर सञ्चक देवलोक में देवता होते हैं । वहाँ पर उनकी गति स्थिति और देवभय की प्राप्ति होती है ।

(प्रश्न) देवलोक में उनकी स्थिति कितने काल की होती है ? (उत्तर) बड़ा उनकी बारह हजार वर्ष की स्थिति होती है ।

(प्रश्न) उन देवों की बड़ा पर पारिवारिक सम्पत्ति, शरीर और भूषणों की कींति, यश धन, धर्म, पुण्याभिमान, पराक्रम, ये सब होते हैं ?

(उत्तर) हां होते हैं ।

(प्रश्न) ये परलोक (मोक्ष मार्ग) के आराधक हैं ?

(उत्तर) नहीं, ये परलोक के आराधक नहीं हैं ।

पद ऊपर लिखे हुए मूलपाठ का अर्थ है ।

इसमें कहा है कि जो मनुष्य अस्वच्छिष्ट परिणाम से हाडीबन्धनादिक दुःख सह कर बारह हजार वर्ष की आयु के देवता होते हैं वे मोक्ष मार्गके आराधक नहीं हैं । यदि सत्वर रहित निर्जरा की करनी मात्र मार्गमें होती और उस करनी के करने से मोक्षमार्ग की आराधना होती, तो श्रीतीर्थ करदत्त, अस्वच्छिष्ट परिणाम से हाडीबन्धन आदिका दुःख सहने वाले पुरषोको मोक्षमार्ग का आराधक न होना क्या कहत ? क्योंकि ये पुण्य सत्वर रहित निर्जरा की करनी विशेष रूपसे करते हैं । परन्तु सत्वर रहित—निजरा, मोक्ष मार्गमें नहीं है इसलिए इन पुण्योको भगवानने मोक्ष मार्गका आराधक न होना कहा है । अतः सत्वर रहित निर्जरा की करनीको मोक्षमार्ग के आराधन में कायम करके उस करनी से मिथ्यादृष्टि अज्ञानी को मोक्ष मार्गका आराधक कहना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिये ।

बोल ७ वां समाप्त

(प्रारम्भ)

जो जीव मिथ्यादृष्टि अज्ञानी हैं, परन्तु माता पिता की सेवा शुश्रूषा करके चौदह हजार वर्षकी आयुके देवता होते हैं उनको मोक्षमार्गका आराधक न होना उनी पाठके नीचे कहा गया है यह पाठ—

“तेजे इमे गामागर नयर णिगम रायहाणि खेइ कच्चइ मड थ दोणमुह पट्ठासम संवाहसंनिवेसेसु मणुआ भवन्ति, तजहा—पगइभदगा पगइउवसता पगइपतणुकोहमाणमायालोहा मिउमद्वसंपन्ना अल्लीणा विणीया अम्मापिउ सुसउसगा अम्मापिईण अणत्तिकमणीज्जवयणा अप्पिच्छा अप्पारभा अप्पपरिगहा अप्पेण आरंभेण अप्पेणं समारंभेणं अप्पेणं आरंभसमारंभेणं चित्ति रूपे-माणा वहुइ वासाइं आउथ पालंति पालित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णत्तरेसु वाणमत्तरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवन्ति । तहिं तेसिगती तहिं तेसिं छिती तहिं तेसि उववाए पण्णत्ते तेमिणंभन्ते ! देवाणं केवइयं कालं छिती पण्णत्ता गोथमा ? चउदसवाससहस्सा”

(उत्तर)

अर्थ—

धाममें लेकर पावत मंत्रियेता में रहने वाला जो मनुष्य स्वभावसे परोपकार स्वभाव में उपशान्त स्वभावसे ही मोक्षमान, माया और लोभ को ध्यून किया हुआ, शङ्कर रहित, गुण व

आश्रय में रहने वाले, विनीत, माता पिता के धार्यका उल्लङ्घन न करनेवाले माता पिता की सेवा करनेवाले, अल्प इच्छा अल्प आरम्भ समारम्भ से अपनी जीविका चलाने वाले बहुत धर्मों तथा अपनी आयु को व्यतीत करते हैं वे काल आने पर मृत्यु को प्राप्त होकर वाण व्यन्तर सन्न देवलोक में देवता होते हैं । यहाँ पर उनकी गति स्थिति और देवमन्त्र की प्राप्ति होती है ।

(प्रश्न) हे भगवन् ! यहाँ वे किनने काल तक रहते हैं ?

(उत्तर) यहाँ वे चौदह हजार वर्ष तक रहते हैं ।

(प्रश्न) वे परलोक (मोक्षमार्ग) के आराधक हैं ?

(उत्तर) नहीं, वे परलोक (मोक्षमार्ग) के आराधक नहीं हैं ।

यह ऊपर लिखे हुए मूलपाठका अर्थ है ।

यहाँ माता पिता की सेवा शुश्रूषा करनेवाले, स्वभावसे परोपकारी, उपशान्त, क्रोधमान माया और लोभ को न्यून किये हुए अज्ञानी मिथ्यादृष्टिको चौदह हजार वर्ष की आयु के देवता होना बतला कर भगवानने इन्हे मोक्षमार्ग का आराधक न होना बतलाया है । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सदा रहित निर्जरा की करनी मोक्षमार्ग में नहीं है । इसीसे इस पाठ में माता पिताकी सेवा करने वाला जो पुरुष चौदह हजार वर्ष की आयु का देवता होता है उसे भगवानने मोक्षमार्गका आराधक न होना कहा है । अन्यथा इसे कदापि मोक्षमार्गका आराधक न होना न कहते क्योंकि इस पुरुषमें सदा रहित निर्जरा की करनी विद्यमान है अतः सदा रहित निर्जरा की करनी को मोक्षमार्ग कायम करके मिथ्यादृष्टि अज्ञानी को मोक्षमार्गका आराधक कहना इस पाठ से विरुद्ध समझना चाहिये ।

(बोल आठवां)

(प्रारम्भ)

जो स्त्री अक्राम प्रहर्षण पालन करने चौमठ हजार वर्ष की आयु की देवता होती है उसे इसी पाठके नीचे मोक्षमार्गका आराधक न होना बतलाया है । यह पाठ—

“सेजाओ इमाओ गामागर णयर णिगम रायहाणि खेव
कन्वह मडं व दोणसुह पट्टणासम संवाह संन्निवेसेसु इत्थियाओ
भवन्ति तंजहा—अंतो अतेउरिआओ गयपइआओ मयपइयाओ
वालविदवाओ छड्डितल्लिताओ माडरक्खिआओ पियरक्खिआओ
सत्तुरकुलरक्खिआओ पारुहणहमंसकैसकक्खरोमाओ ववगयपुण्ण
गंधमल्लालङ्काराओ अण्हाणगासेयजल्लमल्लपङ्कपरिताविआओ ववगय-

खीरदहिणवणीतसपितेलगुललोणमहुमज्जमंसपरिचत्तकयाहारो अप्पि-
च्छओ अप्पारंभाओ अप्पपरिग्गहाओ अप्पेणं आरंभेणं अप्पेणं
समारंभेण अप्पेणं आरंभसमारंभेणं चित्तिं कप्पेमाणीओ अक्का-
मवंभचेरवासेणं तमेव पडसेज्ज णाडक्कमह ताओण इत्थिआओ
एयाख्वेणांविहारंणं विहरमाणीओ चट्ठं वासाहं सेसं तंचेव जाव
चउसद्धिं वाससहस्साहं ठिई पणत्ता”

(ज्वाई सुत्र)

अर्थ—

ग्रामसे ऐकर यावत् सन्निवेशो में रहने वाली जिस स्त्री पति कहीं चला गया है या, मर
गया है तथा जो बाल्य काल में विधवा हो गई है, जो पति से छोड़ दी गई है, जो अपने माता
पिता या भाई से पाली जाती है, जो पिता या खरर के घर में पाली जाती है, जो अपने शरीरका
सम्भार नहीं करती, जिसके बाल, केस, और काल के बाल बढ़ गये हैं, जो धूल की माला गन्ध
और फूल नहीं धारण करती, जो स्नान नहीं करती और पसीना धूलि तथा कीचड़का पट्ट सहन
करती है, जो दूध, दही, मखन, घी, गुड़, नमक, मधु, मद्य और मांस से रहित भोजन करती
है, जो अल्पइच्छा अन्य आरम्भ और अन्य परिपक्व करती है, जो अन्य आरम्भ और अन्य समारम्भ
से जीविका करती है, जो अनाम ब्रह्मचर्य पालन करती हुई पतिरि शय्याका उलट्टन नहीं करती है,
यह स्त्री इस प्रकार अपने जीवन को व्यतीत करती हुई बाल आने पर श्वसु को प्राप्त होकर चाग
व्यन्तर संशुक्त देवलोक में उत्पन्न होती है। शेष पूर्व पाठ की तरह समझना चाहिये विशेष
पात यह है कि यह स्त्री चौंसठ हजार वर्ष तक देवलोक में रहती है। यह स्त्री भी मोक्ष मार्गका
आराधक नहीं है। यह हम पाठ का अर्थ है।

यहां मूलपाठ में अकाम ब्रह्मचर्य पाल कर चौंसठ हजार वर्ष की आयु से वृद्धा
होने वाली स्त्री को श्रीतीर्थङ्कः देवने मोक्षमार्ग का आगधक न होना बतलाया है।
इससे भी पूर्व यही बात सिद्ध होती है कि सदा रहित निर्जरा की करनी मोक्षमार्ग का
आगधन में नहीं है। क्योंकि इस पाठ में रही हुई स्त्री सदा रहित निर्जरा की करनी
भली भांति करती है तो भी वह मोक्षमार्ग की आराधिका नहीं मानी गई है। अतः सदा
रहित निर्जरा को मोक्ष मार्ग में कायम करना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिये।

(बोल ९ वां समाप्त)

(प्ररूपक)

जो मनुष्य अन्न जल आदिका नियम रख कर चौगसी हजार वर्ष की आयु के
देवता होते हैं उन्हें भी भगवान् ने मोक्षमार्गका आगधक न होना बतलाया है। यह पाठ—

“सेजे इमे गामागर णयर णिगम रायहाणि खेइ कंबइ
मड'व दोणमुह पट्णासम संवाह सन्निवेसेसु मणुआभवन्ति तंजहा—
दगविडया दगतहया दगएकारसमा गोअमा गोव्वडया गिण्ठिम्मा
धम्मचिंतका अविरुद्धविद्ध बुद्धसावरुप्पभिअओ तेसिं मणुआणं
णो कप्पह इमाओ नवरस विगईओ आहारित्तण तंजहा—खीर'
दहिं णवणीयं सप्पिं तेत्थ' फाणिय महु' मज्जं णणत्थ एक्काए
सरसव विगए तेणं मणुआ अप्पिच्छा तंचेव सव्वं णवर' चउरासीद'
वाससहस्साइं ठिई पणत्ता ॥ ९ ॥

(उगई)

अर्थ—

ग्रामसे निकर पावल सन्निवेशो में रहने वाला जो मनुष्य भात और पानी इन दो ही बन्तुओं का आहार करता है। जो भात तथा एक और पदार्थ, सोमरा पानी का ही आहार करता है जो, भात आदि ३ और सातवा पानी का आहार करता है जो भात आदि दस और पुरवाह पानी का आहार करता है जो छोटे बैल को पैर पर गिरने आदि की शिक्षा देकर उससे मनुष्यों को प्रसन्न करने भिक्षा वृत्ति करता है, जो गाय के चलने पर चलता है और बैठने पर बैठता है भोजन करने पर भोजन करता है और सोने पर सोता है, जो गृहस्थ धर्मको श्रेष्ठ जानकर देवता अतिथि आदिका सत्कार तथा दान करता हुआ गृहस्थधर्मका आचरण करता है, जो धर्मशास्त्र को पढ़ता है, जो देवता आदि में परम भक्ति रखता हुआ विनीत है, जो आत्मा आदि पदार्थों को नहीं मानता हुआ अग्निपात्रादी (नान्तिक) है जो, बुद्ध धानी तापस है जो धर्मशास्त्रका ध्वज करने वाला श्रामण (ब्राह्मण) है इन मनुष्योंको रमीले ९ पदार्थ अभ्यक्ष्य होते हैं। ये ये हैं—दूध, दही, मज्जीत, घी, तेल, गुड़, मद्य, और मांस। परन्तु एक सर्पपका (सर्पों) तेल भक्ष्य होता है, ये सब मनुष्य अल्प आरम्भ और अल्पपरिग्रह, कम्मे चौरामी हजार वर्ष की आयुके देवता होते हैं। और सब पूज्यत्व समझना चाहिये।

यह इस पाठ का अर्थ है।

इस पाठमें अत्र जल आदिका नियम रखने वाले धर्मशास्त्र पाठी गोत्रत करने वाले गृहस्थ धर्म के पालक रसत्रान नौ पदार्थों का भोजन नहीं करने वाले मनुष्यों को चौरामी हजार वर्ष की आयु के देवता होना कह कर भगवान् ने इन्हे मोक्षमार्ग का आग्रह न होना बतलाया है क्योंकि ज्ञान पूर्वक की जाने वाली क्रिया ही मोक्ष देती है परन्तु ये लोग इन क्रियाओंको करते हुए भी अज्ञानी हैं उन अज्ञान (मिथ्यात्व) के कारण इन्हे मोक्षमार्ग का आग्रह न होना कहा है। यदि सवर रहित निर्जग की करनी

मोक्षमार्ग के आगमन में होती तो भगवान् ^{इस पुण्य के} मोक्षमार्ग का आराधक न होना कदापि न कहते । क्योंकि सत्वर रहित निर्जग की क्रिया इन पुरुषोंमें पूर्णतया विद्यमान है । अतः सत्वर रहित तथा अज्ञान (मिथ्यात्व) के साथ की जाने वाली निर्जग की करनी को बीनगग की आज्ञा में मानना उत्सृज भाषको का कार्य समझना चाहिये ।

[बोल दशवां समाप्त]

(प्ररूपक)

जो गङ्गाजी के तट पर रहते हैं, जो अग्निहोत्री हैं जो वानप्रस्थ हैं जो कन्द मूल फल आदि का आहार करते हैं उनको एक पत्न्योपम और एक लाख वर्षकी आयु का देवता होना उता कर भगवान् ^{अज्ञान के} मोक्षमार्ग का आराधक न होना बतलाया है । वह पाठ—

“ सेजे इमे गंगाकूलगा वाणपत्या तावसा भवन्ति तंजहा—

होतिवा पोनिया कोतिवा जण्णई सड्ढई, घालई, हुंपवडा दंतु-
कखलिया उम्मज्जका संमज्जका निमज्जका संपक्खाला दक्खिण
कूलका उत्तरकूलका संखधमका कूलधमका मिगलुद्धका हन्थितावसा
दिसापेक्खिणो वारुवासिणो अंबुवासिणो विलवासिणो जलवासिणो
वेलवासिणो कखलमुलिया अंबुभक्खिणो वायुभक्खिणो सेवाल
भक्खिणो मूलाहारा कन्दाहारा तोयाहारा पत्ताहारा पुष्पाहारा वीया-
हारा परिसड्ढियकन्दमूलतयपत्तपुष्पफलाहारा जलाभिसेअकठिण
कायभूण आयावणाहिं पंचगिगतावेहिं इङ्गालसोल्लिय कडुसोल्लियं
कठसोल्लियं पिव अण्णाणं करेमाणा बह्ढई वासाइं परियायं पाउ-
णति । बह्ढई वासाइं परियाय पाउणित्ता काल मासे काल किच्चा
उक्कोसेणं जांसिएसु देवेसु देवत्ताण उच्चत्तारो भवन्ति । पलि-
ओपमं वाससयसहस्समब्भट्ठियं ठिई । आराहगा ? णो इण्ढे
समट्ठे ”

(उपाई सूत्र)

अर्थ —

गंगातटर्म निवास करनेवाले वानप्रस्थ तापस जो अग्निहोत्र करते हैं जो वस्त्रधारी और पृथ्वीपर सोते हैं जो यज्ञ कराते हैं, जो श्रद्धा रखते हैं, जो माण्ड ग्रहण किये रहते हैं जो कमण्डलु-धारी हैं जो सिर्फ फूल खाकर रहते हैं जो पानीमें एक बार डुबवी छ्याकर निकल जाते हैं जो

पानामें बार बार झुंजी लगाते हैं जो पानीमें झुंजी लगाकर बहुत देर तक रहते हैं जो क्षीर में मृत्तिका लगाकर स्नान करते हैं जो गंगाके दक्षिण तटपर रहते हैं जो गंगाके उत्तर तट पर रहते हैं जो दाढ़ बजा कर भोजन करते हैं जो तटके ऊपर शम्भु करके भोजन करते हैं जो मृग मार कर उसके मांससे बहुत दिन तक अपना निचाह करते हैं जो हाथी मार कर उनके मांससे चिरकाल तक अपना उदर पालते हैं जो विशाओके अन्दर जल छिड़क कर फल तोड़ते हैं जो वण्डको ऊँचा करके भोजन करते हैं जो वृक्षके छिड़के पहिनते हैं जो जलमें निवास करते हैं जो घिल बना कर रहते हैं जो जलमें प्रवेश करके रहते हैं जो समुद्रके तट पर रहते हैं जो वृक्षकी जड़में निवास करते हैं जो पानी पीकर रहते हैं जो हवा पीकर रहते हैं जो वात खाकर रहते हैं जो कन्द, मूल, त्वचा, पत्ते फूल आर फल खाकर रहते हैं जो सबे गले कन्द मूल फल आदिको खाकर रहते हैं जिनका शरीर जल स्नान करनेसे कठिन हो गया है निम्न शरीर पद्माग्नि तापनेसे कोयला, बड़ाही और अधजले काठकी तरह काला हो गया है ये सब तापस बहुत वर्षों तक अपनी प्रभ्रज्याका पालन करके काल आने पर मृत्युको प्राप्त होकर उच्च ज्योतिष्क नामक देव लोकमें जाते हैं । घटा पर उनकी एक पटयोपम और एक लास्य स्थिति होती है । शेष पूर्ववत् जानना चाहिये । ये सब तापस भी परलोक (मोक्षमार्ग) आराधक नहीं हैं । यह ऊपर लिखे हुए मूल पाठका अर्थ है ।

इस पाठमें कहा है कि जो अज्ञानी तापस कन्द मूल फलादिका आहार कर पद्माग्नि तापकर अग्निहोत्र करके तथा जलमें शयन आदि करके एक पटयोपम और लास्य वर्षकी आयुके देवता होते हैं वे परलोकके आराधक नहीं हैं । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सत्वर रहित निर्जरा की करनी मोक्षमार्गकी आगधनामें नहीं है क्योंकि उक्त पाठमें गिनाये हुए तपस्वी संवर रहित निर्जराकी करनी करते हैं तो भी उन्हें मोक्ष मार्ग का आराधक न होना कहा गया है । यदि संवर रहित निर्जराकी करनी मोक्ष मार्ग का आराधनमें होती तो उक्त तपस्वी मोक्षमार्गके अनाराधक क्यों कहे जाते ? अतः सत्वर रहित निर्जराकी करनीको मोक्षमार्गमें कायम करना प्रत्यक्ष मूल पाठसे विरुद्ध समझना चाहिए ।

(बोल ग्यारहवां समाप्त)

(प्ररूपक)

छठे बोलसे लेकर ग्यारहवें बोल तक उवाई सूत्रके मूल पाठोंकी माक्षीसे संवर रहित निर्जराकी क्रियाको मोक्ष मार्गके आराधनमें न होना कहा गया है । उवाई सूत्रमें इस विषय पर और भी पाठ आये हैं । इन सभी पाठोंमें संवर रहित निर्जराकी करनीको और इन काय्योंका आचरण करने वाले अज्ञानी तापसोंको अलग अलग गिन कर कहा गया है कि ये अज्ञानी तापस मोक्षमार्गके आगधक नहीं हैं । यह देखने से निश्चय

नद्वै मानना पड़ना है कि सत्त्व रहित निर्जराकी करनी मोक्षमार्गके आराधनमे नहीं है अन्यथा ये तापमादि मोक्ष मार्गके अनागधक क्यों कहे जाते ? यद्यपि उवाई सूत्रके एक ही पाठ द्वासे यह बात सिद्ध हो जाती थी तथापि इतने पाठ यहा इमलिये दिखलाये गये हैं कि इन पाठोमे सभी अक्राम निर्जराकी क्रियायें और सभी अज्ञानी तापस गिना दिये गये हैं । इनमें भिन्न एक भी अक्राम निर्जराकी क्रिया, तथा अज्ञानी तापस श्रेण नहीं रह जाते । । जब कि सभी अक्राम निर्जराकी क्रिया और उनका आराधक सभी अज्ञानी तापस मोक्षमार्गके अनागधक यहा कह दिये गये हैं तो यह अपने आप ही सिद्ध हो जाता है कि सत्त्वमिर्जराकी क्रिया, और ज्ञानवान् सम्यग्दृष्टि पुरुष ही मोक्षमार्गके आगधक हैं । अन सत्त्व रहित निर्जराको आह्वाने कायम करके अज्ञानी मिथ्यात्वीको मोक्षमार्गका आराधक कहना वास्तव विरुद्ध समझना चाहिए ।

बोल चारहवां ।

(प्रेरक)

उवाई सूत्रक पूर्वोक्त मूल पाठोंसे सत्त्व रहित निर्जराकी करनी मोक्षमार्गसे अलग सिद्ध होती है और इस करनीका आचरण करनेवाले मिथ्यादृष्टि अज्ञानी पुरुष भी मोक्ष मार्गके अनागधक सिद्ध होते हैं तथापि इन पाठोंका तात्पर्य बतलाने हुए भ्रमविध्वसन-कार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २७ पर लिखत हैं कि—“प्रथम गुणठाणारोधणी शुद्ध करणी करे तेहने उवाईमें तो कह्यो परलोचना आगधक न थी । अने भगवनी शतक ८ उद्देशा १० कह्यो ज्ञान त्रिना जे करणी कर त दश आगधक छे । एविहूई पाठो न्याय मिलावणो सर्वथकी तथा सत्त्व आश्रीतो आराधक नथी अने निर्जरा आश्री तथा देशथकी तो आराधक छे । पिण जायक किञ्चिन्मात्र पिण आराधक नथी एहवो ऊधी थाप करणी नही ” इसके पहले लिखा है कि “जिम भगवनी शतक १० उद्देशा १ कह्यो पूर्व दिशे “धर्मास्तिकाय” धर्मास्तिकाय नथी एहवू कह्यो । अने धर्मास्तिकायने देश प्रदेश तो छे । ते पूर्व दिशे धर्मास्तिकायनो ना कह्यो ते तो सर्वथकी धर्मास्तिकाय वर्जो छे । पिण धर्मास्तिकायनो देश वर्ज्यो नथी । तिम अक्राम शील उपशान्तपणो ए करणीरा धरीते परलोचना आगधक नथी हम उहा त पिण सर्वथकी आगधक न थी पर निर्जरा आश्री देशागधक तो छे ।” (भ० पृ० २५)

इसका क्या उत्तर—

(प्ररूपक)

भगवनी शतक ८ उद्देशा १० से कही हुई चतुर्भङ्गीमे जिमको मोक्ष मार्गका दशा-गधक कहा है उसी पुरुषको उवाई सूत्रमें मोक्ष मार्गका आगधक न होना नहीं कहा है ।

किन्तु जो पुरुष अपनी बुद्धिके द्वारा पापसे हट गया है उसे भगवतीमें देशाराधक कहा है और जो पापसे नहीं हटा है उपाई सूत्रमें उसे मोक्ष मार्गका अनाराधक कहा है। इन उपाई सूत्रोक्त मोक्षमार्गके अनाराधक पुरुषको भगवतीका नाम लेकर दशाराधक कहना भ्रमविध्वसनकारका अज्ञान समझना चाहिए ।

देखिए भगवती सूत्रमें देशाराधक

पुरुषका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है —

“ तत्पण जेते पट्टेमें पुरिसजाए सेणं पुरिसे सीलवं असुखं उवरए अविण्णाय धम्मे, एसणं गोयमा ! मए पुरिसे देसाराहणं पणत्ते । ”

अर्थात् इन चार प्रकारके पुरषोंमें जो पहले पुरष है, ये शीलवान् और अश्रुतवान् हैं। अर्थात् ये पुरष पापसे हटे हुए और धर्मके विशिष्ट ज्ञाता नहीं हैं। इन पुरषोंको मैं मोक्ष मार्गका दशाराधक मानता हूँ। यह भगवतीके उक्त पाठका अर्थ है। इसमें कहा है कि —

“जो पुरष पापसे हट गया है वह मोक्ष मार्गका देशाराधक है” परन्तु पापसे नहीं हटे हुए पुरुषको देशाराधक नहीं कहा है। और इस पाठकी टीकामें “उवरत्त” इस पदका अर्थ टीकाकारने भी पापसे हटा हुआ ही किया है। वह टीका यह है—“निवृत्तं स्वबुद्ध्या पापात्” अर्थात् भगवती सूत्रोक्त आराधक विराधक चतुर्भ गीके प्रथम भङ्ग का स्वामी वह है जो अपनी बुद्धिके द्वारा पापसे हट गया है। यही बात खुद भ्रम विध्वसनकारने भी लिखी है। जैसे कि “पोतानी बुद्धिण पापं थी निवृत्त्यो छै” (भ्रम० पृ० ३) इसलिए भगवती सूत्रोक्त चतुर्भङ्गीके प्रथम भङ्गका स्वामी देशाराधक पुरष पापसे हटा हुआ है परन्तु उपाई सूत्रमें कहा हुआ निर्जराकी करनी करने वाला पुरष पापसे हटा हुआ नहीं है इसलिए ये दोनों पुरुष भिन्न भिन्न हैं एक नहीं हैं। देखिए उपाई सूत्र के मूल पाठमें अकाम निर्जराकी करनीसे स्वर्ग जानेवाले पुरुषका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—“जीवेणमन्ते असजए अविरए अपडिहय पक्कत्ताय पावकम्मे” (उपाई सूत्र) ।

“अर्थात् जो पुरुष सयम रहित विरतिहीन और भूत कालके पापोंका हनन और भविष्यत्के पापोंका प्रत्याख्यान नहीं करने वाला है” वह पुरुष उपाई सूत्रमें कहा हुआ है। इसलिए उपाई सूत्रमें कहे हुए अनाराधक पुरुषको भगवती सूत्रकी चतुर्भङ्गीके प्रथम भङ्गका नाम लेकर देशाराधक बताना मिथ्या है।

उपाई सूत्रोक्त पुरष पापसे हटा हुआ नहीं है और भगवती सूत्रोक्त पुरष पापसे सदा हटा है इसलिये ये दोनों कदापि एक नहीं हो सकते तथापि सदा रहित निर्जराकी

करनीको मोक्षमार्गके आराधनमें ठहरानेके लिये जीतमलजीने पापयुक्त और पापसे रहित पुरुषको एक कह दिया है अतः बुद्धिमानोंको इनकी प्ररूपणा शास्त्रविरुद्ध समझनी चाहिये ।

इसी तरह भ्रमविध्वंसनकारने जो उपाई सूत्रोक्त अक्रामनिर्जराकी क्रिया करने वाले पुरुषको सवर नहीं होनेसे अनाराधक होना बतलाया है यह भी मिथ्या है क्योंकि गौतम स्वामीने कहा पर यह पूछा है कि जो पुरुष सबसे रहित है पर अक्रामनिर्जराकी करनी करके स्वर्गमें जाता है वह मोक्षमार्गका आराधक है या नहीं ? इस प्रश्नका आशय यही हो सकता है कि उक्त पुरुषकी अक्राम निर्जरा मोक्ष मार्गके आराधनमें है अथवा नहीं ? यदि है तब तो वह आराधक है और नहीं है तो आराधक नहीं है क्योंकि किसी बातका सशय होनेसे ही प्रश्न होता है निश्चय होनेसे नहीं होता अब कि उपाई सूत्रोक्त पुरुषमें सवरकी आराधना न होना स्वयं गौतम स्वामीको निश्चित है तब वह इस पुरुषको आराधक होनेके विषयमें जो प्रश्न करते हैं इसका अभिप्राय यही हो सकता है कि इसकी अक्राम निर्जराकी क्रिया मोक्ष मार्गके आराधनमें है अथवा नहीं । इस प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान्ने इसे मोक्ष मार्गका अनाराधक कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सगर रहित निर्जराकी क्रिया मोक्षमार्गके आराधनमें नहीं है पर उसके द्वारा पुण्य बाध कर वह स्वर्गनामी होता है । यदि सवर रहित निर्जराकी क्रिया मोक्षमार्गके आराधनमें होती तो भगवान् इस पुरुषको मोक्षमार्गका अनाराधक क्यों कहते ? इस प्रकार बातके स्पष्ट होते हुए भी भोले जीवोंने भ्रम फैलानेके लिये जीतमलजीने उपाई सूत्रोक्त पुरुषमें सवर नहीं होनेसे जो अनाराधक और निर्जराके होनेसे आराधक कहा है यह मिथ्या है ऐसा कभी नहीं होता कि “आम्नान् पृष्ठ को विदागन् आचष्टे” आमक विषयमें बात पूछी जाय और “को विदाग” के विषयमें उत्तर मिले । अब कि गौतम स्वामी अक्राम निर्जराकी करनीके विषयमें प्रश्न करते हैं और उसीके होनेसे उक्त पुरुषको आराधक होने की जिज्ञासा करते हैं तब तीर्थङ्कर प्रकृत प्रश्न अक्राम निर्जराके सम्बन्धमें उत्तर न देकर अप्रस्तुत विषय मवरक न होनेसे अनाराधक रहे यह कदापि नहीं हो सकता । इसलिये यहा भगवान्ने गौतम स्वामीकी पूछी हुई बातका ही उत्तर दिया है और सगर रहित निर्जराकी करनीके मोक्ष मार्गमें न होनेसे ही उक्त पुरुषको मोक्षमार्गका अनाराधक कहा है अतः उपाई सूत्रोक्त पुरुषको निर्जराकी करनीसे मोक्षमार्गका आराधक बतलाना प्रत्यक्ष शास्त्र विरुद्ध है । वास्तवमें अक्राम निर्जराकी क्रियाके मोक्षमार्गमें न होनेसे उपाई सूत्रोक्त पुरुषको मोक्ष मार्गका अनाराधक कहा है यही शास्त्र सम्मत बात समझनी चाहिये ।

(बोल तेरहवां)

(प्रेरक) A

संवर रहित निर्जराकी क्रिया मोक्ष मार्गमें नहीं है यह शास्त्रप्रमाणानुसार सिद्ध हुआ पर भ्रमविच्यसनकार भ्रमविच्यसन पृष्ठ ४ पर लिखते हैं कि “तामली तापस सह हजार वर्ष ताई बेलें बेलें तपस्या की थी तेह थी घगा कर्मक्षय किया, पठे सम्यग्दृष्टि पामी सुक्तिगामी एकावतारी थयो । जो न तपस्या न कगतो तो कर्मक्षय न हुन्ता ते कर्माणि निर्जरा बिना सम्यग्दृष्टि किम पावतो अने एकावतारी किम हुन्तो बली पूरण तापस बाह हजार वर्ष बेलें बेलें तपकरी घणा कर्म रपयाया चमरेन्द्र ययो सम्यग्दृष्टि पामी एकावतारी ययो इत्यादिक घणा जीव मिव्यात्वी यरा शुद्ध करणी यका कर्म रपयाया ते करणी शुद्ध हैं मोक्ष तो मार्ग छै’ इमका क्या समाधान—

(प्ररूपक)

संवर रहित निर्जराकी कर्मीको मोक्ष मार्गमें कायम करनेके लिये तामली तापस और पूरण तापसका उदाहरण देना अयुक्त है क्योंकि तामली तापस और पूरण तापस जब तक अज्ञान दशामे अकाम निर्जराकी कर्मी करते थे तब तक उन्हें शास्त्रकारने मोक्ष मार्गका आराधक होना नहीं कहा । जब वे ज्ञानवान् सम्यग्दृष्टि हुए हे तब भर्गवर्ती शतक ३ उद्देश १—२ में मोक्ष मार्गके आराधक कहे गये हैं । यदि अकाम निर्जराकी क्रिया मोक्ष मार्गमें होती तो ये लोग सम्यक्त्वकी प्राप्तिसे पहले भी मोक्षमार्गके आराधक कहे जाते परन्तु सम्यक्त्व पानेके पहले ये लोग मोक्ष मार्गके आराधक नहीं कहे गये हैं इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अज्ञान दशामे की जानेवाली संवर रहित निर्जराकी क्रिया मोक्ष मार्गके आराधनमें नहीं है । तथा उगाई सूत्रके पूर्वोक्त पाठोमें जो संवर रहित निर्जरा की क्रिया गिनाई गई है उन क्रियाओके अन्दर तामली तापस और पूरण तापसकी क्रिया भी शामिल है । उगाई सूत्रोक्त क्रियाओका मोक्ष मार्गमें न होना स्पष्ट सिद्ध है । इस लिये तामली तापस और पूरण तापसकी अज्ञान क्रियाका मोक्षमार्गमें न होना भी स्पष्ट है । अतः तामली और पूरण तापसकी अज्ञान दशाकी क्रियाओंको मोक्ष मार्गमें कायम करना अज्ञान मूलक है ।

दूसरी जगह जीतमलजी और भीषणजीने स्वयं यह स्वीकार किया है कि सम्यक्त्वको पाये बिना कैसा ही साधुका आचार पाळा जाय पर उससे किंचित् भी मोक्ष मार्ग की आराधना नहीं होती । भीषणजीने “श्रावक धर्म विचार” नामक पुस्तकमें लिखा है कि “ममकिन विन सुध पालियो अज्ञान पणे आचार नवग्रैवेक उच्यो गयो नहीं सगी गरज लिगा” इमका अर्थ तोरह पन्थी श्रावक गुलाब चन्दजी का किया हुआ इस प्रकार है—

“सम्यक्त्व विना समयकी शुद्ध क्रिया पालन कर जीव न प्रवेक स्वर्ग तर गया पगनु कुछ गरज नहीं मरी मिथ्यात्वी ही रहा ।” इसके आगे भीषणजीने फिर लिखा है कि “नवनत्व ओल्टया विना पहर साधुगे मेप । समझ परे नहों तहने भारी हुय विशेष” इसका अर्थ उक्त श्रावक गुलाब चन्द्रजीने इस प्रकार किया है कि “नवनत्वको जाने विना पर्द मनुय साधु वेप पहन कर साधु बन जाने हैं लेकिन उनको साधुके आचारकी क्रिया शास्त्र बचनोंकी समझ नहीं पडती सिर्फ वेपधारी द्रव्य साधु हैं । गजोहरण चहर पात्रादि साधु वेप अनन्तवार प्रदण किया ओर गोतम स्वामी जैसी क्रिया मिथ्यात्व पनेमे कण्ठे ननमेवैक फलपानीन तक जीव जा पहुचा पगनु कुछ भी मोक्ष फलितार्थ न हुआ ।”

इन पद्योमे भीषणजीने साफ साफ स्वीकार किया है कि सम्यक्त्व पाये विना अज्ञान दशामे चाहे गोतम स्वामी जैसी साधुपनेकी क्रिया भी की जाय पर उसमे किंचित् भी प्रयोजन नहीं सिद्ध होता । यदि मिथ्यात्व दशाकी कानी मोक्ष मार्गमे होती तो भीषण जी उस कण्ठोसे किञ्चित् भी प्रयोजन सिद्ध न होना कैसे कहते ? अतः भीषणजीने इस पद्यमे अकाम निर्जराकी कानीको मोक्ष मार्गमे न होना स्पष्ट स्वीकार किया है । तथा जीतमलजी ने भी आराधनाकी ढालमे अकाम निर्जराकी करनीको मोक्ष मार्गमे न होना स्वीकार किया है । जैसे कि उन्होने लिखा है—

“जे समझि विल मूँ । चारित्रनी क्रियाय, वार अनन करी पिण काज न सरि-
यारे” अर्थात् सम्यक्त्व पाये विना मने अनन्त धार चारित्रकी क्रिया की थी, पर उससे कुछ भी कार्य नहीं सिद्ध हुआ । इस पद्यमे जीतमलजीने स्पष्ट स्वीकार किया है कि मिथ्यात्व दशाकी कानीमे कार्य नहीं सिद्ध होता । यदि मिथ्यात्व दशामे की जाने वाली अकाम निर्जराकी करनी मोक्ष मार्गके आराधनमे है तब फिर उसमे कार्य नहीं सिद्ध होने का क्या कारण है ? इसमे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मिथ्यात्व दशाकी कानी मोक्ष मार्गमे नहीं है तथापि जान नूझ कर भोले जीवोमे भ्रम फैलानेके लिये जीतमलजीने भ्रमब्रिध्वसन मे अपनी उक्ति तथा भीषणजीकी उक्ति और शास्त्रसे भी विरुद्ध मिथ्यात्व दशाकी करनी को मोक्ष मार्गमे कह दिया है । अन तामली तापस और पूरण तापसका उदाहरण देकर सग्न रहित निर्जराकी क्रियाको मोक्ष मार्गमे कायम करना मिथ्या ममझना चाहिये ।

यदि कोई कहे कि “भीषणजी और जीतमलजीके पूर्वाक्त पद्योमे “नही सरी गरज लिगार” और “काज न सरियारे” इसका भाव यह नहीं है कि मिथ्यात्व दशाकी क्रियासे मोक्ष मार्गका आराधन नहीं होता किन्तु सम्यक्त्व पाये विना मुक्ति नहीं होनी यह आशय है” तो यह भी मिथ्या है उसी भवमे मोक्षकी प्राप्ति तो कबल क्षीणमोह चारित्र वालोंको ही होनी है उनसे इतकी उमी भ्रमे मुक्ति नहीं

होती । यदि मुक्ति नहीं होनेसे मिथ्यात्व दशाकी करनी किंचित् भी प्रयोजन नहीं सिद्ध करती तो फिर चतुर्गुणस्थानसे लेकर ११ वें गुणस्थान तककी क्रियासे भी किंचित् प्रयोजन न सिद्ध होना मामला पड़ेगा क्योंकि इन गुण स्थानोंके जीव भी द्वादशांगी गुण स्थानोंमें गये बिना मोक्षगामी नहीं होते । यदि कहो कि चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर ११ वें गुण स्थान तकके जीवोंकी क्रिया परम्परासे मोक्षका कारण होती है इसलिये उन क्रियाओंसे किंचित् भी प्रयोजन सिद्ध न होना नहीं कहा जा सकता तो फिर भ्रमविध्वसन कागकी श्रद्धालुसार मिथ्यात्व दशाकी क्रिया भी परम्परासे मोक्षका कारण होती है इसलिये उससे भी प्रयोजनका न सिद्ध होना नहीं कहना चाहिये । परन्तु भीषणजी और जीतमलजीने उक्त पद्योंमें मिथ्यात्वदशाकी क्रियामें किंचित् भी प्रयोजन सिद्ध न होना कहा है इसमें स्पष्ट जाना जाना है कि मिथ्यात्व दशाकी क्रियासे ये लोग भी मोक्ष मार्ग की आराधना नहीं मानते परन्तु अपने शास्त्र विरुद्ध पक्षके आप्रह्मे पड़ कर भ्रमविध्वसन में मिथ्यात्वीकी क्रियाको जीतमलजीने मोक्ष मार्गमें कह दिया है अतः भ्रमविध्वसन कारकी यह प्रवृत्ति मिथ्या समझनी चाहिये ।

बोल चौदहवां

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसन का भ्रमविध्वसन पृष्ठ ६ के ऊपर मिथ्यादृष्टिकी क्रियाको मोक्ष मार्गमें कायम करनेके लिये यह लिखते हैं कि—“बली प्रथम गुणठाणारो धगी सुपात्र दान देई परित ससार करी मनुष्यनो आयुषो वाध्यो सुगह कुमाने पाछिले भवे सुमुख गाथा पति इ” इनके कहनेका तात्पर्य यह है कि सुमुख गाथा पतिने मिथ्यात्व दशाकी करनीसे संसार परिमित करके मनुष्यकी आयु बांधी थी, इससे मिथ्यात्व दशाकी क्रिया मोक्ष मार्ग में सिद्ध होती है । यदि मिथ्यात्वीकी क्रिया मोक्ष मार्गमें न होती तो सुमुखगाथा पतिकी संसार उससे परिमित कैसे होता ? इसका क्या समाधान ?

(प्रवृत्त)

प्रथम गुणस्थान वाले मिथ्यादृष्टियोंका संसार परिमित नहीं होता क्योंकि संसारका कारण मिथ्यात्व उनमें मौजूद रहता है । जब सम्यग् दर्शनके उदयसे मिथ्यात्व का विनाश होता है तब संसार परिमित होता है परन्तु मिथ्यात्वके रहने पर नहीं होता । कारण के रहने पर कार्यका न होना असम्भव है । अतः मिथ्यादृष्टियोंका संसार परिमित होना जो वनछता है उसे अज्ञानियोंका गिरोमणि समझना चाहिये ।

सुमुख गाथापति मुनिको दान देते समय सम्यग्दृष्टि या मिथ्यात्वी नहीं था इसी लिए उसका संसार परिमित हुआ । अब प्रश्न यह होता है कि सुमुख गाथापति मुनिको दान देते समय सम्यग्दृष्टिका इसमें क्या प्रमाण ?

तो इसका उत्तर यह है कि सुमुख गाथापतिके विषयमें जो विपाक सूत्रमें मूलपाठ, आया है वही प्रमाण है । यह ज्ञान मूलपाठ लिख कर बतलाई जानी है । वह पाठ यह है ।

“तेणं कालेणं तेणं समणं धम्मघोसाणं थेराणं अन्तेवासी सुदत्ते नामं अणगारे उराले जाव संखित्त विउल तेउलेसे मास मासेणं खममाणे विहरन्ति । तत्तेणं सुदत्ते अणगारे मासखमणपारणं गंसि पढमाए पोरसीए सज्झायं करेति जहा गोयमसामी तहेव सुध- स्मेयेरे आपुच्छति जाव अडमाणे सुमुहस्स गाहावदस्स गिहं अणुपविद्धे । तत्तेणं सुमुहे गाहावड सुदत्तां अणगार एज्जमाणं पासइ पासित्ता हट्ठुड आसणाओ अज्जुद्धेति अज्जुद्धिता पादपीठाओ पचो- क्कति पाओयाओ मुयइ एगसाडियं उत्तरासइं करेइ सुदत्तं अन- गार सत्तट्ठपयाइं पच्चुगच्छइ तिकखुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ वंदइ नमंसइत्ता जेणेव भत्तघरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता सयहत्थेण विउलेणं असण पाण खाइम साइम पडिलामेस्सामीति तुद्धे ३ तत्तेणं तस्स सुमुहस्स तेणं दव्वसुद्धेणं तिविहेण तिकरण सुद्धेणं २ सुदत्ते अणगारे पडिलामएसमाणे परीत्त संसारकए मणुस्साउए निवद्धे ॥”

(विपाक सुखसल विपाक)

अर्थ —

उस समय धर्म बोध नामक स्थविरके अन्तेवासि शिष्य सुदत्त नामक अनगार उदार यावत् तेजो ऐश्याको गुप्त रखने वाले मास मासका क्षमण करतेहुए जीवन व्यतीत करते थे वे मासक्षमण तपस्याके पारणके दिन प्रथम पोरसीमें स्वाध्याय करते थे दोष गोतम स्वामीकी तरह समझना चाहिये । वह सुदत्त अनगार अपने गुरु धर्मबोध स्थविरसे पूछ कर यावत् गोचरीके निमित्त जाते हुए सुमुख नामक गृहस्थके घरपर गये । अनन्तर सुमुख गाथापतिने सुदत्त अनगारको आते हुए देख कर इनके साथ आसन छोड़ दिया और पादपीछे नीचे उतरकर पादुकाको छोटकर एक प्रादिक घसरी उत्तरार्ग करके मुनिके सम्मुख मात आठ पैर तक आगे गया । दाहिनी ओरसे उमने मुनिसे तीन बार प्रदक्षिणादी और मुनिको बन्दन नमस्कार करके वह अपने भोजन गृहमें आया । वही उसको इस बातके लिए बहुत ही हो रहा था कि आज मैं अपने हाथसे मुनिको

विपुल अशनपान स्वाद्य और स्वाद्य दू गा । दत्ते समय भी उसे हर्ष हो रहा था और अगन्तर भी उसे हर्ष हुआ था इस प्रकार शुद्ध भाव शुद्ध मन वचन और कायसे जो क्षुद्र गाथापतिने सप्ताहके लिए शुद्ध द्रव्यका प्रदान किया था उससे उमने अपना संसार परिमित मानुष्यकी आयु धाधी । यह इस मूल पाठका अर्थ है ।

इसमें कहा है कि “सुमुख गाथापतिने सुदन्त अनगागको आते हुए देस का आसन छोड़ दिया और पादपीठसे उतर कर एक शाटिक वस्त्रका उत्तगसग करके मुनिके सम्मुख सात आठ पैरतक गया, और मुनिको दाहिनी ओरसे तीन बार प्रदक्षिणा इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सुमुख गाथापति सम्यग्दृष्टि था मिथ्यात्वी नहीं । क्योंकि मिथ्यादृष्टि पुरुष साधुको साधु नहीं समझता किन्तु असाधु समझता है इसलिये वह इन प्रकारका आदर सत्कार मुनिका नहीं कर सकता । जैसे हरिकेशी मुनिको देस का कुमारोने आदर सत्कार नहीं किया था किन्तु उनका अनादर करने लगे थे उसी तरह सुमुख गाथापति भी मिथ्यादृष्टि होता तो मुनिका आदर सत्कार नहीं करता किन्तु अनादर करता परन्तु उसने मुनिका सत्कार सम्मान किया था इससे उसका सम्यग्दृष्टि होना सिद्ध होता है । कदाचित् मिथ्यादृष्टि भी कारणवश मुनिका आदर सत्कार कर तो उसका हार्दिक भाव शुद्ध नहीं होता किन्तु उसके हृदयमें मुनिके प्रति अश्रद्धा नहीं रहती है परन्तु सुमुख गाथापतिका हार्दिक भाव शुद्ध था इसीलिये मूलपाठमें “हृदयं” यह पद आया है इसका अर्थ यह है कि सुमुख गाथापति मुनिका सत्कार सम्मान कत समय हृदयमें बहुत प्रसन्न था । यदि वह मिथ्यादृष्टि होता तो साधुके प्रति हर्ष तुष्ट नहीं होता अतः सुमुख गाथापति उस समय सम्यग्दृष्टि ही था मिथ्यादृष्टि नहीं । तथा सुमुख गाथापतिने जो मुनिको दान दिया था उसका वर्णन करते हुए उक्त मूलपाठमें कहा है कि “सुमुख गाथापतिका दान, दातृ शुद्धि, द्रव्य शुद्धि, और पात्र शुद्धि इन तीनों शुद्धियोंसे युक्त था ।” ये तीनों शुद्धियां सम्यग्दृष्टिके दानमें ही होती हैं मिथ्यादृष्टिके दानमें नहीं होतीं क्योंकि मिथ्यादृष्टिकी साधुके प्रति अश्रद्धा होनेसे उसका हृदय शुद्ध नहीं होता और हृदय शुद्ध न होनेसे उसके दानमें दाताकी शुद्धि नहीं होती अतः मिथ्यादृष्टियोंके दानमें त्रिविध शुद्धियां नहीं होतीं परन्तु सुमुख गाथापतिका दान तीनों प्रकारकी शुद्धियोंसे युक्त था इसलिए सुमुखगाथापतिका सम्यग्दृष्टि होना स्पष्ट प्रमाणित होता है ।

इसी तरह इस मूलपाठमें सुमुख गाथापतिके दानको मानसिक शुद्धिसे युक्त होना कहा है यह भी सुमुख गाथापतिके सम्यग्दृष्टि होनेका साधक है । सम्यग्दृष्टिका ही साधु के प्रति मन शुद्ध होता है मिथ्यादृष्टिका नहीं । सुमुख गाथापतिका साधुके प्रति मन शुद्ध था इस लिये वह सम्यग्दृष्टि ही था मिथ्यादृष्टि नहीं । एवं सुमुख गाथापतिने मुनिको

ज्ञान देकर अपना ससार परिमित किया था यह भी हमने सम्यग्दृष्टि होनेका साधक है । यद्यपि भ्रमविश्वमनकारने मिथ्यादृष्टिका भी ससार परिमित होना लिखा है परन्तु यह वात शास्त्र विरुद्ध है । ज्ञातक अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया और लोभका क्षयोपशम या उपशम नहीं होता तबतक ससार परिमित नहीं होता । अनन्तानुबन्धी क्रोधादिका यही अर्थ है कि वह अनन्त ससारका अनुबन्ध करना है । उसके होते हुए ससार परिमित हो जाय यह जान असम्भव है । ठाणाङ्ग सूत्रकी टीकामें “अनन्तानुबन्धी” शब्द का अर्थ इस प्रकार लिखा है “अनन्तं भयमनुग्रहात्यविच्छिन्नक्रोदीत्येवगीलोऽनन्तानुबन्धी” जो धारा प्रवाह विच्छेदगहित अनन्तकाल तक ससारको उत्पन्न करता है उसे “अनन्तानुबन्धी” कहते हैं ।

अनन्तानुबन्धी क्रोधादि ज्ञातक सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती तबतक नष्ट नहीं होता और उसने रहने रहते ससारका समुच्छेद नहीं होता इसलिए सुमुख गाथापतिमें अनन्तानुबन्धी क्रोधादिका क्षयोपशम या उपशम होना अवश्य ही मानना पड़ेगा और उसके मान छेनेपर सुमुख गाथापतिकी सम्यग्दृष्टि होना अपन आप ही सिद्ध हो जाता है । अब सुमुख गाथापतिकी मिथ्यादृष्टि कायम करके मिथ्यात्व दशाकी क्रियासे ससार का परिमित होना, बनला कर उसे मोक्ष मार्गमें कायम करना अज्ञानियोंका कार्य समझना चाहिए ।

(बोल १५ वां)

(प्रेरक)

भ्रमनिध्वसनकार भ्रमनिध्वसन पृष्ठ ८ के ऊपर मिथ्यात्व दशाकी क्रियासे ससार परिमित होना निश्चय करनेके लिए लिखते हैं कि—“बली मेघकुमारगे जीव पा जिले भवे हाथी सुसलानी दया पाली पगीत मसार मिथ्यात्वी धके क्रियो ।”

इमका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

हाथीका भव पाया हुआ मेघ कुमारका जीव शशक आदि प्राणियोंकी प्राणशक्ता करते समय सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि नहीं यह ज्ञात ज्ञाना सूत्रमें मूलपाठसे सिद्ध होती है । उस मूलपाठमें हाथीको साक्षान् सम्यग्दृष्टि कहा है वह पाठ निम्नलिखित है —

‘तज्जड ताव तुमं मेहा - तिरिस्खजोणिणभाचमुवागएणं

अपडिलद्वसंमत्तरयणलंभेणं सेपाए पाणाणुकम्पयाण जाव अन्तरा-
चेव सन्धारिए णोचेवण णिक्खित्ते”

ज्ञाना अत्यन्त ?)

इसका टब्बा अर्थ यह है—“ त० तमोटे तिहा तुम्मे तांज भय, मे० मेया १ धियांज
योनि भायद सु० उपनाहता अ० अनपाभ्यो अलतो सम्यक्त्व र्हाथो रत्नपाभ्यो से० तदिका
सेप्राणिनी अनुकम्पाद् जा० दयाद् वरी जा० यायत् तिहापग ऊ चोराह्यो तेणे मनुष्य भवपाया ।

यह टब्बा अर्थ भीषणजीके जन्मसे पहलेका लिखा हुआ प्राचीन है ५
प्रतियोग इसके लिखे जानेकी मिति संवत् १७६८ लिखी है—

जैसे कि—“संवत् १७६८ वर्षे जा० १६६३ प्रथम कार्तिक मासे शुक्ल पक्ष ११
तिथौ भृगुवासेरे लिपिचके मुनिरूपूँसागर ” यह लिखा है । इसमें “ अपडिलद्वस
रयण लभेग ” इस पदका अर्थ यह किया है कि “अनपाभ्यो अलतो
रत्न पाभ्यो ” अर्थात् “हाथीने पहले नहीं पाये हुए 'सम्यक्त्व रूपी रत्नको वम सम
प्राप्त किया था ।” इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि वह हाथी शशक आदि प्राणियोंकी प्राण
श्ला करतेसमय सम्यग्दृष्टि था मिथ्यादृष्टि नहीं । इस टब्बा अर्थमें जो “अपडिलद्व सम्म
रयणलभेग ” इस पदका सम्यक्त्व रूपी रत्नको पाना अर्थ लिखा है वह व्युत्पत्ति
भी निकलता है । जैसे कि इस पदकी सस्कृतज्ञाया “अप्रतिलब्ध सम्यक्त्व त
लभेन” बनती है । और इसकी व्युत्पत्ति यह है कि “अप्रतिलब्धमप्राप्तं यत्सम्यक्त्व
रत्नं तद्वमत इति अप्रतिलब्ध सम्यक्त्व रत्न लभस्तेन ” अर्थात् पहले कमी नहीं पाये
हुए सम्यक्त्व रत्नको प्राप्त करने वाला ” यह इसका अर्थ है । इस लिये टब्बाकारका
किया हुआ अर्थ व्युत्पत्तिसं भी मङ्गल है तथापि हाथीको मिथ्यादृष्टि कायम कर
मिथ्यात्वदृशाकी क्रियासे सारका समुच्छेद बतलाना उत्सूत्र भाषियोका कार्य सम
झना चाहिये । कई अशुद्ध टब्बाओंमें उक्त पदका अर्थ अशुद्ध किया है । जैसे भ्रम
विध्वनमे उक्त पदका अशुद्ध टब्बा अर्थ लिखा है ऐसे अशुद्ध टब्बाओका आश्रय ले
जगत्मे भ्रम फैलाना सच्चे साधुओका कर्तव्य नहीं है । अतः भ्रमविध्वसनकारने जो
मूलपाठसे विरुद्ध हाथीको मिथ्यादृष्टि बतलाया है वह मिथ्या समझना चाहिए ।

बोल १६ वां

(प्रेरक)

ज्ञाता सूके मूलपाठमे हाथीको शशकादि प्राणियोंकी प्रागरक्षा करते समय सम्य
ग्दृष्टि ही लिखा है यह ज्ञात हुआ । परन्तु भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वन पृष्ठ १० के ऊपर
लिखते हैं कि “बन्नीयामे इज दलपतिगयजी प्रन्न पुत्र्या तेहना उत्तर वोलतगमजी दीधा
छे । ते प्रभोत्तर मध्ये पिण हाथीने तथा सुमुख गाथापतिने प्रथम गुणठाणे कहा छे ”

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

दौलतरामजीके साथ दलपतिरायजीके जो प्रश्नोत्तर हुए हैं उसकी सम्प्रति १८९१ की लिखी हुई प्रति मेरे पास मौजूद है उसमें हाथी और सुमुखगाथापतिका प्रथम गुण स्थानमें होना नहीं नहीं कहा है अतः उक्त प्रश्नोत्तरीका उदाहरण दकर हाथी और सुमुखगाथापतिको मिथ्यादृष्टि कायम करना मिथ्या है। तथा भ्रमविज्वसन पृष्ठ १० क नोटमें दौलतराम जी और दलपतिरायजीको “कोटा चू दीके आसपाम विचरनेवाले बाईस सम्प्रदायक साधु” लिखा है यह भी मिथ्या है। दलपतिरायजी देहलीके रहने वाले बाईस सम्प्रदायके प्रसिद्ध श्रावक थे साधु नहीं थे तथा इनके प्रश्नोत्तरमें हाथी तथा सुमुखगाथापतिको मिथ्यात्वी होनेका कथन भी नहीं है अतः उक्त प्रश्नोत्तरीका दाखला दकर जो नोटमें अन्दर लिखा है कि “उक्त प्रश्नोत्तरीके १३८ वें प्रश्नके उत्तरमें हाथीको और सुमुखगाथापतिको मिथ्यादृष्टि कहा है” यह मत्र मिथ्या समझना चाहिए।

तैरह पन्थियोंको इस प्रश्नोत्तरीकी बात यदि मान्य हो तो इसके ५८ वें प्रश्नके उत्तरमें मिथ्यात्वीके अन्दर मोक्षप्राप्तिरूप सकाम निर्जराका प्रतिषेध किया है इस लिये मिथ्यादृष्टिको मोक्षमार्गका देगाराधक नहीं मानना चाहिये। वह ५८ वा प्रश्न और उसका उत्तर निम्नलिखित है—

“मिथ्यात्वीनो सकाम निर्जरा हो वा न 'हो, तहनो उत्तर—मोक्ष प्राप्ति सकाम निर्जरा न होवे” इस प्रश्नोत्तरमें मिथ्यादृष्टिमें मोक्षमार्गका न'होना स्पष्ट कहा है तथापि इसी प्रश्नोत्तरीका उदाहरण देकर जीतमलजीने मिथ्यादृष्टिको मोक्षमार्गका आगधक जतलाया है, यह इनका प्रत्यक्ष मिथ्याभाषण समझना चाहिये।

यहां विशेष ध्यानमें रखने योग्य बात यह है कि—किसी भी आधुनिक द्रष्टव्य अल्पज्ञकी बात शास्त्राधारके बिना नहीं मानी जानी यह आप्रह नो भ्रमनिध्वसनकारक मनानुयायियोंका ही है जो वाया वाक्यको प्रमाण मान कर लकीरन फकीर धने हैं। उनमें भीषणजी आदिकी बात यदि सूत्रके मूलपाठमें भी विरुद्ध हो तो भी उसे ब नहीं छोड़न यही तो आभिनिवेशिक मिथ्यात्वका लक्षण है। परन्तु सम्यग्दृष्टि पुरुष सूत्रप्रमाणको समझ कर हठ नहीं करते। चाहे किमीका कथन हो सूत्र विरुद्ध बात ब नहीं मानत।

[बोल १७ वां समाप्त] A

(प्रेरक)

सुमुखगाथापतिने मुन्त अनगारको जैसे वन्दन नमस्कार किया था उसी तरह गोपालक शिष्य अष्टाल पुरने भी भगवान महावीर स्वामीको वन्दन नमस्कार किया था यदि मुनिको वन्दन नमस्कार करना ही सम्यग्दृष्टिका लक्षण है तो फिर गोपालक

शिष्य शक्रडाल पुत्रको भी सम्यग्दृष्टि ही मान लेना चाहिये । परन्तु यदि उसे आप सम्यग्दृष्टि नहीं मानते तो फिर सुमुखागाथापतिको सम्यग्दृष्टि क्यों मानते हैं ?

(प्ररूपक)

सुमुखागाथापतिके वन्दन नमस्कारको गोशालक शिष्य शक्रडाल पुत्रके वन्दन नमस्कार जैसा बतलाना अयुक्त है सुमुखागाथापतिने बिना किसीकी प्रेरणा और दवाव के अपनी हार्दिक इच्छा और श्रद्धाभक्तिसे सुदत्त अनगारको वन्दन नमस्कार किये थे परन्तु शक्रडाल पुत्रने देवताके कहने, और उसके दवावसे भगवानको वन्दन नमस्कार किया था । इसलिये इन दोनोंके वन्दन नमस्कार तुल्य नहीं है ।

जैसे कोई मनुष्य अपनी रचाभाविक इच्छासे साधुका आचार पालता है और दूसरा अभव्य होकर भी सासारिक पूजा प्रतिष्ठा आदिके लोभसे साधुका आचार पालता है ये दोनों पुरुष व्यवहार दशमे यद्यपि साधुका आचार पालने वाले ही रहे जाते हैं तथापि इनके आचार पालनमे तुल्यता नहीं है किन्तु महान भेद है उसी तरह जो अपनी मानसिक इच्छा और श्रद्धाभक्तिसे मुनिको वन्दन नमस्कार करता है और जो किसीकी प्रेरणा या दवावसे वन्दन नमस्कार करता है इन दोनोंके वन्दन नमस्कारमे भी तुल्यता नहीं है महान् अन्तर है । सुमुखागाथापतिने अपनी इच्छा और स्वाभाविक श्रद्धासे मुनिको वन्दन नमस्कार आदि किये थे इसलिये उसका वन्दन नमस्कार सम्यग्दृष्टिका वन्दन नमस्कार है और वह मोक्षका मार्ग है परन्तु शक्रडाल पुत्रने देवताके कहनेसे वन्दन नमस्कार किये थे इसलिये उसका वन्दन नमस्कार आन्तरिक भक्तिशून्य द्रव्य रूप होनेसे मिथ्यादृष्टिका वन्दन नमस्कार है वह मोक्षका मार्ग नहीं है । अतः इन दोनोंको तुल्य बतलाना मिथ्या है । शक्रडाल पुत्रने देवताके कहनेसे भगवान् महाश्रीस्वामीको वन्दन नमस्कार किया था अपनी इच्छासे नहीं यह बात उपासक दशम सूत्रके मूलपाठम कही है । वर पाठ यह है—

“समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीवियोवासयं एवं वयासी से नूनं सद्दाल पुत्ता ! कैल्लं तुमं पुच्चावरण्हकालयंसि जेणेव असोगवणिया जाव विहरसि तएणं तुब्भं एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था तएण से देवे अंतलिक्खपडिवन्ने एवं वयासी—
हं भो महाल पुत्ता ! तंचेव सब्बं जाव पञ्जुवासिस्सामि सेनूनं सद्दाल पुत्ता ! अट्ठे समट्ठे ! हंता, अत्थि । नो खलु सद्दाल पुत्ता ! तेण देवेण गोसाल मंखलि पुत्तं पणित्थय एवं घुत्ते । तएणं तस्स सद्दाल

पुत्रस्स आजीवियो चासघस्स समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्त-
स्स समाणस्स इमेयास्सुवे अज्झत्थिये ४ एस्सण समणे भगवं महा-
वीरे महामाहणे उप्पन्ननाणदंसणधरे जाव तच्चकम्मसंपया संपउत्ते”

(उपासक आश्रम अ० ७०)

अर्थ—

श्रमण भगवान् महावीर स्वामीने गोशालक शिष्य शकडाल पुत्रसे कहा कि हे शकडाल पुत्र ! कल सन्ध्या समय अशोक वाटिकामें तू गया हुआ था। वहा एक देवताने तुम्हारे निकट आकाशमें स्थित होकर यह कहा था कि कल यहा महामाइन ज्ञान दर्शनका धारक यावत् सफल क्रियाओंसे युक्त पुत्र आयेगा तुम उसका वन्दन नमस्कार आदि यावत् शिष्या मथारसे उपनिमंत्रित करना। यह छन कर तुमने निश्चय किया कि “कल मेरे गुरु गोशालक मल्लिपुत्र आयेगे उनकी वन्दना नमस्कार आदि यावत् उपासना मे करूंगा” क्या यह बात सत्य है ? यह छन कर शकडाल पुत्रने कहा कि हा सत्य है। तत्र फिर भगवान्ने कहा कि हे शकडाल पुत्र ! उस देवताने गोशालक मल्लिपुत्रके लिये ऐसा नहीं कहा था। इस प्रकार भगवान् महावीर स्वामाक कहने पर शकडाल पुत्रको यह निश्चय हुआ कि यह तो भगवान् महावीर स्वामी ! यही महामाइन ज्ञान-दर्शनक धारक यावत् सफल क्रियाओंसे युक्त है यह हम पाठका अर्थ है।

इसमें स्पष्ट कहा है कि भगवान् महावीर स्वामीन जत्र गोशालक शिष्य शकडाल पुत्रने यह कहा कि “अशोक वाटिकाके अन्दर देवताने जो बात कही थी वह गोशालक मल्लिपुत्रके लिये नहीं” तब शकडाल पुत्रको यह मालूम हुआ कि यह श्रमण भगवान् महावीर स्वामी हैं पर हमारे गुरु गोशालक नहीं हैं। इससे निश्चित होता है कि शकडाल पुत्र अपने गुरु गोशालकको आया हुआ जानकर उहा आया था और आते समय उसने भगवान् महावीर स्वामीको गोशालक समझ कर वन्दन नमस्कार किया था। अतः उसका यह वन्दन नमस्कार वास्तवमे भगवान् महावीर स्वामीको न होकर उसके गुरु गोशालक मल्लिपुत्रका ही हुआ। पश्चान् भगवान् महावीर स्वामीने कहने पर जब उसका यह ध्रम दूर हुआ और उसने भगवान् महावीरको जान लिया तत्र अशोक वाटिकामें मिले हुए देवताकी प्रेरणासे भगवान् महावीर स्वामीको वन्दन नमस्कार किया था परन्तु उनको गुरु जान कर आन्तरिक भक्तिके साथ नहीं इसलिये इमका यह वन्दन नमस्कार भी भावशून्य होनेसे कारण अहम्भाषित धर्मका अङ्ग नहीं था किन्तु अहंदाज्ञानाद और मिथ्यात्व युक्त था। अतः इसे मोक्षमार्गमें नहीं कह सकते। परन्तु सुमुखगाथापत्तिका वन्दन नमस्कार आन्तरिक श्रद्धासे, साथ होनेसे भाररूप था, इसलिये वह मोक्षका मार्ग और वीतराग भाषित धर्मका अङ्ग था। ऐसा भाररूप वन्दन नमस्कार

सम्यग्दृष्टियोंका ही होता है मिथ्यादृष्टिका नहीं। अतः सुमुखगाथापतिके वन्दन नमस्कारकी शकडाल पुत्रके वन्दन नमस्कार जैसा घनलाना शास्त्र नहीं जाननेका फल समझना चाहिये ।

[बोल १८ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १४ के ऊपर लिखते हैं कि “अथ क्रियावादी मनुष्य तिर्यश्च रे एक वैमानिक ने यध कछो और आयुषो बाधे नहीं इमि कछो ते माटे सुमुख गाथापति, तथा हाथी तथा सुजती मनुष्य इहा कछा तेसर्वने मनुष्यनो आयुषान्तो बन्ध कछो ते भगी ए सम्यग्दृष्टि नहीं ते माटे मनुष्यनो आयुषो बाध्यो उँ सम्यग्दृष्टि हुवे तो वैमानिकरो बन्ध कहता” इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक ३० उद्देश १ में कहा है कि “क्रियावादी मनुष्य एक वैमानिक सिवाय दूसरेकी आयु नहीं बाधते” इसका अभिप्राय भ्रमविध्वसनकारने नहीं समझा है इसीलिये वह मनुष्यका आयुबध देस कर सुमुख गाथापति और हाथीको मिथ्यादृष्टि कहते हैं। भगवतीके उक्त कथनका आशय यह है कि जो मनुष्य और तिर्यश्च विविष्ट क्रियावादी होते हैं और अतिचार रहित निर्मल व्रतका पालन करते हैं वे वैमानिक की ही आयु बाधते हैं परन्तु सामान्य क्रियावादी नहीं। यदि कोई कहे कि भगवतीमें तो निर्फ क्रियावादी ही लिखा है विविष्ट क्रियावादी नहीं लिखा है फिर आप विविष्ट क्रियावादी अर्थ क्यों करते हैं ? तो इसका उत्तर यह है कि दशाश्रुतस्कन्ध सूत्रके मूलपाठमें महारभी महापरिभ्रमी क्रियावादी मनुष्यको उत्तरपथगामी नरकयोनिमें जाना भी कहा है यदि सभी क्रियावादी वैमानिककी ही आयु बाधते तो दशाश्रुतस्कन्ध सूत्रमें क्रियावादी मनुष्यको नरकयोनिकी आयु बाधना कैसे कहा जाता ? अतः निश्चित होता है कि भगवतीके मूलपाठमें जिस क्रियावादीके लिये एक वैमानिककी ही आयु बाधनेका नियम किया है वह विविष्ट क्रियावादी है पर सभी क्रियावादी नहीं। दशाश्रुत स्कन्ध सूत्रमें क्रियावादी मनुष्यको नरक योनिमें जाना कहा है वह पाठ यह है—

सेकिंत क्रियावाद्यावि भवइ ? तंजहा—आहियवाइ आहि-
यपन्ने आहिय दिट्ठी सम्मावादी निडवादी संतिपरलोकवादी अत्थि-
इहलोके अत्थि परलोके अत्थि माया अत्थि पिया अत्थि अरिहन्ता
अत्थि चक्रवती अत्थि वलदेवा अत्थि वासुदेवा अत्थि सुकडदुक्क-

“माणं फलवित्तिविसेसे सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवति सफले
 ल्लापणे पावए पचायति जीवा अत्थि नेरइया देवा सिद्धि से एवंपादो
 पवप्पने एवदिट्ठी छन्दरागमतिनिविट्ठे आविभवह से भवह
 हेच्छे जाव उत्तर गामिए नेरइए सुक्कपान्खए आगमेसाण सुलभ
 हियाधि भवइ सेत किरियावादी सञ्चयम्मरुचियावि भवह”

(दशाधुत स्वन्ध सूत्र)

इसका टीकानुसार अर्थ यह है—

(प्रश्न) क्रियावाणी किसे कहते हैं ?

(उत्तर) जो द्वाद्योक्त आत्मादिपदार्थों को मन्य और मोक्षोपयोगी पदार्थों को उपादेयतया
 के प्रतिपन्न धन्दुओं से समझते हैं जो, जिसका जेसा स्वरूप है उसे उसी तरह अविपरीत
 करते हैं और आत्मिकताके समर्थक सम्यग्दृष्टि हैं जो, मोक्षकी तिल्यता और स्वर्ग, नरक,
 ता, पिता, इन्द्रोक्त, परलोक, अरिहत, चरार्थी, यन्त्रदेव, पाण्डेय, इत्यादि अस्तित्व मानते हैं ।
 शुभ और अशुभ कर्मों का प्रमत्त शुभ तथा अशुभ फल होना स्वीकार करते हैं जो शुभाशुभ
 में का फल भोगनेके लिये आत्माको विविध योनियोंमें जाना चाङ्गीकार करते हैं जो नरक,
 त्रिप, तिर्य्यञ्च, देवता, और मुक्तिको मत्स्य यत्नाते हैं तथा पूर्वोक्त सभी बातोंमें जिसकी निश्चया-
 क मान्यता है वे क्रियावाणी कहलाने हैं । ऐसे क्रियावाणी यदि महारभी महापरिग्रही और महान्
 जागले हों तो उत्तरपथगामी नरकयोनिमें पन्न पाते हैं परन्तु वे शुद्धार्थ और भविष्यमें
 प्रम होनी चाहते हैं । यह उक्त मूलपाठका अर्थ है ।

इसमें कहा है कि जो क्रियावादी मनुष्य महारभी महापरिग्रही और महान् इच्छा
 ले होते हैं वे उत्तरपथगामी नरकयोनिमें जात हैं । यदि सभी क्रियावादी एक वैमानिक
 ही आयु बाधते तो इस पाठमें क्रियावादी मनुष्यको नरकयोनिमें जाना कैसे कहा
 जा ? अतः भगवती सूत्र शतक ३० उद्देश १ में विविष्ट क्रियावादीक लिए ही
 मानिकके आयुधका नियम क्रियाजाना समझना चाहिय सभी क्रियावादियोंके
 लिये नहीं ।

इस विषयमें भगवती सूत्र शतक १ उद्देश २ का मूलपाठ भी प्रमाण है । वह पाठ
 है—

“अविराहिय संजमाणं जहण्णेणं सोहम्मे कप्पे उक्कोसेणं स-
 वट्ठसिद्धे विमाणं । विराहिय संजमाणं जहण्णेणं भुवणवासिसु
 उक्कोसेण सोहम्मे कप्पे । अविराहिय संजमासंजमाणं जहण्णेणं सो-

हमसे कल्पे उक्कोसेणं अच्चुए कल्पे । विराहिय संजमासंजमाणं जह
ण्णेणं भुवणवासीसु उक्कोसेणं जोइसिएसु ।

(भगवती श० १ उद्देशा २)

अर्थ—

संयमकी विराधना नहीं करने वाले आराधक साधु यदि देवलोकमें उत्पन्न होवें तो जन्म प्रथम स्वर्ग सौधर्म कल्पमें और उत्कृष्ट सर्वांगसिद्ध नामक विमानमें उत्पन्न होते हैं । तथा संयम की विराधना करने वाले विराधक साधु यदि देवलोकमें उत्पन्न होवें तो जन्म भुवनवासी और उत्कृष्ट सौधर्म कल्प प्रथम स्वर्गके देवता होते हैं । एवं अतिचार रहित अपने प्रती की आराधना करने वाले आराधक धावक देवलोकमें उत्पन्न हों तो जन्म प्रथम स्वर्ग सौधर्म कल्प और उत्कृष्ट भूयुत कल्प यानी बारहवें स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं । तथा विराधक धावक यदि देवलोकमें उत्पन्न होवें तो जन्म भुवनवासी और उत्कृष्ट ज्योतिष्कमें उत्पन्न होते हैं । यह मूलपाठका अर्थ है ।

इसमें विराधक आचक्रो जन्म भुवनवासी और उत्कृष्ट ज्योतिष्कमें उत्पन्न होना कहा है । यदि सभी क्रियावादी एक वैमानिक देवकी ही आयु बाधते तो इस मूल पाठमें विराधक आचक्रो जन्म भुवनवासी और उत्कृष्ट ज्योतिष्कमें जाना क्यों कहा जाता ? क्योंकि विराधक आचक्र भी क्रियावादी ही है अक्रियावादी नहीं है । अतः तिष्ठित होता है कि सभी क्रियावादी मनुष्य और तिर्य्यञ्च एक वैमानिककी ही आयु नहीं बाधते किन्तु सामान्य क्रियावादी मनुष्य और तिर्य्यञ्च अपने अपने कर्मानुसार दूसरे भवोंमें भी जाते हैं । अतः भगवती शतक ३० उद्देशा १ के मूलपाठका नाम लेकर सभी क्रियावादियोंको एक वैमानिककी ही आयुन्यस्त करवाना मिथ्या है । जन कि क्रियावादी मनुष्य और तिर्य्यञ्च वैमानिकके सिवाय दूसरे की भी आयु बाधते हैं तब मनुष्य का आयुर्वय होना देव कर हाथी और सुमुखगाथापतिको मिथ्यादृष्टि कहना मिथ्या प्रियोंका कार्य समझना चाहिये ।

(बोल १९ वां समाप्त)

(प्ररूपक)

सामान्य क्रियावादी मनुष्य और तिर्य्यञ्च वैमानिक देवके सिवाय दूसरे भवोंमें भी जाते हैं इसका प्रमाण और भी दिया जाता है—

भगवती शतक ८ उद्देशा १० के मूलपाठमें जन्म ज्ञान और जन्म दर्शनाग-
धनानि कल्पे जन्म तीन और उत्कृष्ट सात आठ भवसे मोक्ष जाना बतलाया है इसका
अर्थप्रमाण उत्कृष्ट लोकपाठमें लिया है कि जन्म तीन और उत्कृष्ट सात आठ भवोंमें
जो भव हैं उनमें से एक भवमें जन्म पाकर मोक्ष प्राप्त होता है, सहित जन्मज्ञान और जन्म

दर्शनाराधनाका फल समझना चाहिये क्योंकि चारित्र रहित ज्ञान दर्शन तथा देश प्रव्रतकी आराधनासे उत्कृष्ट असंख्य भव भी होते हैं । इस टीकाकारकी बातको स्वीकार करते हुए जीतमलजीने “प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध” नामक ग्रन्थमें लिखा है कि—

“अष्टम शतके भगवती दर्शन उद्देशे इष्ट
जघन्य ज्ञान आराधना सत अठ भव उत्कृष्ट ।
वृत्तिकार कहू यह प्रिय चरित सहित जे ज्ञान
तेहनी जघन्य आराधना तसुभय प पहिचान
बीजा समदृष्टि तणा देशप्रव्रतनीना जे ह ।

भव उत्कृष्ट असंख्य छै न्याय वचन छै एह ।

इन दोहोमें टीकाकारकी बातको प्रमाण मानते हुए जीतमलजीने चारित्र रहित जघन्य ज्ञान दर्शन तथा देशप्रव्रतकी आराधनासे उत्कृष्ट असंख्य भव होना भी स्वीकार किया है । अत इनको क्रियावादी मनुष्य और तिर्य्यञ्चका वैमानिक भवके सिवाय दूसरे भवका ग्रहण करना भी मानना पड़ेगा । क्योंकि जिस जघन्य ज्ञान दर्शन तथा देशप्रव्रतके आराधक पुरुषको असंख्य भवोंसे मोक्ष जाना है वह अपनी असंख्य भवोंकी पूर्ति वैमानिक और मनुष्य भवोंमें ही नहीं कर सकता क्योंकि मनुष्य भवसे वैमानिकका और वैमानिकसे मनुष्य भवका लगातार सात आठ बारमें अधिक होना भगवती शनक २४ में वर्जित किया है । इसलिये असंख्य भवोंकी पूर्तिक लिये उसे वैमानिकके सिवाय दूसरा भव करना ही होगा इस प्रकार जब कि असंख्य भवोंसे मोक्ष जानने वाले जघन्य ज्ञान दर्शन तथा देशप्रव्रती पुरुषका वैमानिकके सिवाय दूसरेका आयुव्यव होना भ्रमविध्वंसनकार को स्वीकृत है तब फिर क्रियावादी मनुष्य और तिर्य्यञ्चका वैमानिक देवक सिवाय दूसरा भव ग्रहण करना भी अपने आप ही स्वीकार हो जाता है क्योंकि जघन्य ज्ञान दर्शन तथा देशप्रव्रतका आराधक पुरुष क्रियावादी ही है अक्रियावादी नहीं । अत भगवती सूत्र शनक ३० उद्देशा एकका नाम लेकर सभी क्रियावादी मनुष्य और तिर्य्यञ्चको एक वैमानिकका ही आयु व्यथ घनलाना मिथ्या समझना चाहिये ।

[बोल २० वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १३ के ऊपर उत्तमाध्ययनसूत्र अध्ययन ७ गाथा धीसत्रीको लिख कर उसकी समालोचनामें लिखते हैं कि “एतो मिथ्यात्वती अनेक भला गुणा सहितने सुप्रती कथो । त भली कण्ठी आह्वा मांदि छै । अने क्षमादि गुण आह्वामें नहीं हुये तो सुप्रती क्यू कथो । त क्षमादिगुणा कण्ठी अशुद्ध हुये तो कुप्रती

कहता एतो साम्प्रत भली करणी आश्रय मिथ्यात्वीने सुव्रती कह्यो हैं। अने जो मन गृह्णति हुवे तो मरीने मनुष्य हुवे नहीं” इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन सूत्रकी वह गाथा दीपिकाके साथ लिख कर इसका समाधान किया जाता है—

वह गाथा यह है—“वे मायाहिं सिखाहिं जेनरा गिहिसु व्यया । उवेंति माणुसं जोणिं कम्म सच्चाहु पाणिणो”

(उत्तरा० अ० ॥ गाथा २०)

इसकी दीपिका यह है—

“मानुषं योनिं के प्रजन्ति तदाह—ये नरा विमात्राभिर्विविधप्रकाराभि हिंसाभि गृहिसुव्रता गृहिणश्चते सुव्रताश्च गृहिसुव्रता गृहीतसम्यक्त्वादिगृहस्थद्वादशव्रता सत्यान्यनध्यफलानि ज्ञानावरणीयादीनि कर्माणि येषां ते सत्यकर्माणि कर्मसत्या प्राकृतत्वात्कर्म शब्दस्य प्राक्प्रयोग ते जीवा “हु” इति निश्चयेन मानुष योनिमुत्पद्यन्ते”

इसका अर्थ यह है—

मनुष्य योनिमें कौन प्राणी जन्म लेते हैं यह हम गाथामें बतलाया है । जो मनुष्य प्रकारकी शिक्षाभोंसे युक्त और गृहस्थ सम्मन्वी सम्यक्त्व आदि बारह व्रतोंके धारक है तथा जिनके ज्ञानावरणीयादि कर्म अवश्य फल देनेवाले हैं वे अवश्य मनुष्य योनिमें जन्म पाते हैं । यह हम गाथाकी दीपिकाका अर्थ है ।

यह सुव्रत शब्दका अर्थ दीपिका फागने बारह व्रतधारी किया है इस लिए हम गाथामें कहा हुआ सुव्रतपुरुष सम्यग्दृष्टि है मिथ्या दृष्टि नहीं । अतः इन गाथामें कह हुए सुव्रत पुरुषको मिथ्या दृष्टि बतलाना दीपिकासे विरुद्ध समझना चाहिए ।

यदि कोई कहे कि इस गाथामें कहा हुआ सुव्रत पुरुष सम्यग्दृष्टि होता तो वह मनुष्यभवमें क्यों जाता क्योंकि सम्यग्दृष्टि मनुष्य एक वैमानिककी ही आयु बाधते हैं तो इसका समाधान इसके पूर्व चोलोमें विस्तारके साथ सप्रमाण दे दिया गया है और यह सिद्ध कर दिया है कि सम्यग्दृष्टि मनुष्य भी वैमानिक देवसे भिन्न भवको प्राप्त करते हैं अतः मनुष्य भजके पानेसे गाथोक्त सुव्रत पुरुषको मिथ्यादृष्टि बतलाना अयुक्त समझना चाहिए ।

(बोल २१ वां समाप्त)

(प्रेरक)

सामान्य धनधारी आचक्रका वैमानिक देवके मित्राय दूसरा भव पाना शास्त्रीय विधि वादसे तो आपने सिद्ध कर दिया परन्तु कहीं चांगितानुवादमें हमका उदाहरण मिलता हो तो उसे भी बनलाइए ।

(प्ररूपक)

भगवती शतक ७ उद्देशा ९ के मूलपाठमें सामान्य धनधारी पुरुषका मनुष्य भव ग्रेड कर कि मनुष्य भवमें जन्म पानेका उदाहरण मिलता है यह बात पाठ लिख कर नलाई जाती है । वह पाठ यह है—

“तण्णं तस्स नागनत्तूपस्स एगे पियवालवयसण रह मुसलं सङ्गामेमाणे एगेणं पुरिसेणं गाढप्पहारीरुणसमाणे अत्थामे जाव अघारणिज्जमोति कट्ठु वरुणं नागनत्तूपं रहमुसलाओ सङ्गामाओ पडिनिक्खममाणं पासड, पासडत्ता तुरगे निगिह्णइ निगिह्णइत्ता जहावरुणे जाव तुरए विसज्जेइ, पडसन्धारगं दुरुहड दुरुहडत्ता पुरत्थाभिमुहे जाव अज्जलिं कट्ठु एवं वयासी—जाडणं मम पियवाल वय सस्स वरुणस्स नागनत्तूपस्स सीलाडं वयाहं गुणाडं वेरमणाडं पच्चक्खाणपोसहोववासाडं ताडणं ममपि भवन्तुत्ति कट्ठु सण्णाह पट्टं परिमुयड मुयइत्ता सल्लद्धरणं करेइ करेइत्ता आणुपुव्वीए काल गए”

इसके अनन्तर एक ओर पाठ आया है वह यह है—

“तस्सण भन्ते ! नागनत्तूपस्स पियवालवयसण काल मासे कालंकिच्चा कहिं गए कहिं उववन्ते ?

गोयमा ! सुकुले पच्चाजाण । सेणंभन्ते ! तवा ओहिंतो अणतर उवड्ढिता कहिंगड्ढिंति ? गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिह्ति जाव अन्त करेहिंति सेव भन्ते भन्तेति ”

(भगवतीशतक ७ उद्देशा ९)

इन पाठोंके अर्थ क्रमशः दिये जात हैं—

उस समय धनधारी नरकाका प्रियवाल मित्र, रथ चढ़कर नगरक संघामर्ग मुख करता हुआ किर्मांगे गाढ प्रहारको प्राप्त होकर घड़ुत क्षणिकीन हो गया । उसी समय अपने बाल निम्न

घरुगको भी घायल होकर संघाम भूमिसे बाहर जाते देखा । पश्चात् वह युद्ध भूमिसे बाहर आकर घोड़ोको जङ्गलमें छोड़ अपने प्रियबालमित्र घरुगके समान कपडेके सन्यारीपर बैठ गया । सन्यारी पर बैठ कर पूर्वामुमुख हो हाथ जोड़ कर कहने लगा कि—“प्रियबाल मित्र घरुगनाग नत्तूयाके समान मेरे भी शील, व्रत, गुण, विरमग, प्रत्याख्यान, पौषधोपवास आदि सत्कर्म हैं ।” यह कह कर उसने अपने सन्नाहको निकाला । पश्चात् अङ्गमें चुभे हुए बाणको निकालकर मृत्युको प्राप्त हुआ । (यह पहले पाठका अर्थ है ।)

इसमें घरुगनागनत्तूयाके प्रियबाल मित्रका सामान्य रूपसे बारह व्रतधाम्न करन कहा है । इस पाठमें जो शील, व्रत, गुण और विरमग शब्द आये हैं इनका अर्थ टीकाकारने इस प्रकार किया है—

“वयाइ” त्ति अहिंसादीनि गुणाइ त्ति गुणव्रतानि “विरमगाइ” त्ति सामान्येन रागादि विरतय । “पञ्चरूपाण पोसहो वासाइ” त्ति प्रत्याख्यान पौरुष्यादिविषय पौषोपवास पर्व दिनो पवाम ”

इसका अर्थ यह है—

यहां व्रत, अहिंसा समझनी चाहिए । तथा “गुण” शब्दका अर्थ गुणव्रत और विरमग शब्दका सामान्यतः रागादि निवृत्ति अर्थ जानना चाहिए । एवं प्रत्याख्यान नाम पौरुषी आदि कालानुसृत्याग करनेका है और पर्वके दिन उपवास करनेका नाम पौषोपवास है । यह टीकाका अर्थ है ।

यहां टीकाकारने व्रत आदि शब्दोंका अहिंसादि अर्थ किया है । उन व्रतोंको वरुगनागनत्तूयाके प्रियबाल मित्रने ग्रहण किया जाना ऊपर लिखे हुए मूलपाठमें लिखा है इस प्रकार वरुगनागनत्तूयाके प्रियबालमित्रने सामान्य रूपमें बारह व्रतधारी होकर मनुष्य योनिमें जन्म लिया था यत्र ऊपर लिखे हुए दूसरे पाठमें कहा है । उस पाठका अर्थ यह है—

(प्रश्न) हे भगवन् ! वरुगनाग नत्तूयाका प्रियबाल मित्र मृत्युको प्राप्त होकर किस योनिमें उत्पन्न हुआ ?

(उत्तर) हे गोतम ! वह मनुष्य लोकमें उत्तमकुलके अन्दर उत्पन्न हुआ ।

(प्रश्न) अत्र वह किस योनिमें जन्म लेगा ?

(उत्तर) वह मनुष्य भूमें निकट कर महाविदेह क्षेत्रमें मनुष्य भवको प्राप्त करके सिद्ध होगा यावन यमोंका अन्त करेगा ।

यह दूसरे पाठका अर्थ है ।

इसमें, सामान्य रूपसे बारह व्रतधारी वरुगनागनत्तूयाके प्रियबालमित्रका मनुष्य भव छोड़ कर फिर मनुष्य भूमें ही जन्म लेना कहा है यह सामान्य व्रतधारी

प्रावकका मनुष्य भव डोड कर फिर मनुष्य भवमें आनेका ज्वलन्त उदाहरण है इसलिये उत्तराध्ययन सूत्रके अध्ययन ७ की बीमवीं गाथामें कहे हुए सुघन गन्धका सामान्य घन-गारी अर्थ है मिथ्यात्विक्रिया नहीं ।

(बोल २२ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविव्यसनकार भ्रमविव्यसन पृष्ठ १६ के ऊपर उत्तराध्ययन सूत्रके अध्ययन ९ की चौथालीमयीं गाथा लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—

“अथ इहा तो मिथ्यात्विकीनो माम क्षमग तप सम्यग्दृष्टिना चारित्र धर्मने सोलनीं कला न आये गह्वू करी । तेचारित्र धर्मतो सवर छै तेहने सोलनीं कलाइ न आये करी । सोलनीं कलाइ ज नाम लेइ घनायो पिग हजारमेइ भाग न आव तेहने सवर धर्म छै इज नहीं । पिग निर्जरा धर्म आश्रय करी नयी निर्जरा धर्म निर्मल छै तेकरणी तपस्या शुद्ध है आक्षामाहि छै ”

(अ० पृ० १६-१७) इसका क्या समाधान—

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन सूत्रकी वह गाथा लिख कर इसका समाधान किया जाता है । वह गाथा यह है—

“ मासे मासेउ जोयालो कुसग्गेणंतु भुज्जइ नसो सुक्खाय धम्मस्स कलं अगघइ सोलसि ”

(उत्तरा० अ० ९ गाथा २२)

जो पुरन, बाण यानी मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है वह हर एक मासमें कृष्ण अग्रभागमें जितना भ्रम रहता है उतना ही साफा चाहे पुनर्क अग्रभागको ही गाना रह जाये तो भी वह जिनोष्ठ समक आचरण करोवाले पुराने सोलुइव अज्ञाने बतावर भी नहीं होता । यह इस गाथाका अर्थ है ।

यहा माम-माम क्षमग रूप घोग तपस्या करने वाले मिथ्यादृष्टि अज्ञानीको जिनोष्ठ धर्मका आचरण करने वाले पुरुषने मोलुइव अज्ञाने बगवत भी न होता कहा है । इसमें स्पष्ट सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टिनी कठिनमे कठिन भी तपस्या, चीत्रगणी आक्षामे नहीं है । यदि वह आक्षामे दोती, तो उम तपस्याके आचरण करनेमें गाथोष्ठ मिथ्यादृष्टि पुरुष भी जिनोष्ठ धर्मका ही आचरण करनेवाला होता और जब वह जिनोष्ठ धर्मका आचरण करने वाला होता तो उमके लिये इस गाथामें यह कदापि नहीं कहा जाता

कि "उक्त तपस्या करने वाला मिथ्यादृष्टि जिनोक्त धर्मका आचरण करनेवाले पुरुष सोलहवें अंशमें भी नहीं है ।" क्योंकि जो पुरुष जिनोक्त धर्मका आचरण न करे किन् अन्यके धर्मका आचरण करता है उसीके लिये यह कहा जा सकता है कि "यह धर्मका आचरण करनेवालेके सोलहवें अंशमें भी नहीं है" परन्तु जो जिनोक्त धर्मका आचरण करता है उसके लिये ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि वह तो स्वयमेव निनेक धर्मका ही आचरण करने वाला है । अतः इस गाथामें कही हुई मिथ्यादृष्टीकी तपस्या वीतरागकी आज्ञामें नहीं है और उसके आज्ञामें न होनेसे उसका आचरण करनेवाला गाथोक्त बाल तपस्वी भी जिनोक्त धर्मका आचरण करनेवाला नहीं है । अतएव जिनोक्त धर्मका आचरण करनेवाले पुरुषके सोलहवें अंशमें भी न होना कहा है । इसलिये इस गाथासे मिथ्यादृष्टीकी तपस्या स्पष्ट रूपसे जिन आज्ञा बाहर सिद्ध होती है । टीकाकारने भी गाथोक्त बाल तपस्वीकी तपस्याको जिन आज्ञासे बाहर बतलाया है वह टीका यह है—

“घोरस्यापि स्वाख्यातधर्मस्यैव दान्यथात्वात्” अर्थात् जो धर्म जिन भाषित है वह यदि घोर (कठिन) हो तो भी धर्मात्मी पुरुषोसे आचरण करने योग्य है परन्तु जो घोर-धर्म जिन भाषित नहीं है वह आत्मघातादिकी तरह आचरण करने योग्य नहीं है । यह इस टीकाका अर्थ है ।

इसका तात्पर्य यह है कि गाथोक्त बालतपस्वीकी मास क्षमण तपस्या यद्यपि घोर है तथापि जिन भाषित न होनेके कारण धर्मात्मी पुरुषोंसे आचरण करने योग्य नहीं है । यदि गाथोक्त बाल तपस्वीकी तपस्या जिन भाषित धर्ममें होती तो उसे टीकाकार जिन भाषित न होना क्यों कहते ? इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि गाथोक्त बाल तपस्वीकी मासक्षमण तपस्या जिन आज्ञामें नहीं है इसी लिये उसे टीकाकारने अनाचरणीय कहा है और मूलगाथामें उसे जिनभाषित धर्मके सोलहवें अंशमें भी न होना बतलाया है । तथापि भ्रमविध्वसनकारने गाथोक्तबालतपस्वीकी मिथ्यादृष्ट युक्त तपस्याको वीतरागकी आज्ञामें होना बतलाया है यह प्रत्यक्ष उक्तगाथा और उसकी टीकासे विरुद्ध है । यद्यपि अपनी बातको सत्य और शास्त्रानुसृत सिद्ध करनेके लिये भ्रमविध्वसनकारने यहाँ यह कल्पना की है कि “ मिथ्यादृष्टिमें सवर नहीं होता इसलिये उसे सब धर्मवाले पुरुषके सोलहवें अंशमें न होना इस गाथामें कहा है” तथापि उनकी यह कल्पना निराधार है इस गाथामें “सवर” का नाम भी नहीं आया है यहाँ तो “स्वाख्यात धर्म” कहा गया है । स्वाख्यात धर्म वही है जो जिनवचनसे कहा हुआ है । उस जिनवर भाषित धर्मसे जो अन्य धर्म है, यानी जो जिनोक्त धर्म नहीं है उसे इस गाथामें जिनोक्त धर्मके

जहें अशमे न होना बनलाया है । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि यहा जिन भाषित का और जो धर्म जिन भाषित नहीं है उमका भेद बनलाया गया है, मंवर और निर्जना विचार यहा नहीं किया है । अत इस गाथासे मिथ्यादृष्टिकी तपस्या बीतरागमे नहीं होई स्पष्ट सिद्ध होती है तथापि उसे आज्ञामे कायम करके मिथ्यादृष्टि अज्ञानीको समार्गका आराधक बनलाना सूत्रार्थ नहीं समझनेका परिणाम है ।

(बोल २३ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसकार भ्र० पृ० पृष्ठ, १८ के ऊपर सुयगडाग सूत्रकी गाथा लिख कर उसकी गालोचना करते हुए लिखते हैं कि—“इहा सूत्रमे तो कह्यो जे मासने छाडे भोगवे पिण या करे ते मायायी अनन्त ससाग भमे एनो मायाना फल कहा छै । पिण तपने खोदो प्रो नथी इहा तो तपने अपूठो विशिष्ट कह्यो ” आगे चलकर लिखते हैं कि “तिवारे कोई ई ए आज्ञा माहिंली करणी छै तो मोक्ष क्यू वजां तेहनो उत्तर—एहनो अज्ञा ऊधी ते टे मोक्ष नथी पर मोक्षनो मार्ग वज्यौ नथी जे अग्रती सम्यग्दृष्टि दान सहित छै तेहने न चारित्र दिन मोक्ष नथी पर मोक्षनो मार्ग कहिए ” (भ्र० पृष्ठ १८)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सुयगडाग सूत्रकी वह गाथा लिखकर इसका समाधान किया जाता है । वह गाथा है—

“जह विय गिगणे किसे चरे जहियि भुजिय मासमन्तेसो जे
ह मायाहमिज्जह आगन्ता गन्भाय गन्तसो ”

(सुयगंगा भ्र० १ अ० २ उ० १ गाथा ९)

अर्थ—

(जे इह मायाह मिज्जह) जो पुण्य माया यानी अनन्तानुबन्धी कथायासे पुण मिथ्या-
है वह घरघर आदि सब प्रकारके बाह्य परिग्रहोंको छोड कर नङ्गा और कुन होकर चिचरे
मास मास पर्यन्त उपवास करता हुआ उसके अन्तमें पारणा करे तो भी वह अल्पकाल
क गर्भमें ही जाता है । अर्थात् उमका संसार घटता नहीं ।

इस गाथामें कहा है कि मिथ्यादृष्टि अज्ञानी पुरुष घर घर छोड कर नङ्गा और
होकर चिचरे और मास-मासकी तपस्या करके उमका अन्तमें पारणा करे तो भी वह
अन्त कालतक गर्भमासको ही प्राप्त होता है । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मिथ्या-
दृष्टि अज्ञानीकी तपस्या बीतरागकी आज्ञामे नहीं है । यदि वह आज्ञामें होत तो उस

तपस्यासे संसारका अन्त न होकर अनन्त कालतक गर्भवास भोगना क्यों किया वीतरागसे कही हुई है उसका आचरण करनेवाला पुरुष कदापि अनन्त होता । यदि वीतराग भापित क्रियाके आचरण करनेपर भी संसारका अन्त न हो मोक्षार्थियोंके लिए कोई आश्रय ही नहीं रहता । अतः तपस्या करनेवाली क्रियाका आराधक मानना और उस क्रियाके करनेपर भी अनन्त की प्राप्ति कहना अज्ञानका परिणाम है ।


इस गाथामे मिथ्यादृष्टिकी तपस्याको गर्भवासका कारण बतला कर उसे आज्ञा बाहर और मोक्षमार्गमें न होना बतलाया है । अतएव इस गाथा की गाथाका इससे सम्बन्ध मिलाते हुए टीकाकारने लिखा है कि “यतो मिथ्यादिष्ट तपसाऽपि न दुर्गति मार्गं निरोधोऽनो मदुक्त एव मार्गो ” आह ” इसका अर्थ यह है कि “मिथ्यादृष्टियोंसे उपदेश की हुई तपस्या दुर्गतिके नहीं रोक सकती इस लिए मेरे बताए हुए मार्ग (वीतराग भापित धर्म) में चाहिए यह उपदेश देनेके लिए अगली गाथा कही गई है । यह इस टीकाका इसमें मिथ्यादृष्टि अज्ञानियोंकी तपस्याको स्पष्ट रूपसे मिथ्यादृष्टियोंसे उपदेश बतलाया है वीतरागसे कही हुई नहीं कहा है इसलिए मिथ्यादृष्टिकी क्रिया स्पष्ट बाहर सिद्ध होती है । यदि यह मोक्ष मार्गमें होती तो उससे दुर्गतिका निरोध क्यों होता ? तथा उसे छोड़ कर फिर वीतराग भापित धर्ममें आनेकी भी क्या थी ? जबकि यह भी वीतराग भापित ही होती तो इसे छोड़ कर वीतराग भापित आनेके लिए इसकी आगेकी गाथामे क्यों कहा जाता ? अतः मिथ्यादृष्टिकी जिनोक्त धर्म और मोक्षमार्गमें न होना स्पष्ट सिद्ध होता है । तथापि इस गाथा अन्यथा तात्पर्य बतला कर भ्रमनिवृत्तिसनकरने यह भ्रम फैलाया है कि “तपस्या तो वीतरागकी आज्ञामे ही है पर मिथ्यादृष्टि मायाकृता है इसलिए अनन्त कालतक गर्भवास भोगना यहां कहा है ” यह इनका कथन नितान्त इस विरुद्ध है ।

इस गाथामे मिथ्यादृष्टिकी तपस्याको मोक्षार्थी पुरुषोंसे सर्वथा त्यागने छानेके लिए उससे दुर्गति मार्गका निरोध न होना कहा है । यदि वह तपस्या मोक्ष में होती तो उसे छोड़नेके लिये आप्रह करनेकी क्या आवश्यकता थी । तथा मायाइ मिज्जइ ” यह जो इस गाथामे वाक्य आया है उसका भी अर्थ यह नहीं है “जो पुरुष माया करता है ।” इसका अर्थ टीकाकारने इस प्रकार किया है कि “तीर्थिक मायादिना मीयते उपलक्षणार्थत्वात्कर्मयोगैस्तु इत्येव परिच्छिद्यते ” इसका

“पुरुष मायां भादि यानी कयायोसे युक्त रह कर बतलाया जाना है ।” यह है । वह मिथ्यादृष्टि है उस मिथ्यादृष्टि का निर्दोश करनेके लिए इस गाथामे “जे इह मायाइ है” यह वाक्य आया है । अतः इस वाक्यका आश्रय लेकर मायाके कारण ससार-मन्त न होना बतला कर मिथ्यादृष्टिकी तपस्याको मोक्षमार्गमे कायम करना अज्ञान है ।

यदि मायाके कारण अनन्त कालतक गर्भवास भोगना पड़े तो दशम गुण स्थान के जीवोंका भी अनन्त कालतक गर्भवास भोगना मानना चाहिए । क्योंकि शास्त्रमे प्रगुण स्थान पर्यन्त कयायका होना बतलाया है परन्तु यह शास्त्र निरुद्ध है दशम स्थानवाले जीव कदापि अनन्त ससारी नहीं होते । अतः इस गाथाका नाम लेकर मायाके कारण अनन्त कालतक गर्भवास भोगनेकी कल्पना करके मिथ्यादृष्टिकी तपस्याको तोक्त मोक्षमार्गमे कायम करना अज्ञानका परिणाम है ।

चतुर्थ-गुणस्थानवाले अग्रती सम्यग्दृष्टिकी तरह अकाम निर्जराकी क्रिया ने चाले पुरुषको मोक्षमार्गका आराधक कहना भी मिथ्या है । अग्रती सम्यग्दृष्टिमे ज्ञान रूप मोक्षका मार्ग है और वह असंख्य भ्रममे मोक्ष भी जाता है पर अकाम निर्जरा क्रिया करनेवाले पुरुषमे ज्ञानदर्शन तथा चाग्नि रूप मोक्षमार्गका कोई भी अंश नहीं और वह अनन्त कालतक ससारमे ही भ्रमण करता है इस लिये अग्रती सम्यग्दृष्टिकी ह अकाम निर्जराकी क्रिया करने वालेको मोक्षमार्गका आराधक बतलाना एकान्त मिथ्या है ।

बोल २४ वां) 

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमनिवृत्तन पृष्ठ १९ के ऊपर भगवती सूत्र अतक ७ उद्देशा का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—

“तथा बनी मिथ्यात्वी त्रस जागते त्रमहणवारा त्याग कर तेहने सगर न होवे ते टि दुष्पचस्त्राणि कहीजे । पचस्त्राण नाम सबे नो छै । तेहने सगर नहीं ते भणी हना पचस्त्राण दुष्पचस्त्राण छै पिण निर्जग तो शुद्ध छै ते निर्जगरे लेखे निर्मल पचस्त्राण छै”

(भ० पृ० १९) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्रका यह पाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है यह पाठ नेमनलिखित है—

सेणूणं भन्ते ! सच्चपाणेहिं सच्चभूएहिं सच्चजीवेहिं
 सत्तेहिं पच्चक्खायमिति वदमाणस्स सुपच्चक्खायं भवइ दुप्पक्खा
 भवति ? गोयमा ! सच्चपाणेहिं जाव सच्च सत्तेहिं पच्चक्खा
 वदमाणस्स सिय सुप्पच्चक्खायं भवति सिय दुप्पच्चक्खायं भव
 सेकेणद्वेणं भन्ते ! एवं वुच्चइ सच्च पाणेहि जाव सिय दुप्पक्खा
 भवति ? गोयमा ! जस्सणं सच्च पाणेहि जाव सच्च सत्तेहिं
 क्खाय मिति वदमाणस्स णो एवं अभिसमण्णागयं भवइ इमे
 इमे अजीवा इमे तसा इमे थावरा तस्सणं सच्च पाणेहिं जाव
 सत्तेहिं पच्चक्खाय मिति वदमाणस्स नो सुपच्चक्खायं भवति
 चक्खायं भवति । एणं खलुसे दुप्पच्चक्खाई सच्चपाणेहिं जाव
 सत्तेहिं पच्चक्खायमिति वदमाणे नो सच्चं भासं भासइ मोह
 भासइ एणं खलुसे मुसावाई सच्च पाणेहिं जाव सच्च सत्तेहिं
 विहं तिविहेणं असंजयविरयपडिहपच्चक्खायपावकम्मे स
 असंबुडे एगंत दण्डे एगंत घाले घाविभवइ”

(भगवती शतक ७ उ०)

इसका अर्थ यह है—

(प्रश्न) हे भगवन ! जो पुरुष यह कहता है कि मैंने सब प्राणियोंसे लेकर य
 सत्त्वोंके हननका त्याग कर दिया है उसका वह प्रत्याख्यान (मारनेका त्याग) सप्र
 होता है या दुष्प्रत्याख्यान होता है ?

(उत्तर) हे गोतम ! किसी किसीका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान होता है औ
 किसीका दुष्प्रत्याख्यान भी होता है ।

(प्रश्न) इसका क्या कारण है ?

(उत्तर) हे गोतम ! जो यह कहता है कि हमने सब प्राणियोंसे लेकर यावत् स
 का सारना छोड़ दिया है उसको यदि यह ज्ञान नहीं है कि ये जीव हैं, ये अजीव हैं, ये
 और ये स्थावर हैं, उसका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान होता है । इस प्रकार वह दुष्प्रत्य
 पुरुष “मुझे सब जीवोंके हननका त्याग है” यह कहता हुआ सत्य नहीं बोलता वह झूठ
 है वह तीन कारण और तीन योगसे मयमधारी, निरतिशुक्ल, पापोंका हनन और प्रत्य
 किया हुआ नहीं है । वह कार्यिकी आदि क्रियाओंसे युक्त सब रहित प्राणियोंको पकाने
 देनेवाला और एकान्त बाल है ।

इस पाठमें, जिसको जीव अजीब ब्रस और स्थावरका ज्ञान नहीं है उसको का-
विकी आदि क्रियाओंसे युक्त सब रहित प्राणियोंको एकान्त दण्ड देनेवाला और एकांत
बाल कह कर उसके प्रत्याख्यानको दुष्प्रत्याख्यान और उसे मिथ्यानादी कहा है।
इमसे मिथ्यादृष्टि अज्ञानी पुरुषकी प्रत्याखानादि क्रिया वीतगगकी आद्यास बाहर और
मोक्षका अमार्ग सिद्ध होती है। तथापि भ्रमविध्वसनकार भोले जीवोंको भ्रममे डोलनेके
लिये यह कहते हैं कि “मिथ्यादृष्टि भी ब्रमको ब्रस जानकर उसके हननका त्याग करता
है परन्तु उसमे संवर नहीं होता इसलिये उमके प्रत्याख्यानको इम पाठमे दुष्प्रत्याख्यान
कहा है” यह इनका कथन सर्वथा शास्त्रविरुद्ध है। जो पुरुष ब्रम जीवको ब्रस जान कर
उसके हननका त्याग करता है वह एकान्त बाल एकान्त प्राणियोंको दण्ड देनेवाला और
एकान्त सब रहित नहीं है किन्तु देशसे (ब्रसक विषयमे) प्राणियोंको दण्ड न देनेवाला
देशसे पण्डित और देशसे सबगामी है इसलिये वह मिथ्यादृष्टि नहीं किन्तु सम्यग्दृष्टि है
उसके प्रत्याख्यानको यहा दुष्प्रत्याख्यान नहीं कहा है क्योंकि उमका प्रत्याख्यान, अज्ञान
पूर्वक नहीं है। जिसका प्रत्याख्यान अज्ञानपूर्वक होता है उमीके प्रत्याख्यानको यहा
दुष्प्रत्याख्यान कहा है इसलिये जो ब्रसको ब्रम स्थावरको स्थावर नहीं जानता
और झूठ ही कहता है कि मैंने जीवोंके हननका त्याग कर दिया है उस मिथ्यादृष्टि अज्ञा-
नीके प्रत्याख्यानको दुष्प्रत्याख्यान कह कर उसे यहा आद्या बाहर होनेकी सूचना दी है।
अतः ब्रसको ब्रस जानकर उमके हननका त्याग करनेवाले पुरुषको मिथ्या ही मिथ्यादृष्टि
कायम करने मिथ्यादृष्टिके प्रत्याख्यानको सुप्रत्याख्यान कहना एकांत मिथ्या है।

भ्रमविध्वसनकार यहा यह भी कहते हैं कि “मिथ्यादृष्टिमे जो निर्जरा होनी है
वह निर्बल है उसके हिसाबसे मिथ्यादृष्टिका प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है” परन्तु यह इन
की अपनी कल्पना है शास्त्रमे ऐसा कहीं नहीं कहा है कि मिथ्यादृष्टिका प्रत्याख्यान उस
की निर्जराके हिसाबसे सुप्रत्याख्यान होता है। इसलिये इम पाठमें मिथ्यादृष्टिके प्रत्या-
ख्यानको प्रत्यक्ष दुष्प्रत्याख्यान कहे जाने पर भी उसे अपने मतके आग्रहमे आफर सुप्र-
त्याख्यान कहना प्रत्यक्ष उत्सृज भाषण और अप्रामाणिक है।

(बोल २५ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २१ के ऊपर सुवर्गदाग सूत्र श्रुत० १ अ०.८.
गाथा तेजसवीको लिख कर उसकी ममालोचना करते हुए लिखते हैं कि—

“अथ अठेतो इमि कह्यो—जे तत्त्वना अजाण मिथ्यात्वीनो जेतलो अशुद्ध परा-

क्रम छे ते सर्व ससारनो कारण छै । अशुद्ध करणीरो कथन इहां कह्यो अने शुद्ध करणीरो कथनतो इहां चाल्यो न थी”

(भ० प० २१) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सुयगाडाग सूत्रकी वह गाथा लिख कर इसका समाधान किया जाता है । वह गाथा यह है—

“जे याऽबुद्धा महाभागा वीरा असंमत्त दंसिणो
असुद्धं तैसिं परकृतं सफलं होइ सब्यसो”

(सुयगाडागसूत्र श्रुत० १ अध्ययन ८ गाथा २३)

इसका अर्थ यह है कि—

जो पुरुष सत्त्वार्थको नहीं जाननेवाले महाभाग (संसारमें पूजनीय) वीर और अमर बुद्धि (सम्यग् ज्ञानादि विकल) हैं उनके किये हुए तप अध्ययन और नियमादिरूप उपाय सभी अशुद्ध और कर्मबन्धके ही कारण होते हैं ।

इस गाथामे मिथ्यादृष्टि अज्ञानी पुरुषोंसे किये हुए तप अध्ययन आदि सभी पा लोके सम्यग्धी काय्ये अशुद्ध और कर्मबन्धके कारण कहे गये हैं । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टि अज्ञानीकी क्रिया मोक्षमार्गमें नहीं है और उन क्रियाओंका अनुष्ठान करनेसे वह मिथ्यादृष्टि पुरुष भी मोक्ष मार्गका आग्राधक नहीं है । यही बात दूसरे दूसरे दर्शन भी बतलाते हैं बृहदारण्यकोपनिषद्में लिखा है कि—

“योवा एतदक्षर गार्ग्यविदित्वाऽस्मिल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते वह्निर्ष सहस्राण्यन्तवदेवात्यतद्भवति”

हे गार्गि ! जो अविनाशी—आत्माको बिना जाने इस लोकमें होम करता है वह करता है तपस्या करता है वह चाहे हजारों वर्ष तक इन क्रियाओंको करता रहे पर वह ससारके लिए ही हैं (बृहदारण्यक ३-९-३०) इसी तरह कठोपनिषद्में लिखा है कि—
“यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्क सदाऽशुचि । नमतत्पदमाप्नोति ससारं चाधिगच्छति”
यस्तुविज्ञानवान् भवति समनस्क सदा शुचि सतुतत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ।

(कठोपनिषद्)

अर्थात् जो ज्ञानी नहीं है वह ठीक-ठीक विचार नहीं कर सकता और वह मदा अपवित्र है वह मोक्ष नहीं पा सकता प्रत्युत ससारमें ही भ्रमण करता रहता है । जो ज्ञानी है वह ठीक-ठीक विचार कर सकता है और वह मदा पवित्र है वह ऐसे पदको पाता है जिससे फिर कभी “मम नह” लौटना पड़ता ।

इस उल्लेखमें अज्ञानीको सदा अपवित्र बताया है । 'सदा' शब्द देनेका तात्पर्य यह है कि अज्ञानी चाहे जब जो क्रियाएँ करे पर ज्ञानके अभाव होनेसे उसकी 'सय क्रियाएँ' पवित्रताका कारण नहीं हो सकतीं वरन् अपवित्रताका ही कारण होती हैं ।

इन उपनिषद्के वाक्योंमें जैसे मिथ्यादृष्टि अज्ञानीकी परलोक सम्बन्धी क्रियाओं की संसारका ही कारण कहा है ठीक उसी तरह सुयगडागसूत्रकी ऊपर लिखी हुई गाथामें भी कहा है अतः उक्त गाथासे मिथ्यादृष्टिकी क्रियाका मोक्ष मार्गमें न होना स्पष्ट प्रमाणित होता है तथापि मूढमतियोंको यहकानेके लिये अतीतमलम्बीने लिखा है कि "मिथ्या-स्थीनो जेतलो अशुद्ध पराक्रम छै ते सर्व संसारनो कारण छै । अशुद्ध करणीरो कथन इहा कहाँ अने शुद्ध करणीरो कथन तो इहा बात्यो न थी" यह शकान्त मिथ्या है । यहा मिथ्यादृष्टि अज्ञानियोंकी परलोक सम्बन्धी तपोदानाध्ययनादिरूप क्रियाओंको अशुद्ध और संसारका कारण कहा है पर उनके कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य, संग्राम कुशील-आदि क्रियाओंका कथन नहीं है । ये क्रियाएँ चाहे मिथ्यादृष्टिकी हों या सम्प्रदायिकी की हों संसारके लिये ही होती हैं इनसे मोक्षमार्गकी अराधना न होना प्रत्यक्ष सिद्ध है—अतः इस गाथामें कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य और संग्राम कुशीलादि क्रियाओंका कथन नहीं है अतः इस गाथाकी टीकामें टीकाकारने लिखा है कि "तपा वालना यत्किमपि तपोदाना-ध्ययन नियमादिपुण्यक्रान्त शुभमहत् तद्विशुद्ध भविष्यद्विकारि" अर्थात् अज्ञानी मिथ्या-दृष्टियोंका जो तपस्या, दान, अध्ययन और नियम आदिमें उद्योग होता है वह सभी अशुद्धिका ही कारण होता है यह इस टीकाका अर्थ है ।

यहा टीकाकारने अज्ञानी मिथ्यादृष्टियोंका, तपस्या दान अध्ययन आदिमें जो उद्योग है उसको उक्त गाथामें अशुद्ध कहा जाना बतलाया है इसलिये उक्त गाथामें मिथ्या दृष्टियोंकी पारलौकिक क्रियाओंका कथन न मान कर कृषि वाणिज्य संग्राम कुशलादि अशुद्ध क्रियाओंका कथन बतलाना मिथ्या है । इस गाथासे मिथ्यादृष्टियोंकी पारलौकिक क्रिया स्पष्ट रूपसे जित आशा बाहर और मोक्षमार्गमें प्रथक् सिद्ध होती है तथापि उसे मोक्षमार्गमें कायम करना मिथ्यादृष्टियोंका कर्तव्य है ।

इस गाथामें मिथ्यादृष्टि अज्ञानीकी जित क्रियाओंको अशुद्ध और कर्म बन्धका कारण कहा है सम्प्रदायिकी उन्हीं क्रियाओंको इसके आगेकी गाथामें शुद्ध और कर्म-क्षयका हेतु कहा है । वह गाथा यह है—

“जेय बुद्धा महाभागा वोरा सम्मत दंसिणो सुद्धं तेसिं पर
कांतं अफल होइ सब्वसो ”

अर्थात् जो पुरुष तत्त्वको जाननेवाले महा पूज्य कर्मको विचारण करनेमें समर्थ सम्यग्दर्शी हैं उनके तप, ज्ञान, अध्ययन और नियमादि सभी परलोक सम्बन्धी कार्य्य शुद्ध और कारण हैं ।

इस गाथामें सम्यग्दर्शी पुरुषके परलोक सम्बन्धी तप दान अध्ययन और नियम विरूप कार्य्यको शुद्ध और कर्मक्षयका कारण कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शी पुरुषोंका ही परलोक सम्बन्धी कार्य्य मोक्षमार्गमें है मिथ्यादृष्टिका नहीं क्योंकि इसके पूर्व गाथामें मिथ्यादृष्टिके इन्हीं कार्य्योंको अशुद्ध और कर्मबन्धका कारण कहा है परन्तु कईएक मिथ्यादृष्टि यह कहते हैं कि इस “गाथामें सम्यग्दर्ष्टिकी शुद्ध यानी परलोक सम्बन्धी क्रियाओंका वर्णन है और इसकी पूर्ण गाथामें मिथ्यादृष्टिकी अशुद्ध यानी समाम कुशीलादिको अशुद्ध कहा है इसलिये मिथ्यादृष्टिकी बालपत्या आदि पारलौकिक क्रियाएँ मोक्षमार्गमें ही हैं ” यह कहने वाले इन गाथाओंका भेद नहीं समझते । यदि इन दोनों गाथाओंका यही तात्पर्य्य हो कि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दर्ष्टि इन दोनों ही की तप अध्ययनादि क्रियाएँ शुद्ध हैं तो फिर यहाँ दो गाथा लिखने की आवश्यकता ही नहीं है केवल एकही जगह यह कह देते कि समाम कुशीलादि क्रियाएँ अशुद्ध और कर्मबन्धके कारण होती हैं । तथापि अलग अलग जो यहाँ दो गाथाएँ आई हैं उनका तात्पर्य्य सम्यग्दर्ष्टि और मिथ्यादृष्टिकी पारलौकिक क्रियाओंमें भेद दर्शाना है । वह भेद यही है कि मिथ्यादृष्टिकी तपोदानाध्यानादि पारलौकिक क्रियाएँ अशुद्ध और कर्मबन्धके कारण हैं क्योंकि वे अज्ञान तथा मिथ्यात्वपूर्वक की जाती हैं । और सम्यग्दर्ष्टि की ये ही क्रियाएँ शुद्ध और कर्मक्षयके कारण हैं क्योंकि वे सम्यग्ज्ञानके साथ की जाती हैं और यही बात दर्शनान्तर सम्मत भी है । अतः इन दोनों गाथाओंका अन्यथा तात्पर्य्य बनला कर मिथ्यादृष्टि अज्ञानीकी क्रियाको मोक्षमार्गमें ठहराना अज्ञानका परिमाण है ।

बोल २६ वां

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्र० पृष्ठ २७ के ऊपर लिखते हैं “ मिथ्यात्व छै जेहने तिणन मित्यात्वी कछो तेहने कतियक अद्वा सउली छै अने केई एक बोल ऊधा छै तिहां जे बोल ऊधा तेतो मिथ्यात्व अने जे केतला एक बोल सउली अद्वा रूप छै ते प्रथम गुण ठाणो छै । मिथ्यात्वीना जेतला गुणते मिथ्यात्व गुण ठाणो छै ”

इसके आगे लिखते हैं—

“तिवारे कोई कहे प्रथम गुण ठाणे किंसा बोल सबला छै । तेहनों उरार—जे मिथ्यात्वी गायने गाय अद्वा मनुष्यने अनुष्य अद्वा दिनने दिन अद्वा सोनोने सोनो अद्वा इत्यादि जे सउली अथा छै ते क्षयोपगम भाव छै ” (भ्र० पृ० २७-२८)

इसका क्या उत्तर—

(रूपक)

प्रथमगुण स्थानवाले मिथ्यादृष्टियोंमें जीवादि पदार्थोंकी एक भी शुद्ध श्रद्धा नहीं उनके सारे ही श्रद्धान विपरीत होते हैं । इसी लिए पहले गुणस्थानका नाम “मिथ्या गुणस्थान” रक्खा है । जिसमें मिथ्यादृष्टि यानी मिथ्यादर्शनरूपगुणकी स्थिति है प्रथम गुणस्थानका स्वामी है ।

यदि कोई कहे कि मिथ्यादृष्टियोंमें कई पदार्थोंकी श्रद्धा सम्यक् होती है उस श्रद्धास्वरूप गुणका भाजन होनेसे वे प्रथम गुण स्थानके स्वामी हैं । जैसे कि गायको गाय मनुष्यको मनुष्य, सोनाको सोना श्रद्धाते हैं इनकी ये श्रद्धाएँ सत्य हैं तो यह मिथ्या है मिथ्यादृष्टियोंके सभी ज्ञानोंमें कारण विपर्यय स्वरूप विपर्यय और सम्यन्ध विपर्यय बने रहते हैं इनके बने रहनेसे उनका सभी पदार्थों का ज्ञान विपरीत ही होता है सम्यक् नहीं होता । उक्त तीन विपर्ययोंका स्वरूप यह है—

जिम पदार्थका जो कारण नहीं है उसका वह कारण जानना “कारण विपर्यय” कहलाता है । जैसे घटपटादि रूपी पदार्थ रूपान् पुद्गलोंसे बने हैं तथापि कई एक उन्हें त्रयसे बना हुआ बतलाते हैं उनका घटपटादि ज्ञान कारण विपर्यय होनेसे अज्ञान तथापि वे घटपटको घटपट कह कर ही बतलाते हैं तथापि उनका घटापटादि ज्ञान पूर्वोक्त वरसे अज्ञान है ।

जिस वस्तुका जैसा स्वरूप नहीं है उसका वैसा स्वरूप मानना “स्वरूप विपर्यय” कहलाता है । जैसे घटपटादि पदार्थ कथचिन्नित्य और अनित्य हैं तथापि उन्हें कई एक अनन्त नित्य और कई एकान्त अनित्य बतलाते हैं उनका घटपटादि ज्ञान स्वरूप विपर्ययके कारण अज्ञान है । कारण और कार्यका परस्पर जो सम्यन्ध है उसे न मान-उससे विपरीत सम्यन्ध समझना “सम्यन्ध विपर्यय” कहलाता है जैसे घट और उसके कारणका कथचित् भेदाभेद सम्यन्ध है उसे न मानकर कई इनमें एकान्त भेद और एकान्त अभेद सम्यन्ध मानते हैं इसलिए उनका घटादिज्ञान, सम्यन्ध विपर्ययके कारण अज्ञान है । इस प्रकार मिथ्यादृष्टियोंका ज्ञान, कारण विपर्यय, स्वरूप विपर्यय, सम्यन्ध विपर्यय रूप मिथ्यात्वसे युक्त होनेके कारण अज्ञान है सम्यग्ज्ञान नहीं है । मिथ्यादृष्टिके घटपटादि ज्ञानको सम्यक् श्रद्धास्वरूप बतलाना एकान्त मिथ्या है ।

अब प्रश्न यह होता है कि मिथ्यादृष्टिमें थोड़ी भी सम्यक् श्रद्धा नहीं है तो वह स्थानमें कैसे गिना गया है ? तो इसका उत्तर यह है कि सम्यक् श्रद्धाको लेकर चतुर्गुणस्थान नहीं कहे हैं किन्तु कर्म विशुद्धिका उत्कर्ष और अपकर्षको लेकर कहे गये

हैं इसलिए सम्यक् श्रद्धा न होनेपर भी मिथ्यादृष्टि जीव, गुणस्थानमें गिना जाता जिसमें कर्मकी विशुद्धि सबसे निकट है वह पुरुष प्रथम गुणस्थानका स्वामी है ज्यों ज्यों कर्मोंकी विशुद्धि होती जाती है त्यों त्यों जीव उन्नति करता हुआ स्थानोंका स्वामी होता जाता है । मिथ्यादृष्टि पुरुषमें जो मिथ्यादर्शन और मिथ्या है वह कर्मकी विशुद्धिमें है उसीको लेकर वह प्रथम गुणस्थानमें गिना गया है । सम्यक् श्रद्धाको लेकर नहीं । अतः मिथ्यादृष्टिमें झूठ ही सम्यक् श्रद्धाका चक्र उसके सबसेसे उसे प्रथम गुणस्थानमें कायम करना अज्ञान मूलक है ।

समवायाग सूत्रके मूल पाठमें कर्म विशुद्धिके उत्कर्ष और अपकर्षका के चौदह गुणस्थान बतलाए हैं सम्यक् श्रद्धाको लेकर नहीं । वह पाठ यह है—

‘कम्मविसोहिमगगणं पडुच्च चउडस जीव ठाणा
तंजहा—मिच्छदिट्ठो, सासायणसम्मदिट्ठो, सम्ममिच्छदि
अविरत सम्मदिट्ठो, विरयाविरए, पमत्तसंजए, अपमत्तसंजए, नि
हिवापरे, अनियट्ठिवापरे, सुहुमसंपराए, (उपसमएवा खवएवा)
उवसन्त मोहे, खीण मोहे, सयोगी केवली अयोगी केवली’

(समवायाग सूत्र सू० ४)

अर्थात् कर्मकी विशुद्धिकी गवेषणा यानी उत्कर्ष और अपकर्षका विचार करके के जीवके स्थान (भेद) कहे हैं ।

वे ये हैं—(१) मिथ्यादृष्टि, (२) सात्यादन सम्यग्दृष्टि, (३) सम्यक् मिथ्यादृष्टि, अविरत सम्यग्दृष्टि, (४) विरताविरत, (५) प्रमत्त संयत, (६) अप्रमत्त संयत, (७) निवावर, (८) अनिवृत्तिवावर, (९) सूक्ष्म संपराय (यह उपसमक और क्षपक दो हैं) (१०) उपशान्त मोह, (११) क्षीण मोह (१२) सयोगी केवली (१३) अयोगी केवली ।

यहां समवायाग सूत्रके मूलपाठमें कर्म विशुद्धिके उत्कर्षापकर्षके विचारसे गुणस्थानोंका कहा जाना बतलाया है सम्यक् श्रद्धाको लेकर नहीं । इसलिए सम्यक् लेकर गुण स्थानोंका कथन बतलाना मिथ्या है । यहां जो कर्मकी विशुद्धि कही गयी वह कर्मों का क्षयोपशम रूप है मिथ्यादृष्टि पुरुषका जो मिथ्यादर्शन और मिथ्या ज्ञान वह क्षयोपशम भावमें है इस लिये मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानको लेकर मिथ्यादृष्टि प्रथम गुणस्थानमें कहा गया है । मिथ्यादर्शनका क्षयोपशमभावमें होना अनुयोग सूत्रमें कहा है । वह पाठ यह है—

“खओवसमिआ मइअण्णाणलद्धो, खओवसमिआ
सुअण्णाणलद्धो, खओवसमिआ विभंगअण्णाणलद्धो, खओवस

आ चक्षुदंसणलद्धो, खओवसमिआ अचक्षुदंसणलद्धो
हिदंसणलद्धो, एवं सम्मदंसणलद्धो, मिच्छादंसणलद्धो, सम्म-
च्छादंसणलद्धो, एवं पण्डियवीरियलद्धो, चालपण्डिय वीरियलद्धो
ओवसमिआ सोइन्दियलद्धो, जाच खओवसमिआ पासेन्दिय
द्धो ”

(अनुयोग द्वार सूत्र)

इसका अर्थ यह है—

मति अज्ञानलब्धि, श्रुतअज्ञानलब्धि, विभङ्ग अज्ञान लब्धि, चतुर्दशन लब्धि, अवज्जु
लब्धि, अवधिदर्शन लब्धि, सम्यग्दर्शन लब्धि, मिथ्यादर्शन लब्धि, सम्यक् मिथ्यादर्शन
लब्धि, पण्डित दीर्घ्य लब्धि, चालपण्डित दीर्घ्य लब्धि, श्रोत्रेन्द्रिय लब्धि,
चक्षुस्पर्शेन्द्रिय लब्धि, ये सब अपने अपने आवरण क्रमों के क्षयोपशम होनेसे उत्पन्न होती
अतः ये क्षयोपशमिक कहलाती हैं।

यह मिथ्यादर्शन लब्धि, और मतिअज्ञानादिको क्षयोपशमसे उत्पन्न होना कहा
। इसलिये मिथ्यादृष्टि पुरुषका मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान क्षयोपशमिक भावसे है उन
को लेकर वह प्रथम गुण स्थानमें गिना जाता है किसी सम्यक् श्रद्धाको लेकर नहीं ।

यदि कोई कहे कि मिथ्यादर्शन लब्धि क्षयोपशमसे उत्पन्न होती है तो इसे वीत-
रागकी आज्ञामे क्यों नहीं मानते ? तो इसका समाधान यह है कि क्षयोपशमसे उत्पन्न
होने मात्रसे कोई पदार्थ वीतरागकी आज्ञामे नहीं हो जाता । क्योंकि मति आज्ञान लब्धि
अज्ञान लब्धि, और विभङ्ग अज्ञान लब्धि क्षयोपशमसे ही उत्पन्न होती हैं तथापि,
त्यागने योग्य होनेसे ये वीतरागकी आज्ञामे नहीं हैं उसी तरह मिथ्यादर्शन लब्धि भी
त्यागने योग्य होनेसे वीतरागकी आज्ञामे नहीं है ।

मति अज्ञानादिक और मिथ्यादर्शन त्यागने योग्य है यह आवश्यक सूत्रसे कहा
। वह पाठ यह है—

“ मिच्छत्तं परियाणामि सभत्तं उवसंप्पवज्जामि, अन्नाणं
परियाणामि नाणं उवसंप्पवज्जामि ”

अर्थात् साधु प्रतिज्ञा करता है कि मैं मिथ्यात्व और अज्ञानको छोड़ कर सम्यक्त्व और
सही ज्ञानका आश्रय ऐसा हूँ ।

इस पाठसे मिथ्यात्व और अज्ञानको त्यागने योग्य कहा है अतः जैसे अज्ञान,
क्षयोपशमिक भावमें होने पर भी आज्ञामे नहीं है उसी तरह मिथ्यादर्शन भी त्यागने
योग्य होनेके कारण आज्ञामे नहीं है ।

यदि कोई कहे कि मिथ्यादर्शन लब्धि, क्षयोपशमसे उत्पन्न होती है । कर्मबन्ध क्यों होता है ? तो इसका उत्तर यह है कि क्षयोपशमसे उत्पन्न भी कर्मबन्धके कारण होते हैं । जैसे कि चालवीर्य्य लब्धि क्षयोपशमसे ही उत्पन्न है पर वह सांसारिक आगम्भादि कार्यों में प्रयुक्त होनेसे कर्मबन्धका कारण उसी तरह अज्ञान और मिथ्यादर्शन क्षयोपशमसे उत्पन्न होकर भी विपरीत लगे हुए होनेसे कर्मबन्धके ही कारण होते हैं अतः जो लोग यह कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि, (मिथ्यादर्शन) क्षयोपशमभावमें है और क्षयोपशमभाव कर्मबन्धका नहीं होता इसलिये मिथ्यादृष्टि गुण स्थान वीतरागकी आज्ञामें है वे मिथ्यावादी हैं ।

[बोल २७ वां समाप्त]

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३१ के ऊपर भगवती सूत्र शतक ९ का मूलपाठ लिख कर उमकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—“अथ इहा असोषा केवलीने अधिकारे इम कसू—जे कोई चालतपस्वी साधु आवक पासे धर्मसुण्या किं वेले वेले तप करे, सूर्य्य साहमी आतापना लेये ते प्रकृति भद्रिक विनीत उपशान्त स्वप्न पतला क्रोध, मान, माया, लोभ, मृदुकोमल अहङ्कार रहित एहवा गुण कक्षा ए गुण छै के अशुद्ध छै, ए गुण निरवद्य छै के सावय छै” (भ्रम० पृ० ३२)

इनके कहनेका तात्पर्य्य यह है कि असोषा केवलीके अधिकारमें उक्त बाल तपस्वी के प्रकृति भद्रकृतादिक गुण और तपस्या वीतरागकी आज्ञामें कही है आज्ञा शाहर नहीं । इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक ९ उद्देशा १ का मूलपाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है । वह पाठ यह है—

“तस्सणं छट्ठं छट्ठेणं अणिकिखरोणं तवोपरुमेणं उड्डहं
वाहाओ पणिज्झय मराभिमुहस्स आयावण भूमिप
आयावेमाणस्स पगहभदयाए पगहउवसन्तयाए पगहपतणुकोह
माण माया लोभयाए मिउमदव सम्पन्नयाए अल्लीणयाए भदयाए
विणोययाए अन्नया कयाडं सुभेणं अज्झवसाएणं सुभेणं परिणामेणं
लेस्साहिं विसुज्जमाणोहिं तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं
ईहापोह मग्गणं गवेसणं करेमाणस्स विभंगे नाम अन्नाणे समुपज्जह

सेणंतेणंविभगनाणममुप्पन्नेणंजहन्नेणंअंगुलस्सअसंखोज्जाइ भागं उक्को-
 नेणं असंखोज्जाइ' जोयण सहस्साइ' जाणइ पासइ सेणंतेणं विभंग-
 णेणं समुप्पन्नेणं जीवेविजाणइअजीवेवि जाणइ पासइडत्थे सारंभे
 तपरिग्गहे संकिलिस्समाणेविजाणइ सेणं पुव्वामेव समूमत्तं पडिवज्जइ
 समणधम्मं रोएइ चरित्तं पडिवज्जइ लिंगंपडिवज्जइ''

जो जीव, केवली आदिके वाक्यको सुने जिना सम्यक्त्वसे लेकर केवल ज्ञानतक
 गम करता है उसे जिस प्रकार सम्यक्त्वसे लेकर केवल ज्ञानकी प्राप्ति होती है वह इस
 गठमे कहा है। इसका अर्थ यह है—

जो जीव, दो दो दिनकी लगातार तपस्या करता हुआ सूर्यके समुख अपनी भुजाओं को
 उठा कर आतापन भूमिमें आतापना ऐसा है उसकी स्वाभाविक भद्रता, शान्ति, स्वाभाविक क्रोध,
 मान, मायात्मिकी अल्पता, मृदुता, विनीतता, इन्द्रियनिग्रह इन गुणोंसे, किसी समय शुभ
 अध्यवसाय, शुभपरिणाम और शुद्ध ऐश्यासे विभक्त ज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम होता है।
 और विभग ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशम होनेसे वह जीव वस्तुस्वरूपको जाननेकी कोष्ट करता है
 और उस चेष्टाके विपक्ष यानी वाचक वस्तुको हटा देता है पश्चात् वस्तुओंके सजातीय और
 विजातीय धर्मकी आलोचना करते हुए उस जीवने विभग नामक अज्ञान पैदा होता है उस विभग
 अज्ञानके प्रभावसे वह जीव जघन्य अगुलिके अमल्य भागको और उरकृष्ट अमल्य हजार धोजन
 तत्त्व पदार्थों को जानता और देखता है। वह जीवाने भी जानता है और अजीवोंको भी जानता
 है प्रवधारियोंको भी जानता है और आरम्भ परिग्रह वालोंको भी जानता है। जो पुण्य आरम्भी
 और परिग्रही हैं उनको बहुत ज्यादा अशुद्ध और थोड़ा शुद्ध भी जानता है वह चारित्र्य प्राप्ति
 पहले सम्यक्त्वको प्राप्त करता है तब पीछे श्रमण धर्मको पसन्द करता है पश्चात् चारित्र्य प्राप्ति
 करके लिङ्गको ग्रहण करता है।

इस भूलपाठम, घालतपस्या, प्रकृति—भद्रकता, शान्ति, विनीतता, शुभ अध्य-
 वसाय, शुभ—परिणाम और विशुद्धऐश्यासे विभग ज्ञानके आवरणीय कर्मों का क्षय हो
 कर मिथ्यादृष्टिको विभग ज्ञानकी प्राप्ति और विभग ज्ञानसे जीवाजीवादि पदार्थों
 का ज्ञान होकर सम्यक्त्वकी प्राप्ति घटलाई है। इससे सिद्ध होता है कि विभग ज्ञान
 सम्यक्त्वकी प्राप्तिना साक्षात् कारण है और प्रकृति भद्रकतादि गुण तथा शुभ परिणाम
 और विशुद्ध लेखाण परम्परा कारण हैं। एसी दशामें सम्यक्त्वकी प्राप्तिके कारण होनेने
 मिथ्यादृष्टिकी प्रकृति भद्रकता आदि गुण, तथा घाल तपस्याको कोई वीतरागकी आज्ञामें
 घनावे तो सबसे पहले उसे विभग ज्ञानको वीतरागकी आज्ञामें मानना होगा। क्योंकि

विभङ्ग ज्ञान सम्यक्त्व प्राप्ति का साक्षात् कारण यहा कहा है । यदि विभङ्ग ज्ञान को वीतराग की आज्ञा में नहीं मानते तो बाल तपस्या और बाल तपस्वी के पूर्णतः गुणों को भी आज्ञा में नहीं मान सकते क्योंकि ज्ञान सम्यक्त्व की प्राप्ति का साक्षात् कारण विभङ्ग ज्ञान वीतराग की आज्ञा में नहीं है तब परम्परा कारण प्रकृति भद्रकृतादि गुण क्यों क आज्ञा में हो सकते हैं ? अतः सम्यक्त्व प्राप्ति के परम्परा कारण बाल तपस्या आदि को वीतराग की आज्ञा में कहना अज्ञानमूलक है ।

यदि कोई विभङ्ग ज्ञान को भी वीतराग की आज्ञा में बनाये तो उसे कहना चाहिये कि अज्ञान आज्ञा में नहीं होता । विभङ्ग ज्ञान अज्ञान है इसलिये वह आज्ञा में नहीं है । आवश्यक सूत्र में कहा है कि “अज्ञान परियाणामि नाण उज्जसपवज्जामि” अर्थात् साधु प्रतिज्ञा करता है कि मैं अज्ञान को छोड़ कर ज्ञान को प्राप्त करता हूँ । यहा अज्ञान को त्यागने योग्य कहा है इसलिये वह आज्ञा में नहीं है ।

भगवती ने उक्त मूलपाठ में “लेस्साहिं विसुज्झमाणो हिं” यह पाठ आया है । इस में विशुद्ध देश्या का कथन हुआ है इसे देख कर कई यह कहते हैं कि “उक्त लेज्या वीतराग की आज्ञा में है क्योंकि वह विशुद्ध कही गई है” उनसे कहना चाहिये विशुद्ध होने से लेज्या आज्ञा में नहीं हो जाती । भगवती शतक १३ उद्देशा १ में नील लेज्या भी विशुद्ध कही है परन्तु वह वीतराग की आज्ञा में नहीं है उसी तरह भगवती के उक्त मूलपाठ में कही हुई मिथ्यादृष्टि की विशुद्ध लेज्या भी आज्ञा में नहीं है । कृष्ण लेज्या से नील लेज्या विशुद्ध कही है वह पाठ यह है—

“सेनूणं भन्ते ! कण्हलेस्से जाव सुक्कलेस्से भवित्ता कण्हलेस्सेसु नेरइएसु उववज्जन्ति ? हंता गोयमा ! कण्हलेस्से जाव उववज्जन्ति । सेकेणट्ठेणं भन्ते ! एवं बुच्चह कण्हलेस्से जाव उववज्जन्ति ? गोयमा ! लेस्साठाणेसु संकिलिस्समाणेसु कण्हलेस्सं परिणमइ से कण्हलेस्सेसु नेरइएसु उववज्जन्ति सेतेणट्ठेणं जाव उववज्जति । सेनूणं भन्ते ! कण्हलेस्से जाव सुक्कलेस्से भवित्ता नीललेस्सेसु नेरइएसु उववज्जन्ति ? हता गोयमा ! जाव उववज्जति । सेकेणट्ठेण जाव उववज्जन्ति ? गोयमा ! लेस्सा ठाणेसु संकिलिस्समाणेसु विसुज्झमाणेसु नीललेस्सं परिणमइ नील लेस्सेसु नेरइएसु उववज्जन्ति । सेतेणट्ठेणं गोयमा ?”

(भगवती शतक १३ उद्देशा १)

इसका अर्थ इस प्रकार है—

(प्रश्न) हे भगवन् ! कृष्णलेश्यामे लेकर यावत् शुक्ललेश्यावाले जीव, कृष्णलेशी नरक योनिमें क्या उत्पन्न होते हैं ?

(उत्तर) हा होते हैं ।

(प्रश्न) ऐसा क्यों होता है ?

(उत्तर) लेश्या स्थानके संबलित्यमान होने पर जीवको कृष्णलेश्याका परिणाम होता है और ये कृष्णलेशी होकर कृष्णलेश्या वाली नरक योनिमें उत्पन्न होते हैं ।

हे भगवन् ! कृष्णलेश्यामे लेकर यावत् शुक्ल लेश्या वाले जीव, नीललेशी होकर नील लेश्यावाली नरक योनिमें क्या उत्पन्न होते हैं ?

(उत्तर) हा गोतम ! होते हैं ।

(प्रश्न) ऐसा क्यों होता है ?

(उत्तर) लेश्या स्थानके संबलित्यमान और विशुद्ध होनेसे जीवोंको नील लेश्याका परिणाम होता है और ये नीललेशी होकर नील लेश्यावाली नरकयोनिमें उत्पन्न होते हैं ।

इस मूलपाठमे कृष्ण लेश्याकी अपेक्षा नील लेश्याको विशुद्ध कहा है तो भी वह वीतरागकी आज्ञामें नहीं है उसी तरह भगवती सूत्र शतक ९ उद्देशा १ के मूलपाठमे कही हुई बाल तपस्वीकी विशुद्ध लेश्या भी वीतरागकी आज्ञामें नहीं है । अतः बाल तपस्वीकी विशुद्ध लेश्या और उसके मिथ्यात्व युक्त प्रकृति भद्रकता आदि गुणोंको वीतरागकी आज्ञामें ठहराना अप्रामाणिक है ।

[बोल २८ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार पृष्ठ ३३ के ऊपर लिखते हैं—

“बली ईहापोहमगण गवेसण करे माणस्स” ए पाठ कहा ईहा कहिता भला अर्थ जाणबा सम्मुख थयो अपोह कहिता धर्मध्यान बीजा पक्षपात रहित मगण कहिता समुच्चय धर्मनी आलोचना गवेसण कहिता अधिक धर्मनी आलोचना प्रथम गुण ठाणें कही ते धर्मनी आलोचनाने अनेधर्मध्यानने आज्ञा बाहरे किम कहिए एतो प्रत्यक्ष आज्ञामाहि छै” इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती शतक ९ उद्देशा १ के मूल पाठमे आये हुए “ईहा” ‘अपोह’ ‘मागण’ और ‘गवेसण’ शब्दना भ्रमविध्वसनकारने अशुद्ध अर्थ किया है । टीकानुसार इन शब्दों का अर्थ यह है “ईहेहा सदर्याभिमुखा ह्यानचेष्टा, अपोहस्तु विपक्षनिराश, मार्गणत्वा-न्वय धर्मालोचनम्, गवेसणच्च व्यतिरेक धर्मालोचनम्,”

अर्थात् वस्तुस्वरूपको जाननेकी चेष्टा करनेका नाम “ईहा” है। और उस वाचक कारणको हटा देना ‘अपोह’ है। और अन्वयधर्म (सजातीय धर्म) की आलोचना करनेका नाम ‘मार्गण’ है तथा व्यतिरेक धर्म (विजातीय धर्म) की आलोचना करना, ‘गवेपग कहलाता है। यह उक्त टीकाका अर्थ है।

इस टीकामें ‘मार्गण’ शब्दका सजातीय धर्मकी आलोचना करना, और ‘गवेपग’ शब्दका विजातीय धर्मकी आलोचना करना अर्थ बतलाया है वीतराग भाषित धर्म और चारित्र्य रूप धर्मकी आलोचना करना अर्थ नहीं कहा है इसलिये मार्गण शब्द वीतराग भाषित धर्मकी आलोचना और गवेपग शब्दका अधिक धर्मकी आलोचना बतलाना एकान्त मिथ्या है। भ्रमविध्वंसनकारने जो भगवती शतक ९ उद्देश १ में उक्त मूलपाठके नीचे टिप्पणी अर्थ लिखा है वह भी टीका विरुद्ध होनेसे अप्रामाणिक है।

(बोल २९ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३४ पर लिखते हैं कि “इहा कस्यो आर्तध्यान वर्जो और धर्मशुक्ल ध्यान ध्यावे ए शुक्ल लेख्याना लक्षण कहा। ते शुक्ल ध्यान तो ऊपर ले गुण ठाणे पावे छै अने प्रथम गुण ठाणे शुक्ल लेख्यावतें ते वेला आर्तध्यान तो वर्ज्यो छै अने धर्म ध्यान पावे छै। (भ्रमविध्वंसन पृ० ३४) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

प्रथम गुण स्थानके स्वामी मिथ्यादृष्टि पुरुषोंमें शुक्ललेख्या तो पाई जाती है पर वीतराग भाषित धर्म ध्यान नहीं पाया जाता। वीतराग भाषित धर्म ध्यान, श्रुत धर्म और चारित्र्य धर्मके होने पर ही होता है। मिथ्यादृष्टिमें श्रुत चारित्र्य धर्म नहीं होता अतः उसमें वीतरागभाषित धर्म ध्यान भी नहीं होता। ठाणाङ्ग सूत्रके मूलपाठमें चार ध्यानों का वर्णन किया है वही टीकाकारने श्रुत और चारित्र्य धर्म वालेको ही धर्मध्यान होना बतलाया है मिथ्यादृष्टिको नहीं वह टीका मूलपाठके साथ लिखी जाती है।

“चत्तारि क्षाणा पण्णत्ता—अट्टे क्षाणे रोद्धे क्षाणे घम्मे क्षाणे सुद्धे क्षाणे”

(ठाणाङ्ग ठाणा ४)

इसकी टीका यह है—

“तत्र भूत दुःख तस्य निमित्तं तत्रवा भवम् ऋते पीडिते भव मार्त ध्यानं इहोऽप्य-
पसाय । हिंसायति क्रौर्यानुगत रूढम् । श्रुतचरणधर्माद्वनपेत धर्म्यम् । शोधयत्यष्ट
प्रकारं कर्ममलं शुचवाक्लमयतीति शुक्लम्”

अर्थात् जो ध्यान, दुःख का कारण अथवा दुःख होने पर होता है वह “आत्म-
न कहलाता है। और जो हिंसा आदि अनिष्टकृतिके साथ होता है उसे “रुध्र ध्यान”
कहते हैं। तथा जो ध्यान श्रुत और चारित्र्य रूप धर्मके साथ होता है उसे “धम्मध्यान”
कहते हैं। एवं जो आठ प्रकारके कममलोंको दूर करता है या शोकको हटाता है उसे
“मुक्त्वध्यान” कहते हैं।

यहां टीकाकारने स्पष्ट कहा है कि—जो ध्यान श्रुत और चारित्र्यधर्मके साथ होता
है वही धम्म ध्यान है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टि पुरुषमें धम्म ध्यान
होता क्योंकि उसमें श्रुत और चारित्र्य धर्मका सबंध अभाव है। अतः प्रथम गुण
ज्ञानमें धम्म ध्यानका सम्भाव्य वतलाना शास्त्रविरुद्ध है।

इसी जगह धम्मध्यान करने वाले पुरुषका लक्षण वतलानेके लिए आगाद्ध सूत्रमें यह
कहा आया है—

**धम्मस्सणं आणस्स चत्तारि लक्खणा पन्नत्ता तंजहा—आणा-
रुद्धं गिसग्गरुद्धं सुत्तल्लं ओगाढरुद्धं”**

(आगाद्ध)

इसकी टीका यह है—

“आणाद्ध” त्ति आज्ञासूत्रव्याख्यानं नियुक्त्यादि तत्र तयाया रुचिं श्रद्धानाम्
आज्ञा रुचिं एवमन्यत्रापि, नवर निम्नं स्वभावोऽनुपदेशं स्तेन, तथा सूत्रम् आगमं तत्र
तन्मात्रा तथा अवगाहनं भवगाढं द्वादशाङ्गावगाहो विस्तराधिगम इति सभाव्यते तेन रुचिं
अथवा ‘ओगाढ’ त्ति साधु प्रत्यासन्तीभूतस्तस्य साधुपदशां द्रुचिं उक्तञ्च—“आगम उर
एसेण निसग्गाओ ज जिगप्पणीयाण भावाण सहस्रण धम्मज्झागस्स तं लिं” तत्त्वार्थ
श्रद्धान रूपं धर्मस्य लिङ्गमिति हृदयम्”

इस टीकाका यह अर्थ है—वीतराग भाषित सूत्रोंके व्याख्यानस्वरूप नियुक्ति
आदिको आज्ञा कहते हैं (१) उसमें रुचि रखना, या उसके अध्ययन करनेसे धर्ममें रुचि
उत्पन्न होना, (२) स्वभावसे ही वीतराग भाषित धर्ममें रुचि होना, (३) वीतराग भा-
षित सूत्रोंमें रुचि होना या उनके पढ़नेसे धर्ममें रुचि होना, (४) द्वादशाङ्गमें प्रवेश होने
से रुचि होना, या निरुद्धवर्ता साधुके उपदेशसे धर्ममें रुचि होना, ये चार धर्मध्यानके
लक्षण हैं। किसी आचार्यने भी कहा है आगमके उपदेशमें अथवा स्वभावसे जिन
भाषित धर्ममें श्रद्धा रखना धर्मध्यानी पुरुषका लक्षण है। तात्पर्य यह है कि तत्त्वार्थ
श्रद्धान रूप सम्यक्त्व, धर्मध्यानका लक्षण है।

यहा मूलपाठ और उसकी टीकामे तत्त्वार्थश्रद्धान रूप सम्यक्त्वको धर्मध्यानका लक्षण कहा है वह तत्त्वार्थ श्रद्धान मिथ्यादृष्टि जीवमे नहीं होता इसलिये मिथ्यादृष्टिमें धर्मध्यान बतलाना उक्त मूलपाठ और उसकी टीकासे विरुद्ध है।

यदि कोई कहे कि उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३४ की ३१ वीं गाथामें धर्मध्यान होना शुक्ललेइयाका लक्षण कहा है और शुक्ललेइया मिथ्यादृष्टिमें भी पाई जाती है कि उसमे धर्मध्यान क्यों नहीं होता ? तो इसका उत्तर यह है कि उत्तराध्ययन सूत्रकी उस गाथामें विशिष्ट शुक्ल लेइयाका लक्षण कहा है जो कि सयमी पुरुषोंमें पाई जाती है सामान्य शुक्ललेइयाका नहीं। यह बात उस गाथा और उसकी टीकासे स्पष्ट ध्यानमें आ जावेगी इसलिए यहा वह लिखी जाती है—

“अद्वृद्धाणि वज्रित्ता धम्मसुक्काड् आयए
पसंत चित्ते दंतप्पा समिए गुत्तेय गुत्तिस्सु”
सरागे वीय रागेवा उवसंतं जिएन्दिए
एय जोग समाउत्तो सुक्कलेस्संतुपरिणमे”

(उत्तराध्ययन अ० ३२ गाथा ३१-३२)

जो पुरुष आतंरद ध्यानको त्याग कर धर्मध्यान और शुक्लध्यानको ध्याता है तथा अपन चित्त और इन्द्रियको वशमें रखते हुए समितिते युक्त है। जिसने मनोगुप्ति आदिके द्वारा अपने समस्त व्यापारको रोक लिया है वह चाहे सरागी हो भीतरागी हो या इनसे अन्य उपशान्त और जितेन्द्रिय हो वह शुक्ललेइयाको प्राप्त होता है। यह ऊपर लिखी हुई गाथाओंका अर्थ है।

इनमे कहे हुए शुक्ललेइयाके लक्षण विशिष्ट शुक्ल लेइयाके हैं सामान्य शुक्ललेइया के नहीं अतएव इस गाथाकी टीकामें टीकाकारने लिखा है कि “विशिष्ट शुक्ल लेइयाकेभ-
यैव लक्षणाभिधान मिति न देवादिमिर्व्यभिचार”

अर्थात् इन गाथाओंमें विशिष्ट शुक्ललेइयाके लक्षण कहे हैं इसलिये शुक्ललेइया देवताओंमें गायोक्त लक्षणोंके न मिलने पर भी कोई दोष (व्यभिचार) नहीं है। यहा टीकाकारने स्पष्ट लिखा है कि गायोक्त लक्षण विशिष्ट शुक्ललेइयाके हैं सामान्य शुक्ललेइया के नहीं इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि ये लक्षण सयमधारी विशिष्ट शुक्लेशी मुनियोंकी शुक्ललेइयाके हैं सामान्य शुक्ललेइयाके नहीं तथापि यदि कोई इस टीकाको प्रमाण न मान कर सभी शुक्ललेइयाओंका गायोक्त लक्षण बनाने तो उससे कहना चाहिये कि इन गाथाओंमें शुक्ललेइयाके लक्षण शुद्धयान, समिति गुप्ति, मयसावध योगोंका परित्याग भी कहें इन्हे भी प्रथम गुण स्थानमें तुम म्यो नहीं मानते ? यदि कहो कि शुद्धयान आदि

तो गाथामें शुद्धेश्वरके लक्षण बताये हैं वे सब ऊपरके ही गुणस्थानोंमें पाये जाते हैं
हरे गुण स्थानमें नहीं, तो उसी तरह धर्मध्यान भी ऊपरके ही गुणस्थानोंमें पाया
जाता है प्रथम गुणस्थानमें नहीं, ऐसा कदापि नहीं हो सकता कि गाथामें कहे हुए और
सब लक्षण तो ऊपरके गुणस्थानोंमें ही पावें मगर एक धर्मध्यान प्रथम गुणस्थानमें भी
पावे अन उत्तागध्ययन सूत्रकी उक्त गाथाओका नाम लेकर मिथ्यादृष्टिमें धर्मध्यान जल-
लाना एकान्त मिथ्या है ।

(बोल ३० वां)

(प्रेक्षक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३४ के ऊपर लिखते हैं कि "जिम एक ता-
लाव नो पाणी एक घडो ब्राह्मण भर ले गयो अने एक घडो भगी भर ले गयो । भगीरा
घडामें भगीरो पाणी वाजे अने ब्राह्मणरा घडामें ब्राह्मणगे पाणी वाजे पिण पाणी तो भीठो
शीतल छै भगीरा घडामें आया प्यारो थयो न थी । तथा शीतलता मिटी नहीं पाणी तो
तेहिज तालाव नो छै । पिण भाजन हारे नाम बोलरा रूप छै । तिम शील, दया, क्षमा
तपस्यादिक रूप पाणी ब्राह्मण समान सम्यग्दृष्टि आदरे भगी समान मिथ्यादृष्टि आदरे ते
तो तप शील दया नो गुण जाय नहीं । जिमि पानी ब्राह्मण तथा भङ्गी रो वाजे पिण
पाणी भीठामें फेर नहीं पाणी भीठो एक सगीरो छै । तिमि मिथ्यादृष्टि शीलादिक पाले
ते मिथ्यादृष्टि नी करणी वाजे पिण करणी दोनू मोक्षमार्गी छै ।" [भ० पृ० ३४] इस
का क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

एक तालावसे जल भरने वाले ब्राह्मण और भङ्गीका उदाहरण देकर मिथ्यादृष्टि
और सम्यग्दृष्टियोंके गुणको तुल्य बनाना मूर्खता है । ब्राह्मण और भङ्गीमें जातिमात्रका
भेद है किन्तु उस तालावकी मधुरता और उपादेयताके सम्बन्धमें मतभेद नहीं है । जैसे
ब्राह्मण उस तालावको मधुर और जलप्रद करनेयोग्य समझता है भङ्गी भी उसे उसी
तर्ह समझता है । यदि भङ्गी उस तालावको खारा या जलप्रद न करनेके योग्य सम-
झता तो वह उससे जल नहीं भरता इसलिये भङ्गी और ब्राह्मणका विचार उस तालावके
सम्बन्धमें एक है परन्तु मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिमें यह धान नहीं है । मिथ्यादृष्टि जिम
मिथ्यादर्शन रूप तालावको उत्तम समझता है सम्यग्दृष्टि उसे बुरा जानता है । तथा सम्य-
ग्दृष्टि जिस सम्यग्दर्शनरूप तालावको अच्छा समझता है मिथ्यादृष्टि उसे बुरा जानता है
इस प्रकार मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिके विचारमें महान् अन्तर है इस अन्तरके होते हुए

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों ही एक सम्यग्दर्शन, या एक मिथ्यादर्शन रूप तालाब जल भरे यह कदापि सम्भव नहीं है अतः तालाबके सम्बन्धमें समान विचार रखना भङ्गी और ब्राह्मणका उदाहरण देकर भिन्न भिन्न विचारवाले सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिको एक तालाबसे पानी लेने वाला बताना अज्ञानमूलक है ।

भङ्गी और ब्राह्मणके घड़ेका उदाहरण देकर सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके क्षण दया आदिमें तुल्यता बताना भी अयुक्त है । भङ्गी और ब्राह्मणके घड़ोंमें माधुर्य गुणों दृष्टिसे कुछ निम्नपता नहीं है । ब्राह्मणका घट जैसे मधुर मिट्टीका बना होता है उसी तरह भङ्गीका भी होता है इसीलिये इन दोनों घड़ोमें रक्खा हुआ मधुर जल मधुर ही रहता है परन्तु सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टियोमें यह बात नहीं है इनके गुण परस्पर विपरीत होते हैं । मिथ्यादृष्टिका गुण मिथ्यात्व और सम्यग्दृष्टिका सम्यक्त्व होता है । ये सम्यक्त्व और मिथ्यात्व एक दूसरेसे विपरीत होते हैं अतः सम्यग्दृष्टिको मधुर मिट्टीके घटका दृष्टान्त और मिथ्यादृष्टिको खारे घड़ेका दृष्टान्त ठीक घटता है ब्राह्मण और भङ्गीके घड़ेका नहीं । तात्पर्य यह कि जैसे खारे घड़ेमें रक्खा हुआ जल खारा और मधुर घड़ेमें रक्खा हुआ मीठा होता है उसी तरह सम्यग्दृष्टिके शील, दया, और तपस्या आदि गुण सम्यग्मूर्ख और और मिथ्यादृष्टिके ये सब असम्यग्मूर्ख हो जाते हैं अतः इन दोनोंको एक समान कह कर मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्वयुक्त शील दया और तपस्या आदिको वीतरागकी आशामें बताना शास्त्रविरुद्ध है ।

नदी सूखी टीकामें सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके लिये सुगन्ध और दुर्गन्ध धर्म की उपमा दी है ब्राह्मण और भङ्गीके घटकी नहीं । वह टीका यह है—

“भाविता द्विविधा प्रशस्तद्रव्यभाविता अप्रशस्तद्रव्यभाविताश्च । तत्र यत् कर्पूरगुरुचन्दनादिभिः प्रशस्तैर्द्रव्यैर्भावितास्ते प्रशस्तद्रव्यभाविता ये पुनः पालाण्डु लघुन सुग तैलादिभिर्भावितास्तेऽप्रशस्तद्रव्यभाविताः”

अर्थात् वासिन घट दो प्रकारके होते हैं एक प्रशस्त द्रव्योंसे वासे हुए और दूसरा अप्रशस्त द्रव्योंसे वासे हुए । जो कपूर अगर और चन्दन आदि उत्तम द्रव्योंसे वासे हुए हैं वे “प्रशस्तद्रव्यभाविता” कहलाते हैं और जो प्याज, लघुन, मद्य तथा तेल आदि अप्रशस्त द्रव्योंसे वासे गये हैं वे “अप्रशस्तद्रव्य वासिन” हैं ।

जिस पुरुषका अन्तःकरण जिनाह्वाराधक सुनियोंके उपदेशसे वैराग्ययुक्त और निर्मल होता है वह पुरुष प्रशस्तद्रव्यवासिन घटके समान है और जिसका अन्तःकरण जिनाह्वारा विरोधियोंके उपदेशसे कञ्चुपि है वह अप्रशस्तद्रव्यवासिन घटके समान है ।

यहां नन्दी सूत्रकी टीकामें मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टियोंके गुणमें भेद होनेसे उनकी उपमा सुगन्ध और दुर्गन्ध घटकी दीहें प्राज्ञग और भङ्गीके घड़ेकी नहीं अन जिनके साधुवर्ग गुणमें कुछ भेद नहीं है ऐसे प्राज्ञग और भङ्गीके घड़ोंका दृष्टात दकर मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिके गुणोंको तुल्य धताना एकान्त मिथ्या है ।

बोल ३१ वां

भ्रमविश्वसनकार भ्रमविश्वसन पृष्ठ ३५ के ऊपर लिखत हैं—

“जे मिथ्यादृष्टि साधुने पूछे ह सुपात्र दान देयु शील पालू वेला तलाडि तप करु जन साधु तेहने आज्ञा देवे कि नहीं ? जो आज्ञा देवे तो त करणी आज्ञा माहि थई”
(भ० पृ० ३५)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

तप, शील, सुपात्र दानको अच्छा जान कर उनका आचरण करनेके लिए साधुने आज्ञा मागने वाला पुण्य मिथ्यादृष्टि कैसे कहा जा सकता है ? साधुके पास श्रद्धाभक्तिक साथ जाकर शील तप, सुपात्र दान आदिकी आज्ञा मागना सम्यग्दृष्टिका लक्षण है यह बात सम्यग्दृष्टियोंमें ही पायी जाती है सम्यग्दृष्टि पुरुष ही साधुके पास भक्ति भावके साथ जाकर शील तप आदि धर्मों की आज्ञा मागने हैं मिथ्यादृष्टि नहीं, क्योंकि वे साधुको साधु तथा उनके उपदेश किये हुए धर्मको धर्म नहीं मानते । ऐसी दशामें वे भक्ति भावके साथ साधुके पास जाकर शील तप दया आदि धर्मोंकी आज्ञा माग ही नहीं सकते यह भव्य जीवोंको स्वयं मोच लेना चाहिए ।

जो पुण्य साधुके निकट जाकर शील तप और सुपात्र दानकी आज्ञा मागता है उसे उस समय सम्यग्दृष्टि ही मानना चाहिए, क्योंकि उपश्रममम्यस्त्वकी जयन्त्य स्थिति अन्तर्गुह्यकी होती है इसलिए उस समय उस पुरुषको भावसम्यग्त्वकी प्राप्ति हुई समझनी चाहिए । अतः साधुके पास जाकर शील तप आदिकी आज्ञा मागने वालेको मिथ्यादृष्टि ठहराकर मिथ्यादृष्टिकी मिथ्यात्वयुक्त क्रियाको आह्वाने बनाना एकान्त मिथ्या है ।

इसके अतिरिक्त यहां यह प्रश्न होता कि जो मिथ्यादृष्टि शील तप आदिकी आज्ञा माग कर उसका अनुष्ठान करता है उसकी वह क्रिया सम्यग्रूप है या असम्यग्रूप है ? यदि सम्यग्रूप मानो तो सम्यक्क्रियाका अनुष्ठान करनेवाला मिथ्यादृष्टि कैसे ? वह सम्यक्क्रियाका अनुष्ठान करता है इसलिए मिथ्यादृष्टि नहीं है यदि उसकी क्रियाको असम्यग्रूप कहो तो साधुने उसे असम्यक् क्रिया करनेकी आज्ञा नहीं दी है इसलिए उसकी वह

क्रिया साधुकी आज्ञामें नहीं हो सकती । अतः मिथ्यादृष्टिकी असम्यग्रूप क्रियाको साधुकी आज्ञामें बताना अयुक्त है ।

साधु पुरुष हर एक जीवको सम्यक्क्रिया करनेकी आज्ञा देते हैं उनकी आज्ञा अनुसार जो सम्यक् क्रियाका अनुष्ठान करता है वह मिथ्यादृष्टि नहीं है सम्यग्दृष्टि है और जो साधुकी आज्ञा लेकर भी सम्यक् क्रियाका अनुष्ठान नहीं करता मिथ्या क्रियाका अनुष्ठान करता है उसकी वह मिथ्याक्रिया साधुकी आज्ञामें नहीं है उस क्रियाके करनेसे वह आहाराधक नहीं हो सकता किन्तु वह मिथ्यादृष्टि है और उसकी वह क्रिया आज्ञा वादा है । अतः मिथ्यादृष्टिकी साधुकी आज्ञाका आराधक कहना मिथ्या है ।

जैसे साधु मोक्षमार्गका आराधन करनेके लिए दीक्षा देते हैं और दीक्षा देकर सम्यग्ज्ञान पूर्वक क्रिया करनेकी आज्ञा देते हैं परन्तु दीक्षित पुरुष अभव्य हो और मिथ्यात्वी होनेसे अज्ञान पूर्वक द्रव्य क्रिया करने लग जाय तो उसकी वह क्रिया साधुकी आज्ञामें नहीं रही जा सकती क्योंकि साधुने ज्ञानपूर्वक भावक्रिया करनेकी आज्ञा दी थी न कि अज्ञान पूर्वक द्रव्यक्रिया करनेकी, उसी तरह जो पुरुष साधुसे सम्यक्क्रिया करनेकी आज्ञा लेकर अज्ञान पूर्वक द्रव्य क्रिया करता है उसकी वह क्रिया आज्ञामें नहीं है क्योंकि साधुने अज्ञानपूर्वक द्रव्य क्रिया करनेकी आज्ञा नहीं दी है बल्कि ज्ञानपूर्वक भाव क्रिया करनेकी आज्ञा दी है इसलिये उसकी वह अज्ञान क्रिया साधुकी आज्ञामें नहीं हो सकती । अतः मिथ्यादृष्टिकी मिथ्यात्व युक्त क्रियाको वीतरागकी आज्ञामें ठहराना मिथ्या है ।

(बोल ३२ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविज्वसनकार भ्रमविज्वसन पृष्ठ ३६ पर लिखते हैं कि " इहा कश्चो सूर्य भना अभियोगिया देवता भगवान्ते वन्दन नमस्कार कियो तिवारे भगवान् बोल्या एव-न्दनरूप तुम्हरो पुराणो आचार छै । ए तुम्हरो जित आचार छै ए वन्दनारी स्हारी आज्ञा छै । तो तिमकणीने आज्ञा बाहिरे किम कहिए " (धृ० पृ० ३६)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

सूर्यार्भ देवताके अभियोगिया देवताका उदाहरण देकर मिथ्यादृष्टिकी क्रियाको वीतरागकी आज्ञामें फायम करना अज्ञान है । सूर्यार्भदेवके अभियोगिया देवताके मिथ्या दृष्टि होनेमें कोई प्रमाण नहीं है । नगक्योनिके जीव भी जब सम्यग्दृष्टि होते हैं तब

सूर्याभके अभियोगिया देवताओंके सम्यग्दृष्टि होनेमें क्या बाधा है। इसके अतिरिक्त यह प्रश्न भी उठते हैं कि आन्तरिक भक्तिशून्य द्रव्यरूप वन्दना भगवान्की आज्ञामें है या भक्तिपूर्वक भावरूप वन्दना ही आज्ञामें है ? यदि भावशून्य द्रव्यवन्दना भी भगवान्की आज्ञामें हो तो ऐसी वन्दना अभव्य जीन भी करते हैं इसलिए वे भी वीतरागकी आज्ञाराधक होकर मोक्षके अधिकारी हो सकते हैं परन्तु ऐसा कदापि नहीं होता अभव्य जीव मोक्षमार्गका आगधक त्रिकालमें भी नहीं है अतः भक्तिपूर्वक भावरूप वन्दनको ही आज्ञामें मानना चाहिये ऐसा वन्दन नमस्कार मिथ्यादृष्टियोंका नहीं होता क्योंकि मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्वक कारण द्रव्यरूप क्रियाही करता है भावरूप नहीं। सूर्याभके अभियोगिया देवताओंका वन्दन नमस्कार सम्यग्ज्ञानपूर्वक भावरूप था अतएव उसे भगवान् ने आज्ञाके अन्तर्गत बनलाया यदि वह द्रव्यरूप होता तो कदापि भगवान् आज्ञामें नहीं करते अतः सम्यक् क्रियाका अनुष्ठान करने वाले सूर्याभके अभियोगिया देवता सम्यग्दृष्टि थे मिथ्यादृष्टि नहीं उनका उदाहरण देकर मिथ्यादृष्टिके भावशून्य द्रव्यरूप वन्दन नमस्कारको वीतरागकी आज्ञामें बनाना अज्ञान मूलक है।

(बोल ३३ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३७ पर भगवती सूत्र शतक २ उद्देश १ का मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि “अथ अठे स्कन्दक कह्यो है गौतम । ताहारा धर्माचार्य भगवान् महावीर स्वामीने जादा यावन सेरा करा । निवारें गौतम बोरया जिम सुख दुखे तिम करो हे देवानु प्रिय, पिणप्रतिबन्ध मत करो । इसी शीघ्र आज्ञा वन्दनानीदीधी ते वन्दना रूप करणी प्रथम गुगठागा रो धमी करे तेहने आज्ञा चाहिरे किम कहिये ।” (भ्र० पृ० ३७) । इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वसनकारक मतनुयायियोंसे पूटना चाहिये कि गौतम स्वामीने स्कन्दक जीकी भक्ति भावक साथ सम्यग्ज्ञानपूर्वक तीर्थंकरको वन्दना करनेकी आज्ञा दी थी या भावरहित द्रव्य वन्दना करनेकी आज्ञा दी थी ? यदि भक्तिभावरूप साथ सम्यग्ज्ञानपूर्वक वन्दना करनेकी आज्ञा दी थी तो मिथ्यादृष्टिका वन्दन नमस्कार उनकी आज्ञामें कैसे हो सकता है ? क्योंकि मिथ्यादृष्टिका वन्दन नमस्कार भक्तिभाव रहित और मिथ्यात्वके साथ होता है भक्तिभावरूप साथ सम्यग्ज्ञान पूर्वक नहीं । यदि भक्तिभावरहित द्रव्य वन्दनाकी आज्ञा निया जाना कह्यो तो यह अयुक्त है साधु कदापि किसीको

भक्ति-भावग्रहित द्रव्य वन्दना करनेकी आज्ञा नहीं देते । इसलिये गोतम स्वामीने भक्ति-भावके साथ सम्यग्ज्ञानपूर्वक वन्दन नमस्कार करनेकी आज्ञा दी थी । उस आज्ञाके अनुसार यदि स्कन्दकजीने भगवान्‌को भक्तिभावके साथ सम्यग्ज्ञानपूर्वक वन्दन नमस्कार किया था तो वह उस समय सम्यग्दृष्टि ही थे मिथ्यादृष्टि नहीं ॥

यदि वैसा न करके स्कन्दकजीने मिथ्यात्वके साथ द्रव्य रूप वन्दन नमस्कार किया था तो उनका वह नमस्कार गोतम स्वामीकी आज्ञामें हुआ ही नहीं क्योंकि गोतम स्वामीने भक्तिभावके साथ भाव रूप वन्दन नमस्कार करनेकी आज्ञा दी थी भक्ति-ग्रहित मिथ्यात्वयुक्त द्रव्य वन्दनकी नहीं । अतः स्कन्दकजीका उदाहरण देकर मिथ्या-दृष्टिके मिथ्यात्वयुक्त द्रव्यरूप वन्दन नमस्कार को जिन आज्ञामें कायम करना निगल मिथ्या है ।

(बोल ३४ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ४० पर लिखते हैं कि “अथ इहा तामली बालतपस्वीरी अनित्यचिन्तवना कही छै । ए ससार अनित्य छै एहवीचर वना ते तो शुद्ध छै ” इसके बाद पुण्ड्रियोपाङ्गका पाठ देकर लिखते हैं—अथ इहा सोमिल ऋषिनी अनित्य चिन्तवना कही । ए अनित्य चिन्तवना शुद्ध करणी छै नि वय छै तेहने आज्ञा बाहिर किम कहिए ”

इसके आगे और भी लिखते हैं—“बली अनित्य चिन्तवना धर्मध्यानरो भद्र चाल्यो ते ही अनित्य चिन्तवना तामली सोमिल ऋषि प्रथम गुण ठाणे धकी कीधी तहने अर्थ किम कहिए ए धर्मध्यानरो भेद आज्ञा बाहरे किम कहिए ” (भ्र० पृ० ४०-४१)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

तामली बाल तपस्वी और सोमिल ऋषिकी अनित्य जागरणको धर्मध्यानकी अनु-प्रशामें कायम करके प्रथम गुण स्थान वाले मिथ्यादृष्टिकी क्रियाको जिन आज्ञामें कायम करना मिथ्या है । प्रथम गुण स्थान वाले मिथ्यादृष्टियोंमें धर्मध्यान होता ही नहीं, क्योंकि धर्मध्यान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके साथ ही होता है यह पहले बतलाया जा चुका है । सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन मिथ्यादृष्टियोंमें नहीं होता इसलिये उनमें धर्मध्यान भी नहीं हो सकता । जब कि प्रथम गुण स्थान वाले मिथ्यादृष्टियोंमें धर्म-ध्यान नहीं होना तब धर्मध्यानका भेद स्वरूप अनित्य जागरणा उनमें कैसे हो सकती

१ जन्म वृक्ष ही नहीं है तो शरणा पर कहासे दोगे ? धर्मध्यान सम्यग्ज्ञान और स्पर्श दर्शनके साथ ही होता है इस विषयमें ठाणाङ्ग सूत्रका मूलपाठ और उसकी टीका ब्रह्मकर प्रमाण बतलाया जाता है ।

“चत्तारि ज्ञाणा पण्णत्ता, तंजहा—अट्ठे ज्ञाणे रोहे ज्ञाणे धम्म-
ज्ञाणे सुक्खे ज्ञाणे”

“धम्मस्सणं ज्ञाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णत्ताओ एगा-
णुप्पेहा, अणिच्चाणुप्पेहा, अस्मरणानुप्पेहा, संसारानुप्पेहा”

(ठाणाङ्गणा ४ उ० १)

इस पाठकी टीका यह है—

“ध्यातयोध्यातानि अन्तर्मुहूर्त्तमात्रकालचित्तस्थिरताश्रणानि। उक्तञ्च—“अन्तो-
मुहूर्त्त मित्त चित्तावस्थापणमेव वत्थुस्मि उडमत्थाण ज्ञाण जोगणिरोही जिणाणत्तु” तत्र
कनं हुं तस्य निमित्त तत्रभवत्ता ऋते पीडिते भवमार्त ध्यान उडोऽध्यवसाय । हिंसा-
यतिक्लोद्यानुगत रौद्रम् । श्रुतचरणधर्मादनपेत धर्म्यम् शेषयत्यष्टप्रकार कर्ममलं शुच-
त्वा क्लमयतीति शुक्लम्”

अर्थात् किनी एक विषयमें अन्तर्मुहूर्त्त तक चित्तको स्थिर रखना, ध्यान कहलाता
है । कहा भी है किसी एक वस्तुमें अन्तर्मुहूर्त्त तक चित्तको स्थिर रखना ध्यान है ।
ऐसा ध्यान छद्मस्थोंका होता है । योगनिरोध काल तक सन वस्तुओंका ध्यान केवलियों
का होता है वह ध्यान चार प्रकारका है आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान, और शुक्ल-
ध्यान । जो ध्यान दुःखका कारण है अथवा दुःख होने पर होता है उसे आर्तध्यान
कहते हैं । जो ध्यान हिंसा आदि क्रूरतासे युक्त होता है वह रौद्रध्यान कहलाता है ।
जो ध्यान, सम्यग्ज्ञानदर्शन और चारित्रके साथ होता है वह धर्मध्यान है । जो ध्यान
आठ प्रकारके कर्ममलोंको दूर करता है या शोक को दूर करता है वह शुक्लध्यान है ।

इनमें सम्यग् ज्ञान दर्शन और चारित्रके साथ होने वाले धर्मध्यानकी चार अनु-
प्रेक्षाएँ कहीं हैं । ध्यान होनेके पश्चात् भावना या पर्यालोचना करनेको ‘अनुप्रेक्षा’ कहते
हैं । पहली अनुप्रेक्षाको ‘एकानुप्रेक्षा’ कहते हैं । म अकेला हू, मेरा कोई नहीं है ऐसी
भावना करना एकानुप्रेक्षा है । दूसरी ‘अनित्यानुप्रेक्षा’ है । यह शरीर नाशवान है सम्पत्ति
दुःखका स्थान है, संयोग, वियोगका हेतु है उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थ नश्वर हैं
इस प्रकार जीवन आदिक विषयमें अनित्यताकी भावना करना ‘अनित्यानुप्रेक्षा’ है ।
तीसरी ‘अशरणानुप्रेक्षा’ है । इसका अर्थ जन्म जरा और मरणक भयसे भीत, व्याधि

और वेदनासे प्रसन्न इन प्राणियोंके लिए जिनवशसे चाम्यसे अतिरिक्त कोई दूसरा शयन नहीं है ऐसी भावना करना है। चौथी 'सम्यग्गानुप्रेक्षा' है। ससारके प्राणी अपने कर्मानुसार चारों गतियोंमें जाते रहते हैं वही स्त्री वेदी जीव, किसी भवमें भाव होकर दूसरे भवमें उसी जीवकी भगिनी हो जाता है और फिर अन्य भवमें भाव्योक्ति किसी भवमें पुत्री हो जाता है। इसी तरह कभी पुत्र ही पिता और पिता पुत्र हो जाते हैं इस प्रकार ससारके सभी जीव एक भवको छोड़ कर दूसरे भवमें जाते रहते हैं। भावना करनेको 'सम्यग्गानुप्रेक्षा' कहते हैं। उक्त चतुर्विध अनुप्रेक्षा धर्मध्यान पश्चात् होती है और धर्मध्यान श्रुत तथा चाग्रिके साथ होता है। चारित्र्य नहीं होता इसलिये धर्मध्यान भी उसमें नहीं होता और धर्मध्यानके न होने मिथ्यादृष्टिमें चतुर्विध अनुप्रेक्षा भी नहीं होती अतः मिथ्यादृष्टिके अन्दर पश्चात् होने वाली अनित्य जागरणाका सद्भाव बनाना शास्त्रविरुद्ध है।

यदि कोई कहे कि सोमिल ऋषि और तामली बाल तपस्वीकी अनित्य शास्त्रमें कही है इसलिए मिथ्यादृष्टिमें अनित्य जागरणा होती है। तो इसका उत्तर यह है कि सोमिल ऋषि और तामली बाल तपस्वीमें जो अनित्य जागरणा शास्त्रमें कही है धर्मध्यानके पश्चात् होने वाली सम्यग्दृष्टियोंकी अनित्य जागरणा नहीं किन्तु मिथ्यात्वके साथ होने वाली दूमरी अनित्य जागरणा है। जैसे शास्त्रमें मिथ्यादृष्टिकी प्रव्रज्या कही है और सम्यग्दृष्टिकी प्रव्रज्या भी कही है परन्तु वे दोनों प्रव्रज्याएँ एक नहीं भिन्न भिन्न हैं। सम्यग्दृष्टिकी प्रव्रज्या, सम्यग्रूप और मिथ्यादृष्टिकी मिथ्यारूप है उसी तरह मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिकी अनित्य जागरणा भी भिन्न भिन्न है एक नहीं हैं। सम्यग्दृष्टिकी अनित्य जागरणा धर्मध्यानके अन्तर्गत होनेसे वीतरागकी आज्ञामें है और मिथ्यादृष्टिकी धर्मध्यानमें बहिर्भूत और अज्ञानपूर्ण होनेसे वीतरागकी आज्ञामें नहीं है। अतः सोमिल ऋषि और तामली बाल तपस्वीकी अनित्य जागरणाको धर्मध्यानमें ठहरा कर वीतराग की आज्ञामें बनाना एकान्त मिथ्या है।

शास्त्रमें मिथ्यादृष्टिकी प्रव्रज्या भी कही है वह पाठ यह है—“पञ्चजाप एव इत्थं” यह भगवती शतसूक्त ३ उद्देश १ में तामली तपसकी प्रव्रज्याके लिये पाठ आया है। इस पाठमें तामली तपसकी प्रव्रज्या धारण करना कहा है परन्तु यह प्रव्रज्या मिथ्यात्वके साथ होनेसे वीतरागकी आज्ञामें नहीं मानी जाती उसी तरह मिथ्यात्वके साथ होनेसे तामली तपसकी अनित्य जागरणा भी आज्ञामें नहीं मानी जा सकती तथापि इसकी तुल्यता देख कर यदि कोई ठठी तामली तपसकी अनित्य जागरणाकी जिन आज्ञाओं में ठहरावे तो उसे तामली तपसकी प्रव्रज्या भी जिन आज्ञामें मान लेनी चाहिये।

मली तापसकी प्रज्ञाको जिन आज्ञामे नहीं मानन तोसकी अनित्य जागरणाको नि आज्ञामे नहीं मानना चाहिये ।

उवाई सूत्रमें वानप्रस्थ तापसोकी प्रज्ञाके लिये यह पाठ आया है—

“बहुइं वासाइं परियाय पाउणंति”

अर्थात् वानप्रस्थ तापस बहुत वर्षों तक अपनी प्रज्ञाका पालन करते हैं । यहा जिस प्रकार वानप्रस्थ तापसोकी प्रज्ञाका पाठ आया है उमी तरह जिनाहाराधक मुनि-
गोकी प्रज्ञाके लिये भी पाठ आया है ।

“बहुइं वासाइं केवल परियाग पाउणंति”

बहुइं वासाइं छउमत्थं परियागं पाउणंति”

इन पाठोंमें मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टियोंकी प्रज्ञाके लिये समान पाठ आने पर भी जैसे इनकी प्रज्ञाए एक नहीं किन्तु भिन्न भिन्न हैं उमी तरह सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की अनित्य जागरणाए भी भिन्न भिन्न हैं एक नहीं । अतः तामली और सौमिलकी अनित्य जागरणाको भगवान् महावीर स्वामीकी अनित्य जागरणाके तुल्य बताना मिथ्या है ।

[बोल ३५ वां समाप्त]

(प्रेरक)

अमरित्रस्तनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ४२ के ऊपर मगरनी सूत्र शतक ८ उद्देश ९ का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—

“अथ द्वा चार प्रकार मनुष्यनो आयुषो रंधे कह्यो । जे प्रवृत्ति भट्टिक, विनीत, दयावान् अमत्सर भात्र एचार करणी शुद्ध छे आज्ञा माहि छे तो दयादिक परिणाम साप्पन आशामे छै” इसक आगे लिखने हैं—

“जली सरागसयम सयमासयम ते आरु पणो, बाल तप, अकाम निर्जग ॥ चार कारणो करी देन आयुषो रंधे इम कह्यो तो ॥ चार कारण शुद्ध छे के अशुद्ध छे । मान्य छे क निरुप्य छे । आज्ञामें छे न आना बाहिर छे । एनो चार करणी शुद्ध आज्ञा माहि लीसु दब आयुषो रंधे छे । अन जे बाल तप अकाम निर्जगने आज्ञा माहिर को तहने छेपे सरागसयम सयमासयम पिय अज्ञा माहिर कहिणा । अन मगर सयम सयमासयमने आशामे यह तो बाल तप अकाम निर्जगने पिय आज्ञामे कहिणा । ॥ बाल

तप अकाम निर्जरा शुद्ध आज्ञा माहि छै ते भाटे सरागसंयम संयमासंयमरे भेला छल।
नो अशुद्ध हुवे तो भेला नकहिता”

(भ्र० पृ० ४२—४३) इसका क्या समाधान !

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र अतक ८ उद्देशा ९ के मूलपाठके आश्रयसे मिथ्यादृष्टिकी आज्ञामे बताना मिथ्या है । भगवतीके उस पाठमे सिर्फ देवभव और मनुष्य भवकी के चार कारण कहे हैं । वे कारण बीतगगकी आज्ञामे हैं या आज्ञाके बाहर हैं, नहीं बतलाया है इसलिये भगवतीके उस पाठसे अकाम निर्जरा और बाल तपस्याके आज्ञामे ठहराना अप्रामाणिक है । उवाई सूत्रके मूलपाठमे अकाम निर्जरा और बाल तपस्याको आज्ञा बाहर कहा है इसलिये अकाम निर्जरा और बाल तपस्याको आज्ञा कहना शास्त्र विरुद्ध है । उवाई सूत्रका वह पाठ निम्नलिखित है—

“जे हमे जीवा गामागर णयर णिगम रायहाणि खेड कव्व मडंभ दोण मुह पट्टणामम संवाह सन्निवेसेसु अकाम तण्हाए अकाम छुहाए अकाम वंभवेर चासेणं अकाम अण्हाणक सीयायव दसमस सेअजल्लमल्ल पंक परितावेणं अप्पतरोवा भूज्जतरोवा कालं अप्पणं परिकिल्लेसंति परिकिल्लेसित्ता काल मासे कालं किच्चा अण्णभरेसु वाण मंतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवति”

(उवाई धृ०)

इस पाठका अर्थ पृष्ठ (१८) पर दे दिया गया है ।

इस पाठमे अकाम निर्जराकी करनी करने वालेको जिन आज्ञाका अनाराधक कहा है । यदि अकाम निर्जरा बीतगगकी आज्ञामे होती तो उसके आराधकको परलोका अनाराधक कैसे कहते ? अतः अकाम निर्जराका आज्ञा बाहर होना स्पष्ट सिद्ध होता है ।

इसो अगर उवाई सूत्रमे बाल तपस्या करने वालेको मोक्ष मार्गका अनाराधक कहा है वह पाठ अर्थके साथ पृष्ठ (२५—२६) के ऊपर द दिया गया है । यदि बाल तपस्या जिन आज्ञामे होती तो उक्त पाठमे गगातट निवासी अज्ञानी तापसीको परलोकका अनाराधक क्यों कहा जाता ? अतः बाल तपस्या जिन आज्ञामे नहीं है यह स्पष्ट सिद्ध होता है ।

उवाई सूत्रमे, प्रकृति भद्रक, विनीत, अमर्त्यगी पुरुष जो सम्यक्भद्रासे ही हैं उन्हे परलोकका अनाराधक बतलाया है । वह पाठ भी पहले लिखा जा चुका

इमसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि—प्रकृति भद्ररत्ना विनीतता और अमात्मय्य आदि गुण यदि मिथ्यात्व और अज्ञानके साथ हो तो वे जिन आज्ञामे नहीं होते। अत अकाम निर्जरा, बालतपस्या, और मिथ्यात्व तथा अज्ञानयुक्त प्रकृतिभद्ररत्ना, विनीतता, और अमात्सर्य्य आदि गुणोंको वीतरागकी आज्ञामे बनाना उपाई सूत्रसे निरुद्ध है।

इसी तरह भ्रमविध्वसनकारने जो यह कुतर्क किया है कि बालतपस्या और अकाम निर्जरा जिन आज्ञामे न होती तो सगग सयम और सयमासयमक साथ क्यों कही जातीं, यह भी अयुक्त है। जो वीतरागकी आज्ञामे नहीं है वह वीतरागकी आज्ञामे होने वाले पदार्थक साथ न कहा जाय ऐसा कोई शास्त्रीय नियम नहीं है। ठाणाङ्ग सूत्रक चौथे ठाणे मे धर्म ध्यान और शुद्ध ध्यानके साथ रौद्र ध्यान भी कहा है। यदि आज्ञामे होनेवाले पदार्थके साथ आज्ञा बाह्यके पदार्थ न कहे जात तो धर्मध्यान और शुद्ध ध्यानके साथ रौद्र ध्यान क्यों कहा गया है ? अत आज्ञामे होनेसे ही अकाम निजरा और बालतपस्याका सगग सयम और सयमासयमक साथ भगवतीके पाठमे कथन बनलाना मिथ्या है। भगवतीके मूलपाठमे अकाम निर्जग और बालतपस्या स्वर्ग, प्राप्तिके कारण होनेमे सगग सयम और सयमा सयमके साथ कही गयी हैं आज्ञामे होनेसे नहीं। अत भगवतीके मूलपाठका नाम लेकर अकाम निर्जग और बाल तपस्याको आज्ञामे ठहराना मिथ्या है।

बोल ३६ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ४३ पर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ४ उद्देश २ का मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ गोशालारे स्वविर ण्दवा तपना करणहार क्ख्हा छे। उप्प तप, घोम तप, रसनात्थाग जिण्हेन्द्रिय वश कीधी। तेहनो खोटी अद्द। अशुद्ध छे पिग प्तप अशुद्ध नहीं तप तो शुद्ध छे आज्ञा माहि छे। ण जिण्हेन्द्रिय प्रतिसलीनता तो भगवन्त चारह भेद निर्जराना क्ख्हा तेहमें कही छे। उपाईमें प्रतिसलीनतारा चार भेद किया। इन्द्रिय प्रतिसलीनता, कषाय प्रतिसलीनता, योग प्रतिसलीनता, विविक्त शयनासनसेरणिवा। अन इन्द्रिय प्रतिसलीनता ना ५ भेदामे रसइन्द्रिय प्रतिसलीनता निर्जराना बाहर भेद चाल्या ते मध्ये नही छे। ते निर्जगने आज्ञा बाहिरे किम कहिए ”

(अ० पृ० ४४)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

गोशालक मतानुसारिणी जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनता और वीतरागमतमान् जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनता एक नहीं है भिन्न भिन्न हैं क्योंकि उवाई सूत्रके सत्रहवें श्लो मे गोशालक मतानुसारी तपस्त्रियोंको परलोकका अनाराधक कहा है । यदि गोशालक मतानुसारिणी जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनता जिनोक्त प्रतिसलीनतासे भिन्न न होती तो गोशालक मतानुसारी तपस्त्रियोंको परलोकका अनाराधक कैसे कहते ? इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि गोशालक मतानुसारिणी जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनता अन्य है और वीतराग मतोक्त जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनता अन्य है । अब पूर्वोक्त दोनों प्रतिसलीनताओंको एक ठहरा कर मिथ्यादृष्टिकी क्रियाको जिनाज्ञामे बताना मिथ्या है ।

उवाई सूत्रका वह पाठ नीचे लिखा जाता है जिसमे गोशालक मतानुयायी तपस्त्रियोंकी तपस्याका वर्णन करके उन्हें परलोकका अनाराधक कहा है ।

“स्रेजे इमे गामागर जाव सन्निवेसेसु आजीविका भवन्ति तंजहा—दुघरंतरिया, तिघरंतरिया, सत्तघरंतरिया, उप्पलवेडिया, घरसमुदाणिया, विज्जुअन्तरिया, उदियासमणा तेण’ एयारूवेण विहारेणं विहरमाणा बहुइ वासाड’ परियाय पाडणंति । पाडणिता कालमासे काल’किच्चा उक्कोसेण’ अच्चुएकत्पे देवत्ताए उववत्तारो भवन्तितहिं तेसिंगती वावीसं सागरोवमाहं ठिती अणारोह्मा सेसं तं चेव ”

(उवाई सूत्र)

अर्थ—

प्रायः, आसुर, यावत् सत्रिंशोर्म गोशालक मतानुसारी श्रमग होते हैं उनमें कई, जो घर टालकर तीसरे घरमें, कई तीन घरोंको टालकर चौथे घरमें, कई सात घरोंको टाल कर आठवें घरमें मित्रा लेते हैं । कई, मित्र कमलवृत्तको स्थाकर रहते हैं, कई, प्रत्येक घरमें भिक्षा लेते हैं केवल एक ही घरमें नही । कई, मित्रगी चमकनेपर भिक्षा नहीं लेते, कई एक ऊटकी तरह बने हुए मिट्टी के पात्रमें रह कर तपस्या करते हैं । य सभी भ्रष्टा व्यवहारोंको बहुत धर्पातन पालकर कालने अवसरमें मृत्युको प्राप्त होकरउत्कृष्ट बारहमे दशलोक अच्युत कर्ममें उत्पन्न होते हैं । वहाँ तक उनकी उत्कृष्ट गति है चाहेम सागर पर्यन्त उनकी स्थिति है । य लोग परलोकके आराधक नहीं हैं ।

यहां गोशालक मतानुयायियोंकी कष्ट कर तपस्याका वर्णन करके उन तपस्याओंको जिनाज्ञामें न होनेसे उन्हें जिनाज्ञाका आराधक न होना कहा है । यदि गोशालक मतानुयायियोंकी तपस्या जिनाज्ञामें होती तो उन्हें इस पाठमें परलोकका अनाराधक न कहते । तथा इनकी जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनीता यदि जिन आज्ञामें होती तो वे जिनाज्ञाके अनाराधक न कहे जाते । अतः गोशालक मतकी जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनीता का वीतराग मतकी जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनीतासे भिन्न होना स्पष्ट प्रमाणित होता है । तथापि शब्दकी तुल्यता देस कर यदि कोई गोशालक मतानुयायियोंकी जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनीताको जिन आज्ञामें बताये तो उसे इनकी भिक्षाचरी और प्रप्रज्याको भी जिन आज्ञामें ही मानना चाहिए क्योंकि इनकी भिक्षाचरी और प्रप्रज्या भी जिन भागकी भिक्षाचरी और प्रप्रज्यासे शब्दतः तुल्य हैं । यदि शब्दतः तुल्य होने पर भी गोशालक मतानुयायियोंकी भिक्षाचरी और प्रप्रज्याको जिन आज्ञामें नहीं मानते तो इनकी जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनीताको भी आज्ञामें नहीं मानना चाहिये अतः गोशालक मतानुयायियोंकी जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनीताको वीतरागकी आज्ञामें ठहराकर मिथ्यादृष्टिकी क्रियाको जिन आज्ञामें बताता एकान्त मिथ्या है ।

(बोल ३७ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रम० पृ० ४४ पर प्रभञ्ज्याकरण सूत्रके दूसरे सवरद्वारका मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करत हुए लिखते हैं—

“इहा कश्चो सत्यं बध्न साधुने आदग्वा योग्य छै । ते साथ अनेक पापण्डी अन्य दर्शनी पिण आदरयो कश्चो, ते सत्य लोकमें सागभूत कश्चो । सत्य महान्मुद्रधकी पिण गम्भीर कश्चो मेहयकी स्थिर कश्चो ण्हा भगवन्ते सत्यने वखाण्यो ते सत्यने अन्य दर्शनी पिण धार्यो तो ते सत्यने खोटो अशुद्ध किम कहिए आज्ञा बाहरे कहे तो ते हनी अद्वा ऊ पी छै, पिण निगव सत्य श्रीवीतरागो सगयो ते आज्ञा बाहरे नहीं ”

(भ्रम० पृ० ४४),

इसका क्या समाधान ?

!

(प्ररूपक)

प्रभञ्ज्याकरण सूत्रका वह मूलपाठ लिख कर इसका समाधान किया जाना है । वह पाठ यह है—

“अनेग पासण्ड परिग्गहिय जं तिलोकम्मिसारभूयं गंभीरं
तरं महासमुदाओ थिरतरं मेरुपव्व आओ”

(प्रश्न व्याकरण सम्बन्ध डार २)

इसका अर्थ यह है—

सत्परूप महाप्रतप्ते विविध व्रतधारियों की स्वीकार किया है यह महासमुद्रते भी गर्भी
मेरु पर्वतते भी अधिक स्थिर और सीन लोकमें सारभूत है ।

यहां मूलपाठमें जो “अनेग पापण्ड परिग्गहिय” पाठ आया है इसका अर्थ
टीकाकारने इस प्रकार किया है—

“अनेक पापण्डपरिगृहीत नानाविध व्रतमि रत्ती कुनम्” अर्थात् अनेक प्रकार
के व्रतधारियोंमें स्वीकार किया हुआ व्रतका नाम पापण्ड है और वह व्रत जिसमें हो
उसे “पापण्डी” कहते हैं । उन पापण्डियोंसे ग्रहण किए हुए होनेसे सत्य व्रत “अनेक
पापण्ड परिगृहीत” कहा गया है । यद्यपि लोकमें पापण्डी शब्द दाम्भिक अर्थमें भी
आता है तथापि उक्त पाठमें व्रतधारी अर्थमें ही आया है दाम्भिक अर्थमें नहीं । जैन
शास्त्रमें पापण्ड शब्दका व्रतधारी अर्थ भी होता है । दशवैकालिक सूत्र अध्याय २
नियुक्ति १५८ की टीकामें पापण्ड शब्दका अर्थ या किया है —

पापण्ड व्रतमित्याहुस्तथस्यास्त्यमलभुवि । सपापण्डी वदन्त्यन्ये कर्मपाश
विनिर्गतः ।

अर्थात् पापण्ड नाम व्रतका है वह जिसका निर्मल है उस कर्मबन्धनसे विनि-
मुक्त पुरुषको पापण्डी कहते हैं ।

यहां टीकाकारने पापण्ड शब्दका व्रत अर्थ बनलाया है और दशवैकालिक सूत्रकी
नियुक्तिमें श्रमण निप्रन्योका ‘पापण्ड’ नाम कहा है वह नियुक्तिकी गाथा यह है—

“पव्वईए अणगारे पासण्डे चरग तावसे भिक्खू परिवा-
इए य समणे निगंथे सज्जए मुत्ते”

अर्थात् प्रव्रजित, वनगार, पापण्ड, चरक, तापस, भिक्षु परिव्राजक, श्रमण,
निर्ग्रन्थ, सयन और मुक्त ये सब श्रमण निप्रन्योके नाम हैं ।

इम नियुक्तिमें श्रमणनिप्रन्योका नाम “पापण्ड” कहा है उपासकदशाग सूत्रके
प्रथम अध्यायनमें और आश्वक सूत्रमें सम्यक्त्वका अतिचार बतलानेके लिये यह पाठ
आया है “पर पासण्डपससा परपासड सत्थव” इसका अर्थ टीकाकारने यह किया है—

“सबद्ध प्रगीत पापण्ड व्यतिरिक्ताना प्रशसा प्रशंसन स्तुतिरित्यर्थ ।

अर्थात् सर्वज्ञसे रचा हुआ जो पापण्ड है उससे भिन्न पापण्डकी प्रशंसा करना सम्बन्धका अतिचार है ।

यहां सर्वज्ञसे पापण्डका रचा जाना कहा है जो लोग पापण्डका अर्थ केवल दम्भ लाते हैं उनसे पूजना चाहिये कि सर्वज्ञने कौनसा दम्भ रचा है ? यदि वे सर्वज्ञसे दम्भ रचा जाना न मानें तो उक्त टीकाके पापण्ड शब्दका उन्हे व्रत अर्थ मानना ही पड़ेगा । प्रकार उक्त टीकाका यही अर्थ है कि जो पापण्ड यानी व्रत सर्वज्ञका कहा हुआ नहीं उसकी प्रशंसा करना सम्बन्धका अतिचार है । यदि पापण्ड शब्दका दम्भ ही अर्थ है तो मूलपाठमें “पापण्ड” शब्दके पहिले “पर” लगानेकी क्या आवश्यकता थी ? किंजिते दूसरेका दम्भ घुसा है वैसे ही अपना दम्भ भी तो घुसा होना चाहिये फिर “पर” शब्द क्यों लगाया ? केवल यही कहा जाता कि “मैंने यदि पापण्डकी प्रशंसा की तो “तत्समिच्छामिदुक्कह” परन्तु ऐसा न कह कर जो मूलपाठमें “परपापण्ड” कहा है उसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि “पापण्ड” नाम व्रतका है उस व्रतके धारण करनेवाले पुरुषों । सत्यका ग्रहण किया जाना प्रश्न व्याकरण सूत्रके दूसरे संवरद्वारमें कहा है इसलिये प्रश्न व्याकरण सूत्रका नाम लेकर मिथ्यादृष्टि अज्ञानी दाम्भिक पुरषोंमें सत्यका स्थापन करना कान्त मिथ्या है ।

(बोल ३८ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ४५ पर जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिका मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ अठे इमं कह्यो ते वन खण्डने विपे वाण व्यन्तर देवता देवी वैसे सुने श्रीडा करे पूर्वभवे भला पराक्रम फोडव्या तेहना फल भोगवे एहवा श्री तीर्थ कर देवे कह्यो । तो जे वाण व्यन्तरमें तो सम्यग्दृष्टि उपजे नहीं । व्यन्तरमें तो मिथ्यात्वीज उपजे हैं । अने मिथ्यात्वीरो सर्व पराक्रम अशुद्ध हुवे तो श्रीतीर्थ कर देवे इम क्यू कर्यो जे वाण व्यन्तर पूर्वभवे भला पराक्रम किया तेहना फल भोगवे छै । एनो मिथ्यात्वीरा शील तपा-दिकने विपे भलो पराक्रम क्यो छै । जो तिगरो पराक्रम अशुद्ध हुवे तो भगवन्त भलो पराक्रम न कहिता । एनो भली करणी करे ते आत्मा माहि छै” (अ० पृ० ४५) इसका क्या समाधान ?

(प्रत्युपक)

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिके मूलपाठमें व्यन्तर सज्ञक देवताओंके पूर्वभयक वार्त्तिकों भगवान्ने अच्छा कह कर बतलाया है इसमें यह नहीं मिथ्य हो सकता कि इन देवताओंके

पूर्वभक्तके कार्य्य वीतरागकी आज्ञामे ये ज्योति व्यन्तर देवोंके पूर्वभक्तके कार्य्यको भोगवान्ने अच्छा कहा है उसी तरह पद्मवर वेदिका वनखण्ड और उनमें देवताओंसे भोगे जाने वाले सुख विशेषको भी अच्छा कहा है । पद्मवर वेदिका और वनखण्डके लिये यह पाठ आया है —

“पासाइया दसणीया अभिरूवा पडिरूवा”

अर्थात् पद्मवर वेदिका चित्तको प्रसन्न करने वाली है, देखने योग्य है, अभिरूवा है, और प्रतिरूप है । यहा भगवान्ने पद्मवर वेदिका और वनखण्ड को भी अच्छा कहा है ।

इसी तरह व्यन्तर सङ्गके देवताओं के सुख विशेष के सम्बन्ध में यह पाठ आया है—

“कल्याणाणं कडाणं कम्माणं कल्याणं फलवित्तिवित्तेसे पणु भवमाणा विहरन्ति”

अर्थात् व्यन्तर सङ्गके पूर्वभक्तके किये हुए कल्याण रूप कर्मोंका फलस्वरूप कल्याण रूप फल विशेषका अनुभव करते हैं ।

यहा भगवान्ने जैसे व्यन्तर देवोंके पूर्वभक्तके कार्य्यको कल्याण कह कर बताया है उसी तरह उनसे भोगे जाते हुए सुख विशेषको भी कल्याणरूप कहा है । अतः जो लोग भगवान् द्वारा अच्छा कहे जानेके कारण व्यन्तर देवताओंके पूर्वभक्तके कार्य्यको आज्ञामे बताते हैं उन्हें व्यन्तरदेवोंके सुखविशेषको भी आज्ञामे ही मान लेना चाहिये तथा पद्मवर वेदिका और वनखण्डको भी उन्हें आज्ञामे ही कटना चाहिये । यदि पद्मवर वेदिका वनखण्ड और वहा देवताओंसे भोगे जाने वाले सुखविशेषको भगवान् द्वारा अच्छा कहे जानेपर भी आज्ञामे नहीं मानते तो व्यन्तर देवताओंके पूर्वभक्तके कार्य्यको भी आज्ञामे न मानना चाहिये । तथापि इस पाठका उदाहरण देकर व्यन्तर देवताओंके सुख विशेष और पद्मवर वेदिकाको आज्ञामे न मानते हुए भी उनके पूर्वभक्तके कार्य्यको आज्ञामे कटना दुराग्रहका परिणाम है ।

— वास्तवमे आज्ञामे होनेके कारण भगवान्ने व्यन्तर देवताओंके पूर्वभक्तके कार्य्य उनके सुख विशेष, और पद्मवर वेदिका तथा वनखण्डको अच्छा नहीं कहा है किन्तु कस्तु स्थिति घटलाई है । जैसे रत्नको श्रेष्ठ और कट्टरको निक्षुद्र कहा जाता है इसका तात्पर्य्य यह नहीं है कि रत्न भगवान्की आज्ञामे है और कट्टर आज्ञामे नहीं है उसी तरह जम्बू-द्वीप प्रक्षान्तिके मूलपाठमे वस्तुस्थितिका कथन है वीतरागकी आज्ञामे होनेवाले मोक्षमार्गा-

नरूप काव्योंका फथन नहीं है। अतः जम्बूद्वीप प्रज्ञापिका नाम लेख मिथ्याचट्टिकी
याको आशामें बनाना एकान्त मिथ्या है।

(बोल ३९ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रम० पृष्ठ ४७ पर उवाच सूत्रका मूलपाठ लिखकर उसको समा-
धान करते हुए लिखते हैं —

“अने जो माता पिताग विनीत करत तहिज गुण थायसे तो इहा इमि कह्यो माता
पितागो वचन उल्लेख नहीं तिणर लेखे एपिग गुण कहिणो जो ७ गुण छै तो धर्म करन्ता
माता पिता वजें अने न माने तो एवचन लोप्यो ते माटे तिणरे लेखे अवगुण कहिणो ।
माधुपणोलेना आवक एणू आदरता सामायक पोषा करता माना पिता वजें नो तिणर
लेखे धर्म करणो नहीं अने सामायकादि कर तो अविनीत थयो ते अवगुण हुवे तहयितो
धर्म हुवे नहीं”

॥ (भ्रम० पृ० ४७-४८) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उवाच सूत्रक मूलपाठमें, माता पिताकी सेवा शुश्रूषा विनय भक्ति आज्ञा पालन
करनेसे पुत्रको स्वर्ग प्राप्ति स्पष्ट लिखी है परन्तु इस शास्त्रोक्त वातके अङ्गीकार करने
से भ्रमविध्वंसनकारका अपना कपोल कल्पित सिद्धान्त मिथ्या ठहरता है इसलिये उवाच
सूत्रके उक्त मूलपाठका इन्होंने विपरीत अभिप्राय बतलाया है। “इसका सिद्धान्त है कि
“इसके मतके माधुओंके सिन्धाय सभी कुपात्र हैं” यहा तक कि माता-पिता ज्येष्ठ, यन्धु
आदि गुरुजनोंको भी यह कुपात्र कहत हैं उनकी सेवा करनेसे यह एकान्त पाप मानते
हैं एनी दशमें उवाच सूत्रके मूलपाठका विपरीत अर्थ न करनेसे इसका मत खडा नहीं
रह सकता अतः इन्होंने इस पाठका विपरीत अर्थ किया है। इसका यह कहना कि “माता
पिताका विनय करना उनकी आज्ञा पालन करना यदि धर्म है तो माना पिता चोरी जारी
व्यभिचार और मद्यपान मासभक्षणकी आज्ञा देंवें तो वह आज्ञा पालन करना भी पुत्रके
लिये धर्म होना चाहिये और उस आज्ञाक न माननेसे पाप होना चाहिये” बिलकुल
बुनक है।

इस विषयमें बुद्धिमानोंको सोचना चाहिये कि—अपने पुत्रको चोरी जारी मद्य-
पान मांसभक्षण वेज्यागमन आदि बुराइयोंकी शिक्षा देने वाले माता पिता अधिक हैं या

इन बुद्धियोंसे निवृत्तिकी शिक्षा देनेवाले माता पिता अधिक हैं ? जहाँ तक जाती है सभी बुद्धिमान् यही कहेंगे कि उक्त बुराईयोसे निवृत्तिकी शिक्षा देनेवाले पिता ही अधिक हैं । सम्भव है कोई कोई माता पिता स्वार्थ या मूर्खतावश को उक्त बुराईयोंकी शिक्षा भी देते हों पर वे विरले होते हैं । उन अपवाद स्वरूप पिताकी आशामें यदि पाप होता है तो उनके उदाहरणसे सभी माता पिता पाप ही है यह कौनसा न्याय है ? किसी अपवादका आश्रय लेकर उत्सर्गको बुरा कहाँकी विद्वत्ता है ?

कभी कभी सूर्यग्रहण होने पर दिनमें ही अन्धकार हो जाता है उसे देख यदि कोई सूर्यको अन्धकार फैलानेवाला कहे तो यह मूर्ख है उसी तरह माता पिताके उदाहरणसे जो सभी माता पिताकी आज्ञा माननेमें पाप बनाना मूर्ख है । कोई कोई ऐसी भी दुष्टा माता सुननेमें आई है जिसने अपने पुत्रका धर्म दिया है, क्या उसके उदाहरणसे सभी माताएँ पुत्रघातिनी कही जा सकती हैं ? नहीं । जब कि पुत्रघातिनी माताके उदाहरणसे सभी माताएँ पुत्रघातिनी नहीं कहा जा सकती तब कुलुत्यकी शिक्षा देनेवाले पिताके उदाहरणसे सभी पिता बुरे कैसे कहे जा सकते हैं ? अतः माता पिताका विनय और सेवा शुश्रूषा करनेमें एकान्त पाप कहा शास्त्रविरुद्ध है ।

उवाई सूत्रमें माता पिताकी सेवा भक्ति और उनकी आज्ञा पालन करनेसे शांति जाना कहा है वह पाठ यह है—

“ सेजे उमे गामागर नगर जाव सन्निवेसेसु मणुआ भवन्ति पगइभइगा पगइउवसन्ता पगइपतणुकोहमानमायालोभा विउ मइव संपन्ना अल्लीणा वीणीया अभ्मापिओउ सुसुसगा अम्मा पत्ताणं अणतिकमणिज्ज वपणा अप्पिच्छा अप्पारम्भा अप्पपरिगह अप्पेणं आरंभेणं अप्पेणं आरंभसमारंभेणं वित्तिकप्पेमाणं महुइं वासाइं आउयं पालयति पालित्ता कालमासे कालं क्रिब अनुत्तरेसुवाणमंतरेसु देवत्ताए उववत्तारो भवन्ति तंचेव सत्त्वं नवर ठिति चौइसवास सहस्साहं ”

(उवाई सूत्र)

आयात प्राप्त नगर आदि सन्निवेशमें रहने वालों जो मनुष्य स्वभावसे भद्रक अर्थात् परोक्ष हैं । स्वभावसे उपतान्त यानी शीतल हैं, स्वभावसे ही क्रोध मान माया और लोभ

हस्व किये हुए हैं । भद्रद्वार रहित होकर गुल्फे आश्रयमें रहते हैं, विनीत हैं, माता पिताके वचन को उल्लङ्घन नहीं करने वाले हैं, माता पिताकी सेवाशुभ्रूषा करते हैं, अल्पारम्भी अन्य-परिग्रही हैं और अल्प आरम्भ समारम्भमें अपनी जीविका चलाते हैं वे बहुत बर्षों तक अपनी आयुको पूर्ण करके बाल्यके अवसरमें मृत्युको प्राप्त होकर वाण व्यन्तर सञ्चर देवलोकमें देवता होते हैं वहा ये चौहद हजार वर्षों तक रहते हैं । नेत्र पूर्व है । यह ऊपर लिखे पाठका अर्थ है ।

इसमें कहा है कि परोपकार करनेवाले विनीत और मातापिताकी आज्ञा पालन वाले पुरुष देवलोकमें जाते हैं । यदि मातापिताकी आज्ञा पालन करना उनकी सेनाभक्ति करना एकान्त पापमें होती तो उससे स्वर्ग जाना इस पाठमें क्यों कहा जाना ? स्वर्ग प्राप्ति पुण्यसे होती है पापसे नहीं होती । परन्तु भ्रमविध्वसनकार मूढ़ मत्तियोंको बहकानेके लिये लिखते हैं—

“अहो महानुभावो ! ७ गुण नहीं ७ तो प्रतिपक्ष वचन है । जे इहा इम कह्यो सहजे पतला क्रोध मान माया लोभ । क्रोध मान माया लोभ पतला थोडा ते तो अव गुण इज छै थोडा अवगुण छै पिण क्रोधादिक तो गुण नहीं पिण प्रतिपक्ष वचने फरी ओल रायो छै । पतला क्रोधादिक कहा तिवारं जाडा क्रोधादिक नहीं ७ गुण कहा छै ।” यह लिख कर भ्रमविध्वसनकार मूल पाठमें कहे हुए विनयकरन तथा माता पिताके वचन का उल्लङ्घन न करनेको गुण नहीं मानते । अतः इनके मतमें विनय करना भी बुरा है और अविनय करना भी बुरा है परन्तु यह बात शास्त्र और अनुभूतिसे सर्वथा विरुद्ध है । यदि विनय करना बुरा है तो अविनय करना अच्छा होना चाहिए पर अविनय करना बुरा है हो विनय करना अच्छा होना चाहिए लेकिन विनय और अविनय दोनों ही बुरे हैं यह बात नहीं हो सकती है इस पाठमें विनय करना २७४ गुण बतलाया है उसे बुरा बनाना शास्त्रसे भी विरुद्ध है ।

इसी तरह प्रतिपक्ष वचनका नाम लेकर इस पाठमें कह हुए विनय आदि गुणोंको दोष कहना भी अज्ञान है । जैसे विनयका प्रतिपक्ष वचन अविनय और लज्जकोष मान माया और लोभके प्रतिपक्ष वचन, महान् क्रोध मान माया और लोभ होते हैं उसी तरह माता पिताके वचनको उल्लङ्घन नहीं करनेका प्रतिपक्ष वचन मातापिताके वचनका उल्लङ्घन करना होता है यदि प्रतिपक्ष वचनसे इस पाठमें गुण बतलाये हैं तो भ्रमविध्वसनकारक मतमें माता पिताके वचनको उल्लङ्घन करना गुण कहना चाहिए क्योंकि मातापिता के वचनको उल्लङ्घन न करनेका प्रतिपक्ष वचन उनके वचनको उल्लङ्घन करना होता है । यदि माता पिताके वचनको उल्लङ्घन करना गुण नहीं मानते तो उनके वचनको

नहीं करनेको गुण कहना ही होगा जब कि माता पिताके वचनको उल्लङ्घन नहीं करता गुण है तो उसी तरह इस पाठमें विनय आदि करना भी गुण है दोष नहीं है। अतः प्रतिपन्न वचनका झूठ ही नाम लेकर मातापिताकी सेवाभक्ति आज़ा पालन और विनय आदि करनेमें एकान्त पाप कहना शास्त्रमें सर्वथा विरुद्ध है ।

(बोल ४० वां)

इति मिथ्यात्वि क्रियाधिका ।



अथ दानाधिकारः ।

कई एक अनुकम्पा दानमें एकान्त पाप होनेका उपदेश देकर श्रावकोंसे उसका त्याग कराते हैं परन्तु जिस समय कोई दयालु पुरुष, हीन दीन दुःखी अनाथ प्राणीको कुछ देता है और वे दीन दुःखी लेने हैं उस समय एकान्त पाप कह कर उसका (अनुकम्पा दानका) निषेध नहीं करते क्योंकि उस समय अनुकम्पा दानके त्याग करानेसे अन्तरायका पाप छानना वे भी मानते हैं । जैसे कि भ्रम० कारने लिखा है—“लेतो देतो इसी वर्तमान देखि पाप न कहे उग वेला पाप कथा जे लेवे छै तेहने अन्तराय पड़े त मोटे साधु वर्तमाने मौन गल्ले ” (भ० पृ० ५) आगे चल कर भ० पृ० ७० पर लिखा है “गजादिक वा अनेरा पुरुष कुआ, तालार, पो, दानशाला विषय उद्यतयथोक्तो साधु प्रति पुण्य सद्भाव पूछे निवारे साधुने मौन अवलम्बन करनी कही पिंग तीन कालने निषेध कसो नथी ”

वास्तवमें यह प्ररूपणा जैन शास्त्रमें सर्वथा प्रतिकूल है । जैन शास्त्र किसी कालमें भी अनुकम्पा दानका प्रतिषेध नहीं करता । उपदेशमें अथवा भूतकाल और वर्तमान कालमें अनुकम्पा दानको एकान्त पाप कह कर त्याग करानेकी शिक्षा जैन शास्त्र नहीं देता प्रत्युत इसे पुण्यका भी कारण कहता है इसलिए जो उपदेशमें अनुकम्पा दानको एकान्त पाप कह कर श्रावकोंसे उसका त्याग कराते हैं वे मिथ्यादृष्टि और उत्सृजभाषी हैं ।

शास्त्रमें अनुकम्पा दानके निषेध करनेसे तीनों ही कालमें अन्तराय होना कहा है परन्तु देनेवाला देना हो और लेनेवाला लेना हो उसी समयमें अन्तराय होना नहीं कहा है । अत उपदेशमें या किसी भी समयमें जो अनुकम्पा दानका निषेध करता है वह अन्तरायका भागी और हीनदीन जीवोंकी जीविकाका अपहरण करनेवाला है । शास्त्र में अर्धम दानको एकान्त पाप कह कर उसका त्याग कराना तीनों ही कालमें धर्म माना है । कोई अर्धम दान दे रहा हो और चोर जार हिसाक प्राणी उसे चोरी जारी हिसाके लिए ले रहे हो उस समयमें भी माधु समझा बूझा कर उस अर्धम दानका यदि त्याग करावे तो इसमें धर्म ही होता है पर अन्तराय नहीं होता । कोई आभिप्रदिक मिथ्यात्वी न माने तो लाचार होकर साधु यदि मौन रह जाय तो यह बात दूसरी है, परन्तु योग्य पुरुषको किसी भी समयमें समझा कर उससे अर्धम दानका त्याग कराना अन्तराय

देना नहीं किन्तु धर्मका कार्य है। इस प्रकार तीनों ही कालमें अधर्म दानका निषेध करना शरत् सम्मत है। जो लोग अनुकम्पा दानको अधर्म दानमें गिनते हैं वे वर्तमान कालमें भी अनुकम्पा दानका निषेध क्यों नहीं करते ? क्योंकि अधर्म दानके निषेध करनेमें किसी भी कालमें अन्तराय नहीं कहा है। यदि अधर्म दानके त्याग कराने में अन्तराय लगना कोई माने तो उसके हिसाबसे चोरी जागी हिंसा आदिके लिए दान देने वाले पुण्यसे भी उसके दानका फल एकान्त पाप नहीं कहना चाहिए क्योंकि एकान्त पाप प्रलनेमें देनेवाला यदि न देवे तो चोर जार हिंसक आदिके लाभमें अन्तराय पड़ता है। यदि चोरी जागी हिंसा आदि महारंभका कार्य करनेके लिये चोर जार हिंसक दान देना एकान्त पाप है इसलिए वर्तमानमें भी उसके निषेध करनेसे अन्तराय नहीं होता तो उसी तरह तुम्हारे मतसे अनुकम्पा दान भी एकान्त पाप है इसलिए उसका वर्तमानमें निषेध करनेसे भी अन्तराय न होना चाहिये। यदि कहो कि हम इस सत्र विषयोंमें एक समान ही मौन रह जाते हैं अर्थात् 'कोई दयालु किसी दीन दुर्लभ को कुछ दे रहा हो और व्यभिचारार्थ कोई वेश्याको दे रहा हो, तथा चोरी जारी हिंसा लिये कोई चोर जार और हिंसक को दे रहा हो इन सभी विषयोंमें हम एक समान मौन रहते हैं, अन्तरायके भयसे पुण्य पाप कुछ भी नहीं कहते' तो फिर दूसरे अधर्मों में भी आपको ऐसा ही करना चाहिये क्योंकि जैसे अधर्म दान अधर्म है उसी तरह हिंसा करना चोरी करना आदि भी अधर्म है इनका भी वर्तमान कालमें आप लोग निषेध करते हैं ?

किसीको बकरा मारनेके लिए तैयार देस कर उपदेश द्याग उसे हिंसा छुड़ाने में आपके सिद्धान्तानुसार अन्तराय लगना चाहिये। यदि हिंसा छुड़ानेमें अन्तराय नहीं लाता तो अनुकम्पा दान छुड़ानेमें भी तुम्हारे मतमें अन्तराय न होना चाहिए क्योंकि जैसे हिंसा करना अधर्म है अधर्म दान देना अधर्म है उसी तरह तुम्हारे मतमें अनुकम्पा दान भी अधर्म है क्योंकि देनेवाला अधर्ममें ही देता है और लेनेवाला अधर्म में लेता है उसका त्याग कर देनेसे दोनोंका अधर्म छूट सकता है अतः जिस प्रकार उपदेश द्याग हिंसा छुड़ानेमें वर्तमानमें भी अन्तराय नहीं होता उसी तरह कोई अनुकम्पा दान दे रहा हो और लेने वाला ले रहा हो उस समय भी अनुकम्पा दानके त्याग करनेमें तुम्हारे हिसाबसे पाप न होना चाहिये। भ० पृ० १५० में लिखा है कि "हिंसक अकार्य्य करना देखि उपदेश देई ममज्ञावणो" तो किसीको अधर्म दान देते देखकर क्यों नहीं समझाना चाहिये। जैसे हिंसा छुड़ाना धर्म है उसी तरह आपके मतमें अनुकम्पा दान छुड़ाना भी धर्म है अतः जैसे वर्तमानमें भी हिंसा छुड़ानेमें आप धर्म मानते हैं

सी तरह वर्तमानमें अनुकम्पादान छुड़ानेमें भी धर्म क्यों नहीं मानते ? यदि आप यह कि अनुकम्पा दानके त्याग करनेसे वर्तमान कालमें लेनेके लिए उपस्थित हीन दीनोंकी जीविकामें बाधा पड़ती है पर कसाईसे हिंसा छुड़ानेमें किसीकी जीविका का नहीं होता इसलिये हम वर्तमान कालमें हिंसाका निषेध करते हैं अनुकम्पा दान निषेध नहीं करते तो यह मिथ्या है जिम्मा मामाहारीको मास देनेके लिये कसाई हिंसा है उसके लाभका अन्तराय कसाईसे हिंसा छुड़ानेमें भी हो सकता है ऐसी दशामें आपके मतमें उपदेश देकर कसाईसे हिंसा भी नहीं छुड़ानी चाहिए । परन्तु जैसे हिंसा अर्धम है उसके छुड़ानेमें कोई अन्तराय नहीं होता उसी तरह अनुकम्पा दान भी आपके मतमें अर्धम है अतः वर्तमानमें भी उसका त्याग करने पर आपको अन्तराय नहीं मानना चाहिए । परन्तु वर्तमानमें अनुकम्पा दानके निषेध करनेमें आप भी अन्तरायका पाप होना मानते हैं इसमें स्पष्ट सिद्ध होता है कि अनुकम्पा दान, वेश्या और जार हिंसक प्राणियोंको व्यवसाय खोरी आदिके लिये दिया जानेवाला अर्धम दान समान एकान्त पापका कारण नहीं है अतएव अनुकम्पा दानके निषेध करनेसे अन्त-य लगाना कहा है अर्धम दानके निषेध करनेसे नहीं कहा है ।

दशवैकालिक सूत्रमें अनुकम्पा दानके अधिकारियोंको भिक्षार्थ गृहस्थके द्वारपर बैठे देख कर उन्हें अन्तराय न देनेके लिए साधुको वहाँसे हट जाना कहा है परन्तु वेश्या आदिको व्यवसायार्थ दान लेनेके लिये गृहस्थके द्वारपर खड़ा देख कर साधुको दल जाना ही कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि पुण्य कार्यमें बाधा पहुँचानेसे ही अन्तराय होता है एकान्त पापमें बाधा देनेसे अन्तर्गत नहीं होता वह दशवैकालिक सूत्रकी गाथा यह है—

“समणं माहणंवापि क्विचिणंवा वणोमणं
उचसंक्रमत्तं भत्तद्वा पाण्ड्याएवसंजए
तमइक्षमित्तुनपविसे नविचिह्वे चखुगोयरे
एगन्तमवक्कमित्ता तत्थचिह्विज्जसजए

(दश वै० अ० ५ उ० २ गाथा १०-११)

अर्थात् भ्रमण माहण दरिद्र और वनीपकको भिक्षार्थ गृहस्थके द्वार पर गये हुए पा जाते हैं देव कर उनको उलटाने के साधु भिक्षार्थ गृहस्थके मकानमें प्रवेश न करे और गृहस्थामीने शिरोधारमें भी न स्विग रहे किन्तु जहाँ गृहस्थकी दृष्टि न पड़े वहाँ एकान्तमें जाकर धरे ।

यहा दशवैकालिक सूत्रकी गाथाओंमें अनुकम्पादान लेनेवाले श्रमण भिक्षारी आदिको भिक्षार्थ गृहस्थके द्वार पर गये हुए देख कर साधुको उनका अन्तर न देनेके लिये गृहस्थके द्वारसे टल जाना कहा है परन्तु चोर जार हिंसक वेश्या आदिको चोरी जारी आदि कुर्मके निमित्त गृहस्थके द्वार पर दान लेनेके लिये देखकर साधुको वहासे टल जाना नहीं कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि कार्यमें बाधा देनेसे अन्तरायका पाप नहीं होता पुण्यकार्यमें बाधा पहुंचानेसे अन्तराय कर्म बधता है अतः अनुकम्पादानका किसी भी समयमें निषेध नहीं करना चाहिये क्योंकि इसमें पुण्यका सद्भाव है अतएव उक्त गाथाओंमें अनुकम्पादानमें बाधा पहुंचानेसे अन्तराय होना माना है एकान्त पापके कार्य चोरी जारी आदिमें बाधा देनेसे अन्तराय नहीं कहा है इसलिये अनुकम्पादानको एकान्त पापमें बताना भूषणोंका कार्य है ।

अनुकम्पादान यदि अधर्म दानमें है तो उसके निषेध करनेसे वर्तमानमें भी अन्तराय न होना चाहिये जैसे चोरी जारी हिंसा आदि कुर्म करनेके लिये उद्यत हुए पुरुष को वर्तमानमें भी निषेध करनेसे अन्तराय नहीं लगता उसी तरह अनुकम्पादानको एकान्त पाप कहनेवालोंके मतमें वर्तमानमें भी उसका (अनुकम्पादानका) निषेध करनेसे अन्तराय न होना चाहिये । यदि कहो कि चोरी जारी हिंसा आदिके निषेध करनेसे किसीके स्वार्थमें बाधा नहीं होती इसलिये वर्तमानमें भी चोरी जारी हिंसा आदिके निषेध करनेसे अन्तराय नहीं होता परन्तु अनुकम्पादानके निषेध करनेसे दान लेनेवालेके स्वार्थमें हानि होती है इसलिये हम वर्तमानमें अनुकम्पादानका निषेध नहीं करते तो यह बात अयुक्त है चोरके चोरी छुड़ानेसे उसके कुटुम्बके भरण पोषणमें बाधा पहुंचती है एवं जार को जारीका त्याग करनेसे उसकी प्रियाके कामसुखकी हानि होती है एवं हिंसकके हिंसा छुड़ाने पर मासाहारीके मास भोजनमें क्षति होती है ऐसी दशामें (उक्त जीवोंके स्वार्थमें बाधा पहुंचने पर भी) चोरी जारी हिंसा आदिका वर्तमानमें त्याग करा देना यदि अन्तराय रूप पापका कारण नहीं है तो हीन दीन प्राणियोंके स्वार्थमें बाधा पहुंचने पर भी वर्तमान कालमें अनुकम्पादानके निषेध करनेसे तुम्हारे मतमें पाप न होना चाहिये ? परंतु तुमने वर्तमानमें अनुकम्पादानका निषेध करना अन्तरायका कारण माना है और शास्त्र में सभी कालमें अनुकम्पादानका निषेध करना पापका हेतु कहा है अतः अनुकम्पादानको एकान्त पापमें स्थापन करके उपदेशमें उसके त्यागकी शिक्षा देना अनुकम्पादोद्विषोंका कार्य है ।

अनुकम्पादानको एकान्त पापमें कायम करने वाले मनुष्योंसे यह भी पूछना चाहिये कि एक पुरुष हाथमें रोटी लेकर भिक्षुको देनेके लिये धर्मशालामें जा रहा है और

ग रूपसे लेकर व्यभिचारार्थ वेद्याको देने जा रहा है, तीसरा स्वयं खाने और दूसरा मास रिजानेके लिये छुरी लेकर बकरा मारने जा रहा है चौथा अपने परिवार के भरणके लिये चोरी करने जाता है इन सभी पुण्योमें मार्गमें यदि साधु मिलें तो वह उसको एकांत पापकी शिक्षा देकर त्याग कराने और किमके विषयमें मौन रहे ? यदि न हो कि हाथमें रोटी लेकर भिक्षुकोको देनेके लिये धमजालामें आते हुए पुरुषके विषयमें साधु मौन रहें और शेष सभी लोगोको एकान्त पापका उपदेश देकर उनसे चोरी व्यभिचार और हिंसाका त्याग कराने तो यह यह प्रश्न होता है कि तुम्हारे मतमें अनुकम्पादान देना भी तो चोरी जारी और हिंसाके समान ही एकान्त पाप है फिर अनुकम्पादान देनेके लिये जाने वालेके विषयमें साधु क्यों मौन रहता है ? तुम्हारे हिमाजसे उसको भी त्याग करा देना चाहिये । परन्तु तुम लोग भी अनुकम्पादानके विषयमें वर्तमानमें मौन रह जाते हो उसका त्याग नहीं करते इसमें स्पष्ट सिद्ध होता है कि अनुकम्पादान चोरी जारी और हिंसा आदिकी तरह एकान्त पापका कार्य नहीं किन्तु पुण्यका भी कारण है ।

कई अनुकम्पादानके विरोधी, ऐमा कृतक करते हैं कि “अनुकम्पादानमें यदि पुण्य है तो श्रावकोंको सामायक और पोषा न कराना चाहिये क्योंकि सामायक और पोषामें बैठे हुआ श्रावक अनुकम्पादान नहीं देता इसलिये हीन दीन जीवोंकी जीविकामें बाधा पड़ती है” जैसे कि भ्रम० कारणे लिखा है “बली कोईने सामायक पोषो करावगो नहीं सामायक पोषामें कोईने देवे नहीं यदपिण इहा अन्तराय कर्म बंधे छै” (भ० पृ० ५१)

इसका उत्तर यह है—श्रावक सामायक और पोषा विशिष्ट गुणकी प्राप्तिके लिये करते हैं न कि अनुकम्पादानसे अपनेको धवानेके लिए । अनुकम्पादान दना सामान्य गुण है और सामायक पोषा करना विशिष्ट गुण है उस विशिष्ट गुणकी प्राप्तिके समय सामान्य गुणका त्याग होना स्वाभाविक है । जैसे दिशाकी मर्यादा करने वाला जो श्रावक घरसे बाहर जानेका त्याग किया हुआ है वह मुनिराजक सम्मुख भी उनके स्वागतार्थ नहीं जाता इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि मुनिराजके सम्मुख जाना छोड़ने के लिए हमने दिशाकी मर्यादा की है । तथा मुनिराजक स्वागतार्थ उनके सम्मुख जाना एकान्त पाप भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उस श्रावकने विशिष्ट गुणकी प्राप्तिके लिये दिशाकी मर्यादा की है मुनिराजके सम्मुख जानेको एकान्त पाप जान कर उस छोड़नेके आशयसे नहीं उम्मी तरह सामायक और पोषा करने वाया श्रावक एकांत पाप जात कर अनुकम्पादान दना नहीं छोड़ना है किन्तु विशिष्ट गुणका उपार्जन करते समय सामान्य गुण उसमें छूट जाता है अतः अनुकम्पादानको एकान्त पाप जान कर श्रावक सामायक और पोषामें उसका त्याग करते हैं यह कहनेवाले अविचेकी हैं ।

जो श्रावक विशिष्ट निर्जगके निमित्त वैराग्यभावसे स्वयं उपवास करता है और उपदेश देकर अपने परिवारको भी उपवास कराता है वह उस रोज घरमें रसोई न साधुको आहार पानी नहीं देता, तो भी उसको साधुदानका अन्तराय नहीं होता । विशिष्ट निर्जगका लाभ होता है क्योंकि उसने साधुदानमें अन्तराय देनेके लिये श्रम नहीं किया है उसी तरह जो श्रावक सामायक और पोषा करते हैं उनको अनुकम्पादान का अन्तराय नहीं होता किन्तु विशिष्ट गुणकी प्राप्ति होती है क्योंकि अनुकम्पादानसे त्यागनेके उद्देश्यसे श्रावक सामायक और पोषा नहीं करते । अतः एकान्त पाप जान कर सामायक और पोषामें उसका त्याग बनलाना अज्ञानियों का कार्य है ।

भूत भविष्यत् और वर्तमान तीनों ही कालमें अनुकम्पादानका निषेध करना मे वर्जित है । जैसे कि सुयगडाग सूत्रमें लिखा है—

“जेयणं पडिसेहंति वित्तिछेयं करंति ते”

अर्थात् जो अनुकम्पादानका निषेध करते हैं वे हीन दीन जीर्बोंकी जीविका का उन्नास करते हैं ।

यहां वर्तमान कालका नाम न लेकर सभी कालमें अनुकम्पादानका निषेध करना मना किया है इसलिये जो किसी भी कालमें अनुकम्पादानका निषेध करते हैं वे हीन दीनजीर्बोंकी जीविकाका छेदन करनेवाले पापी हैं । भ्रमविध्वसनकारने इस गाथाको लिख कर इसके नीचे टब्बा अर्थ लिखा है वह टब्बा अर्थ यह है “जे गीतार्थ दाननेनिषेधे ते वृत्तिच्छेद वर्तमान काले पामवानो उपाय तेहनो विप्र करे” तथा इस पाठकी समालोचना करते हुए भ० कारने लिखा है “दान लेवे ते देवे छै ते वेला निषेध्या वृत्तिच्छेद हुवे” अर्थात् “जेलेवे ते देवे न थी तो वृत्तिच्छेद किम हुवे । ते माटे वृत्तिच्छेद वर्तमान काले इज छै । बली सुयगडागनीवृत्ति शीलाकाचार्य्य की धी ते टीकामें पिण वर्तमान कालरो इज अर्थ छै” परन्तु यह मिलकुल मिथ्या है सुयगडाग सूत्रकी उक्त गाथामें वर्तमान कालका नाम तक नहीं है और शीलाकाचार्य्यने जो उक्त गाथाकी टीका लिखी है उसमें भी वर्तमान कालका जिक्र नहीं है किन्तु गाथा और उसकी टीकामें सामान्यरूपसे सब कालका लिए अनुकम्पादानका निषेध करना वर्जित किया है । वह गाथा लिखी जा चुकी है उसकी टीका यह है—“येचकिलसूक्ष्मधियोवयमितिमन्यमानाआगमसद्भावानभिज्ञा प्रतिषेधन्ति तेऽप्यगीतार्था प्राणिना वृत्तिच्छेद वर्तनोपाय विप्र कुर्वन्ति” अर्थात् जो अपने को सूक्ष्मदर्शी मानने वाले आगमके तत्त्वको न जाननेके कारण अनुकम्पादानका निषेध करते हैं वे गीतार्थ नहीं हैं क्योंकि वे प्राणियोंकी जीविकामें बाधा देते हैं ।

यहा टीकाकारने वर्तमान कालका नाम न लेकर किसी भी कालमे अनुकम्पादान का निषेध करनेवालेको अगीताथे और प्राणियोंकी जीविकाका विनाश करनेवाला कहा है इस लिए इस टीकाका नाम लेकर वर्तमान कालमे ही अनुकम्पादानके निषेध करनेसे पाप कहना मूर्खों का कार्य है। भ्रमविध्यमनकारने जो सुयगडागकी इस गाथाक नीचे टक्का अर्थ दिया है वह मूल गाथा और उसकी टीकासे विरुद्ध होनेके कारण अप्रामाणिक है उसका आश्रय लेकर जनतामे भ्रम फैलाना साधुओंका कार्य नहीं है। भ्रमविध्वसनकी पुरानी प्रतिमे तो शीलाकाचाव्यकी टीकामे आये हुए “वर्तन” शब्दका वर्तमान काल अर्थ किया है। वह लेख निम्न लिखित है—

“वृत्तिच्छेद वर्तनोपाय विन कुर्वन्ति ”

“वृत्ति० आजीविका तेहने छे० छेद व० वर्तमान काले उ० पामवानों उपाय तेहने वि० विन क० करे ते अविचेको ”

यहा जीतमलजीने “वर्तन” शब्दका वर्तमान अर्थ किया है परन्तु यह सर्वथा मिथ्या है। वर्तन शब्दका अर्थ आजीविका है वर्तमान काल नहीं। टीकाकारने मूल गाथामे आये हुए “वृत्ति” शब्दका अर्थ वर्तन लिखा है इसलिए “वृत्ति” शब्दका वर्तन शब्द पर्याय शब्द है यह वर्तमान अर्थका वाचक नहीं हो सकता तथापि मूर्ख जनताको भ्रममे डालनेके लिये अथवा अज्ञतावश जीतमलजीने “वर्तन” शब्दका वर्तमान अर्थ लिखा है ऐसे लोगोंसे न्यायकी आशा रखना दुर्गशा मात्र है।

भविष्यमे होनेवाले लाभमें विन पहुचानेसे “पिहितागामिपथ” नामक अन्तराय लगता है। ठागाङ्ग सूत्रमें अन्तरायका भेद बतलानेके लिए यह पाठ आया है—

“अन्तराहए कम्मे कुविहे पण्णत्ते तज्झहा—

पहुप्पन्नविनासिए पिहितागामिपह ”

अथाह अन्तराय कर्म दो प्रकारके कहे हैं एक प्रत्युत्पन्नविनासी और दूसरा पिहितागामि पथ। वर्तमानमें मिलती हुई वस्तुको न मिलने देना “प्रत्युत्पन्न विनासी” कहलाता है। और भावी लाभके मार्गको रोक देना “पिहितागामिपथ” नामक अन्तराय कहलाता है।

यहा ठागाङ्गक मूल पाठमे भावी लाभके मार्गको रोक देनेसे अन्तराय लगना कहा है इसलिए भ्रमविध्वसनकारने जो यह लिखा है कि “अन्तराय तो वर्तमान कालमे इच कही छै पिय ओर वेला अन्तराय कजो नही” यह निरुद्ध शास्त्रविरुद्ध है। ठागाङ्गके उक्त पाठमे भविष्य कालमे भी अन्तराय कही है इसलिए जो लोग उपदेश में एकान्त पाप कइ कर अनुकम्पा दानका त्याग करते हैं वे ठागाङ्ग सूत्रके मूल पाठा-नुसार “पिहिता गामि पथ” नामक अन्तरायके भागी हैं।

इस पाठमें आनन्द आनन्द अन्य यूथिकको गुरु बुद्धिसे दान देनेका त्याग किया है कहतासे दान देनेका त्याग नहीं किया है । अतएव इस पाठकी टीकामें टीकाकार लिखा है "अयंच निषेधो धर्म बुद्धेय, करुणयातु दशादपि" अर्थात् यह जो अन्य यूथिकको दान देनेका निषेध है यह धर्म बुद्धि (गुरु बुद्धि) से ही समझना चाहिए अनुकम्पासे नहीं, अनुकम्पा करने अन्य यूथिकको दे भी सकते हैं । यहा टीकाकारने गुरु पाठका आशय बनलात हुए अन्य यूथिकको गुरु बुद्धिमें ही दान देनेका निषेध बनलात है अनुकम्पासे नहीं अतः आनन्दका नाम लेकर अनुकम्पादानका निषेध करना अज्ञानियोंका कार्य है ।

कोई अज्ञानी यहा यह कुतर्क करते हैं कि अन्ययूथिकको दान देना यदि पुण्य का कारण है तो अन्य यूथिकको वन्दन नमस्कार करना पुण्यका कारण क्यों नहीं ? वन लोगोंसे कहना चाहिये कि अनुकम्पा दान, अनुकम्पा लाकर दिया जाना है इस लिए इसमें पुण्य है क्योंकि अन्य तीर्थीण अनुकम्पा करना भी पुण्यकाही कारण है परन्तु वन्दन नमस्कार करना नहीं, क्योंकि वन्दन नमस्कार पूज्य बुद्धिसे किया जाता है और अन्य तीर्थीमें पूज्य बुद्धि रखना समकितका अतिचार है इसलिए अन्य यूथिकको वन्दन नमस्कार करना पुण्य नहीं है ।

आनन्द आनन्द अन्य यूथिकको जिस प्रकार पूज्य बुद्धिसे वन्दन नमस्कार करनेका त्याग किया था उसी तरह पूज्य बुद्धिसे उन्हें दान देनेका भी त्याग किया था अनुकम्पा दानका नहीं, अतः आनन्दका नाम लेकर अनुकम्पा दानको उडाना मूर्खोंका कार्य है ।

उपासक दशाङ्गके उक्त मूल पाठमें "दाऊ वा " अणुप्पदाऊ वा" ये दो शब्द आये हैं इनका अर्थ जीनमलजीने देना और दूसरेमें दिलाना लिखा है परन्तु "अणुप्प-दाऊ वा " इस पदका दिलाना अर्थ नहीं होता बार बार देना अर्थ होता है तथा उक्त पाठ में आये हुए "वित्ति कन्तारेण" इस पदका अर्थ भी इन्होंने अशुद्ध किया है । जैसे कि भ० पृ० ५३ में लिखा है "वि० अट्टो कातारणे निपे कारणे आगार " यह अर्थ विल-कुल अशुद्ध है । टीकाकारने इसका अर्थ इस प्रकार किया है " वृत्ति जीविका तस्या कान्तारम् अगण्य तदिव कान्तार क्षेत्र कालोवा वृत्ति-कान्तारम् निर्वादा भावइत्यर्थ ।

अर्थात् "घोर जङ्गलसी तरह जीविकाके लिये कठिन क्षेत्र या कालका आना " कहलाता है । निर्वाह न होना इसका तात्पर्य है ।"

एसे मरल त्थीको जो अशुद्ध टप्पा अर्थका आश्रय लेकर विपरीत बनलता है
इससे शास्त्रके यथार्थ अभिप्रायको समझने और प्रकट करनेकी आज्ञा गयना दुर्गतामात्र
सिद्धान्ती चाहिये ।

(बोल २)

(प्रेरक)

अन्य तीर्थीको गुरु बुद्धिसे दान देनेका नियम, शास्त्र कता है अनुकम्पाशङ्कर
न देनेका नहीं इसलिये हीन दीन दुखीको अनुकम्पाशङ्कर दाना एकान्त पाप नहीं है
इस बात हुआ । अतः शास्त्रके मूलपाठसे यह बतलाइये कि किम अभिप्रवर्धारी वारह
धनधारी श्रावकके वारह धन धारण करनेके पश्चात् हीन दीन दुखी जीवोंको अनुकम्पा
दान दिया है ?

(प्रत्यक्ष)

राजप्रदेशीय सूत्रमें आनन्द श्रावककी तरह अभिप्रवर्धारी समन्वित सहित वारह धन-
धारी राजा प्रदेशीका वारह धन धारण करनेके पश्चात् हीन दीन दुखी जीवोंको दान-
दाला गोल का अनुकम्पादान देना लिखा है यह अभिप्रवर्धारी वारह धनधारी श्रावक
अनुकम्पा दान देनेका पूर्ण उदाहरण है । राजाप्रदेशी आनन्द श्रावकके समान ही
वारह धनधारी श्रावक होनेके कारण अन्य तीर्थीको दान सम्मान पूजा प्रतिष्ठा आदि
दान देनेका अभिप्रवर्ध धारण किया हुआ था तो भी उसने दीन हीन जीवोंको अनु-
कम्पा दान दिया, इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अन्यतीर्थीको अनुकम्पा लेकर दान
दान देनेका श्रावकोंको अभिप्रवर्ध नहीं होता पूज्य बुद्धिमें देनेका होता है अतः अन्य
तीर्थी पर अनुकम्पा लेकर दान देनेमें एकान्त पाप करने वाले मिथ्यावादी हैं ।

यदि कोई यह पूछे कि राजा प्रदेशी आनन्द श्रावककी तरह अभिप्रवर्ध धारी था
इसमें क्या प्रमाण है ? तो उसके लिए आश्रयक सूत्रका मूल पाठ प्रमाण दिया जाता
है । वह पाठ यह है—

‘तत्थ समणोवासओ पुब्बामेव मिच्छत्ताओ पटिकमह
सम्मत्तं उवसंपज्जइ । नो से कप्पइ अज्जप्पभिइ अन्नउत्थिग्गवा ॥’
इत्यादि ।

(आश्रयक सूत्र)

यह पाठ हर एक समवर्तिधारीके लिए कता है इस लिए सभी समवर्तिधारी
समानक अन्य तीर्थीको दान सम्मान पूजा प्रतिष्ठा न करनेका अभिप्रवर्ध धारण करने हैं ।

राजा प्रदेशी भी समकित सहित बाग्न धनधारी था इसलिए वह भी आनन्द
समान ही अभिप्रह्वारी था तथापि उसने जो दानशाला खोल कर हीन दीन
अनुकम्पा दान दिया था इससे अन्यतीर्थीको अनुकम्पा दान देना श्रावकों
सिद्ध होता है । राजा प्रदेशीने हीन दीन जीवोंको अनुकम्पा दान दिया था वह मृत
लिय कर ब्रताया जाता है ।

“तएणं पणसो राया केसोकुमार समणं एवं वयासो नो
भन्ते ! अहं पुब्बिं रमणिज्जे भवित्ता पच्छा अरमणिज्जे
स्सामि । जहासे वनखंडेडवा जाव खलवाडेडवा । अहं ण
वियाप्पमोक्खाइं सत्तगगाम सहस्साइं चत्तारिभागे करिस्सामि ।
एगे भागे वल वाहणस्स दलइस्सामि एगे भागे कोट्ठागारे दलइस्सामि
एगे भागे अन्तेउरस्स दलइस्सामि एगेणं भागेणं महइमहाण
कूडागारसालं करिस्सामि । तत्थणं बहुहिं पुरिसेहिं दिण्णमि
भत्तवेयणेहिं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खंवावेत्ता
बहुणं समणमाहणभिक्षुयाणं पंथियपहियाणय परिभोग्यमाणे
बहुहिं साल पचक्खाण पोसहोववासेहिं जाव विहरिस्सामिन्ति कइ
जामेव दिस पाउब्भुए तामेव दिसं पडिगए । ततेण पणसो
कल्लं पाओ जाव तेजसा जलन्ते सेयं वियाप्पमोक्खाइं सत्तगगाम
सहस्साइं चत्तारि भाए करेति । एगं भागं वलवाहणस्स दलयं
जाव कूडागार सालं करेति तत्थ बहुहिं पुरुसेहिं जाव उवक्खंवा
वेत्ता बहुणं समण माहणाणं जाव परिभोग्यमाणे विहरन्ति ”

(राजप्रनीय सूत्र)

अथ —

इसके अनन्तर राजा प्रदेशीने केशीकुमार भ्रमण मुनिसे कहा कि हे मुने ! पहले मैं
होकर पदवात् वन खण्ड यावन खलिहानकी तरह मैं अरमणीय न बनूंगा । किन्तु स्वर्ग
प्रभृति मान हजार गावोंको चार भागोंमें बांट कर एक भाग दलवाहनके लिये दूसरा कोष
के लिए और तीसरा अन्न पुरके लिये दूंगा । गेय चौथे भागसे अति विशाल दानशाला
कर उसमें बहुतसे बेतन भोगी पुरुषोंको नौकर रख कर उनके द्वारा चतुर्विध आहार तैयार
कर भ्रमण माहिन भिक्षुक और राहगीरोंको भोजन कराता हुआ और शील प्रत्याप्त्याप्त

उत्तम काता हुआ यावत् म विचरुगा यह कह कर राजा प्रदेशी जियरसे आया था वहा गया । अनन्तर दूसरे दिन तेजसे प्रज्जलित सूर्योदय होनेपर राजा प्रदेशीने श्वत्ताम्बिका के सात हजार गावोंको चार भागोंमें विभक्त करके एक भाग बल बाहनको दूसरा कोष्ठा-ने तोमरा और पुरको दिया और चौथे भागसे अतिविशाल दानशाला बनवा कर उसमें बहुतसे रत्न कर उनका द्वारा अश्वनादि धनुर्विद्य आहार तय्यार कराकर बहुतसे श्रमग माहन क और राहगीरोंको भोजन देता हुआ विचरने लगा ।

यहा राजा प्रदेशीय सूत्रके ऊपर लिखे हुए मूल पाठमें राजा प्रदेशीका दानशाला कर श्रमग माहन भिक्षुक आदिको अनुकम्पा दान देना स्पष्ट लिखा हुआ है इससे द्र होता है कि समझिके साथ वारह व्रत धारण करने वाले श्रावकोंका अन्य तीथा गुरु बुद्धिसे दान न देनेका ही अभिप्रद होता है अनुकम्पा दान देनेका नहीं । यथा आनन्द श्रावकके समान ही अभिप्रद धारी वारह व्रतधारी श्रावक होकर राजा भी श्रमग माहन भिक्षुको अनुकम्पा दान क्यों देता ? तथा कैशीकुमार श्रमग नि, अनुकम्पा दान देनेके लिए राजाकी प्रतिज्ञा सुन कर उसे क्यों नहीं इस कार्यसे एक दिया ? जिस समय राजा प्रदेशीने मुनिके समय रमणीय बने रहनेकी प्रतिज्ञा कृता हुआ दानशाला बनानेकी इच्छा प्रकट की थी उस समय कोई याचक वक्ष दान देनेके लिए आया भी न था और राजा उसे कुछ देता भी न रहा या ऐसी दशामे कैशी कुमार मुनि यदि राजाको अनुकम्पादानमें पाप व्रता कर गेक देते तो उनको जीतमल जीके सिद्धान्तानुसार अन्नराय भी न होता, क्योंकि जीतमलजीने अ० पृ० ५० पर लिखा है कि —“लेनो देनो इसो वनमाने दोए पाप न कहे उग वेला पाप कथा जे लेने उ तहो अन्नराय पडे ते माटे साधु वनमाने मौन राखे ” यहा जीतमलजीने वनमाने ही अनुकम्पा दानके निषेधमें अन्नराय माना है दूसरे कालमें नहीं इसलिये राजा प्रदेशी को अनुकम्पा दानसे यदि मुनि वारण कर देते तो उस समय उनको अन्नराय भी न होता और राजा प्रदेशी एक नवीन पापसे भी बच जाता परन्तु मुनिने राजाको अनु-कम्पा दान देनेमें नारग नहीं किया और यह भी नहीं कहा कि “गजर् ! तुम यह क्या कह रहे हो । अनुकम्पा दान देना एकान्त पाप है इस कार्यक आवरण कानसे तुम्हारा अभिप्रद टूट जायगा और तुम फिर अगमणीय हो जाओगे ” किन्तु मुनिने अनुकम्पा दान देनेकी प्रतिज्ञा सुन कर मौन धारण किया था इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अनु-कम्पा दान देना एकान्त पाप नहीं है तथा अभिप्रद धारी श्रावकोंको अन्यतीर्थीके लिए अनुकम्पा दान देनेका त्याग नहीं होता किन्तु गुरु बुद्धिसे दान देनेका त्याग होता

है इस लिए जो अनुकम्पा दानमें एकान्त पापका उपदेश देकर श्रावकोंसे उसका कर्तव्य कहते हैं वे हीन दीन जीवोक्ती जीविकाका उच्छेद करने वाले अज्ञानी हैं ।

(बोल ३)

(प्रेरक)

आपने प्रदेशी राजाका उदाहरण देकर राजप्रज्नीय सूत्रके प्रमाणसे हीन जीवोक्ती अनुकम्पा दान देनेमें पुण्यका सञ्ज्ञाव वतलाया परन्तु भ्र० कार भ्र० ५० पर लिखने है—“बलीगय प्रसेनीमें प्रदेशी दानशाला मडाई कहो छै । राजरा चा करने आप न्यारो होय वम ध्यान करवा लाग्यो । केशी स्वामी बी हुई ठाम साधो छै पिग इम न कश्यो हे प्रदेशी तीन भागमें तो पाप छै पर चौथो भाग दान शाला रो काम तो पुण्यरो हेतु छै । थारो भल्यो मन उठो ओतो मचछो काम करी विचारयो इम चौथा भागने सरायो नहीं केशी स्वामी तो वो हुई सावद्यजापान में साधो छै । तेमाटे तीन भागरो फल जिसोई चौथो भागरो फल छै ” (भ्र० ५० ५५)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

दानशाला बनरा कर हीन दीन दुखी जीवोंको दान देनेकी प्रतिज्ञा सुन कर केशी स्वामीने जो मौन धारण किया इसका तात्पर्य यह नहीं हो सकता कि अनुकम्पा दान एकान्त पापका कार्य्य था । क्योंकि एकान्त पापके कार्य्यकी प्रतिज्ञा सुन कर माधु मौन धारण नहीं करते, उपदेश देकर उसका निषेध करते हैं । साधु ममज्ञ यदि कोई हिंसादि दुरुप करनेका विचार प्रकट करे तो उस समय साधु मौन धारण न करके उस कार्य्यका प्रतिषेध करते हैं । अनुकम्पा दान दाना यदि हिंसा आदिकी तरह एकान्त पापका कार्य्य होता तो उस कार्य्यके लिए प्रदेशीको प्रतिज्ञा करने देर कर मुनि कदापि मौन न होते किन्तु धर्मोपदेश देकर उस कार्य्यसे उन्हें सबर्ण रोक्ते । अतः मुनिने राजा प्रदेशीको अनुकम्पा दान देनेकी प्रतिज्ञा करते हुए देर कर निषेध न करके जो मौन धारण किया था इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अनुकम्पा दान देना हिंसा आदिकी तरह एकान्त पापका कार्य्य नहीं है किन्तु इससे पुण्य भी होता है । अतएव केशी स्वामीने राजा प्रदेशीको अनुकम्पा दान देनेसे नहीं रोका था किन्तु मौन होकर गद्दे अतः केशी स्वामीके मौन होनेका अभिप्राय अनुकम्पा दानमें एकान्त पाप होनेकी बात वतलाना मुखोंका कार्य्य है ।

भीषणजीने अनुकम्पा दानका यहा तक प्रियेव किया है कि यदि कोई अनुकम्पा दान देनेका त्याग कर दवे तो उसे उन्हेन अतिशय बुद्धिमान कहा है देखिये—भीषण-जीने इस अभिप्रायक ये पत्र हैं—

“अन्नमे दान द, तेहनो टालन गे कर उपायजी ।
जाने कर्म जेहे उँ म्हायंग मोने भोगप्रता दु म्हायजी ।
अन्नमे दान देवा तगू कोई त्याग करे मन शुद्धजी ।
निणगे पाप निगन्तर टालियो तीणगी वीर चरणी बुद्धिजी ।”

(पद्य भीषणजीक)

इन पद्योंमें भीषणजीने अन्नमे दान न देने वालोंकी बुद्धिकी प्रशंसा वीर प्रभुसे किया जाना कहा है परन्तु कहीं स्वामीने राजा प्रदेशीसे अन्नमे दान देनेका त्याग नहीं कराया । यदि भीषणजीकी उक्ति सत्य होती तो केजी स्वामी राजा प्रदेशीको अनुकम्पा दानमें एकान्त पाप कह कर उसका अवश्य त्याग कराने, मौन होकर न रहत । अन अनुकम्पा दानमे एकान्त पाप बनाने वाले मिथ्यावादी हैं ।

इसी तरह भ्रमत्रिज्वंसनकारने जो यह लिखा है कि “राजरा चार भाग करने आप न्यारे होय धमध्यान करवा लायौ” यह भी मिथ्या है । राजप्रशनीय सूत्रक मूल पाठमे अनुकम्पादान दत्त हुए राजा प्रदेशीको धर्मध्यान करना लिखा है दान देनेसे न्यारा होकर धर्मध्यान करना नहीं । देखिये वहाका पाठ यह है—

“तत्थ वृद्धिं पुरिसहिं जाव उरम्मडावेत्ता
उहुण समण माहणाण परिभोयमाणे विहरति”

अर्थात् राजा प्रदेशी दानशालाम उहुन पुग्पोक द्वाग चतुर्विंश आहार तय्यार करा कर वहुनसे श्रमण माहन और राहगीरोंको भोजन कराना हुआ विचरने लगा ।

यहा मूलपाठमे दान देनेसे न्यारा होकर राजा प्रदेशीका विचरना नहीं किंतु दान देने हुए विचरना लिखा है । अन राजा प्रदेशीका दान देनेसे न्यारा होकर विचरनेकी प्ररूपणा मिथ्या है ।

(बोल चौथा)

(प्रेरक)

असयतिको अनुकम्पा लाकर दान देना यदि एकान्त पाप नहीं है तो भगवती शतक ८ उहेडा ६ मे असयतिको दान देनेसे एकान्त पाप होना क्यों कहा ? भ्रमविज्व-सनकारने भ्रमत्रिज्वसन पृष्ठ ५५ पर इस विषयमे यह लिखा है “अथ अठे तथारूप अस-

यत्तिने फासु अफासु सूक्ष्मो असूक्ष्मो अशनादिक दधे ते श्रावकने एकान्त पाप कथो हे”
(अ० पृ० ५५) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूल पाठमें तथारूप असंयतिको गुरु बुद्धिने दान देनेसे एकान्त पाप होता कहा है अनुकम्पादान देनेसे नहीं । टीकाकारने इस विषय को रोल कर लिया दिया है । वह टीका यह है—

“सुत्र त्रयेणाऽपि चानेन मोक्षार्थं मेव यदानं तच्चिन्तितम् यत्पुनरनुकम्पात्तमौचित्य दानं स्या तन्न चिन्तितम् । निर्जरायास्तत्रानपेक्षत्वात् अनुकम्पौचित्ययोरेव चापेक्षणीयत्वात् । उक्तञ्च मोक्षस्यैव ज दानं त पइ एसो विही समप्सत्ताऊ अनुकम्पा दान पुग जिणेहिं न कहिंवि पडिसिद्ध ”

अर्थात् भगवती शतक आठ उद्देशा ७ के इन तीन सूत्रोमे मोक्षके लिये जो दान दिया जाता है उसीका विचार किया गया है अनुकम्पादान और औचित्यदानका नहीं । अनुकम्पादान और औचित्य दानमें अनुकम्पा और औचित्य ही अपेक्षित होते हैं निर्जरा अपेक्षित नहीं होती (अतः निर्जराकी अपेक्षासे किये जाने वाले मोक्षार्थ दानका इन सूत्रोमे फल कथन समझना चाहिये) कहा भी है—जो दान मोक्षके निमित्त दिया जाता है उसीका विधान भगवती शतक आठ उद्देशा ६ के तीनों सूत्रोमे किया है दूसरे दानका नहीं क्योंकि जिनपरने अनुकम्पादानका कहीं भी निषेध नहीं किया है । यह उपर लिखी हुई टीकाका अर्थ है ।

इसमे टीकाकारने भगवतीशतक ८ उद्देशा ६ के तीनों मूलपाठोंका तात्पर्य बतलाते हुए मोक्षार्थ दानका ही इन पाठोमे विचार किया जाना बतलाया है अनुकम्पा तथा औचित्य दानका नहीं । तथा हरिभद्र सूरिने भी यही बात कही है । उनका पद्य निम्नलिखित है—

“शुद्ध वा यदशुद्ध वाऽसंयताय प्रदीयते ।

गुरुत्वनुद्धया तत्कर्म बन्ध कृन्तानु कम्पया”

अर्थात् शुद्ध, या अशुद्ध जो गुरु बुद्धिसे असंयतिको दिया जाता है वही कर्म-बन्धका कारण है, जो अनुकम्पासे दिया जाता है वह नहीं । यह उक्त पद्यका अर्थ है । इसमे हरिभद्र सूरिने भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूलपाठका आशय बतलाते हुए अनुकम्पादानका निषेध नहीं किया जाना स्पष्ट लिखा है । तथा आगे चलकर अनुकम्पादानका शुभ फल बतलाते हुए यह लिखा है—

“शुभाशय करं ह्येतदाग्रहच्छेद कारिच ।

सदभ्युदय सारागं मनुकम्पा प्रसूति च ॥

अर्थात् अनुकम्पा दान देनेसे चित्तकी शुद्धि और धनके प्रति ममताका नाश तथा त्यागानुबन्धी कल्याणकी प्राप्ति होती है और अनुकम्पाभावके उदय होनेसे यह दान दिया जाता है ।

इस श्लोकमें हरिभद्र सूरिने अनुकम्पादानका फल एकान्त पाप न रह कर इसे त्यागानुबन्धी कल्याणका कारण कहा है अतः भगवती शतक ८ उद्देश ६ क मूलपाठ । असंयतिको मोक्षार्थं गुरु बुद्धिसे दिया जाने वाला दानका ही फल एकान्त पाप कहा गया है अनुकम्पादानका नहीं इसलिये भगवती शतक ८ उद्देश ६ का नाम लेकर अनुकम्पादानमें एकान्त पाप कहना सूत्रार्थ न जानने वालोंका कार्य है ।

यदि कोई कहे कि “हरिभद्र सूरि और भगवती सूत्रका टीकाकार यद्यपि असंयतिको अनुकम्पा दान देनेसे एकान्त पाप होना नहीं कहते तथापि यह बात मूलपाठसे नहीं निकलती । मूलपाठमें किसी दान विशेषका नाम न लेकर असंयतिको दान देनेसे एकान्त पाप कहा है इसलिये टीकाकार और हरिभद्रसूरिके कथनमें कोई प्रमाण नहीं है” तो इसका उत्तर यह है कि टीकाकार और हरिभद्र सूरिका पूर्वोक्त कथन निराश्रय नहीं है वह भगवतीके इस मूलपाठसे ही निकलता है । यह बात मूल पाठ लिए कर बताई जाती है । वह मूलपाठ यह है—

“समणोवासणं भन्ते ! तथारूपं असजय अविरय अपदिह्य पबक्खाय पाव कम्मे फासुण्णवा अफासुण्णवा एसणिज्जेणवा अणे-सणिज्जेणवा असणपाण जाव किं कज्जइ ? गोयमा ! एतसो से पावे कम्मे कज्जइ नत्थिसे काइ निज्जरा कज्जइ”

(भगवती शतक ८ उद्देश ६)

इस पाठमें सभी असंयतिओंका नाम न लेकर तथा रूपसे असंयतिको दान देने से आवश्यकको एकान्त पाप होना कहा है । तथारूपका असंयति वह है जिसको लोकमें गुरु बुद्धिसे दान दिया जाता है और जो अन्य तीर्थियोंके शास्त्रानुसार लिङ्ग रखता हुआ अन्य तीर्थी धर्मकी स्थापना करता है उसीको दान देनेसे एकान्त पाप होना कहा है इसलिये भगवती सूत्रके इस मूलपाठ से ही यह बात निकलती है कि गुरु बुद्धिसे असंयतिको दान देना एकान्त पापका कारण है अतः भगवतीके टीकाकार और हरिभद्र सूरिका पूर्वोक्त कथन स्वकपोल कल्पित न होकर मूल पाठानुसार ही है उमें अप्रामाणिक समझना अज्ञान है । टीकाकारोंने “तथारूप” शब्दका अर्थ इस प्रकार किया है—

“तथा तत्प्रकार रूप स्वभावो नेपथ्यादिर्वा यस्यस्य तथारूप’ (ठागा ३ उद्देशा १)

“उचित स्वभावे” “भक्ति दानोचित पात्रे” (भगवती शतक ५ उ० ५-)

“दानोचिते” (ठा० ठा० ३ उद्देशा १)

अर्थात् जिसका स्वभाव या वेप भूपा आदि उसी तरहका है वह ‘तथा रूप’ कहलाता है। जो भक्तिपूर्वक दान देनेके योग्य पात्र समझा जाता है वह तथैव कहलाता है।

उस तथा रूपके असयतिको दान देनेसे श्रमणोपासकको एकान्त पाप होना भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूलपाठमें कहा है इसलिये हरिभद्र सूरि और भगवती टीकाकारका कथन इस मूलपाठके शब्दमें ही निकलना है अतः वह अप्रामाणिक नहीं है।

दूसरी बात यह है कि जहां सब असयतियोंको बतलाना होता है वहां ‘तथा रूप’ इस पदसे रहित पाठ आता है जैसे भगवती आदि सूत्रोंमें सब असयतियोंका बतानेके लिये यह पाठ आया है—

“जीरेण भन्ते । असजण अविरण अपडिहय पच्चस्सय पावकस्समे” इत्यादि पाठों में “तथा रूप” इस पदसे गृहित पाठ आया है इसलिये इन पाठोंमें सभी असयतियोंका ग्रहण होता है परन्तु भगवती शतक ८ उद्देशा ६ में “तथा रूप” इस पदके साथ पाठ आया है इसलिये उसमें सभी असयतियोंका ग्रहण न होकर अन्य तीर्थियोंके वेप भूपा धारण करने वाले उनके धर्माचार्य धर्म गुरुओंका ही ग्रहण होता है अतएव भगवती सूत्रके टीकाकार और हरिभद्र सूरिने गुरु बुद्धिसे असयतिको दान देनेसे एकान्त पाप होना बतलाया है अनुकम्पादान देनेसे नहीं।

इस पाठमें “पडिलभमाणे” इस पदके आनेसे भी यही बात सिद्ध होती है। “पडिलभमाणे” इस पदका प्रयोग, स्वतीर्थी या परतीर्थी साधुको दान देने अर्थमें ही होता है गृहस्थको दान देने अर्थमें नहीं होता क्योंकि कहीं भी मूलपाठमें गृहस्थको दान देने अर्थमें “पडिलभमाणे” इस पदका व्यवहार नहीं देखा जाता इसलिये अन्य तीर्थियोंके मान्य पूज्य असयतियोंको दान देनेका ही फल एकान्त पाप इस पाठमें कहा है सभी असयतियोंको दान देनेका फल नहीं कहा। यदि कोई कहे कि भगवती शतक ८ उद्देशा ६ का मूल पाठ आवश्यकके लिये आया है और आवश्यक अन्य तीर्थियोंके गुरु गुरु बुद्धिसे दान नहीं देते फिर उस दानके फल बतानेकी इस पाठमें क्या आवश्यकता है ? तो इसका उत्तर यह है कि जैसे साधु मैथुन सेवन, रात्रिभोजन आदि पापकार्य नहीं करते तथापि शास्त्रमें साधुको रात्रिभोजन और मैथुन सेवन करनेका प्रायश्चित्त कहा

सिगायगाणंतु दुवे सहस्से जे भोयए णियए कुलालयाणं ।
 से गच्छइ ल्हेलुव संपगाढे तोव्वाभिनावी नरगाभिसेवी ।
 दयावरं धम्म दुगुच्छमाणा वहावह धम्म पसंसमाणा ।
 एगंविजेभोयइ असीलां णिवो णिसजाति कुओ सुरेहिं ।”

(सयगाण सूय धृतः २ अ० ६ गाथा २३ २४-२५)

अथ—

पुण्यपात्रके समर्थक कमकाण्डी ब्राह्मण आर्द्रकुमार मुनिने पाय आकर कहने लग—
 प्रभार ! तुमन गोशालक आर बौद्ध मनका स्वीकार नहीं किया यह अच्छा किया है क्योंकि य
 नी ही मत उ पादा होनेक कारण अमान्य है और यह बहुत मन भी उद धादा होनेने निन्दित
 है अन अप जेने क्षत्रिय क्षिरमणिक लिण इसका आश्रय लेना भी अयुक्त है । आप सब धर्मों
 श्रष्ट ब्राह्मणोंका सेवा कर धर्मोंकी नहीं । धर्म कहा है कि यवन, यवन, अजयवन, अज्या-
 न, शान और प्रतिपद इन छ कर्मों म तत्पर रहन पाउं दो हजार ब्राह्मणोंको जो प्रतिदिन
 भोजन कराता है यह पुण्य समूहका उपार्जन करक स्वर्गलोक में देवता होता है । २३

इसका उत्तर देते हुए आर्द्रकुमार मुनिन कहा कि हे ब्राह्मण ! जो मानका लक्ष्मणमें
 गोशालकी तरह घा घा रित है, जो अपनी उदर पूर्तिक लिण क्षत्रिय आदिके घरोंमें जाव वृत्ति
 लेते हैं जेने तो हजार ब्राह्मणोंको नित्य भोजन कराने वाला पुण्य उन मासाहारी ब्राह्मणोंके साथ
 जे वदना पुण्य नरकर्म जाता है । २४

जो, तथा प्रधान धर्मका निष्ठा करला हुआ हिमामय धर्मका प्रसंसा करता है ऐसे एक
 ब्राह्मणको भोजन करानेसे भा घोर अन्यायकारमें पुण्य नरकको प्राप्ति होती है कि दो हजार ऐसे
 ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे तो रुटना ही क्या है । पूर्वोक्त कुशाल ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे,
 अभय दधता भा नहीं होना तब उत्तम नव होनकी तो बात ही क्या है । २

इसी तरह सुयगडाग श्रुत स्कन्ध २ उद्देश ५ गाथा ३२ को लिख कर कारने जो गृहस्थको दान देने अर्थमें “पडिलभमाणे” इस पदका व्यवहार वह भी मिथ्या है । उस गाथा में स्वनीथी या परतीथी साधुको ही देने अर्थमें “माणे” इस पदका व्यवहार हुआ है गृहस्थको दान देने अर्थमें नहीं यह ध्यान आग वतायी जायगी भूत सुय० की गाथाका नाम लेकर गृहस्थको दान देने अर्थमें “माणे” पदका व्यवहार बनाना भी अयुक्त है । भगवती शनक ८ उद्देश ६ व मूल “पडिलभमाणे” यह पद आया है इसलिए यह पाठ परतीथी साधु यानी अन्य गृहस्थ गुरुको गुरुद्विसे दान देने में ही एकान्त पाप घटलाना है अनुकम्पा दान नहीं । अतः भगवतीके उक्त मूल पाठका नाम लेकर अनुकम्पा दानका विचार करना मूर्खोंका कार्य है ।

[बोल ५ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ६६ पर सुय० श्रुत० २ अ० ६ गाथा ४४ और ४५ वीं को लिख कर उनकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ अटे आर्द्र मुनिने ब्राह्मणा कखो—जे पुरुष बे हजार ब्राह्मण नित्य माडे ते महा पुण्यस्कन्ध उपार्जी देवता हुई एहवो हमारे वेदनो बचन छै तिवार आ मुनि बोल्या अहो ब्राह्मणो । जे मासना गृही घर घरने विपे मर्जारनी परे भ्रमण नहार एहवा बेहजार कुपात्र ब्राह्मणाने नित्य जीमाडे ते जीमाडनहार पुरुष त मास महिन बहु वेदना छै जेहने एहवी महाभमल वेदना युक्त नरकने विपे जाई” (अ० ६६) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

आर्द्र कुमार मुनिने हिंसक, मासाहारी, वैडालप्रतिक ब्राह्मणोंको पूज्य बुद्धि भोजन करानेसे नरक जाना कहा था, हीन दीन प्राणियोंपर दया लाकर उनको देनेमें एकान्त पाप या नरक जाना नहीं कहा इसलिए आर्द्र कुमार मुनिका नाम लेकर अनुकम्पा दानका खण्डन करना मूर्खों का कार्य है । अब वे गाथा ये लिख का अर्थ बताया जाता है जिससे पाठकोंको आर्द्र कुमार मुनिके कथनका भाव हो जाय । वे गाथाएँ ये हैं—

“सिंहायगाणंतु दुवे सहस्ते जे भोयए णियए माहणाण ।
ते पुण्ण खन्धे सुमहज्जणित्ता भवन्ति देवा इति वेयवाओ ।

सिणायगाणंतु दुवे सहस्ते जे भोयए णियए कुलालयाणं ।
 से गच्छइ ल्हेलुव संपगाढे तोच्चाभितावी नरगाभिमेवो ।
 दयावर धम्म दुगुच्छमाणा वहावहं धम्म पसंसमाणा ।
 एगविजेभोयइ असीलं णिवो णिसंजाति कुओ सुरेहिं ।”

(सुवगाशम सुप्र श्रुत० २ अ० ६ गाथा ४३ ४४-४५)

अर्थ—

पशुपाक समर्थक कर्मकाण्डा ब्राह्मण आर्द्र कुमार मुनिक पास आकर कहने लग—हे
 आर्द्र कुमार । तुमने गोशालक और बौद्ध मतको स्वीकार नहीं किया यह अच्छा किया है क्योंकि ये
 दोनों ही मत वेद वाक्य होनेके कारण अमान्य हैं और यह बहुत मन भी बंद बाध होनेसे निन्दित
 है अतः आप अपने श्रमार्थ शिरमणिजि लिए इसका आश्रय लेना भी अयुक्त है । आप सब वर्गों
 के ब्राह्मणोंकी सेवा कर प्यारी नहीं । धर्म कहा है कि यजन, याजन, अध्ययन, अध्या-
 न, दान और प्रतिपक्ष इन छ कर्मों में तत्पर रहने वाले दो हजार ब्राह्मणोंको जो प्रतिदिन
 भोजन कराता है वह पुण्य समूहका उपाजन करके स्वर्गलोक में देवता होता है । ४३

इसका उत्तर दते हुए आर्द्र कुमार मुनिन कहा कि हे ब्राह्मण ! जो मायकी लालसमें
 डालने तरह घर घर फिरत है, जो अपनी उन्नति के लिए श्रमार्थ आदिके घरोंमें बीच घृति
 देने हैं उन दो हजार ब्राह्मणोंको नित्य भोजन कराने वाला पुरुष उन माताद्वारा ब्राह्मणों साथ
 न अपना पुण्य नरकमें जाता है । ४४

जो, दया प्रधान धर्मकी निन्दा करता हुआ हिंसामय धर्मका प्रशंसा करता है उस एक
 ब्राह्मणको भोजन करानेसे भा घर अन्नकारमे पूरा नरककी प्राप्ति होती है फिर दो हजार ऐसे
 ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे तो कटना ही क्या है । पूर्वाक्त कुशील ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे
 कि अधम दयता भी नहीं होता तब उत्तम दान देनेकी तो बात ही क्या है । ४५

यह ऊपर लिखा हुई गाथाआका टीकानुसार अर्थ है ।

इन गाथाओंमें दया धर्मकी निन्दा और हिंसामय धर्मकी प्रशंसा करने वाले
 ब्राह्मण प्रतिदिन नीच घृति वाले ब्राह्मणोंको पूज्य बुद्धिसे दान करनेसे नरक जाना कहा
 है । हीन दीन दुर्गरी जीवोंपर दया लाकर अनुरूप दान देनेसे नहीं अतः इन गाथाओंमें अनु-
 रूप दानका कोई प्रसंग नहीं है यहाँ तो ब्राह्मणोंने जैन धर्मकी निन्दा करके ब्राह्मण
 भोजन करानेसे स्वर्ग जाना कहा था इसका उत्तर दते हुए आर्द्र कुमार मुनिन बौद्ध-
 धर्मिक हिंसक नीच घृति वाले ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे नरक जाना कहा इससे न
 अनुकूपा दानका स्पष्ट होना है और न दयावान् अहिंसक ब्राह्मणोंकी ब्राह्मणोंको

भोजन कर्मान्ने ही पाप होना सिद्ध होता है अत आर्द्रकुमार मुनिका नाम लक्षा अनु कम्पा दान देने और ब्राह्मण मात्रको भोजन कर्मान्ने नरक उतलाना सूत्रार्थ न जाल वालोका काव्य है ।

बेहाल व्रतिक हिंसक नीच वृत्ति करने वाले ब्राह्मणोंको भोजन कर्मान्ने मन्त्रोपम शास्त्रोपे भी नरक जना कहा है । इस विषयमें मनुजीके निम्नलिखित पण हैं—

“धर्म ध्वजो सदा लुब्धः छात्रिको लोक दम्भकः ।

बैडाल व्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसंधकः ॥ ९६

अधो दृष्टि नैष्कृतिकः स्वार्थसाधन तत्परः ।

शठो मिथ्या विनीतश्च वक्रव्रतचरो द्विजः ॥ ९७

ये वक्रव्रतिनो विप्राः येच मार्जार लिङ्गिनः ।

ते पतन्त्यन्धतामिस्त्रे तेन पापेन कर्मणा ॥ ९७

न वार्यपि प्रयच्छेत्तु वैडालव्रतिके द्विजे ।

न वक्रव्रतिके विप्रे नावेद विदि धर्मवित् ॥

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम् ।

दातुर्भवात्यनर्थाय परदादातुरेव च ।

यथा प्लवे नौपलेन निमज्जत्युदके तरन् ॥

तथा निमज्जतोऽधस्ता दज्ञौ दातु प्रतीच्छकौ ॥”

(मनुस्मृति अ० ४)

अर्थ—

जो धर्मात्माभासा गिन्ह धारण करके अपनको धार्मिक प्रसिद्ध करना है और छिप कर पापाचरण करता है वह धर्मध्वजो कहलाता है । जो ब्राह्मण धर्मध्वजो है जो दूसरके धन हरा करनेकी तारुम स्था लगा रहता है जो छली करती लोकव्यवहार और हिंसक है जो सबको निरा करता है उसको “वैडालव्रतिक ” कहते हैं ।

जो अर्थात् वनापनि नम्रताको प्रकट कानक लिए दृष्टि, नीच स्वभाव है और निन्दुरता साथ दूसरोंका स्वार्थ विगाड कर अपना स्वार्थ साधन करता है जो शठ है और कपटयुक्त तन्त्रा धारण करता है वह ब्राह्मण “वक्रव्रतिक” कहलाता है ।

पश्यतिश्च और वैडाल व्रतिक ब्राह्मण, अपने पाप कमना कर भोगनेन लिए अन्धतामिग मन्त्रक भग्नम जाते हैं ।

चक्र द्रविक और घेडालप्रतिक ब्राह्मणको जल दना भी धार्मिक मनुष्योंका कर्तव्य नहीं है ।
यन् नर्त्त जनता उसको भा दान दना धार्मिक मनुष्योंके लिये अयोग्य है ।

न्यायवृत्तिमें उपाजने किया हुआ भी धन, वक्रप्रतिक और चडाल द्रविक ब्राह्मणको न्या
त फलोरुमें पाता और यडाता (लेनेवाला) दोनोंका अनर्थक लिये होता है ।

जैसे पत्थरकी नाचपर चडा हुआ मनुष्य उम नाचक मात्र ही डूब जाता है उमो तरह दान
पर प्रतिग्रहका विधि न जानने वाले दाता और ग्रहीता (लेनेवाला) दोनों ही नरकमें जात हैं ।

यहा मनुजीने भी दयारहित हिंसक चैडालप्रतिक ब्राह्मणको भोजन करानेसे नरक
पाना कहा है और इन्हां ब्राह्मणको भोजन करानेमें मुनि आद्र कुमारने भी नरक प्राप्ति
लाई है इसलिये आद्र कुमार मुनिका नाम लेकर अनुकम्पादान देने और ब्राह्मणमात्रको
भोजन करानेमें नरक प्राप्ति बनलाना मिथ्यावाकियोंका कार्य है ।

(बोल छडा)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ६८ पर लिखत हैं “अथ इहा भगुने पुत्रा
कहो उद भण्या राण न होवे ब्राह्मण जीमाया तमतमा जाय तमतमा त अन्धेग मे
अधेरा ते एगी नरकमे जाय दम करो जो त्रि जीमाया पुग्य कहे तो नरक क्यू कही”
(भ० पृ० ६८) इसका क्या अन्वयान ?

(प्ररूपक)

भृगु पुरोहितक पुत्रोंका नाम लेकर अनुकम्पादानमें पाप उताता मूर्खों का कार्य
है । भृगु पुत्रों अनुकम्पा दान देनेमें पाप होना नहीं कहा था किन्तु यज्ञ यागादि कर
क पूज्य बुद्धिमें ब्राह्मण भोजन कराने, और पुत्रोत्पादन करनेसे जो लोग दुर्गतिमार्गका
निरोध होता मानते हैं उनक मन्तव्यको मिथ्या उतलाया था । यदि कोई कहे कि अनु-
कम्पा करक असयतिक दान देनेस पुण्य होता तो भृगु पुत्रोंने ब्राह्मण भोजन करानेमें
तमतमा जाना क्यों कहा ? तो इसका उत्तर यह है । यहा टीकाकारने लिखा है कि—

तदि भोजिता कुमार प्ररूपण पशुखाद्यानेव कर्मावसयनितन्धनस्य द्वापाप
प्रयन्त इत्यसत्प्रयनतस्तद्भोजनस्य नरक गति इत्युच्यते”

अर्थात् हिंसामय भ्रमकी प्रशंसा और दयामय धर्मकी निंदा करने वाउ ब्राह्मण,
भोजन कराये हुए कुमारकी प्ररूपणा और कर्मको उठाने वाले पशुखर आदि अमद्
व्यापारमें ही प्रवृत्त होत हैं अन अमद् व्यापारमें प्रवृत्त होनका कारण उनको भोजन
करना नरक प्राप्तिका हेतु होता है ।

यहां टीकाकारन जो ब्राह्मण असद् व्यापारमें प्रवृत्त होता है उसीको भोजन करने से नरक जाना कहा है परन्तु पशुपक्ष आदि नीच कर्मोंका समर्थन न करनेवाले द्रष्टा ब्राह्मणोंको भोजन करनेसे नरक जाना नहीं कहा है इसलिये मूलगाथामें जो ब्राह्मण भोजन करनेसे तपनमा जाना कहा है उसका अभिप्राय मनु ब्राह्मणोंको भोजन करनेमें नहीं है किंतु दया रहित हिंसक ब्राह्मणोंको भोजन करनेमें है अतः भृगुके पुत्रोंका नाम लेकर अनुकम्पादानका निषेध करना मिथ्या है। हिंसक छली कपटी वरु व्रतिक आदि नीच ब्राह्मणोंको भोजन करनेसे नरक जाना मनुने भी लिया है और वही बात भृगु पुत्रोंने कही है इसलिये अनुकम्पादानका खण्डन करना अयुक्त है।

(बोल ७ वां)

(प्रेरक)

भ्रमनिवृत्तमनका भ्रम० पृ० ७३ पर सुयगडाग सूत्र सु० २ अ० ५ गाथा ३३ वां को लिख कर उसकी ममालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ ईहा पिण इमं न्हो दानं देवे लेने इसो वर्तमान दरिद्र दूषण नहीं करे। तो प्रत्यक्ष पाठ कहो जे लेने देव ते वला पाप पुण्य नहीं कहिणो। दक्षिणार्ण कहि दाननो पडिलभ कहिता आगलाने दवो ते प्राप्ति एनले दान दवें ते दाननी आगलान प्राप्ति हुन ते जला पुण्य पाप कहिणो वज्यो पिण और जला वज्यो नहीं” इत्यादि इनके कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस समय दाता अनुकम्पा लाकर किसी हीन दीनको दान दे रहा है और वह हीन दीन ले रहा है उस समय साधुको उस दानमें एकान्त पाप न कहना चाहिये परन्तु दूसर समयमें अनुकम्पादानका फल एतान्त पाप कह कर उनका निषेध कर देना चाहिये। इसका क्या समाधान ?

(प्रत्युपक)

सुयगडाग सूत्रकी वह गाथा, टीकाक साथ लिख कर इसका समाधान किया जाना है। वह गाथा यह है —

“दक्षिणाए पडिलंभो अत्थिवा नत्थिवा पुणो
णचियागरेज्ज मेहावी संति मग्गंच बूहए”

(सुय० सु० २ अ० ५ गाथा ३३)

(टीका)

दान दक्षिणा तस्या प्रतिलभ प्राप्ति स दानलाभोऽस्माद् गृहस्थादे मकाशा दत्ति नास्तिवा एत्येव न व्याग्रीयान मेधानी मर्यादाव्यवस्थित यद्विवा स्वयंभूयस्य तीर्था-

तरीयम्यत्र दानं प्रहणं प्रति योलाभं म एकान्तेनास्ति सभप्रति नास्तीत्येव न प्रूया द
हान्तेन, तदानं प्रहणं निषेधे दोषोत्पत्तिः सभप्रा । तथाहि तदानं निषेधेऽन्तर्गत्य सभप्र-
तद्वैचित्यश्च, तदानानुमनानप्यधिकरणोद्भव इत्यनोऽस्ति दानं नास्तिवेत्येवमेकान्तेन
प्रूयान् कथं प्रूयादिति दर्शयति—शान्तिं मोक्षं तस्य मां सम्यग्ज्ञात्वा दानं चारि-
यात्मकमनुपपद्यते इत्येव चोपेक्षम् । यथा मोक्षं मार्गाभिप्रेक्ष्यति तथा प्रूयान्तिव्यर्थः । एत-
दुक्तं भवति पृष्ठं केनचित् देयं प्रति प्राहकं विषयं निगद्य मेव प्रूयादित्येवमादिकं मन्य-
शपि विविधं धर्मदशनावसरे वाच्यम् । तथा चोक्तम् “सावज्जगं वज्जाणं वयणाणं ज्ञोण-
ज्ञाणं चित्तेन”

अथ —

साधुकी मर्यादासंस्थितं तुणं मुनिको यह न कहना चाहिये कि भूमि गृहस्थाने दानकी
प्राप्ति होगी या न होगी । अथवा दानलाभकं विषयमं स्वयधिक या परयधिक साधुके पृष्ठने पर
एकान्त रूपसे यह न कहना चाहिये कि आज तुमको भिक्षा मिलेगी या, न मिलेगी । यदि “आज
तुमको भिक्षा न मिलेगी” ऐसा कहें तो अन्तराय होना सम्भव है और भिक्षार्थीके वित्तम दुःख
भी उत्पन्न होगा । तथा “आज तुमको भिक्षा मिलेगी” ऐसा कहने पर पृष्ठने वाले साधुको हृष्य
की उत्पत्ति होनेसे अधिराज्यादि दोष उत्पन्न होगा इसलिये स्वयधिक या परयधिक पृष्ठने पर
भिक्षा लाभके सम्बन्धमें साधुको एकान्तरूपसे कुछ भी न कहना चाहिये । त्रिम प्रकार पान
ज्ञान और चारित्र्य रूप मोक्षमार्गकी उत्पत्ति हो चली बात भाषा समतिक द्वारा कहनी चाहिये ।
तात्पर्य यह है कि स्वयधिक या परयधिक साधु मुनिमें आकर पृष्ठे कि “आज तुमको भिक्षाका
लाभ होगा या नहीं ?” तो साधुकी मर्यादासंस्थित मुनि एकान्त रूपसे यह न कहें कि आज
तुमको भिक्षा न मिलेगी, और यह भी न कहें कि आज तुमको भिक्षा मिलेगी किन्तु विधि निषेध
न करके भाषा समतिक द्वारा उत्तर देना चाहिये । इसी प्रकार धर्मापदेश करत समय भी साधुको
निगद्य भाषा बोलनी चाहिये । कहा है कि त्रिम साधुको सावध और निरपय भाषाका ज्ञान नहीं
है वह धर्मोपदेश क्या दे सकता है ? यह ऊपर लिखी हुई गाथाका एकान्तार अर्थ है ।

यहां तो अनुकम्पादानका कोई प्रसङ्ग नहीं है । भाषासुमनिका यह प्रकरण है इस
लिये उक्त गाथामें यह उपदेश किया है कि स्वयधिक या परयधिक साधु मुनिसे यदि यह
पृष्ठे कि आज तुमको भिक्षाका लाभ होगा या नहीं ? तो मर्यादासंस्थित मुनि रहनेवाला
मुनि एकान्त रूपसे भिक्षाका लाभ और अलाभ कुछ भी न कहें किन्तु भाषा समतिक
द्वारा उसके प्रश्नका उत्तर देवे अतः इस गाथाका नाम लेकर यह कहना कि “जिस समय
दाना हीन दीनको दे रहा हो और लेनेवाला ले रहा हो उसी समयमें साधुको अनुकम्पा
दानमें एकान्त पाप न कहना चाहिये परन्तु उपदेश करत समय एकान्त पाप कह कर
अनुकम्पादानका निषेध करना चाहिये” एकान्त मिथ्या है ।

इस गाथा में जो “प्रतिलम्भ” पद आया है वह स्वयूयिक या परयूयिक माधुके दान लाभ अर्थ में ही आया है गृहस्थ के दान लाभ अर्थ में नहीं। अतएव टीकाकार लिखा है कि — ‘यदि वा स्वयूयस्य तीर्थान्तरीयस्य वा दान ग्रहण प्रति योऽर्थः अर्थात् स्वयूयिक यानी अपने यूयके माधुको और तीर्थान्तरीय यानी अन्य दूरस्थ माधुको दान की प्राप्ति होना प्रतिलम्भ है।’

अब इस गाथा की साक्षी देकर जो जीतमलजीने गृहस्थ के दान लाभ को “प्रतिलम्भ” पद का व्यवहार बतलाया है वह मिथ्या है तथा इस गाथा को लिखकर इनके नीचे जो जीतमलजीने टक्वा अर्थ दिया है वह भी मूत्रपाठ और टीका से असम्मत है। के कारण एकान्त अशुद्ध और अप्रामाणिक है उसका आश्रय लेकर अनुकम्पादान का मण्डन करना मिथ्यादृष्टियों का कार्य है।

(बोल ८ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रम० पृ० ७४ पर ज्ञाता सूत्र अध्ययन १३ का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ एहा कश्चो जे नन्दन मणिहारो दान शालादिकनो घगो आरभ करी मरीन डेडको धयो । जो मावण दान श्री पुण्य हुवे तो दानशालादिकधी घगा असयति जीन रे साता उपजाई ते साताग फल किहा गयो” इनके कहने का भाव यह है कि नन्दन मणिहारने अनुकम्पा दान देकर अनेक हीन दीन दुःखी जीवों को सुख दिया था परन्तु वह मर कर मेढक योनि में उत्पन्न हुआ यदि अनुकम्पादान देना पुण्य होता तो नन्दन मणिहार मर कर मेढक क्यों होता ? अब अनुकम्पा दान देना एकान्त पाप है। इसका क्या समाधान !

(प्ररूपक)

नन्दन मणिहार का नाम लेकर अनुकम्पादान में पाप कहना अज्ञान का परिणाम है। ज्ञाता सूत्र के मूलपाठ में स्पष्ट लिखा है कि नन्दन मणिहार नन्दा नामक पुष्करिणी में आसक्त होने से मेढक योनि में उत्पन्न हुआ था, हीन दीन जीवों को अनुकम्पादान दान नहीं। इस ता सूत्र का यह पाठ यह है —

“तत्तेणं णंदे तेहि सोलसेहिं रोगायकेहिं अभिभूएसमाणे
णंदाए पोखरिणीये मुच्छित्ते तिरिक्ख जोणिएहि वद्धाण वद्ध
सिए अट्ट दुहट्ट वसट्टे कालमासे काल किच्चा णदाए पोखरिणीये
दददुरिये कुत्थिं सि दददुरत्ताए उववण्णे”

इसके अनन्तर यह नन्दन मनिहार सोलह रोगोंसे पीड़ित होकर नन्दा नामक पुष्करिणीमें आसक्त होनेके कारण तिर्थयात्री योनिमें आयु बाध कर अतिरिक्त ध्यान ध्याता हुआ काल अवसरमें मृत्युको प्राप्त होकर नन्दा नामक पुष्करिणीके अन्तर में एक योनिमें उत्पन्न हुआ ।

यहां नन्दा नामक पुष्करिणीमें आसक्त (गृद्ध) होनेके कारण नन्दन मनिहारको एक योनिमें जन्म लेना लिखा है हीन दीन जीवों पर दया लाकर दान देनेके कारण । अतः नन्दन मनिहारका नाम लेकर अनुकम्पा दानमें एकान्त पाप कहना मिथ्या-विदियोंका काम है । कोई ऐसा प्रश्न करते हैं कि अनुकम्पा दान देनेमें यदि पुण्य था तो नन्दन मनिहार अनुकम्पा दान देकर मेढर क्यों हुआ ? अनुकम्पा दानका फल उसको क्या मिला था ? उनसे कहना चाहिये कि नन्दन मनिहारने अश्वशेके चारह व्रत भी धारण किये थे उसका फल उसको क्या मिला था यह आप बतलाइये ? यदि वह फल चारह व्रत धारण करनेका फल नन्दन मनिहारको अच्छा ही मिला होगा परन्तु मूलपाठमें उसका कुछ कथन नहीं है, तो यही उनके प्रश्नका भी उत्तर है अर्थात् अनुकम्पा दान देनेका फल नन्दन मनिहारको अच्छा ही मिला होगा परन्तु मूलपाठमें उसका कुछ कथन नहीं है यहां तो नन्दन मनिहार का चरित्र बना कर यह उपदेश किया है कि भव्य शीशुओंको सामारिक पदार्थों में आसक्त न होना चाहिये और भूल कर भी कुसङ्गतिमें न पड़ना चाहिये क्योंकि नन्दन मनिहार कुसङ्गतिमें पड़ कर चारह व्रतधारी आसक्तसे फिर व्याहृति हो गया था और नन्दा नामक पुष्करिणीमें आसक्त होकर मेढर योनिमें जन्म लेना था । यही नन्दन मनिहारके उपाख्यानका सार है अतः नन्दन मनिहारके उदाहरण अनुकम्पा दानमें एकांत पाप कहना अज्ञान है ।

कोई कोई कहते हैं कि "नन्दन मनिहार जब तक सम्यग्दृष्टि था तब तक उसने नशाला आदि परोपकारका कार्य नहीं किया था किन्तु मिथ्यादृष्टि होने पर उसने नशाला आदि परोपकारके कार्य किये थे इसलिये अनुकम्पादान आदि परोपकारके कार्य मिथ्यादृष्टि करते हैं सम्यग्दृष्टि नहीं" वे भोले जीव हैं । राजा प्रदेशी जब तक धार्मिक था तब तक दानशाला आदि परोपकारका कार्य नहीं करता था बल्कि हीन जन जीर्वाजी जोविशका उच्छेद करता था परन्तु केशीकुमार मुनिके उपदेशसे जब वह व्रतधारी श्रावक हुआ तब वह दानशाला बना कर हीन दीन जीवोंको पान देने लगा था अतः अनुकम्पा दान देना मिथ्यादृष्टियोंका ही कार्य नहीं है सम्यग्दृष्टि भी यह कार्य करते हैं इसलिये अनुकम्पादान आदि परोपकारके कार्यसे जनता को विमुक्त करना मिथ्यादृष्टियोंका कार्य समझना चाहिये ।

(बोल ९)

(प्रेरक) 

धर्मविध्वंसनकार धर्मविध्वंसन पृष्ठ ७६ पर ठागाह मूत्र ठागा नश्वर
 लिख कर एक धर्मदानको छोड़ शेष नौ दानोंको अधर्म दानमें कायम करनेके
 लिखते हैं —

“असयतिने सुसजा अमृक्षता अजनादिक ४ दीपा एकान्त पाप भगवती
 आठ उद्देशा ६ फलों से माटे ७ नौ नानामे धर्मपुण्य मिश्र नहीं है कोई कहे एक
 दान एक अर्धदान भी ना आठामे मिश्र है । तेरे एकतो पुण्य है श्रम कहे तेहने
 जो वेद्यादिकनो दान अधर्ममें थापे प्रियगरे दोष वनायने तो बीजा आठ पिना
 इज छे” (ध० पृ० ७६)

इसका समाधान ?

(प्रत्युपक)

धर्मदानको छोड़ कर शेष नौ दानोंको अधर्मदानमें गिनना शास्त्रविरुद्ध है ।
 कारने दश ही दानोंको पररपर विलक्षण और एकमे दूसरेका समावेश न होता वत
 है । यदि धर्मदानको छोड़ कर शेष नौ ही दान अधर्मदानमें भेद होते तो शास्त्रकार
 लिखते कि “दुविष्टे दाणे पण्णत्ते राजहा—धम्म दाणे चैव अधम्मदाणे चैव” यह
 कर पश्चात् अनुकम्पा आदि दानोंको अर्धदानमें समावेश कर देते परन्तु ऐसा न
 कर जो दानके दश भेद शास्त्रकारने बनलाये हैं इससे अनुकम्पा आदि दानोंका अ
 दानसे भेद होना स्पष्ट सिद्ध होता है । दूसरी बात यह है कि इन दश दानोंके गु
 सार नाम रखले गये हैं जिन दानका फल अनुकम्पा है उसका ‘अनुकम्पा’ नाम र
 है और जिसका फल सम्रह (दीन दु खीको सहायता दना) है उसका सम्रह नाम र
 है इसी तरह शेष आठ दानोंके भी गुणानुसार ही नाम रखले गये हैं और भीषण
 भी यह बात मानी है जैसे कि उन्होंने लिखा है “दश दान भगवन्त भाषिया, सूत्र
 माय । गुण निष्पन्न नाम है तेहने, भोलाने रत्न न काय” (पद्य भीषणजी वृत्त)

इस पद्यमे दश दानोंका गुणानुसार नाम होना स्वयं भीषणजीने स्वीकार
 है ऐसी दशामे धर्मदानको छोड़ कर शेष नौ ही दानोंको अधर्मदानमें बताना जीतम
 का अपने गुरुकी उक्तिसे ही विरुद्ध होता है । जन कि इन दानोंके नाम इनने गुणानु
 रखले गये हैं तत्र अनुकम्पादानका गुण अनुकम्पा कहना होगा अनुकम्पा अधर्ममें
 है, इसलिये अनुकम्पादान अधर्मदानमें नहीं हो सकता । इसी तरह सम्रह दानका
 सम्रह (दीन दु खीको सहायता दना) करुणादानका फल करुणा और लज्जा आदि
 के फल लज्जा आदि हैं । दीन दु खीको सहायता दना आदि अधर्ममें नहीं है अतः स

दान अधर्मदानमें नहीं हो सकते ऐसी दशमें एक धर्मदानके मित्राय बाकीके नौ ही दानों को अधर्मदानमें स्थापन करना अज्ञानका परिणाम है ।

जो लोग एक धर्मदानको छोड़ कर शेष नौ दानोंको अधर्ममें गिनते हैं उनसे चाहिए कि जो दान, भक्ति भावसे प्रत्युपकारकी आशाक बिना पथ्य महाप्रतयागी को दिया जाता है वही मुख्य रूपसे एकान्त धर्मदान है । परन्तु जो लज्जावश या कम्पा करके साधुको दिया जाता है वह दान, दानाके परिणामानुसार मुख्यरूपसे अधर्मदान और अनुकम्पादान है । यह दान, धर्मदानसे कदाचित् भिन्न है क्योंकि इसमें दानका परिणाम लज्जा और अनुकम्पाका भी है अतः तुम्हारे हिसाबसे इस दानका फल भी ही होना चाहिये यदि कहो कि “किमी भी परिणामसे साधुको दान देना एकान्त धर्मदान है इसलिये उक्त दानोंका फल अधर्म नहीं है” तो नागश्री ब्राह्मणीने मुनि को उनके परिणामसे फटुवा तुम्हारा का शास्त्र दिया था और साधुकारकी स्त्रीने विषय भोग करनेकी लालसासे अर्थात् मुनिको मोदक दिये थे फिर इन दानोंका फल भी अधर्म न होना चाहिये यदि कहो कि नागश्रीने मुनिको मारनेके परिणामसे, और साधुकारकी स्त्रीने मुनिको भ्रष्ट करनेके भावसे दान दिये थे इसलिये उनका दान उनके परिणामानुसार अधर्मदान या धर्मदान नहीं, तो उसी तरह यह भी समझो कि जो दान, लज्जावश अनुकम्पा करके मुनिको दिया जाता है वह भी दानाके परिणामानुसार लज्जादान और अनुकम्पादान ही है । तुम्हारे सिद्धांतानुसार इन दानोंमें भी अधर्म ही होना चाहिये परन्तु शास्त्र सभत नहीं है इन दानोंमें भी दानाके परिणामानुसार धर्म ही होना है । अतः धर्मदानको छोड़ कर शेष नौ दानोंको अधर्ममें कायम करना अज्ञान है । अनुकम्पा दान धर्म ही देते हैं इसका प्रमाण नीचे दिया जाता है ।

“अणुकम्पं पटुष्व तज्जो पडिणीया पण्णात्ता तज्जहा—तवस्सि डिणीए, गिलाण पडिणीए, सेहपडिणीए”

(ठाणाङ्क ठाणा ३ उद्देश ५)

अर्थात् तीन गतुय अनुकम्पा करने योग्य होते हैं । तपस्वी क्षपण, रोग आदिसे ग्लान, अथवा मज्झीकृत शिष्य, इनकी अनुकम्पा करे और न करे तब भी पण्णात्ता समझा जाता है ।

इस पाठके अनुसार यदि कोई, रोग आदिसे ग्लान और तपस्वी क्षपण, तपस्वी शिष्य पर अनुकम्पा करके दान देव तो वह दान दाताका परिणामक अनुकम्पा मुख्य रूपसे अनुकम्पादान है । इसमें भी जो लोग धर्मदानके मित्राय नौ दानोंको अधर्ममें मानते हैं उनके हिसाबसे अधर्म होना चाहिये । उपाई सूत्रमें लोकोपचार नियम “कल्याहेतु” और “रूपप्रतिक्रिया” नामक दो श्रेय कह गये हैं । “यदि गुरुकीसे भाव

पानी आदि देकर मैं प्रसन्न रखूंगा तो वह मुझको शास्त्र देनेकी कृपा करेंगे" से गुरुकी सेवा भक्ति दान सम्मान आदि करना "काय्यहेतु विनय" कहलाता है। विनय "करिष्यतीति दान" के अन्तर्गत है क्योंकि जो दान प्रत्युपकारकी आशासे दिया जाता है उसीको "करिष्यतीति" दान कहते हैं। साधु भी अपने गुरुको यह दान लोकोपचार विनय करता है। यह दान प्रत्युपकारकी आशासे किये जानेसे "कीर्तितीति दान" है। जीतमलजीके हिसाबसे यह दान भी अधर्ममें ही ठहरता है क्योंकि प्रत्युपकार की आशासे किये जानेके कारण यह दान कथञ्चित् धर्मदानसे भिन्न है।

जो दान उपकारी पुरुषको उपकारके बदलेमें दिया जाता है वह "कृत दान" कहलाता है। साधु भी उपकारके बदलेमें अपने गुरुको यह दान देकर "कृत प्रति क्रिया" नामक विनय करता है। यह दान उपकारके बदलेमें दिया जाता है इसलिये कथञ्चित् धर्मदानसे भिन्न है अतः जीतमलजीके हिसाबसे इसमें भी पाप ही होता चाहिये। मनुष्य मुनिको गर्वसे भी दान देते हैं वह दान दाताका परिणामके अनुसार गवदन्त है उस में भी जीतमलजीकी प्ररूपणाके अनुसार पाप ही ठहरता है परन्तु शास्त्र प्रमाणों से यह प्ररूपणा मिथ्या सिद्ध होती है क्योंकि लोकोपचार विनय करनेके लिये अपने गुरुको "कृत दान" और "करिष्यतीति दान" करने वाले मुनिको और गर्वसे मुनिको दान देने वाले गृहस्थको धर्म होता है पाप नहीं होता। अतः एक धर्मदानको छोड़ कर शेष नौ दानोंको एकान्त अधर्ममें कायम करना अज्ञान है।

वास्तवमें ये दशविध दान, परस्पर एक दूसरेसे भिन्न और नामानुसार गुणवान् हैं अतएव ये अलग अलग कहे गये हैं यदि धर्मदानको छोड़ कर शेष नौ दान एकान्त अधर्म रूपसे अधर्म में ही होने तो इन्हे अधर्म दानसे अलग लिखनेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं थी। भीषणजीने अपने पद्यमें स्पष्ट स्वीकार किया है कि इन दानोंके नाम गुणानुसार रखे गये हैं इसलिये जैसा इनका नाम है वैसा ही इनका गुण भी है अतः कर्मणा आदि नौ दानोंको एकान्त अधर्ममें स्थापन करना अज्ञान है।

ठाणाङ्ग सूत्रकी मूलगाथा टीकाके साथ लिख कर इन दश दानोंकी व्याख्या आती है। वह गाथा यह है—

“दसविहे दाणे पणत्ते तजहा—

“अनुकम्पा संग्रहे चैव भए कालुणि एति च

लज्जाए गारवेणं च अघम्मे पुण सत्तमें

धम्मेत अहमे बुत्ते काही तीत कतंसि त”

का —

‘दशेत्यादि’ अनुकम्पेत्यादि श्लोक सार्ध ‘अनुकम्प’ स्ति दानशब्दसम्यन्धाद-
 स्पया कृपया दान दीनानाय विषय मनुकम्पादान म्थवा अनुकम्पातो यद्दान तदनु
 नीचोपचारात् उक्तञ्च वाचक—सुर्यो [रुमास्वातिपूज्यपादै ‘कृपणेज्जायद्विद्रे
 ननशस्तेच रोगजोक्कहते यदीयते कृपार्थादनुकम्पा तद्दानम्’ समग्रण समग्र
 तनादौ सहाय करणं तदर्थं दान समग्रदानम् अथवा अभेदादानमपि समग्र उच्यत
 इच ‘अभ्युदये व्यसनेत्रा यत्किञ्चिदीयते महायार्थं तत्समग्रतोऽभिमत मुनिभिर्दान
 मोक्षाय” तथा भयादान भयदान भयनिमित्तत्वादानमपि भय उपचारात् । उक्तञ्च
 राजारक्षपुरोहित मधुसुरमावज्ज दण्डपाशितुच । यदीयते भयार्थात्तद्दानं बुधै-
 र्यमम्’ काकुणिगति कारण्य शोकस्तेन पुत्रादिवियोगनितेन तदीयस्यैव तत्पादे वा
 ज्ञानान्तरे सुरिनो भवत्विति वासनातोऽन्यथ वा यद्दान तत्कारण्य दानम् । कारण्य-
 जन्यत्वा दान मपि कारण्य मुक्त उपचारात् । तथा लज्जया हिया दानयद् तद्दानं
 मुच्यते उक्तञ्च ‘अभ्यर्थित पणेतु यद्दान जनसमूहमध्य गत परचित्त रक्षणार्थं लज्जाया-
 त्तद्दानम्’ ‘गार्वेणसि गौर्वेण गौरेण यदीयते तद्गौर्वदानम्’ उक्तञ्च “नट नर्तक मुष्टि-
 केभ्यो दान सम्पन्धि बन्धु मित्रेभ्य यदीयते यद्रोऽर्ण गौरेण तद्दानम्” अधर्मपौषक
 दानधर्मदानम् अधर्मकारणाद्वा अधर्म एवेति उक्तञ्च । ‘हिसानूत चौर्यौचित परदार परि-
 ग्रह प्रसक्तेभ्य यदीयतेहि तथा तज्जानीयाधर्माय’ धर्मकारणम् यत्तद्दानं धर्मपयसा
 उक्तञ्च—‘समगृण मणि मुक्तभ्यो यद्दान दीयते सुपात्रेभ्य अक्षयमनुल मर्तत तद्दान
 भवति धर्माय’ कर्ण्यति वञ्चनोपकार ममाद्यमिति बुद्ध्या यद्दान तत्करिष्यतानि दान
 मुच्यते तथा कृत ममानेन तत्प्रयोजन मिति प्रत्युपकारार्थं यद्दानं तत्कृत मिति । उक्तञ्च
 ‘शतश घृणोपकारो दत्तञ्च सहस्रशो ममानेन अहमपि ददामि किञ्चित्प्रत्युपकाराय
 तद्दानम् ।

अथ —

दान दश प्रकारके हैं (१) अनुकम्पा दान (२) समग्र दान (३) भय दान (४)
 कारण्य दान (५) लज्जादान (६) गौर्व दान (७) अधर्म दान (८) धर्म दान (९) धर्म-
 न्यति दान (१०) कृत दान । यह मूलार्थ है । टीकाका अर्थ निम्नलिखित है—

मूलार्थायें यद्यपि अनुकम्पा और समग्र आदि शब्दोंर आग दान शब्द नहीं
 आया है तथापि मायाके पूर्वमे पठित वाक्यस दान शब्दस सम्यन्ध वञ्क अनुकम्पादा
 समग्र दान इत्यादि इन शब्दोंका नाम जानना चाहिये । अथवा अनुकम्पा मे जो दान
 दिया जाता है उपचारेमे वह अनुकम्पा ही कहा जाता है । वाचक सुगम उमा आदि

कहा है कि कृपण, अनाथ, दगिद्र, दुखी और रोग शोकसे पीड़ित जीव को अनुग्रह करके जो दान दिया जाता है उसे 'अनुकम्पा' या 'अनुकम्पादान' कहते हैं। दुसाख को सहायता देनेका नाम 'संमद' है उसके निमित्त जो दान दिया जाता है उसे संमददान कहते हैं। पूज्यपाद उमा स्वातिने कहा है कि अभ्युदय (दुशी) या लक्ष्मी होने पर सहायताके लिये जो दान दिया जाता है उसे मुनि लोग संमददान कहते हैं। दान मोक्षके लिये नहीं होता। जो दान भयसे दिया जाता है वह 'भय' या भयदान कहलाता है। राजा महाराजा कोटवाल आदिको भयके कारण दान देना 'भयदान' है। जो दान करुणा (शोक) से दिया जाता है वह कारुण्य या कारुण्यदान कहलाता है। जो आदिके मरने पर उस पुत्रको परलोकमें सुखी होनेके भावसे उसके खाट आदिको दान देना 'कारुण्य-दान' समझना चाहिये। जो दान लज्जाके कारण दिया जाता है वह लज्जादान कहलाता है। सभा आदिमें बैठे हुए पुरुषसे कोई वस्तु मागने पर वह पुरुष लज्जाकर पगथेका चित्त भङ्ग न होनेके लिये जो दान देता है वह लज्जादान कहलाता है। नाचने गाने वाले मल्लयुद्ध करनेवाले और अपने सम्बन्धी बन्धु बान्धव, और मित्र आदिको कीर्ति के लिये जो दान दिया जाता है उसे गौरवदान कहते हैं यह दान गर्वसे दिया जाता है इस लिये इसका गौरवदान नाम रखा है। जो दान अघर्मके लिये दिया जाता है वह अघर्मदान कहलाता है। हिंसा झूठ चोरी और पत्नी सेवन करनेवालोंको हिंसा झूठ चोरी और आरोग्य सहायता देनेके लिये जो दान दिया जाता है वह 'अघर्मदान' है। धर्मके लिये दान देना धर्मदान है। नृण मणि और मुक्ताको समान समझने वाले सुपात्रको जो दान दिया जाता है वह धर्मदान है यह दान अक्षय अतुल्य और अनन्त होता है। जो दान प्रत्युपकारकी आशासे दिया जाता है उसे 'करिष्यति इति दान' कहते हैं। जो उपकारक वदला चुकानेके लिये उपकारीको दान दिया जाता है वह कृत दान कहलाता है। इससे बड़ा मेरे उपकार किये हैं और हजारों बार मुझको दान दिये हैं अतः इसे मे भी ! यह समझ कर जो दान दिया जाता है वह कृतदान समझना चाहिये। यह ऊपर लिखे हुई टीकाका भावार्थ है।

यह मूलपाठ और टीकामें हिंसा झूठ चोरी और आरोग्य के लिये जो दान दिया जाता है उसीको अघर्मदान कहा है इससे भिन्न दानोंको नहीं इस लिये धर्मदानको ओड कर जोष दानोंको अघर्मदानमें बनाना मूलपाठ और टीकासे विरुद्ध समझना चाहिये। जो लोग धर्मदानके सिवाय दूसरे दानोंको अघर्म तथा अकारण पापमें गतलाते हैं उनके हिसाबसे उपकारीको उपकारके बदलेमें कृतदान करना अघर्म और अकारण पाप ठहरता है और उपकारका वदला चुकानेवाला कृतज्ञ पुरुष अकारण पापी

म होता है इसके विपरीत उपकारीको उपकारका बदला न चुकाना धर्म और उपकार
न चुकानेवाला कृतघ्न पुरुष धार्मिक सिद्ध होता है परन्तु यह बात लोक और
स्व दोनों ही से विरुद्ध है शास्त्र और शिष्ट पुरुष कृतघ्नको पापी और कृतघ्नको धार्मिक
नहीं कह सकते यह तो जीतमलजोकी ही अलौकिक प्रतिभा है जो कृतघ्नको
पी और कृतघ्नको धार्मिक कायम करती है । वास्तवमें इन दश दानोंके गुणानुसार नाम
गये हैं इसलिये एक अधर्मदान ही अधर्म है उससे भिन्न गान अधर्मदान नहीं हैं
नामानुसार उनके गुण हैं भोगजोने भी इन दानोंके नाम गुण निष्पन्न कहें अतः
दानको छोड़ कर शेष नौही दानोंको अधर्मदानमें कायम करना अज्ञानका परिणाम है ।

(बोल दसवां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ७८ पर लिखते हैं—

‘एतन् दानं चारु विसामा वाहिरे ह । धर्मदानं विसामा माहि छै । एन्याय तो
बतुर हुवे सो ओ लखे इनके कहनेका तात्पर्य यह है कि गृहस्थ जीवोंको सावध कर्मों
का भार उतार कर विश्राम करनेके लिये चार स्थान बहे ह । वे ये हैं—बारह व्रत ग्रहण,
सामायक वशावकाशिक व्रत, पौषगोपवास और सयारा सल्लेखना द्वारा पण्डित मरण
प्राप्त करना, इन विश्राम स्थानोंमें एक धर्मदान ही शामिल होता है शेष नौ दान नहीं
होन अतः वे अधर्मदान हैं । इसका समाधान क्या है ?

(प्रहृषक)

जो क्रिया विश्राम स्थानसे बाहर है उसे एकान्त पापमें बनाना भूर्ता है क्योंकि
मिथ्यादृष्टियोंकी सभी क्रियाएँ विश्राम स्थानसे बाहर ही होती हैं तो भी वे अपनी
क्रियाओंसे पुण्य सचय करके स्वर्गगामी होत हैं यदि विश्राम स्थानसे बाहर की सभी
क्रियाएँ एकान्त पापमें होतीं तो मिथ्यादृष्टि विश्राम स्थानसे बाहरकी क्रिया करके उसके
द्वारा स्वर्गगामी क्यों होता ? क्योंकि ऊपर कहे हुए चार विश्राम स्थान सम्यक्दृष्टियोंके
हैं मिथ्यादृष्टियोंके नहीं यह बात निर्विवाद है ऐसी दृष्टिसे विश्राम स्थानसे बाहर की
क्रियाओंको एकान्त पापमें कायम करना भूर्ताके सिवाय और कुछ नहीं है ।

(बोल ग्यारहवां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ७८ पर लिखते हैं—‘अथ दश धर्म दश
रथविर कथा विण सावध निरवध ओल्लखणा, अन दश दान कथा ते विण सावध निगवध
पिडाणणा । धर्म अने रथविर कथा छै विण लोकिक् लोकोत्तर दोनू छै जिम जम्बद्वीप

पन्नत्तिमें तीन तीर्थ कहा मागध वरदाम प्रभाम पिण आदरवा योग्य नहीं तिम सावय स्थविग्, द न पिण आदरवा योग्य नहीं सावय छाडवा योग्य छै” इसका क्या (प्ररूपक)

ठ ठाण्ड सूत्र ठाणा दश का मूलपाठ लिख कर इस का समाधान किया जाता है।
ठाणाङ्ग सूत्र का मूलपाठ यह है—

“दसविहे धम्मे पन्नत्ते तंजहा—गामधम्मे, नगरधम्मे, धम्मे, पासंडधम्मे, कुलधम्मे, गणधम्मे, संघधम्मे, सुपधम्मे, चारि धम्मे अत्थिकायधम्मे”

(ठाणाङ्गठाणा १०)

टीका —

ग्रामा जनपदाभ्रया स्तेपा तेपुवा धर्मो सदाचारो व्यवस्थेति ग्राम धर्मो । स्वर्ग-
ग्राम भिन्न इति । अथवा ग्राम इन्द्रियग्रामो रूढे स्वद्धर्मो विषयाभिलाष । नगरधर्मो
नगराचार मोऽपि प्रतिनगरं भिन्न एव । गणधर्मो देशाचार पापण्डधर्मो पाखण्डिनामा
चार कुत्रधर्म उमादि कुलाचार । अथवा कुलं चान्द्रादिक माहृताना गच्छ समुत्पन्न
तस्यधर्म समाचारो । गणधर्मो मल्लादिगण व्यवस्था जैनानावा कुरसमुदायो गण के
कादि तद्धर्मस्तत्समाचार । श्रुतमेव आचारादिकं दुर्गति प्रपतज्जीव धारणाद्धर्म श्रुतधर्म
चयरिक्करणा चाग्नि तदेव धर्मश्चारित्रधर्म । अस्त्य प्रदेशा स्तेपा कायोराशि रक्षि-
काय स एव धर्मो गतिपर्यायि जीवपुद्गलयोर्धारणादस्तिकायधर्म ” ।

अर्थ

ग्रामस्थ जनताके आचार व्यवहार आदिकी व्यवस्थाका नाम ग्रामधर्म है
भिन्न भिन्न ग्रामों का भिन्न भिन्न होता है धर्म यानी विषयाभिलाष को ग्रामधर्म
कहते हैं ।

नगरमें रहने वाली जनताके आचार व्यवहारका नाम नगरधर्म है और देश
विदेश के आचार व्यवहारकी व्यवस्था को राष्ट्रधर्म कहते हैं । पाखण्डी यानी
धारियों के आचार व्यवहार की व्यवस्था का नाम पाखण्ड धर्म है । उम आदि ।

विषयाभिलाष इन्द्रियोके स्वभावका भी नाम है उसमें रागद्वेष करना कर्मवन्धका
कारण है अन्यथा नहीं इसलिये इसे एकान्त पापमें नहीं कह सकते । भीषणभीने भी
लिखा है । ‘कामने भोग शब्दादिक तेहथी रे समता नहीं पावे जीव लिगा रे । अस
मत्ता पिण नहीं पावेछे एहथीरे यहा सु मूल नहीं पावे जीव विकार रे । जो रागद्वेष आपने
त्या ऊपर रे ते ही विकार विषय कपाय रे ।’ (इन्द्रियादिकी ढाल)

व्यवहारकी व्यवस्थाको कुल धर्म कहते हैं, अथवा कुल नाम जैनोंके चान्द्रादिक है उस ही समाचारीको कुल धर्म कहते हैं । मल्लयुद्ध आदिसे अपनी जीविका वाले मनुष्योंके आचार व्यवहारकी व्यवस्थाका नाम गण धर्म है । अथवा कुल समुदाय कोटिकादिका नाम गण है उसके समाचारको गणधर्म कहते हैं । प्रादिके नियम और उपनियमोंको सङ्घर्ष कहते हैं अथवा जैनोंके साधु साध्वी और आचिकाओंके समूहका नाम सङ्घ है उसके धर्मको सङ्घधर्म कहते हैं । मैं पढ़ते हुए जीनोंको बचाने वाले आचाराङ्गादि बारह अङ्गोंका नाम श्रुत धर्म है । समूहको विनाश करनेवाले धर्मको चारित्र धर्म कहते हैं । अस्ति नाम प्रदेगोंका है । गणिको अस्तिकाय उम कहते हैं यह जीनोंको गति और पर्य्यायमें धारण करता है इसलिये इसे धर्म कहते हैं इसी तरह पञ्चास्ति कायका धर्म समझना चाहिये । यह ऊपर हुई टीकाका अर्थ है ।) R

यह मूलपाठ और टीकामें पहले पहल ग्राम धर्म कहा गया है यह ग्राम धर्म, प्रा-जननाको चोरी जारी हिंसा झूठ आदि बुराइयोंसे हटा कर मत्पथमें प्रवृत्त करता मयासियोंकी स्थिति रक्षा और उन्नति इसी ग्राम धर्म पर अवलम्बित है । जिसमें ग्रामधर्मका पालन नहीं होता उसका जीव ही अन्त हो जाता है इसलिये ग्रामधर्म जो एकान्त पाप कहता है उसे प्रथम श्रेणिका मूर्ख समझना चाहिये । जिससे चोरी झूठ हिंसा आदि पाप कर्म रुकें और जनता सदाचारिणी बने वह एकान्त कैसे हो सकता है ? इसी तरह नगरधर्म और राष्ट्रधर्म भी नगर तथा राष्ट्रमें रहने जनताको चोरी जारी हिंसा आदि पाप कर्मोंसे रोक कर सुमार्गमें प्रवृत्त करते हैं । बिना नगर और राष्ट्र सुव्यवस्थित नहीं रह सकते अतः इन धर्मोंको एकान्त पापमें अज्ञानका परिणाम है । जिससे चोरी जारी और हिंसा आदि एकान्त पापके रोक दिये जाते हैं वह एकान्त पाप कैसे हो सकता है यह बुद्धिमानोंको स्वयं सोच चाहिये ।

यदि कोई कहे कि “ये ग्रामधर्म आदि जनताके हितसाधक अग्रह्य हैं परन्तु मोक्ष सहायक नहीं हैं इसलिये ये लौकिक धर्म हैं लोकोत्तरधर्म नहीं हैं और लोकोत्तरधर्मस न सभी धर्म एकान्त पाप हैं तो यह मिथ्या है । ये ग्रामधर्मादि मोक्षक भी सहायक हैं कि श्रुत और चारित्रधर्मके पालनसे मोक्ष होता है और उनका पालन करनेवाले पुण नगर तथा राष्ट्रमें ही रहते हैं वे अपने श्रुत और चारित्र धर्मका पालन सभी कर ते हैं जो ग्राम नगर और राष्ट्रमें ग्रामधर्म नगरधर्म और राष्ट्रधर्मका पालन होता

हो । जहा उम्त धर्मों का पालन न होकर चोरी जारी हिंसा आदिका मात्रा स्थान पर चारित्र्यी पुरुषका चारित्र्य नहीं पल सकता । अतएव श्रुत तथा के पालन करने वाले पुरुषोंके ठाणाङ्ग सूत्रमें पांच सहायक बनाए हैं वह पाठ—

“धम्मं चरमाणस्स पंचणिस्सा ठाणा पण्णत्ता तंजहा गणे, राया, गिहपती, सरीरं”

(ठाणाङ्ग ठाणा ५)

अर्थात् श्रुत और चारित्र्य धर्मका पालन करने वाले पुरुषोंके पांच सहायक होते हैं—छ काया, गण, राजा, गृहपति और शरीर ।

यहा छ काय आदिके समान ही राजा भी श्रुत और माना गया है । यदि राजा न हो तो राष्ट्रमें शांति और सुव्यवस्था नहीं रह सकती तथा सुव्यवस्थाके बिना श्रुत और चारित्र्यधर्मका पालन नहीं हो सकता । ठाणाङ्गसूत्रमें श्रुत और चारित्र्यधर्मके पालनमें राजा भी सहायक माना गया है । जिस कारण राज्यमें शांति और सुव्यवस्थाके विधान करनेसे राजा, श्रुत और चारित्र्यधर्म में सहायक होता है उसी तरह ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म भी ग्राम वस्था कके श्रुत और चारित्र्य धर्मके पालनमें सहायक होते हैं अतः ये लौकिकधर्म पर भी परम्परासे मोक्षके साधक हैं इसलिये इन्हे एकान्त पापमें कहना अज्ञानियों का कार्य है ।

पापण्ड धर्म भी एकान्त पापमें नहीं है क्योंकि पापण्ड नाम धर्मका है और धारियोंके धर्मका नाम पापण्ड धर्म है-इसलिये यह भी एकान्त पापमें नहीं हो सकता । पर पापण्डियोंके धर्ममें भी कई उत्तम गुण होते हैं और उन उत्तम गुणोंके प्रभावसे पापण्ड भी स्वर्गगामी होते हैं इसलिये पर पापण्डियोंके धर्मको भी एकान्त पाप नहीं कह सकते इसी प्रकार कुल, गण और सङ्घधर्म भी एकान्त पापमें नहीं हैं । उक्त दश धर्म अपने अपने कार्यक्षेत्रमें अच्छे हैं कोई भी बुरा नहीं है इसलिये इन दशधर्मों में से कोई धर्मोंको एकान्त पापमें कायम करना अज्ञानका कार्य समझना चाहिये ।

इन दश विध धर्मों की व्यवस्था करनेवाले स्थविर भी दशप्रकारके बंधे गये हैं सभी अपने अपने कार्यक्षेत्रमें अच्छे हैं कोई भी एकान्त पापी नहीं है अतः कोई स्थविर को एकान्त पापी कहना भी अज्ञान है । इन स्थविरोंका स्वरूप ठाणाङ्ग सूत्रका सूत्र लिख कर बताया जाता है । वह पाठ—

“दशधेरा पन्नत्ता तंजहा—ग्रामधेरा, नगरधेरा, रद्वधेरा,
नगरधेरा, कुलधेरा, गणधेरा, संघधेरा, जाडधेरा, सुयधेरा,
पियधेरा ।

(ठागाङ्ग ठाणा १०)

“रथायपन्नि दुर्लभस्थित जन सन्मार्ग स्थायपन्नीनि स्थिरा तत्र ये प्रामनगर
व्यवस्थाकरिणो बुद्धिमन्न आदेया प्रभविगमन्ते तत्स्थिरा । प्रशामति शिश्न-
येते प्रशाला धर्मोपदेशकान्नेच ते स्थिरी कणास्थिराश्च प्रशालुस्थविग ।
म्य, गगस्य, सद्धस्यच लौकिकस्य लोकोत्तरस्यच व्यस्यकारिण स्तद्भङ्गुश्च निपा-
मनयोच्यन्ते । जानिस्थविग पन्निव जन्म पर्याया । धुनस्थविग समवायाद्यङ्ग-
ग पर्यायस्थविग विंशति वर्षे प्रज्या घन्नइति”

(कुमागम जाने वाले जनको जो सुमार्गम स्थापन करते हैं वे स्थवि कहलाते हैं ।
ग्राम, नगर और राष्ट्रकी व्यवस्था करने वाले बुद्धिमान भावचरन और प्रभावशाली
कमश ग्रामस्थवि, नगरस्थवि और राष्ट्रस्थवि कहलाते हैं । जो धर्मका उपदेश
जनताको धर्ममें स्थिर करते हैं वे ‘प्रशालु स्थवि’ कहलाते हैं । जो लौकिक और
लोकोत्तर दोनों प्रकारके कुल, गग और सद्धकी व्यवस्था करते हैं और उस व्यवस्थाके
करने वाले मनुष्यको युक्त उपयोगमें रोकते हैं वे कमश कुलस्थवि, गगस्थवि और
स्थवि कह जाते हैं वे लौकिक और लोकोत्तर दो प्रकारके होते हैं । जिसकी अवस्था
ठ बनेकी हो गई है वे जानिस्थवि कहलाते हैं, जो समवायादि अङ्गोंको धारण करते
हैं धुनस्थवि हैं जिनका प्रज्या काल बीस वर्षका हो गया है वे पर्याय स्थवि कह
लाते हैं ।)

यदि मूलपाठ और टीकामें ग्राम धर्म आदि दश प्रकारके धर्मों की व्यवस्था करने
के दश स्थवि कह गये हैं वे दश ही स्थवि जनताको दुर कर्मसे हटा कर सन्मार्गमें
रुत करते हैं इसलिए अपने अपने कार्यक्षेत्रमें वे सभी अच्छे हैं कोई भी एकातपापी
ही है । जिस ग्राम, नगर या राष्ट्रमें इनके स्थावर नहीं होत उनकी मुख्यवस्था नहीं हो
सक्ती और ग्राम नगर तथा राष्ट्रकी मुख्यवस्था हुए बिना वहाकी जनता सन्मार्गसे नहीं
ल सक्ती परन्तु ये ग्रामस्थवि आदि ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म आदिका नि-
ग करके वहा की जनताको कुमार्गमें रोक कर सन्मार्गसे चलते हैं और ग्राम नगर तथा
धर्ममें चोरी जागी झूठ हिंसा आदि पापोंका प्रचार रून्ड करते हैं अत इन स्थविरोको

जो एकान्त पापका कार्य करने वाला कहता है वह अवज्ञानी है जिनसे चोरी जारा की हिंसा आदि साव्य कर्मों का प्रचार बन्द होता है वे कदापि एकान्तपापी नहीं हो सकते। यदि कोई कहे कि ये स्थविर मोक्षमार्गिके सहायक नहीं हैं किन्तु लोकोत्तर स्थविरों को छोड़ कर बाकीके सब स्थविर सासारिक कार्यकी व्यवस्था करते हैं और सासारिक सभी कार्य बुरे हैं इसलिए उनके स्थविर भी एकान्त पाप करने वाले हैं तो वह भिन्न वादी है लौकिक स्थविर, जनताकी बुरी प्रवृत्तिको रोक कर उन्हें सन्मार्गमें स्थापन करे तथा ग्राम नगर आदिमें चोरी जारा हिंसा आदि एकान्त पापोंके प्रचारको बन्द करे हैं पर ग्राम नगर और गण्डूमें ज्ञान्ति स्थापित करके श्रुत और चाग्रि धर्मके पालन भी सहायता देते हैं। जिस ग्राम नगर या गण्डूमें ज्ञान्ति तथा सुव्यवस्था न हो वहाँ श्रुत और चाग्रि धर्मका पालन नहीं हो सकता इसलिए ये स्थविर मोक्षधर्मिके भी उपकारक हैं अतः लौकिक होनेसे इन्हें एकान्त पापमें कहना शास्त्र नहीं जाननेवालोंका कार्य है पूर्वोक्त दश स्थविर और दश धर्म सभी अपने अपने कार्यक्षेत्रमें अच्छे हैं कोई भ्रष्टा नहीं है इसी तरह दशविध दानोंमें भी अधर्म दानको छोड़ कर शेष अनुकम्पा दान भी एकान्त पापमें नहीं हैं किन्तु अनुकम्पा दानका फल अनुकम्पा और संभ्रम का फल दीन दुःखी आदिको सहायता देना एवं भय दान आदिका उनके नामानुसार है इसलिए धर्मदानको छोड़ कर बाकीके दान एकान्त पापमें नहीं हैं। अतः जो ग्राम आदि धर्म तथा ग्राम स्थविर आदि स्थविरों को अपने मनसे एकान्त पापमें ठहरा उनका दृष्टान्तमें अनुकम्पादान आदिको एकान्त पापमें कायम करता है उसे अवज्ञानि शिरोमणि समझना चाहिये ।

(बोल १२ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ७८ पर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा चौ का मूल लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अनेगने दीधा अनेगी प्रकृतिनो बन्ध कळो छै ते साधुथी अनेगो तो पुण तेहने “दीया अनेगी प्रकृतिनो बन्ध ते अनेगी प्रकृति पापनी छै” इनके कहनेका अर्थ यह है कि ठाणाङ्ग सूत्रमें कहे हुए नौ प्रकारके पुण्य साधुको देनेमें ही होते हैं दान देनेमें नहीं दानोंको दान देनेमें एकान्त पाप होता है क्योंकि साधुमें इतर सभी हैं। इसका क्या समाधान ?

(प्रत्यक्ष)

ठाणाङ्ग सूत्रका मूलपाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है। वह यह है —

“नवविहे पुण्णे पणत्ते तज्जहा—

अन्न पुण्णे, पाण पुण्णे, लेण पुण्णे, सयण पुण्णे, वत्थपुण्णे,
मन पुण्णे, वय पुण्णे, काय पुण्णे, नमोक्कार पुण्णे”

(ठाणाङ्ग ठाणा ९)

अर्थ —

पुण्य तो प्रकारके होते हैं अन्न दान देना, जल दान देना, घर मकान देना, शय्या सधारा ना, वस्त्र दान देना, गुग्गवान् पुरुष पर हर्षित रहना, वचनसे गुणवान्की प्रशंसा करना और गुणवान्को नमस्कार करना ।

यहां मूल पाठमें किसीका नाम निर्देश न करके साधारण रूपसे अन्न जल आदि दान देनेसे पुण्य उत्पन्न होना कहा गया है इसलिए हीन दीन जीवोंको दया लाकर दान देनेसे एकान्त पाप कहना मूर्खोंका कार्य है । कोई कहते हैं कि “साधुसे भिन्नको दान देनेसे यदि पुण्य होता है तो साधुसे भिन्नको नमस्कार करने और उसकी प्रशंसा करनेसे भी पुण्य होना चाहिए परन्तु साधुसे भिन्नको नमस्कार और प्रशंसा करनेसे पुण्य नहीं होता अतः साधुसे इतरको दान देनेसे भी पुण्य नहीं होता है” उनसे कहना चाहिए कि तुम्हारी यह कल्पना मिथ्या है साधुमें इतरको वन्दन नमस्कार करने और प्रशंसा करनेसे भी पुण्य होता है परन्तु जिसको वन्दन नमस्कार तथा प्रशंसा की जाय वह पुरुष गुणवान् होना चाहिए जैसे कि टीकाकारने लिखा है —“मनसा गुणिषु तोषाद्वाचा प्रशमनात्कथनेन पुण्युपासनात्तन्मस्काराच्च यत्पुण्यन्तन्मन पुण्यादीनि” अर्थात् गुणवान् पुरुषोंपर मनमें प्रसन्नता लाने और वचनसे उनकी प्रशंसा करने और शरीरसे उनकी सेवाशुश्रूषा करने तथा उनको नमस्कार करनेसे जो पुण्य होता है उस प्रमाण मन पुण्य वचन पुण्य कायपुण्य और नमस्कार पुण्य कहते हैं ।

यहां टीकाकारने गुणवान् पुरुषमें प्रसन्नता लाने उनकी प्रशंसा आदि करनेसे पुण्य उत्पन्न होता है कहा है केवल साधुको ही नमस्कार आदि करनेसे पुण्य उत्पन्न होना नहीं कहा इसलिए साधुसे इतर सभीको वन्दन नमस्कार आदि करनेसे पाप बनलाना मिथ्या है । जिस प्रकार साधुमें इतर गुणवान् पुरुषको वन्दन नमस्कार और सेवा शुश्रूषा आदि करनेसे पुण्य होता है उसी तरह साधुसे इतर हीन दीन जीवोंपर अनुरूप फलके दान देनेसे भी पुण्य होता है अतः हीन दीन जीवोंपर दया लाकर दान देनेसे जो एकान्त पाप बनलात है वे मिथ्यावादी हैं ।

यदि कोई कहे कि “ऊपर लिखी हुई टीकामें जो “गुणिषु” यह पद आया है उसका साधु अर्थ है क्योंकि गुणवान् साधु ही होते हैं इसलिए उक्त टीकामें साधुको ही

वन्दन नमस्कार और सेवा शुश्रूषा करनेमें पुण्यवन्ध होना कष्ट है अन्यको वन्दन नमस्कार आदि करनेसे नहीं” तो उससे कहना चाहिये कि टीकाकारको यदि यही इष्ट हो तो “गुणिषु” के स्थानमें “साधुषु” ऐसा लिखने परन्तु यह नहीं लिख कर जो “गुणिषु” यह पद दिया है इससे सभी गुणियोंके प्रहम करनेका आशय है केवल साधुको ही नहीं तथा साधु ही गुणवान् होते हैं यह भी मिथ्या है साधुसे इतर भी गुणवान् कहे गए हैं ठाणाङ्ग सूत्रकी टीकामें सद्द शब्दका अर्थ करते हुए टीकाकारने लिखा है कि “सर्व गुण रत्न पात्र भूत सत्त्व समूह अर्थात् गुणरूपी जनोंके पात्र भूत जीवोंके समूहका नाम सच है उस मन्त्रमें केवल साधु ही नहीं किन्तु श्रावक श्राविका भी मौजूद रहते हैं इस लिए साधुसे इतर भी गुणवान् होते हैं उन सभी गुणवान् पुरुषोंका प्रहम करनेके लिए ऊपर लिखी हुई टीकामें ‘गुणिषु’ यह पद आया है अतः उक्त टीकामें “गुणिषु” इस पदका अर्थ केवल साधु बनलाना मिथ्या है ।

साधुसे इतरकी प्रशंसा करनेसे भी ठाणाङ्ग सूत्रमें पुण्यवन्ध होता कहा है वह पाठ यह है —

“पंचहि ठाणेहि जीवा सुलभ बोधियत्ताए कम्मं पकरे नि तंजहा—अरिहंताणं वन्नं वदमाणे जाव विचक्क तव वंभवेराण देवाणं धन्नं वदमाणे ”

(ठाणाङ्ग ठाणा ९)

अर्थात् पांच कारणोंसे जीव सुलभ बोधी कर्म बाधते हैं अरिहन्तोंकी प्रशंसा करनेसे, अरिहन्त भाषित धर्मकी प्रशंसा करनेसे आचार्य्य और उपाध्यायकी प्रशंसा करनेसे, साधु साध्वी श्रावक और श्राविकाओंके समूह की प्रशंसा करनेसे, तथा उत्तम श्रेणिका ब्रह्मचर्य्य धारण करने वाले देवताओंकी प्रशंसा करनेसे ।

यहां मूल पाठमें उत्तम श्रेणिका ब्रह्मचर्य्य धारण करने वाले देवताकी प्रशंसा करने से सुलभ बोधी कर्मका वन्ध होना कहा है अतः साधुसे इतरकी प्रशंसा करनेमें एकान्त पाप कहना मिथ्या है । जिस प्रकार साधुसे इतर परिषद ब्रह्मचर्य्य वाले देवताकी प्रशंसा करनेसे पुण्यवन्ध होता है उसी तरह साधुसे इतर गुणी पुरुषकी वन्दना नमस्कार सेवा शुश्रूषा करनेसे और हीन दीन दुःखीको अनुकम्पा दान देनेसे पुण्यवन्ध होता है यदि साधुसे इतरको दान देनेसे पुण्यवन्ध न हो तो फिर साधुसे इतर परिषद ब्रह्मचर्य्य वाले देवताकी प्रशंसा करनेसे भी पुण्यवन्ध न होना चाहिये इसलिए साधुसे इतरको दान वन्दन नमस्कार करनेमें एकान्त पाप कहना मिथ्या है ।

छोटे साधु बड़े साधुको छोटे श्रावक बड़े श्रावकको छोटा भाई र बड़े भाईको पुत्र अपने पिता पिता आदि गुरु जनाको जो वन्दन नमस्कार करते हैं उन सभीसे पुण्य ही होता एकान्त पाप नहीं होना कोई कोई कहते हैं कि हीन दीन दु ग्रीको अनुकम्पा दान नैम यदि पुण्य होता है तो उसको नमस्कार करनेमें भी पुण्य होना चाहिए, उनसे ज्ञाना चाहिए कि अनुकम्पा, छोटे र बड़े सब पर की जानी है पर वन्दन नमस्कार अपने श्रेष्ठको ही किया जाना है । सबको नहीं । दीन दीन दु री अनुकम्पा करनेके पात्र पर श्रेष्ठ न होनेके कारण नमस्कार करनेके पात्र नहीं हैं इसलिए उनकी अनुकम्पा जिन देनेसे पुण्य होता है पर नमस्कार करनेमें नहीं इस प्रकार ज्ञानके स्पष्ट होनेपर भी बड़े कुतूहलको सहायतासे अनुकम्पा दान देने और साधुमें इतर माता पिता श्रेष्ठ श्रावक आदिको नमस्कार करनेमें एकान्त पाप कहना अज्ञानियोंका कार्य है ।

कोई कोई कहते हैं कि “साधुमें इतरको दान देनेसे यदि पुण्य होता है तो कमाई को थका मारनेके लिये, चोर को चोरी फगनेके लिये, बेश्याको व्यभिचार सत्रन फगने के लिये दान देनेसे भी पुण्य होना चाहिये ” उनमें कहना चाहिए कि चोरी हिंसा और व्यभिचार सत्रनार्थ चोर, हिंसक और बेश्या आदिको दान देना अधर्म दान है और दाना भी यह दान एकान्त पापके भावमें देना है अतः इसमें एकान्त पाप ही होता है पुण्य नहीं होता जो दान पुण्याथ दिया जाता है उसीसे पुण्य उत्पन्न होता है और उसी दानका ठाणाङ्ग सूत्रके नवमे ठाणमें कथन हुआ है अतः जो दान पुण्यके अर्थ हीन दीन दु री जीर्ण पर दया लाकर दिया जाता है उसीसे पुण्य होता है चोर, हिंसक, बेश्या आदिको चोरी हिंसा और व्यभिचारार्थ दिया जानेवाला दानसे नहीं अतः चोरी हिंसा और व्यभिचारार्थ चोर हिंसक और बेश्याको दिये जानेवाले दानके समान ही अनुकम्पा दानको भी एकान्त पापमें ठहराना अज्ञानियोंका कार्य है ।

[बोल १३ वां समाप्त]

(प्रेरक)

आपके कथनसे ज्ञात हुआ कि ठाणाङ्ग सुत्रोक्त नवविध पुण्य करल साधुको ही दान देनेसे नहीं साधुमें इतरको देनेसे भी होत है परन्तु ठाणाङ्ग सूत्रके उक्त पाठके नीचे जीतमलज्जिने टब्बा अर्थ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखा है कि “अने जे टब्बामें कसो पात्रने विषे जे अन्नआदिकनो देवो ते हथकी तीर्थ फरादिक पुण्य प्रकृति नो वन्त तो आदि शब्दमें नो बेयाली सुई पुण्य प्रकृति आई ” फिर आगे चल कर लिखा है “बलीकाई पुण्य नो प्रकृति बाकी रही नहीं अनेराने दीया अनेगे प्रकृतिनो वन्त त अनेरी प्रकृति पाप नीछे ” (अ० पृ० ७९)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वसन कारने जो टब्बा अर्थ लिया है वह अपूर्ण है भीषणजीके जन्म पहलेके घने हुए टब्बा अर्थमें उक्त मूल पाठका अर्थ इस प्रकार किया है “पात्रन भिन्न अन्नादिक दीजे तेथकी तीर्थ कर नामादिक पुण्य प्रकृतिनो वन्य तेहथकी अनगत देव ते अनेरी पुण्य प्रकृतिनो वध ” इस टब्बा अर्थमें साधुसे इतर जीवको दान देनेसे पुण्य प्रकृतिका वध होना स्पष्ट लिया है इसलिये भ्रमविध्वसनकारने इस टब्बा अर्थको छोड़ कर दूसरा अपूर्ण टब्बा अर्थ दिया है । वह टब्बा अर्थ भी साधुसे भिन्न हो गन दान से पाप होना नहीं बतलाता तथापि खींचातानी करके जीतमलजीने साधुसे इतरको दान देनेमें एकान्त पाप सिद्ध करनेकी चेष्टा की है इनके लिये हुए टब्बा अर्थमें लिया है “अनेग ने देव ते अनेरी प्रकृतिनो वध ” इसमें “अनेरी प्रकृतिनो वध ” यह लिया है “पाप प्रकृतिनो वध ” यह नहीं लिया है और अनेरी प्रकृति, तीर्थ कर नामादिक पुण्य प्रकृतिमें भिन्न पुण्य भी हो सकता है इसलिए अनेरी प्रकृतिका तात्पर्य पापकी प्रकृति बतलाना दुरामहका परिणाम है । अनेरी प्रकृतिको पापकी प्रकृति मिद्ध करनेके लिये भ्रमविध्वसनकार जो यह लिखने के कि “जिम ऋषमादिक कहिवे चौनीसुई तीर्थ का आया, प्राणातिपातादिक कहिवे अठारह पाप आया, मिथ्यात्वादिक आखर कहिव पाच आखर आया तिम तीर्थ करगदिक पुण्य प्रकृति कहिवे सर्व पुण्यनी प्रकृति आई वली काइ पुण्यनी प्रकृति वाकी रही नहीं ” यह इनका कथन भी अयुक्त है । ऋष-देवजी सत्र तीर्थ करोसे प्रथम हैं, गौतम स्वामी महावीर स्वामीके सभी साधुओंमें आदि हैं, अठारह पापोंमें सत्रसे प्रथम प्राणातिपात है, आखरोमें मिथ्यात्व ही पहला आखर है इसलिये ऋषमादि तीर्थ कर करनेसे चौनीस ही तीर्थ करका, गौतमादि साधु करनेसे सभी साधुओंका, प्राणाति पातादि पाप करनेसे सभी पापोंका और मिथ्यात्व आखर करनेसे सभी आखरोंका प्रदग् होता होता है परन्तु तीर्थ करगदि पुण्य प्रकृति करनेसे सभी पुण्य प्रकृतिओंका प्रदग् नहीं हो सकता क्योंकि तीर्थ कर नामकी पुण्य प्रकृति वेयालीस पुण्य प्रकृतियोंके अन्तमें है आदिमें नहीं है इसलिये जैसे सत्र तीर्थ-करोंके अन्तमें होनेके कारण महावीरादि तीर्थ कर करनेसे सभी तीर्थकरोंका प्रदग् नहीं हो सकता उसी तरह सभी पुण्य प्रकृतियोंके अन्तमें होनेके कारण तीर्थ करगदि पुण्य प्रकृति करनेसे वेयालीस ही पुण्य प्रकृतियोंका प्रदग् नहीं हो सकता । शास्त्रकी टीकाकनुसार तीर्थ कर नामकी पुण्य प्रकृति सबसे अन्तमें है आदिमें नहीं है यह टीका

“सायं १ उच्चागोयं २ भर ३ तिरि ४ देवाड ५ नाम एयाड
मनुपदुगं ७ देव दुगं ९ पञ्चेन्दिय जाइ १० तणुपणगं १५ अद्दो-
ग तिथपिय १८ संघयणं वज्जरिसहनाराय १० पढम चिय संठाणं
न्नाइ चउक्क सुपसत्थं । अणुक्कल्लु २५ पराघायं २६ उस्सासं
७ आयबं २८ उज्जोयं २९ सुपसत्था विहयगइ ३० तसाइ सद-
ब ४० णिम्माणं तिथयरेणं सहिया वयाला पुण्ण पगइओ ”

(ठाणाङ्ग टीका)

इस गाथामे वेयालीस पुण्य प्रकृतियोंका क्रमशः वर्णन करते हुए सबसे पहले
सातावेदनीय पुण्य प्रकृतिका नाम आया है और समीके अन्तमें तीर्थ का नाम पुण्य प्रकृति
ही गई है अतः सातावेदनीयादि पुण्य प्रकृति कहनेसे वेयालीस ही पुण्य प्रकृतिका ग्रहण
ही सकता है किन्तु तीर्थ करादि पुण्य प्रकृति कहनेसे नहीं । ऊपर लिखी हुई गाथामे पुण्य
प्रकृतियोंका जो क्रम बतलाया है वही क्रम भीषणजीने भी स्वीकार किया है “नव सत्ताव
पदार्थ निर्णय” नामक पुस्तकमें पुण्यकी ढालमें भीषणजीने वेयालीस पुण्य प्रकृतियोंका
ही क्रमसे वर्णन किया है । सर्वप्रथम सातावेदनीयको, और मन्से अन्तमें तीर्थ कर नाम
की पुण्य प्रकृतिको भीषणजीने माना है अतः उपरोक्त टीकामे जो वेयालीस पुण्य प्रकृ-
तियोंका क्रम बतलाया है वह जीतमलजीको भी मान्य है । जब कि तीर्थ कर नामकी
पुण्य प्रकृति सबसे अन्तमें मानी जाती है तब तीर्थ करादि पुण्य प्रकृति कहनेसे सभी
पुण्य प्रकृतियोंका ग्रहण कैसे हो सकता है ? अतः तीर्थ करादि पुण्य प्रकृतिसे सभी पुण्य
प्रकृतियोंका ग्रहण बतलाना मिथ्या है । यदि कोई पूछे कि तीर्थ कर नामकी पुण्य
प्रकृति ज्ञान कि वेयालीसही पुण्य प्रकृतिके अन्तमें है तब फिर तीर्थ करादि पुण्य प्रकृति
कहनेका यहा क्या तात्पर्य है ? तो उससे कहना चाहिये कि तीर्थ करादि शब्दके आदि
शब्दका यहा सादृश्य अर्थ है प्रायम्य अर्थ नहीं इसलिये तीर्थ कर नामकी पुण्य प्रकृतिके
सादृश्य विशिष्ट पुण्य प्रकृतियोंका ग्रहण करनेके लिये यहा आदि शब्द टीका और टब्बामें
आया है । आदि शब्दका सादृश्य अर्थ भी पूर्वाचार्यों ने कहा है जैसे कि —

“सामीप्येच व्यवस्थाया प्रकारेऽवयवे तथा

चतुर्ध्वये पु मेधामी ह्यादि शब्दतु लभ्येत ।

अर्थात् आदि शब्दके चार अर्थ पण्डितोंको जानने चाहिये, [१] सामीप्य [२]
व्यवस्था [३] प्रकार (सादृश्य) [४] और अवयव ।

- इस पद्यके अनुसार भ्रमविध्वंसनकारके लिखे हुए टब्बा अथवा तात्पर्य " कि पात्रको दान देनेसे तीर्थ कर नामके सदृश उच्च पुण्य प्रकृतिका वध होता है और उसे देनेसे दूसरी पुण्य प्रकृति वधती है, यह नहीं कि सभी पुण्य प्रकृति पात्रको ही देनेसे वधें और दूसरेको दान देनेसे एकान्त पाप हो अतः उक्त टब्बा अर्थके साधुसे भिन्नको दान देनेसे एकान्त पाप कहना अज्ञानका परिणाम है ।

ऊपर लिखा हुआ ठाणाङ्ग सूत्रका 'नवविदे पुण्णे पण्णत्ते' इत्यादि पाठ, पुण्य वर्णन करनेके लिये आया है पापका वर्णनके लिये नहीं इसलिये इस पाठमें पापका वर्णन चताना - मिथ्या है । जब कि इस पाठमें पापका वर्णन नहीं है पुण्यका ही वर्णन है फिर इसका अर्थ करते हुए टब्बाकार साधुसे इतरको दान देनेसे पाप होना कैसे बतल सकते हैं ? यह बुद्धिमानोंको स्वयं सोच देना चाहिये ।

(बोल चौदहवां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ७९ पर लिखते हैं कि "अने भगवन्तों साधुने कल्पे तेहिज द्रव्य कहा छै अनेराने दिया पुण्य हुवे तो गाय पुण्णे भैंस पुण्णे हंज्यो पुण्णे खेती पुण्णे इत्यादिक बोल आणतां ते तो आण्यो नहीं" इनके कहने का तात्पर्य यह है कि ठाणाङ्गके उक्त पाठमें साधुके लेने योग्य वस्तुका ही नाम लेकर पुण्य होना कहा है जो साधुके लेने योग्य चीज नहीं है उसके दान करनेसे पुण्य होता नहीं कहा है इसलिये इस पाठमें साधुको दान देनेसे ही पुण्यबन्ध बताया है साधुसे इतरको दान देनेसे नहीं इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वंसनकारकी यह कल्पना अयुक्त है । यदि साधुके कल्पनेयोग्य वस्तुओंका ही कथन ठाणाङ्गके इस पाठमें है तो फिर 'सुई पुण्णे कत्तरनी पुण्णे भस्म पुण्णे' इत्यादि पाठ भी यहा होना चाहिये, क्योंकि साधुको सुई कत्तरनी अचित्त मिट्टीके ढेले और भस्म भी कल्पनीय होते हैं अतः इनके दान करनेसे भी पुण्य ही होता है पाप नहीं होता फिर ये सब इस पाठमें क्यों नहीं कहे गये ? इससे ज्ञात होता है कि यह पाठ केवल साधुके लिए ही नहीं किन्तु सभी प्राणियोंके लिये आया है और पुण्यके निमित्त दूसरे प्राणीको दान देनेसे भी पुण्य ही होता है एकांतपाप नहीं होता अतः केवल साधुको ही देनेसे पुण्य बन्ध मान कर साधुसे इतरको दान देनेसे एकान्त पाप कहना अज्ञान है । इस पाठमें जो नव बातोंसे पुण्य होना कहा है उसका तात्पर्य यह नहीं है कि इन नव

ने भिन्न वस्तु यदि पुण्य धर्म दो जाय तो उमम पुण्य नहीं होता क्योंकि पड़ोशरी
तरनी आदि देनेसे पुण्य होना इस पाठम नहीं कहा है पर उनके दानसे भी पुण्य ही
है तथापि इस पाठमें पुण्यक मुख्य २ कारण कहे गए हैं । गौतम रूप पुण्यका कथन यहां
इमलिये अन्न दानादिसे भिन्न वस्तु मोका दान भा यदि धर्मातिकूल हो तो वह
पापमे नहीं है । जैसे इस पाठमें नहीं लिखा हुई सुद्ध कनरनी अचित्त मिट्टीक डेले
आदि चीजोके दानसे पाप नहीं होता उसी तरह साधुसे इनरको पुण्यार्थ यदि धर्मा-
वस्तु दी जाय तो उससे भी एकान्त पाप नहीं होता । अतः 'अनेराने दिया पुण्य
तो गाय पुण्ये' इत्यादि भ्रमविध्यसनकारका तर्क अयुक्त समझना चाहिये ।

(बोल १५)

(पंक्त)

भ्रमविध्यसनकार साधुसे इतर सभीको कुपात्र मानते हैं । माता पिता ज्येष्ठ बंधु
गुरुजन भी इनके मनमे कुपात्र हैं उनको यदि धर्मातिकूल कोई वस्तु दी जाय तो
वेव्यसनकार कुपात्र दान ठहरा कर उसे एकान्त पाप कहते हैं । इनका सिद्धान्त है
वेदया हिंसक चोर आदिको व्यभिचार, हिंसा और चोरीके लिये दान देना जैसे
पाप है उसी तरह साधुसे इनरको दान देना एकान्त पाप है । भ्रमविध्यसन पृष्ठ
पर जीतमलजीने लिखा है कि "साधुथी अनेरी तो कुपात्र छै तेहने दीधा अनेरी
तेनो नन्य ते अनेरी प्रकृति पापनी छै" अर्थात् साधुमे इनर सभी कुपात्र हैं इनको
दाना कुपात्र दान है । कुपात्र दानका कठ जीतमलजीके सिद्धान्तानुसार बतलात हुए
पथ महाशयने अ० पृ० ८० पर यह लिखा है —

"कुपात्रदान, मासादिसेवन व्यसन कुशीलादिक ये तीनों एक ही मार्गके पथिक
जैसे चोर, जार, ठग ये समान व्यससायी हैं उसी तरह जयाचार्य्य सिद्धान्तानुसार
न दान भी मासादि सेवन व्यसन कुशीलादिकी श्रेणीमे ही गिनने योग्य हैं ।"

इसका क्या समाधान ?

(पंक्त)

साधुसे इनर सभीको कुपात्र कहना शास्त्र विरुद्ध है । कहीं भी साधुसे इनरको
नहीं कहा है । आबक साधुसे दान होता हुआ भी गुणरत्नका पात्र और तीथमे
गया है । भगवती सूत्र शतक २० उद्देशा ८ मे यह पाठ आया है —

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ८० के ऊपर लिखते हैं कि "अथ कोके गोशालाने पीठ फलक शय्या संधारा शकडाल पुत्र दिया तिहा धर्म तप नहीं भिन्न तो गोशाला तो तीर्थङ्कर वाजतोयो निणने दिया ही धर्म तप नहीं तो असंयतिने ति धर्म तप किम कहिए पुण्य पिण न श्रद्धावो पुण्य तो धर्म लारे वैधे छै शुभ योग छै निर्जरा बिना पुण्य निपजे नहीं ते माटे असंयतिने दिया धर्म पुण्य नहीं" (अ० पृ० ८१)

इकका क्या समाधान ?

(प्रत्युक्त)

भ्रमविध्वसनकारके मतसे पञ्च महाप्रवधारी साधुके सिवाय संसारके सभी जी कुपात्र हैं, उनको दान देना या किसी प्रकारसे उनकी सहायता करना इनके मतसे मास भोजन व्यसन कुशीलादिकी तरह एकान्त पापका कार्य है। भ्रमविध्वसन मूल लेख और उसकी टीप्पणी लिए कर यह कहा जा चुका है। इनका यह सिद्धान्त यदि शास्त्रानुसृत होता और शकडाल पुत्र आवक भी इसे मानता तो वह गोशाला जैसे असंयति और अन्य तीर्थियोंके गिरोमणिको शय्या संधारा देकर, मास भोजन और व्यसन कुशीलादिकी तरह एकान्त पापका कार्य क्यों करता ? क्योंकि इसके बिना शकडाल पुत्रका कोई आवश्यक कार्य नहीं रुका था। शकडाल पुत्र भी आनन्द आवक की तरह अभिप्रहारी वारह व्रतधारी आवक था यदि अन्य तीर्थीको दान देने आवश्यक अभिप्रह नष्ट हो जाता है और उसको मास भोजनादिकी तरह एकान्त पाप होता है तो फिर शकडाल पुत्रका अभिप्रह गोशालाको दान देने आवश्यक ही नष्ट हो जाना चाहिये था और उसे एकान्तपाप होना चाहिये था परन्तु ज्ञान में, गोशालाको दान देनेसे शकडाल पुत्रको एकान्त पाप होना या उसका अभिप्रह नष्ट जाना नहीं लिखा है अतः अन्य तीर्थीको दान देनेसे एकान्त पाप और अभिप्रह नष्ट स्थापना करना मिथ्या है। अन्य तीर्थीको गुरुबुद्धिसे मोक्षार्थ दान न देनेका ही आवक को अभिप्रह होता है अनुकम्पा लाकर हीन दीन दुःखीको दान देनेका नहीं होता तब प्रत्यक्ष प्रभावनाके अर्थ भी दान न देनेका अभिप्रह नहीं होता है। अतएव शकडाल पुत्र ने गोशालाको शय्या संधारा दिया था और इस कार्यसे उसको एकान्त पाप होने शास्त्रकारने भी नहीं कहा है किन्तु इस दानसे धर्म और तप न होनेका मूलपाठमें वर्णन है एकान्त पाप होनेका या, पुण्य न होनेका कथन नहीं है। वह मूलपाठ यह है—

तएणं से सदाळ पुत्ते समणो वासए गोशालं मंखलि पुत्तं
एवं वयासी जम्हाणं देवणुप्पिया ? तुम्हेमम धम्मा यरियस्स जा

व महावीरस्य सन्तेहिं तच्चेहिं तहिएहिं सन्नेहिं सच्चभूएहिं
वेहिं गुण कीर्त्तणं करेहिं तम्हाणं अहं तुम्हे पडिहारिएणं पोढ
व संधारएणं उवनिमंत्तेमि णो चेवणं धम्मोत्तिवा तवोतिवा ॥”

(उपासक दशाग अध्ययन ७)

अर्थ—

शक्रडाल पुत्र श्रावकने गोशालक मल्लिपुत्रसे यह कहा कि हे देवानुग्रिय ! तुमने हमारे
आचार्य यावत् महावीर स्वामीके विद्यमान और मत्स्यगुणाका कीर्त्तन किया है इमणिए मे
सो पीठ फलक शय्या सयारा आदि देनेके लिये निमन्त्रित करहता हूं परन्तु इसे धर्म या तप
मत्त कर नहीं ।

इस पाठमें शक्रडाल पुत्र श्रावक गोशालक मल्लिपुत्रको शय्या सयारा देनेसे
म और तप होनेका ही निषेध करता है पुण्य होनेका निषेध नहीं करता अथवा इस
नसे एकान्त पाप होना नहीं घतलाता इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि पञ्चमहा-
त धारी साधुसे इतरको दान देना एकान्त पाप नहीं है किन्तु उससे पुण्य भी होता है ।
दि साधुसे इतरको दान देनेसे एकान्त पाप होता तो उक्त मूल पाठमें गोशालकको दान
नेसे शक्रडाल पुत्र एकान्त पाप घतलाता सिर्फ धर्म और तपका निषेध ही नहीं करता
त शक्रडाल पुत्र श्रावकका नाम लेकर साधुसे इतरको दान देनेमें एकान्त पाप बताना
मथ्या समझना चाहिये ।

इस शक्रडाल पुत्रके उदाहरणसे प्रवचन प्रभावनाके लिए साधुसे इतरको दान
ना भी श्रावकोंका कर्त्तव्य सिद्ध होता है । शक्रडाल पुत्रने भगवान् महावीर स्वामीके
णानुवाद करनेसे गोशालकको शय्या सयारा देकर प्रवचनकी प्रभावना की थी । यह
वचनकी प्रभावना, तीर्थङ्कर गौतमन्यका कारण कही गयी है इसीलिये शक्रडाल पुत्रने
गोशालकको दान देनेसे पुण्यका निषेध नहीं किया है । जो लोग कहते हैं कि “पुण्य-
न्य निर्जराके साथ ही होता है इसलिए गोशालकको दान देनेसे शक्रडाल पुत्रको पुण्य
ो न हुआ ” वे मिथ्यावादी हैं शास्त्रमें निर्जराके साथ ही पुण्यन्य होनेका कहीं भी
यम नहीं है इसलिए प्रवचनकी प्रभावनाके लिये दान देनेसे पुण्यकी उत्पत्ति न मानना
ज्ञानका परिणाम है । उक्त शक्रडाल पुत्रके उदाहरणमें साधुसे इतरको दान देनेसे मास
पनादिकी तरह एकान्त पाप होनेका सिद्धान्त सर्वथा मिथ्या कायम होता है क्योंकि
धुसे इतरको दान देना यदि मासाहारादिके समान एकान्त पापका कार्य्य होता तो
डाल पुत्र कदापि गोशालकको शय्या सयारा नहीं देता अतः शक्रडाल पुत्रका नाम

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ८० के ऊपर लिखते हैं कि "अथ अङ्गि गोशालाने पीठ फलक शय्या संधारा शकडाल पुत्र दिया तिहा धर्म तप नहीं इति किं तो गोशाला तो तीर्थङ्कर वाजतोयो निणने दिया ही धर्म तप नहीं तो अमयतिनि धर्म तप किम कहिए पुण्य पिण न अद्रवो पुण्य तो धर्म लारे वैधे छै शुभ योग है निर्जरा बिना पुण्य निपजे नहीं ते माटे असंयतिने दिया धर्म पुण्य नहीं" (भ० पृ० ८१)

इकका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वंसनकारके मतमे पञ्च महाप्रवधारी साधुके सिवाय संसारके सभी जीव कुपात्र हैं, उनको दान देना या किसी प्रकारसे उनकी सहायता करना इनके मास भोजन व्यसन कुशीलादिकी तरह एकान्त पापका कार्य है। भ्रमविध्वंसन मूल लेख और उसकी टीप्पणी लिख कर यह कड़ा जा चुका है। इनका यह सिद्धन्त यदि शास्त्रानुकूल होता और शकडाल पुत्र आवक भी इसे मानता तो वह गोपाल जैसे अक्षयति और अन्य तीर्थियोंके शिरोमणिको शय्या संधारा वकर मान भोजन और व्यसन कुशीलादिकी तरह एकान्त पापका कार्य क्यों करता ? क्योंकि इसका शकडाल पुत्रका कोई आवश्यक कार्य नहीं रुका था। शकडाल पुत्र भी आनन्द की तरह अभिप्रहधारी बारह व्रतधारी आवक था यदि अन्य तीर्थीको दान देने आवश्यकता अभिप्रह नष्ट हो जाता है और उसको मास भोजनादिको एकान्त पाप होता है तो फिर शकडाल पुत्रका अभिप्रह गोशालाको दान देने अवश्य ही नष्ट हो जाना चाहिये था और उसे एकान्तपाप होना चाहिये था पन्तु इसमें, गोशालाको दान देनेसे शकडाल पुत्रको एकान्त पाप होना या उसका अभिप्रह जाना नहीं लिखा है अतः अन्य तीर्थीको दान देनेसे एकान्त पाप और अभिप्रह स्थापना करना मिथ्या है। अन्य तीर्थीको गुरुबुद्धिसे मोक्षार्थ दान न देनेका ही अर्थ अभिप्रह होता है अनुकम्पा लाकर हीन दीन दुःखीको दान देनेका नहीं होता तब प्रवचन प्रभावनाके अर्थ भी दान न देनेका अभिप्रह नहीं होता है। अतएव शकडाल ने गोशालाको शय्या संधारा दिया था और इस कार्यसे उसको एकान्त पाप होना शास्त्रकारने भी नहीं कड़ा है किन्तु इस दानसे धर्म और तप न होनेका मूलपाठ है कि एकान्त पाप होनेका या, पुण्य न होनेका कथन नहीं है। वह मूलपाठ यह है—

तएणं से सडाल पुत्ते समणो वासए गोसालं मंसलि पुत्तं
एवं वयासी जम्हाणं देवणुप्पिया ? तुम्हेमम धम्मा यरियस्स जाय

व महावीरस्य सन्तेहिं तच्चेहिं तहिएहिं सन्नेहिं सब्वभूएहिं
वेहिं गुण कीत्तणं करोहिं तम्हाणं अहं तुम्हे पडिहारिणं पीढ
व संधारणं उवनिमंत्तेमि णो चेवणं धम्मोत्तिवा तवोत्तिवा ॥

(उपासक दशम अध्यायन ७)

अर्थ—

शकडाल पुत्र थावकने गोशालक महलि पुत्रसे यह कहा कि हे देवानुप्रिय । तुमने हमारे
गैर्कार्य थावक महावीर स्वामीके विद्यमान और सत्यगुणोंका कीर्तन किया है इसलिए मे
ने पीढ कहकर दाया सधारा आदि देनेके लिये निमन्त्रित करहता हू परन्तु इसे धर्म या तप
कर नहीं ।

इस पाठमें शकडाल पुत्र थावक गोशालक मसलिपुत्रको शय्या सधारा देनेसे
और तप होनेका ही निषेध करता है पुण्य होनेका निषेध नहीं करता अथवा इस
पाठसे एकान्त पाप होना नहीं बतलाता इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि पञ्चमहा-
पुत्र धारी साधुसे इतरको दान देना एकान्त पाप नहीं है किन्तु उससे पुण्य भी होता है ।
यदि साधुसे इतरको दान देनेसे एकान्त पाप होता तो इस मूल पाठमें गोशालकको दान
देनेसे शकडाल पुत्र एकान्त पाप बतलाता सिर्फ धर्म और तपका निषेध ही नहीं करता
अतः शकडाल पुत्र थावकका नाम लेकर साधुसे इतरको दान देनेसे एकान्त पाप बताना
मिथ्या समझना चाहिये ।

इस शकडाल पुत्रके उदाहरणसे प्रवचन प्रभावनाके लिए साधुसे इतरको दान
देना भी थावकोंका कर्तव्य सिद्ध होता है । शकडाल पुत्रने भगवान् महावीर स्वामीके
शुणानुवाद करनेसे गोशालकको शय्या सधारा देकर प्रवचनकी प्रभावना की थी । यह
प्रवचनकी प्रभावना, तीर्थङ्कर गोत्रग्रन्थका कारण कही गयी है इसीलिये शकडाल पुत्रने
गोशालकको दान देनेसे पुण्यका निषेध नहीं किया है । जो लोग कहते हैं कि “पुण्य-
ग्रन्थ निर्जराक साथ ही होता है इसलिए गोशालकको दान देनेसे शकडाल पुत्रको पुण्य
भी न हुआ ” वे मिथ्यावादी हैं शास्त्रमें निर्जराके साथ ही पुण्यग्रन्थ होनेका कहीं भी
नियम नहीं है इसलिए प्रवचनकी प्रभावनाके लिये दान देनेसे पुण्यकी उत्पत्ति न मानना
भगवाणका परिणाम है । उक्त शकडाल पुत्रके उदाहरणसे साधुसे इतरको दान देनेसे मास
भोजनादिकी तरह एकान्त पाप होनेका सिद्धान्त सर्वथा मिथ्या कायम होता है क्योंकि
साधुसे इतरको दान देना यदि मासाहारादिके समान एकान्त पापका कार्य होता तो
शकडाल पुत्र कदापि गोशालकको शय्या सधारा नहीं देता अतः शकडाल पुत्रका नाम

लेकर साधुसे इतरके दानमे मासाहार व्यसन कुशीलादिकी तरह एकान्त पाप
अज्ञानका परिणाम है ।

[बोल १८ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ८२ के ऊपर विपाक सूत्रका मूल
कर उसकी साक्षीसे साधुसे इतरको दान देनेमें एकान्त पाप बतलाते हुए
हैं कि “ अथ इहा गोतम भगवन्तने पूढ्यो इण मृगा लोढे पूर्वे कईं कुर्म
दान दीया तेहना फल ए नरक समान दु स भोगवे छै । सो जो बोली कुपात्र
चौढे भारी कुर्म कछो छ कायारा शस्त्रते कुपात्र तेहने पोप्या धर्म पुण्य किम विपे
(भ्र० वि० ८२-८३)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

विपाक सूत्रके मूल पाठकी साक्षीसे हीन दीन दु री जीवपर दया
देनेमे एकान्त पाप बताना मिथ्या है । वहा गोतम स्वामीने महावीर स्वामीसे
कि “ हे भगवन् यह “ मृगालोढ ” (किंवा दच्चा) क्या देकर ऐसा नरक
दु स भोगता है ” इसका तात्पर्य यह है कि यह मृगा लोढ, किस चोर जार
आदि महारम्भी प्राणीको चोरी जारी हिंसा आदिके लिए दान देकर ऐसा दुःख
कर रहा है हीन दीन जीवोपर दया लाकर दान देनेसे दु स भोग पूछनेका तात्पर्य
यहा नहीं है क्योंकि जो दान मोक्षार्थ सयति पुरुषको दिया जाता है और जो अनु
लाकर हीन दीन जीवोको दिया जाता है उनसे दु ख भोग नहीं होता क्योंकि ये दान
पापके कारण नहीं हैं अतः विपाक सूत्रकी साक्षीसे हीन दीन दु री जीवोपर
लाकर दान देनेसे एकान्त पाप बताना मिथ्या है । विपाक सूत्रका पूरा पाठ देकर इसका
खुलासा किया जाता है वहपाठ यह है—

“ सेणं भन्ते ! पुरिसे पुब्बभवे के आसिं किं नाम एव
किं गोएवा कायरंसि गामंसिवा नयरंसिवाकिंवादच्चा किंवा भोका
किंवा समायरित्ता केसिंवा पुरा पोराणाणं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कणाणं
असुभाणं पावाणं कम्माणं पावगं फलवित्ति वित्तेसं पच्चणुभव माणे
जाव विहरइ ”

(विपाक सू ३० १)

अथार दे भगर । यह पुरुष, पूर्व जन्ममें फोन या इमका क्या नाम था और गोत्र क्या स ग्राम या नगरमें यह रहता था । क्या देकर, क्या खाकर, क्या आचरण करके और कितने नहीं हाटाए हुए निम्न निम्नित पुराने अशुभ कर्मके पाप स्वरूप फल विशेषको यह बताता है ?

इस पाठमें जैसे “किंवा भोचा ” और “किंवा समायरित्ता” ये दो पाठ अन्त्यादि भक्षण और हिंसादि आचरण अर्थमें आये हैं, दाल रोटी आदिका भोजन न्याय वृत्तिसे कुतुम्ब पालनादिके अर्थमें नहीं उसी तरह “किंवा दद्या ” यह पाठ चोर जाग हिंसक आदिको चोरी जारी हिंसा आदिके लिए दान देने अर्थमें ही आया अनुकम्पा लाकर हीन दीन जीवोंको दान देने अर्थमें नहीं इसलिए इस पाठके आश्रय अनुकम्पा दानका रखरखन करना अज्ञान है । यदि कोई “किंवा दद्या ” इस पाठसे अनुकम्पा दानका ग्रहण करके अनुकम्पा दानमें भी पाप बनाये तो फिर वह “किंवा दद्या ” इस पदसे साधु दानका ग्रहण करके उसे भी पाप क्यों नहीं बनछाना ?

यदि कहो कि पन्थ महाप्रतधारी साधुको दान देनेसे एकान्त पाप नहीं होता और उसका इस पाठमें ग्रहण नहीं है तो हीन दीन जीवोंपर दया लाकर दान देने से भी एकान्त पाप नहीं होना इसलिए उसका भी इस पाठमें ग्रहण नहीं है किन्तु जैसे महाप्रतधारीको मोक्षार्थ दान देना प्रशस्त है उसी तरह हीन दीन जीवोंपर दया लाकर दान देना भी अनुकम्पा रूप गुणका हेतु है अतः अनुकम्पा दानमें एकान्त पाप नहीं मूर्त्ति है ।

उच्चाकारने “किंवा दद्या ” इस पाठका कुपात्र दान अर्थ किया है कुपात्र दानका अर्थ, चोर जाग हिंसक आदिको चोरी जारी हिंसा आदिके लिये दान देना है अनुकम्पा लाकर हीन दीनको दान देना नहीं क्योंकि चोर जाग हिंसक आदि जीव ही कुपात्र हैं परित्यक्तकारकी कपोल करिपत परिभाषानुसार साधुमें इतना सभी कुपात्र नहीं हैं इसलिए उक्त उच्चाकारके अर्थानुसार भी हीनदीन जीवोंको अनुकम्पा दान देनेसे एकान्त पाप नहीं सिद्ध होता अतः उक्त उच्चा अर्थका आश्रय लेकर भी अनुकम्पा दानमें पाप मानना मिथ्या है ।

विपाक सूत्रका यह पाठ जो अभी लिखा गया है भ्रमविचर्चनकी पुरानी प्रतियोगिता छपा हुआ है उसमें “ किंवा भोचा किंवा समायरित्ता ” यह पाठ ही नहीं है और अरबन्त चोपडाकी छपाई हुई नयी प्रतियोगिता भी यह पाठ व्युत्क्रमसे लिखा है । विपाक सूत्रकी शुद्ध प्रतियोगितामें सर्वत्र “किंवा दद्या किंवा भोचा किंवा समायरित्ता ” ये पाठ साथ

ही मिलते हैं और होना भी ऐसा ही चाहिए परन्तु भ्रमविध्वंसनकी नई प्रतिमें "किं भोच्चा किंवा समायरित्ता" यह पाठ "किंवा इच्चा" के अनन्तर न होकर माने "इमं शब्दके अनन्तर आया है इस प्रकार क्रम विरुद्ध पाठ देनेका तात्पर्य है यह भ्रमविध्वंसनकारके मतानुयायी साधु जानें परन्तु प्रत्युत्तर दीपिकामें जो पुनः भ्रमविध्वंसनमें लिखे हुए पाठके सम्बन्धमें बात कही हुई है वह अक्षरशः सत्य है। तक प्रतीत होता है कि प्रत्युत्तर दीपिकाकी सच्ची बातको मिथ्या सिद्ध करनेके लिए नए भ्र० वि० में "किंवा भोच्चा किंवा समायरित्ता" यह पाठ यथास्थान नए व्युत्क्रममें दिया गया है। पुनः भ्रमविध्वंसनमें छपे हुए पाठके देखनेसे पाठकों अपने आप ज्ञात हो सकती है कि प्रत्युत्तर दीपिकाकी बात सत्य है या भ्र० वि० संशोधक महाशय की।

(बोल १९ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ८३ के ऊपर उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन की चौनीसवीं गाथाको लिख कर बतलाते हैं कि "इस गाथामें ब्राह्मणोंको पापकारी क्षेत्र कहा है। जय ब्राह्मण भी पापकारी क्षेत्र हैं तो दूसरे छोड़ोंकी तो बात ही क्या है। साधुमें इतर सभी जीव कुपात्र हैं उनको दान देनेसे धर्म पुण्य कैसे हो सकता है जैसे कि उन्होंने लिखा है—

"अथ अथे ब्राह्मणाने पापकारी क्षेत्र कहा तो बीजानो स्यू कहियो" (भ्र० पृ० ८३) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन सूत्रकी वह गाथा लिख कर इसका समाधान किया जाता है गाथा यह है —

"कोहो य माणोय वहो य जेसिं मोसं अदत्तं च परिगहं ।
ते माहणा जाइ विज्जा विहोणा ताहं तु खेत्ताइं सुपावणाइं"

(उत्तराध्ययन आ० १२ गाथा १४)

टीकानुसार इस गाथाका अर्थ किया जाता है ।

जो ब्राह्मण, क्रोधी, मानो, मयावी और छोभी है, जो हिंसा झूठ चोरी और परिग्रह सेवा हैं ये जाति और विषयमें विद्वान् पापकारी क्षेत्र हैं। गुण और कर्मके अनुसार चारों वर्गों में हैं। कदा भी है —

“ एक वर्ण मिद सर्वं पूवमासी शु धिष्ठिर । क्रिया कर्म विभागोन चातुर्वर्ण्यं व्यव-
हृत् ॥ ”

“ ब्राह्मणो ब्रह्मचर्येण यथाशिक्षणं शिष्टिपक ।

अन्यथा नाम मात्र स्यादिन्द्र गोपकं क्रीडन् ॥ ” ✓

अर्थात् “ हे युधिष्ठिर ! पहले सभी लोग एक वर्णके थे पीछेमें क्रमानुसार चार
वा की सृष्टि हुई ।

जैसे शिल्प कर्म करनेवाला शिल्पी हुआ उसी तरह ब्रह्मचर्य धारण करनेवाला
एक ब्राह्मण हुआ । जो ब्रह्मचर्य वाग नही करता वह “ इन्द्र गोप ” क्रीडकी तरह
मात्रका ब्राह्मण है ” ऐसे नामधारी ब्राह्मणोंमें सन् शास्त्ररूपा विद्या नहीं होती ।
सभी शास्त्रोंमें अहिंसा और सत्य आदिका ही विधान पाया जाना है । कहा भी है —

“ अहिंसा सत्य मस्तेय त्यागो मैथुन वर्जनम्

पञ्चैतानि पवित्राणि सर्वेषां ब्रह्मचारिणाम् ” ✓

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिमह, और मैथुन वर्जन, ये पांच सभी ब्रह्मचारि-
योंके लिए पवित्र हैं । इनका सेवन करना ही त्रिशा पढ़नेका फल है जो शास्त्र पढ़ कर
भी इनका सेवन नहीं करके क्रोध, मान, माया, लोभ, हिंसा, जड, चोरी, परिग्रह, और
मैथुनादि कार्योंमें रत है वह वास्तवमें विद्या विहीन है । कहा भी है—

“ तद् ज्ञानमेव नमवति यस्मिन्नुदिते विभाति राग गण ।

तमस कुतोऽस्ति शक्तिर्दिनकर किरणप्रत म्नातुम् ॥ ” ✓

अर्थात् जिस ज्ञानके उद्भूत होनेपर भी राग गण प्रकाश करते हैं वह ज्ञान ही नहीं
है क्योंकि सूर्यकी किरणोंक सामने ठहरनेके लिये अन्यकारकी शक्ति कहा है ? जिस
वस्तुमें प्रयोजनकी सिद्धि नहीं होती निश्चय तयके अनुसार वह कोई वस्तु ही नहीं है
अतः जो ब्राह्मण विद्या पढ़ कर भी चोगी जारी हिंसा आदि कुकर्म करते हैं वे न तो
वास्तविक ब्राह्मण हैं और न उनकी विद्या ही वास्तविक विद्या है किन्तु जाति और
विद्या दोनोंसे वे हीन हैं उन ब्राह्मणोंको पापकारी क्षेत्र समझना चाहिये । यह उक्त गाथा
का टीकानुसार भावार्थ है ।

इस गाथामें क्रोध, मान, माया, लोभ, व्यभिचारी, हिंसक, और चोर ब्राह्मणों
को पापकारी क्षेत्र कहा है जो उक्त दोष वर्जित ब्राह्मण हैं उनको नहीं अतः इस गाथा
का नाम लेकर ब्राह्मण मात्रको पापकारी क्षेत्र बनलाना भूगों का कार्य है । यदि ब्राह्मण
मात्रको पापकारी क्षेत्र बनलाना शास्त्रकारको इष्ट होता तो इस गाथामें शास्त्रकार ब्राह्मण

के विशेषण क्रोध मान आदि क्यों देते ? किन्तु उक्त विशेषण न लगा कर सीधा ही ब्राह्मण मात्रको पापकारी क्षेत्र कह देते परन्तु शास्त्रकारने क्रोधी मानी हिंसक आदि ब्राह्मणोंको ही पापकारी क्षेत्र कहा है और मनुजीने भी क्रोधी मानी हिंसक ब्राह्मणोंको पापी नग्न गामी और कुपात्र कहा है अतः ब्राह्मण मात्रको कुपात्र कहना उत्सूत्र भाष्य समझना चाहिये ।

वास्तवमें चाहे ब्राह्मण हो या और कोई हो जो चोरी जागी हिंसा आदि दुष्ट कर्म करता है वह कुपात्र तथा पापकारी क्षेत्र है उसको चोरी जागी आदि असत्कर्म करनेके लिये दान देना कुपात्र दान और एकान्त पाप है परन्तु जो उक्त दोषोंसे रहित है उसको सत्कर्म करनेके लिये दान देना और हीन दीन दुःखी जीवोंको अनुकम्पा दाँ देना एकान्त पाप नहीं है अतः उक्त गाथाका नाम लेकर अनुकम्पा दानका उपबन्धन करना अज्ञानियोंका कार्य्य समझना चाहिए ।

(बोल २० वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ८४ पर उपासक दशाङ्ग सूत्रका मूल पाठ लिख कर साधुसे इतरको दान देने वाले श्रावकको पन्द्रहवें कर्मादानका सेवन रूप पाप होना बतलाते हैं जैसे कि उन्होंने लिखा है “ तिवारे कोई कहे इहा अस यति पोप व्यापार क्यो छै तो तुमे अनुकम्पारे अर्थ असयतिने पोप्या पाप किम कहो छो तेहन उत्तर—ते असयतिने पोपी पोपीने आशीविरा करे ते असयति पोप व्यापार छै अने दाम लिया विना असयतिने पोपे ते व्यापार नथी कहिए पर पाप किम न कहिए जिम कोयछा करी बेंचे तो अङ्गाल कर्म व्यापार अने दाम लिया विना आगलाने कोयछा करी आपे ते व्यापार नथी पर पाप किम न कहिए (भ्र० पृ० ८५)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

पन्द्रहवें कर्मादानका नाम मूल पाठमें “असई जग पोपगया ” यह लिखा है इस नामके अनुसार अमती य.नी व्यभिचारिणी स्त्रियोंको पोप कर उनमें भाडेपर व्यभिचार कराने रूप व्यापार करना पन्द्रहवें कर्मादानका अर्थ है साधुसे भिन्न जीवोंको पोपग करना अर्थ नहीं है अतः भ्रमविध्वसनकारने जो पन्द्रहवें कर्मादानका “असयति पोप गता ” यह नाम रच कर साधुसे भिन्न जीवोंके पोपग करनेसे कर्मादानका पाप होना बतलाया है वह एकान्त मिथ्या है ।

भ्रमविज्यसत्कारने उपासक दशाग सूत्रका जो मूल पाठ, भ्र० वि० मे उद्धृत है उसमे भी पन्द्रहवें कर्मादानका नाम “अमई जण पोपगया” यही लिखा है । उस पाठके टब्बा अर्थमे भी साधुसे भिन्नको दान देनेमे उक्त कर्मादानका सेवन कर कर वेद्या आदिके पोषण करने रूप व्यापारको ही कर्मादानका सेवन कहा है ।

अप इस पाठका टब्बा अर्थ भ्रमविध्वंसनकारका दिया हुआ यह है —

“वेद्या आदिकने पोपग आदिक व्यापार कर्म” इसमे साधुसे भिन्नको पोषण रूप व्यापार न कर कर वेद्या आदिके पोषण रूप व्यापारको कर्मादानका सेवन बनलाया । तथापि जगत्में भ्रम फैलानेके लिए जीतमलजीने अपने मनसे १५ वें कर्मादानका “असयति पोपगता” यह नाम रक्खा है । उसपर भी पहले प्रश्न रूपमे दूसरेसे स्वीकार कराकर तब पीछे खुदने स्वीकार किया है । उन्होंने लिखा है कि —

“नियारे कोई इम फहे इहा असयति पोप व्यापार क्यो ठै तो तुम्हे अनुकूपारे अर्थ असयतिने पोप्या पाप किम फहो छो” इत्यादि । बुद्धिमानोंको सोचना चाहिये कि पन्द्रहवें कर्मादानका जगत्कि असयति पोपगता” यह नाम ही नहीं है तो इसके सम्यग्धमे भ्रमविज्यसत्कारसे कोई प्रश्न ही कैसे कर सकना है ? परन्तु अपने मनसे एक ऐसा प्रश्न बना कर जीतमलजीने जगत्मे यह भ्रम फैलानेकी चेष्टा की है कि अनुकूपका समर्थन करनेवाले भी १५ वें कर्मादानका नाम “असयति पोपगता” मानते हैं । परन्तु जो लोग मूल पाठ न देख कर केवल ढालोंके आधारपर शास्त्रकी बात मानना चाहते हैं उन्हींपर यह कपट चल सकना है जो मूल पाठ देख कर पदार्थका निर्णय करना चाहते हैं वे इस धोखेमे नहीं आ सकने । पन्द्रहवें कर्मादानका असयति पोपगता यह नाम ही नहीं है इस लिए हीन दीन दु खी जीवोंपर दया लाकर दान देने वाले आत्मकोष १५ वें कर्मादानका आरोप करना एकान्त मिथ्या है ।

आगे चल कर जीतमलजी लिखते हैं कि “आदिक शब्दमे तो सर्व असयतिने गेजगारे अर्थ राते ते असयति व्यापार कहिए” यहा बुद्धिमानोंको विचारना चाहिए कि जब पन्द्रहवें कर्मादानका नाम ही “असयति पोपगता” है तब आदि शब्दसे असयतियोंके ग्रहणकी क्या आवश्यकता है क्योंकि “असयति पोपगता” इस नामसे ही सभी असयतियोंका ग्रहण हो सकता है अत निश्चय होता है कि जीतमलजीको भी पन्द्रहवें कर्मादानका नाम “असयति पोपगता” यह स्वीकृत नहीं है इसीलिए वह आदि शब्दमे सभी असयतियोंका ग्रहण होना बतलाते हैं । वह आदि शब्द भी न तो

मूल पाठमे ह और न उमकी टीकामे ही है इमलिण आदि शब्दमे मभी असयतिवोंक प्रहग वनलाना भी इनका मूर्त जनताको धोखा देना है ।

साधुके सिवाय दूसरेको पोषण करनेमे यदि पन्द्रहवें कर्मादानका पाप लगे है कोई भी व्यापारी श्रावक, निरतिचार अपने चारह व्रतका पालन नहीं कर सकत क्योंकि व्यापारी श्रावकको अपने व्यापारकी सिद्धिके लिए गाय, भैंस, ऊट घोड़े नौकर आदि असयति प्राणियोंक पोषणकी आवश्यकता होती है इनका पालन श्रिये के व्यापार सम्पन्धी कार्य नहीं चल सकत। कदाचित् कोई इनके पिता भी अपना काम चला लेवे तो भी उसे अपने माना पिता पुत्र पौत्र आदि परिवार वर्गका पालन करना ही पडता है और इनके पालन करनेसे भी तेरह पन्थियोंके मतमे अतिचार लग सकत है क्योंकि ये लोग भी असयति हैं और व्यापारमें सहायता देते हैं इनका पोषण भी व्यापारार्थ कहा जा सकत है इमलिये अपने माता पिता पुत्र पौत्र आदिका पालन करने वाला श्रावक भी तेरह पन्थियोंके हिमायसे कर्मादानके पापसे नहीं बच सकत है किन्तु व्यापारी श्रावक मात्र ही कर्मादानके पापसे युक्त हो जाते हैं परन्तु यह बिलकुल मिथ्या है व्यापारी श्रावक अपने चारह व्रतका निरतिचार भी पालन कर सकत है वह गाय भैंस घोड़े ऊट नौकर चारक आदिका व्यापारार्थ पालन करता है इससे उसक चारह व्रतमे कोई अतिचार नहीं आता है क्योंकि पन्द्रहवें कर्मादानका नाम "असयति पोषणता" है ही नहीं । जो वेढ्या आदिका पोषण करके उनसे भाडेपर व्यवसाय कराने रूप व्यापार करता है वह पुरुष पन्द्रहवें कर्मादानका सेवन करता है क्योंकि १५ वें कर्मादानका नाम "असतीजन पोषणता" है । अतः साधुसे भिन्न प्राणीके पोषण करनेसे कर्मादानका सेवन वनलाना मिथ्या है ।

अपने आश्रित प्राणीको आहार न देनेसे श्रावकके प्रथम व्रतमें अतिचार आता है इमलिए अपने पहले व्रतको निरतिचार पालनार्थ श्रावकको अपने आश्रित प्राणीके विषय अवश्य आहार देना पडता है परन्तु जीतमलजीके हिसानसे इस कार्यसे श्रावकके ७ वें व्रतमें अतिचार आता है क्योंकि साधुके सिवाय दूसरेको आहार देना वे कर्मादानका सेवन करना वतलाते हैं ऐसी दशामें चारह व्रतधारी श्रावक अपने आश्रित प्राणीके मात पानी देकर अपने व्रतका अतिचार टाले या न देकर सातवें व्रतका अतिचार टाले ? यदि वह देवे तो कर्मादानका सेवन हो जाय और न देवे तो उसके पहले व्रतमें अतिचार आवे इसलिए वह देकर और न देकर किसी भी हालतमें अपने व्रतका निरतिचार पालन नहीं कर सकत । अतः साधुके सिवाय दूसरेके पालन करनेसे १५ वें कर्मादानका पाप वनलाना जीतमलजीका अज्ञान है ।

इसी तरह भीषणजीने माधुसे इतर प्राणीको पोषण करनेमें पन्द्रहवें कर्मादानका लगाना बता कर मर्यादा कायम करके परिहार करनेका उपदेश दिया है जैसे कि गजीने लिखा है —

“साधु विना सखला पोषीजे पन्नरमू असयतिपोष कही जै । रोजगार छे त्या रहवै खाणू पीणू असयतिने देवे । ए पन्द्रह कर्मादान विस्तार मर्यादा बाधि करे हार ” परन्तु यह भीषणजीकी प्ररूपणा सर्वथा शास्त्र विरुद्ध है । भगवती शतक ५ कर्मादानको सर्वथा छोड़ने योग्य कहा है आगार रख कर परिहार करना नहीं लिखा यह पाठ यह है —

“जे इसे समणोवासगा भवन्ति तेसि नो कप्पंति इमाहं
णरस कम्मा दाणाहं सयं करेत्तएवा कारएत्तवा करंतं वा अणणं
मणुजाणेत्तएवा ”

अर्थात् श्रमणोपासकोंको इन कर्मादानोंका स्वयं सेवन करना या दूसरेसे कराना वा करते हुएको अच्छा जानना नहीं कल्पता । इसी तरह उपासक दशांग सूत्रों में पाठमें भी कर्मादानोंको सर्वथा त्यागने योग्य ही बनलाया है । वह पाठ —

“समणोवासएणं पण्णरस कम्मादाणाहं जाणियव्वाहं न
माचरियव्वाह ”

अर्थात् श्रमणोपासकोंको पन्द्रह कर्मादान जानने चाहिये और उनका आचरण करना चाहिए ।

यहां भगवती सूत्र और उपासक दशांग सूत्र दोनोंमें १५ कर्मादानोंको संबंध छोड़ने योग्य ही कहा है परन्तु आगार रख कर त्यागने योग्य नहीं कहा है । अत आगार रख कर कर्मादानोंके त्यागका उपदेश देना शास्त्र विरुद्ध है । आगार रख कर कर्मादानोंको छोड़नेकी आज्ञा देना एक प्रकारसे कर्मादानोंको सेवन करनेकी अनुमति देना है न प्रकार यदि आगार रख कर अतिचारोंका सेवन करना शास्त्र सम्मन माना जाय तो फिर मर्यादा बाध कर पर स्त्री, चोरी, झूठ आदिका सेवन भी शास्त्र सम्मन मानना होगा अत शास्त्रमें अतिचारोंके सम्बन्धमें कहीं भी आगार रखनेकी आज्ञा नहीं है केन्तु सर्वथा इनका त्याग करना ही शास्त्र सम्मत है परन्तु भीषणजीने आगार रखनेका काम चला नहीं देस कर अतिचारोंमें आगारकी सृष्टि की है । यदि भीषण मताप्रायी, शास्त्रानुसार पन्द्रहवें कर्मादानका नाम असयति पोषणता न मान कर असती

पोषणता मानें तो उन्हें कर्मादानमें आगार रखनेकी आवश्यकता ही न पन्द्रहवें कर्मादानका अर्थ व्यभिचारिणी स्त्रियोंको रख कर भांडेपर उगम कराने रूप व्यापार करनेका है । श्रावक लोग सर्वथा इस कार्यको छोड़ कर भ्रान्तरसे अपना कार्य चला सकते हैं फिर आगार रख कर ऐसे निन्दित कामोंकी भी क्या आवश्यकता है ? अतः पन्द्रहवें कर्मादानका नाम “अमयति पोषणता” कर साधुसे भिन्न जीवोंको पोषण करनेसे कर्मादानका पाप बताना शास्त्र ज्ञाना चाहिये ।

(बोल २१)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ८६ पर उपासकदशशत सूत्रका मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखने है कि “ ईहा मरवाने अर्थ गाढ़े रुक्न बांधे तो अतिचार कष्टो अने थोड़े धन्यत बाधे तो अतिचार नहीं पिण धर्म किम करी इत्यादि लिख कर आगे लिखते हैं कि “ तिम मारवाने अर्थ भात पानीरो विच्छेद पाण तो अतिचार अने त्रस जीवने भात पाणी थी पोषे ते अतिचार नहीं पिण धर्म कि कहिए ”

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

त्रस प्राणीका वध करनेके अभिप्रायसे वध, धन्यत करना या छविच्छेद अतिभ तथा भात पानी का विच्छेद करना भावसे अपने व्रतका त्याग करना है इसे शास्त्रका ने अनाचार कहा है अतिचार नहीं । अतिचार वहीतक होता है जब तक, त्रस अपेक्षा रख कर कार्य किया जाय, परन्तु व्रतकी अपेक्षा छोड़ कर अनुचित का करनेसे समूल व्रत ही नष्ट होकर अनाचार हो जाता है । अतः जो पुरुष किसी प्राणी प्राण वियोग करनेके लिए उसे मारता पीटता है या भात पानी बन्द करता है वह अप्र व्रतको समूल नष्ट कर रहा है वह अतिचारी नहीं किन्तु अनाचारी है और उसका यह कार्य अनाचारमें शामिल है अतिचारमें नहीं इसलिये उपासक दशशत सूत्रके मूल पाठ में इस कार्यका कथन न होकर जो वध धन्यतादि क्रोध आदिके वश किये जाते हैं उन्हींका कथन है प्राण वियोगके आशयसे किये जानेवाले वध धन्यतादिका नहीं अतः भ्रमविध्वंसनकार जो प्राण वियोग करनेकी आवनासे त्रस जीवके वध धन्यत छवि-

॥ अतिभार और भात पानीके विच्छेद करनेसे अतिचार होना कहते हैं वह एकान्त
था है ।

॥ उपासक दशाङ्ग सूत्रके मूल पाठमें किसी भी कारणसे वध बन्धन छविच्छेद
अतिभार और भात पानीके विच्छेद करनेसे अतिचार होना बतलाया है मारनेकी इच्छा
उक्त कार्योंके करनेसे नहीं क्योंकि वह अनाचार है । उस पाठका टब्बा अर्थ जो
॥ ११ विध्यसनकारमे भ्रमविध्यसनमे दिया है उसमें यद्यपि मारनेकी इच्छासे उक्त कार्यों
करनेसे अतिचार होना कहा है तथापि वह टब्बा अर्थ मूल पाठसे विपरीत अर्थ बत-
लानेका कारण अप्रमाण है । देखिए वह मूल पाठ यह है —

“तदापि तरं चणं धूलग पाप्मातिपात वेरमणस्स समणो
सिपणं पञ्च अहपारा पेयाला जाणियथ्वा न समापरिघट्वा तंअहा—
पि, बहे, छविच्छेदे अतिभारे भत्तपाण वोच्छेत्ते”

(उपासक दशाङ्ग अ० १)

इस पाठमें किसी कारण विशेषका नाम न लेकर सामान्य रूपसे वध, बन्धन,
विच्छेद अतिभार और भात पानीके विच्छेद करनेसे अतिचार होना बतलाया है इस
छेद मारनेकी इच्छासे उक्त कार्योंके आचरणको अतिचारमें गिनना और क्रोधादि बड़ा
उक्त कार्योंके आचरणमें अतिचार न मानना प्रत्यक्ष मूल पाठसे विरुद्ध है ।

जो लोग मारनेके अभिप्रायसे नहीं किन्तु अपने गोदाममें स्त्रीमाल पशुचानेके
लिये अपने ऊट घोड़े और पैल आदिपर अतिभार डालने हैं ये भी शास्त्रानुसार अति-
चारका सेवन करते हैं परन्तु भ्रमविध्यसनकारके मतमें ये पुण्य अतिचारके सेवन करने
वाले नहीं हो सकते क्योंकि ये अपने पशुपर मारनेकी भावनासे अतिभार नहीं डालते ।
जो तरह कोई अपने पशुका वध बन्धन और छविच्छेद किसी अन्य कारणसे करता है
तो वह भ्रमविध्यसनकारके हिमायतसे अतिचारका सेवन करने वाला नहीं हो सकता
क्योंकि वह मारनेके भावसे उक्त कार्य नहीं करता परन्तु शास्त्र उसे अनिचार लगता
मानता है अतः किसी भी कारणसे अपने पशुका वध, बन्धन, छविच्छेद अतिभार
और भात पानीके विच्छेद करनेसे अतिचार होना समझना चाहिये मारनेके भावसे
उक्त कार्यों करनेमें नहीं क्योंकि वह अनाचार है ।

जो मनुष्य मारनेके अभिप्रायसे नहीं किन्तु असवति को भात पानी देनेसे पाप
नाम ज्ञान कर अपने पशुको भात पानी नहीं देता है उसे भी शास्त्रानुसार अतिचार

लगता है परन्तु जीतमलजीके हिसाबसे उसे अतिचार न होना चाहिए ।
 माननेके अभिप्रायसे भात पानी नहीं बन्द करता है असंयतिको भात पानी
 होना जान कर बन्द करता है अतः उस मनुष्यका व्रत इस कार्यसे और अधिक
 होना चाहिए परन्तु शास्त्र इसे अतिचार होना बतलाता है इससे स्पष्ट सिद्ध है
 कि अपने आश्रित प्राणीपर भात पानी आदिके द्वारा अनुकम्पा करना
 है एकान्त पापका नहीं ।

भ्रमविध्वसनकार मूल जनताको भ्रममे डालनेके लिए जो यह कहता है
 " अपने आश्रित प्राणीको थोड़ा बन्दनसे बांधे या लकड़ी आदिमे हल्का " " " "
 उसे अतिचार नहीं आता परन्तु पाप होता है उसी तरह अपने आश्रित
 भात पानीसे पोषण करना अतिचार नहीं है परन्तु पाप तो होता ही है " यह इस
 कथन भी असंगत है अपने आश्रित प्राणीको थोड़ा भी न मारना और थोड़ा भी
 मार नहीं डालना जैसे पाप नहीं है उसी तरह उसका थोड़ाभी भातपानी नहीं बन्द
 पाप नहीं है इस प्रकार बातके स्पष्ट होनेपर भी साधारण जनताको चकरासे डालने
 लिए जो भ्रमविध्वसन करने पूर्वोक्त बात कही है वह एकान्त अयुक्त समझनी चाहिए ।

यदि कोई कहे कि अपने आश्रित प्राणीको भात पानी देनेसे जो जीवोंकी कि-
 धना होती है उससे पुण्य कैसे हो सकता है ? क्योंकि हिंसासे पुण्य नहीं होता पुण्य
 तो अहिंसासे होता है तो इसका उत्तर यह है कि जैसे श्रावक लोग नाना प्रकार
 वाहनोमें बैठ कर साधु दर्शनार्थ दूर दूरके स्थानोंमें जाते हैं और उनसे अनेक जीवोंकी
 विगधाना भी होती है तथापि उन्हें जो साधुके दर्शनका लाभ होता है वह बहुत ही उत्तम
 और पुण्यका कार्य है उन्हीं तरह अपने आश्रित प्राणीको भात पानी देनेसे जो उन
 प्राणीकी अनुकम्पा (रक्षा) होती है वह बहुत ही प्रशस्त है यदि भात पानी न देवे तो
 उस स्थूल प्राणीकी प्राण हिंसा होनेसे श्रावकका स्थूल प्राणातिपात नामक व्रत ही काय
 न रहे । भात पानी देते समय जो आरम्भजा हिंसा होती है उसका तो श्रावकको स्वप्न
 नहीं है अतएव अपने आश्रित प्राणीको भात पानी न देनेसे अतिचार होना कहा है ।
 अतः अपने आश्रित प्राणीको भात पानी देनेसे एकान्त पाप कहना मिथ्या समझना
 चाहिये ।

(बोल २२ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविघ्नसतकार भ्रमविघ्नमन पृष्ठ ८७ पर लिखते हैं “ वली कोई इम फहे
 नगरीना आवकारा उवारा वारणा कहा छै ते भीसार्याने केमाने अर्थ उवारा
 वारणा छै इम फहे तेहनो उत्तर—

उवारा वारणा कहा छै ते तो मायुरी भावनार अर्ग कहा छै । ते किमजे और
 तीसारी तो किमाड खोलने पिण माहे आवे छै अने मायु किमाड खोलने आहार लेया
 आवे त माटे आवकारा उवारा वारणा कहा छै ” इत्यादि ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवनी सूत्र शतक २ उद्देशा ५ मे तुङ्गिया नगरीके आवकोंका वृत्तान्त वर्णन
 करनेके लिए “ उत्सिह फलिहा, अवंगुय दुवारा ” यह पाठ आया है इसका अर्थ टीका
 कारने भिक्षुकोंके प्रवेशार्थ द्वारका खुला रहना बतलाया है वह टीका यह है —

“ उच्छिन्नोर्जला स्थाना वपनी योद्धर्मा कृतो न निगन्धीन कपाट पश्चाद्गगा दप-
 नीव इत्यर्थे परिषोर्जला येषाते उच्छिन्न परिघा । अथवा उच्छिन्न गृहद्वारादपगत
 परिघो येषाते उच्छिन्न परिघा औदाय्या तिशरत्वेन भिक्षुकाणा प्रवेशार्थ मनर्गलिन गृह
 द्वारा इत्यर्थे । “ अवंगुय दुवारे ” त्ति भिक्षुकाणा प्रवेशार्थ मोदाय्या दम्भगित गृह द्वारा
 इत्यर्थे ”

अर्थात् तुङ्गिया नगरीके आवकोंके दरवाजेकी अर्गलाएँ कपाटोमें नहीं लगाई
 जाकर बगलमें खड़ी रखी रहती थीं । अथवा तुङ्गिया नगरीके आवकोंके मकानका
 द्वार बन्द करनेके लिये अर्गलाएँ होती ही नहीं थी और उनके घरके कपाट बन्द नहीं किए
 जाने थे कारण यह कि वे आवक बड़े उदार और दानशील थे व भिक्षुकोंका निर्बाध
 प्रवेश होनेके लिए अपने घरोंका द्वार खुला रखते थे ।

यहा टीकाकारने मूल पाठका अमिप्राय बतलाते हुए भिक्षुकोंके प्रवेशार्थ तुङ्गिया
 नगरीके आवकोंका द्वार खुला रहना बतलाया है अतः भिक्षुकोंके प्रवेशार्थ तुङ्गिया नगरी
 के आवकोंके द्वार खुले रहनेकी बात न मानना उक्त टीकासे विरुद्ध और निर्मल सम-
 क्षणा चाहिए ।

यद्यपि टीकाकारने तुङ्गिया नगरीके आवकोंके द्वार खुला रहनेका कारण वृद्ध
 व्याख्यानानुसार मम्यक्त्वमें दृढता और निर्मीकता भी बतलायी है तथापि उस वृद्ध
 व्याख्यानसे भिक्षुकोंके प्रवेशार्थ द्वार खुला रहनेका खण्डन नहीं होता क्योंकि वृद्ध

व्याख्या भिक्षुकोके प्रवेशार्थ द्वार खुला रहनेका विरोध नहीं करती किन्तु द्वार खुलने का कारण भिक्षुकोंका प्रवेशके सिवाय दूसरा भी पतलाती है इसी तरह सुयोग्यक का श्रु० २ अध्ययन २ की दीपिका में कपाट खुला रहनेका कारण सम्यक्त्वमें दृष्टा को पर पापण्डित्योंसे न डरना कहे गये हैं उनसे भी भगवतीकी टीका में कही हुई भिक्षुकोके प्रवेशार्थ द्वार खुले रहनेकी बात स्पष्ट नहीं होती किन्तु भिक्षुकोंके प्रवेशके लिए और कारण भी पतलाए जाते हैं । इस प्रकार बुद्धिया नगरीके आवाकोंके द्वार खुले रहने के तीन कारण टीकाकारोंने पतलाये हैं भिक्षुकोंका प्रवेश, सम्यक्त्वमें दृष्टा, और पापण्डित्योंसे न डरना, वास्तवमें ये तीन ही कारण यथार्थ हैं । जो मनुष्य दृष्टा होता है वे भिक्षुकोंका प्रवेश न होने देनेके लिये अपने घरका द्वार बन्द रखते हैं और जो डरते हैं वे भी भयके कारण अपने घरका द्वार नहीं खुला रखते परन्तु जो उदारता के कारण अपने घरमें भिक्षुकोंका प्रवेश होना चाहते हैं और जो किसीसे भय नहीं करते वे अपने घरके द्वारको नहीं बन्द करते किन्तु खुला रखते हैं । बुद्धिया नगरीके आवाक सम्यक्त्वमें दृष्ट निर्माक और बड़े उदार दानशील थे इसलिये वे अपने घरके द्वारको खुला रखते थे इस प्रकार बुद्धिया नगरीके आवाकोंके वृत्तान्तसे अनुकम्पादानका पूर्ण हस्त समर्थन होनेपर भी उसे नहीं मानना आभिनयेशिक मिथ्यात्वका परिणाम समझना चाहिये । किसी भी टीका में माधुओंकी भावनासे द्वार खुला रखना नहीं कहा है क्योंकि अनुकम्पा दानको उठा देनेके लिये जो जीतमलजीने साधुओंकी भावनासे ही द्वार खुला रहना कहा है वह एकान्त मिथ्या और सभी टीकाओंसे विरुद्ध समझना चाहिये ।

वास्तवमें भिक्षुकोका प्रवेश होनेके लिये गृह द्वारके खुले रहनेकी बात जो भाग्यो सूत्रकी टीका में लिखी है वह मूल पाठसे भी मिलती है इसलिए उसको न मानना मूल पाठको तिरस्कार करना है । जैसा पाठ बुद्धिया नगरीके आवाकोंके सम्बन्धमें भगवती सूत्रमें आया है उसी तरहका अम्बड सन्यासीके विषयमें उर्बा सूत्रमें भी है उर्बा सूत्र में लिखा है कि—“नवरं जस्सिह फलिहे अवगुय दुवारे चियत्त अन्तेउर पवेसी न उवाइ” अर्थात् बुद्धिया नगरीके आवाकोंके सम्बन्धमें जो पाठ आया है वह अम्बड सन्यासी के विषयमें भी कहना चाहिये परन्तु “जस्सिह फलिहे अवगुय दारए चियत्त अन्ते उ पवेसी” ये तीन पाठ न कहने चाहिये । यह उक्त पाठका अर्थ है ।

इसमें जो अम्बड सन्यासीके विषयमें तीन पाठ वर्जित किये गये हैं इसके कारण बनलाते हुए टीकाकारने लिखा है कि “औदाय्याविशया दविशय दविशय वाचित्वेन भिक्षु प्रवेशार्थ मन्गलिन गृह द्वारा इत्यर्थ । इदं च क्लिष्टांशस्य न सम्भवति”

मेव सस्य भिक्षुकान् । अतएव लिखित पुस्तके यथा उस्सिह फलिहं त्यादि
 जेणप्रय नोच्यते ” अर्थात् तुङ्गिया नगरीके धावक अतिशय उदार होनेके कारण
 ने मकानके द्वार खुला रखने थे परन्तु यह बात अम्बड सन्यासीमें सम्मत नहीं है
 कि अम्बड सन्यासी स्वयमेव भिक्षुके ये । अतएव अम्बड सन्यासीके विषयमें
 उस्सिह फलिहं ” इत्यादि तीन विशेषणोंको न छगाना मूल पाठमें कहा है यह उक्त
 का अर्थ है इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि भिक्षुकोके प्रवेशार्थ द्वारका खुला रहना
 ही “उस्सिह फलिहं अवंगुण दुपारा ” इस पाठका मूल सम्मत है अन्यथा अम्बड
 सन्यासीके विषयमें इन पाठोंके निषेध करनेकी क्या आवश्यकता थी क्योंकि अम्बड
 सन्यासी भी स्वयमेवमें दृढ और निर्भीक थे अतः भिक्षुकोके प्रवेशार्थ ही तुङ्गिया
 नगरीके धावकोंका द्वार खुला रहना उक्त पाठोंका मूल सम्मत अर्थ प्रतीत होता
 अतः भिक्षुकोके प्रवेशार्थ द्वारके खुले रहनेका निषेध करना जीतमलजीका अज्ञान
 मझना चाहिए ।

(बोल २३ वां समाप्त)

(प्रेरक)

अमविघ्नसनकार अमविघ्नसन पृष्ठ ९३ पर लिखते हैं —

“जे आवक तपस्या करे ते तो व्रत छै अने पारणो करे ते अन्न माहि छै ।
 पागार सेवे छै ते सेवन बालाने धर्म नहीं तो सेना वन बालाने धर्म किम कहिए ए अन्न
 कान्त खोटी छै । अन्न रेणा देवी सगीरी छै । (अ० पृ० ९२)

इनके कहनेका आशय यह है कि आवकका खाना पीना वस्त्र मकान आदि सत्र
 जत्रमें है इसलिए आवकको अन्न पानी आदिकी सहायता देना उससे अन्नका सेवन
 जाना है अन्नका सेवन कराना एकान्त पाप है इसलिए आवकको अन्न पानी आदि
 की सहायता देना एकान्त पाप है जब कि आवकको भी अन्न पानी देना एकान्त पाप
 है तब फिर दूसरे हीन दीन दुखीको दान देनेसे तो कहना ही क्या है वह तो अवश्य
 ही एकान्त पाप है । इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

आवकका खाना पीना वस्त्र मकान आदिको अन्नमें फायम करके उसको अन्न
 पानी आदिकी सहायता देनेसे एकान्त पाप और अन्नका सेवन बताना अज्ञान है ।
 जिसमें स्वल्प भी व्रत नहीं होता उसीको अन्नकी क्रिया लगाना शास्त्रमें कहा है आजक

तो देशमे घनधारी है फिर उसको अन्नतकी क्रिया कैसे लग सकती है ? जबकि श्रावकको अन्नतकी क्रिया नहीं लगती तब श्रावकको अन्न पानी आदिकी महारता के से अन्नतका सेवन कराना कैसे हो सकता है ? अतः श्रावकको अन्नतकी क्रिया लगने के बात मिथ्या है । पन्नावणा सूत्रके २२ वें पदमे श्रावकको अन्नतकी क्रिया नहीं लगने स्पष्ट उल्लेख है वह पाठ नीचे दिया जाता है —

“ कतिणं भन्ते ! किरिआओ पण्णत्ताओ ? गोयमा । पव
किरिआओ पण्णत्ताओ तज्झहा—आरंभिया परिग्गहिया मायावत्ति-
आ अपच्चक्खाणकिरिया मिच्छादंसणवत्तिथा । आरम्भियाणं
भन्ते ! किरिया कस्स कज्झइ ? गोयमा ! अण्णयरस्सवि पमत्तसंज-
यस्स, परिग्गहियाणं भन्ते ! किरिया कस्स कज्झइ ? गोयमा ! अण्ण-
यरस्सवि संजयासंजयस्स, मायावत्तियाणं किरिया कस्स कज्झइ ?
अण्णयरस्सवि पमत्त संजयस्स अपच्चक्खाण किरियाणं भन्ते ! कस्स
कज्झइ ? गोयमा ! अण्णयरस्सवि अपच्चक्खाणिस्स, मिच्छादंस-
णवत्तियाणं भन्ते ! किरिया कस्स कज्झइ ? गोयमा ! अण्णयरस्सवि
मिच्छादंसणिस्स ”

(पन्नावणा पद २२)

इस पाठकी टीका निम्न प्रिल है —

“ कहण भन्ते ! इत्यादि आरम्भ पृथिव्याद्युपमर्ह उक्तञ्च “स रस्मो सङ्गो
परितावकरो भवे समारम्भो आरम्भो उद्भवतो सुद्धनयाणंतु सञ्चेत्ति ”

आरम्भ प्रयोजनकारण यस्या सा आरम्भिकी । परिग्रहो धर्मोपकरणवर्ज-
वस्तुस्वीकार धर्मोपकरणमूर्च्छाच परिग्रह एव पारिग्रहिकी परिग्रहेण निवृत्तावा पारि-
ग्रहिनी ।

“माया वत्तिथा” इति माया, अनाजं व सुपलक्षणत्वात् क्रोधादेरपि परिग्रह माया
प्रत्यय कारण यस्या सा माया प्रत्यया “ अपच्चक्खाण किरिया ” इति अप्रत्याख्यानं
मनागपि विरति परिणाममात्रं तदेव क्रिया अप्रत्याख्यानं क्रिया । “मिच्छादंस-
णवत्तिथा” इति मिथ्यादर्शनं प्रत्ययो हेतुर्यस्या सा मिथ्यादर्शनं प्रत्यया । एतासा क्रियाणां
मध्ये यस्य या सम्भवति तस्य ता निरूपयति “ आरम्भियाण भन्ते ! इत्यादि ।

जयस्सवि पमत्त सजयन्स " इति अत्रापि शब्दो भिन्न क्रम प्रमत्त सयतस्याप्यस्य एक तरस्य कस्यचित् प्रमादे सति काय दुष्प्रयोग भावत पृथि व्यादेरुपमर्दान् । अपि शब्दोऽन्येषा मधस्तन गुण स्थान वर्तिना नियम प्रदर्शनार्थ । प्रमत्त स्या प्याग भिकी क्रिया भवति किं पुन जेपाणा देग विरति प्रभृतीनामिति एव यथा मपि शब्द भावना कर्तव्या । पारिग्रहिकी सयतामयतरयापि देग विरतस्यापि तस्यापि परिग्रह धारणात् माया प्रत्यया अप्रमत्त सयतस्यापि कथमिति चे दुच्य-चिनोद्भाह प्रच्छादनार्थ बहीकरणसमुद्देशा दिपु । अप्रत्याख्यान क्रिया अन्यतर-य प्रत्याख्याननि अन्यतरदुपि न किञ्चिदित्यय योन प्रत्याख्याति तन्मेत्यर्थ यादर्शनक्रिया, अन्यतरस्यापि सूत्रोक्तमेकमक्षरमप्यरोचयमानस्येत्यर्थ मिथ्या-भवति "

अर्थ —

पृथ्वी आदि कायके प्राणियोको सन्ताप देनेका नाम "आरम्भ" है । कहा भी णियोको सन्ताप देनेके लिए सङ्कल्प करनेका नाम 'सरम्भ' है और उनको परिताप "समारम्भ" कहलना है और प्राणियोको उपद्रव पहुचाना 'आगम्भ' है उम आरभ अये जो क्रिया की जाती है उसे आरम्भिकी क्रिया कहते हैं ।

(पारिग्रहिकी)

धर्मोपकरणसे भिन्न वस्तुको अङ्गीकार करना, और धर्मके उपकरणोंम मूर्च्छा परिग्रह कहलना है । उसीको पारिग्रहिकी क्रिया कहते हैं अथवा परिग्रहसे उत्पन्न क्रियाको "पारिग्रहिकी क्रिया " कहते ह ।

(माया प्रत्याया)

माया नाम कुटिलताका है यहा माया शब्दको उपलक्षण मान कर उससे क्रोधादि उप जाते हैं इसलिये जो क्रिया माया आदिसे की जाती है उसे माया प्रत्यया क्रिया हैं ।

(अप्रत्याख्यान क्रिया)

विरतिका परिणाम थोडा भी न होना "अप्रत्याख्यान" कहलाना है उमीको 'अप्रत्याख्यान क्रिया' कहते हैं ।

(मिथ्यादर्शन प्रत्यया)

मिथ्यादर्शनके कारण जो क्रिया की जाती है उसे "मिथ्यादर्शन प्रत्यया" कहत हैं । इनमेसे कौनसी क्रिया किसको लगती है यह ननलया जाता है —

(प्र.१) हे भगवन् ! आरम्भिकी क्रिया किसको लगती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! किसी किसी प्रमत्त संयत पुरुषको भी आरम्भिकी क्रिया लगती है प्रमत्त संयत पुरुष जन कभी प्रमादवश अपने शरीर आदिका दुष्ययोग करते हैं तब उससे पृथ्वी आदि कार्योंके जीनकी विराधना होनेसे उसको आरम्भिकी क्रिया लगती है यहा जो अपि शब्द आया है उससे यह बतलाया गया है कि आरम्भिकी क्रिया जन किमी किसी प्रमत्त संयतको भी लगती है तब उससे नीचेके गुण स्थानोंमें से कहना ही क्या है ? उनमें तो अवश्य ही आरम्भिकी क्रिया लगती है । इसी तरह पाठमें दूसरे अपि शब्दोंका भी यथा योग्य समन्वय करना चाहिये ।

(प्रश्न) हे भगवन् ! पारिमहिकी क्रिया किसको लगती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! देश विरत श्रान्तको भी पारिमहिकी क्रिया लगती है । भी पूर्वजन् अपि शब्दमें यह बतलाया गया है कि पारिमहिकी क्रिया जनक श्रान्तको भी लगती है तब उससे नीचेके गुण स्थानवालोंको कहना ही क्या है ? तो अवश्य ही पारिमहिकी क्रिया लगती है ।

(प्रश्न) हे भगवन् ! माया प्रत्यया क्रिया किसको लगती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! माया प्रत्यया क्रिया किसी किमी अप्रमत्त संयतको भी है क्योंकि वे भी अपने प्रयत्नकी बदनामीको मिटानेके लिए बड़ी करण और सस आदिमें मायाकी क्रिया करते हैं । यहा भी अपि शब्दसे यह बतलाया गया है कि प्रमत्त गुण स्थानवाले अप्रमत्त संयतको भी माया प्रत्यया क्रिया लगती है तब फिर उससे के गुण स्थानवालोंको कहना ही क्या है उन्हें तो अवश्य ही माया प्रत्यया लगती है ।

(प्रश्न) हे भगवन् ! अप्रत्याख्यानिकी क्रिया किसको लगती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! जो जरा भी प्रत्याख्यान नहीं करता उसको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया लगती है ।

(प्रश्न) हे भगवन् ! मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया किसको लगती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! जो पुरुष सूत्रमें कही हुई बातोंमेंसे एक भी अक्षरपर ब्रह्म करता है उसको मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया लगती है । यह उक्त मूल पाठ और टीकाका अर्थ है ।

यहा मूल पाठ और उसकी टीकामें कहा है कि “जो पुरुष किञ्चित् भी प्रत्याख्यान नहीं करता उसीको अप्रत्याख्यान क्रिया लगती है” श्रावक प्रत्याख्यान है अतः उस अव्रतकी क्रिया नहीं लग सकती इसलिए श्रावकके खाने पीने वस्त्र

दिको अग्रतमे ठहरा कर उसको दान देनेसे एकान्त पाप रुदना आरम्भ निरुद्ध है । यदि ई कहते कि “आवरुके अन्न, जल, वस्त्र मकान आदि अग्रतमे नहीं तो क्या अग्रतमे है ? उससे कहना चाहिये कि आवरुके अन्न वस्त्रादि न तो अग्रतमे है और न अग्रतमे ही, अन्तु परिग्रहमे है । भगवान्ने अन्न और अग्रतको आत्माका परिणाम बतलाया है और यह पन्थके प्रवर्तक भीषणजीने भी अन्न और अग्रतको जीव तथा अरूपी कहा है अत आवरुके अन्न वस्त्रादि जो कि रूपी और प्रत्यक्ष अजीव पदार्थ हैं वे अन्न और अग्रतमे ही हो सकते भीषणजीने तेरह द्वारमे छठा रूपी और अरूपी द्वारके अन्दर यह लिखा “अग्रत आत्मजने अरुनी किंग न्याय कड़ी जै अत्यग भाव परिणाम जीवरा अरूपी था छै ” अत आवरुके अन्न वस्त्र आदिको अग्रतमे कायम करके आवरुको अग्रत की क्रिया लगानेकी प्ररूपणा एकान्त मिथ्या है ।

आवरुको अग्रतकी क्रिया नहीं लगाना पन्नावणा सूत्रके मूल पाठमे भी सिद्ध होता होता है वह पाठ नीचे लिखा जाता है —

“जस्सणं भन्ते ! जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स परिग्गहिया किं कज्जइ ? जस्स परिग्गहिया किरिया कज्जइ तस्स आरंभिया किरिया कज्जइ ! गोयमा ? जस्सणं जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स परिग्गहिया सिध कज्जइ सिध नो कज्जइ जस्स पुण परिग्गहिया किरिया कज्जइ तस्स आरंभिया किरिया नियमा कज्जइ । जस्सणं भन्ते ! जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स माया वत्तिया किरिया कज्जइ ? पुच्छा गोयमा ! जस्सण जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स माया वत्तिया किरिया नियमा कज्जइ जस्स पुण माया वत्तिया किरिया कज्जइ तस्स आरंभिया सिध कज्जइ सिध नो कज्जइ । जस्सणं भन्ते ! जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स अपच्चक्खाण किरिया पुच्छा ? गोयमा ! जस्सणं जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स अपच्चक्खाण किरिया सिध कज्जइ सिधनो कज्जइ जस्स पुण अपच्चक्खाण किरिया कज्जइ तस्स आरंभिया किरिया नियमा । एवं सिच्छादं सणवत्तिया एवि समं एव परिग्गहियावि तीहि उवरिल्लाहिं समं सचारं-

तत्त्वा । जस्स माया वत्तिया किरिया कज्जइ तस्स उवरिह्लाओ ।
 दोवि सिय कज्जन्ति सिय नो कज्जन्ति जस्स उवरिह्लाओ दो कज्जन्ति
 तस्स माया वत्तिया नियमा कज्जति । जस्स अपच्चक्खाण किरिया
 कज्जइ तस्स मिच्छद'सणवत्तिया किरिया सिय कज्जइ सिय नो
 कज्जइ जस्स पुण मिच्छद'सण वत्तिया किरिया कज्जइ तस्स अपच्च
 क्खाण किरिया नियमा कज्जइ ”

(पन्नावगा सूत्र)

अर्थ —

(प्रश्न) हे भगवन् जिसको आरम्भिकी क्रिया होती है क्या उसको पारिमर्हिकी क्रिया भी होती है ? और जिसको पारिमर्हिकी क्रिया होती है क्या उसको आरम्भिकी क्रिया भी होती है ?

(उत्तर) हे गतम । जिसको आरम्भिकी क्रिया होती है उसको पारिमर्हिकी क्रिया होती भी है और नहीं भी होती, परन्तु जिसको पारिमर्हिकी क्रिया होती है उसके आरम्भिकी क्रिया अवश्य होती है ।

(जैसे कि प्रमत्त सयत्त पुरुषको काय आदिके दुष्प्रयोगसे आरम्भिकी क्रिया होती है पारिमर्हिकी नहीं होती क्योंकि वे परिग्रह रहित होते हैं इसलिये आरम्भिकी क्रिया साथ पारिमर्हिकी क्रियाकी भजना कही गयी है । छठे गुण स्थानसे नीचेके गुण स्थान चाळामे परिग्रह भी होता है और आरम्भ भी होता है इसलिए पारिमर्हिकी क्रियाके साथ आरम्भिकी क्रियाका नियम कहा गया है)

(प्रश्न) हे भगवन् ! जिसको आरम्भिकी क्रिया होती है क्या उसको माया प्रत्यया क्रिया होती है ?

(उत्तर) हे गतम । जिसको आरम्भिकी क्रिया होती है उसको माया प्रत्यया क्रिया अवश्य होती है परन्तु जिसको माया प्रत्यया क्रिया होती है उसको आरम्भिकी क्रिया होती भी है और नहीं भी होती ।

(इसका तात्पर्य यह है कि आरम्भिकी क्रिया छठे गुण स्थानतकके जीवों होती है और उनमें माया प्रत्यया क्रिया भी होती है इस लिए आरम्भिकी क्रियाके साथ माया प्रत्यया क्रियाका नियम कहा गया है परन्तु मायाप्रत्यया क्रिया सप्तमादि गुण स्थानवालोंमें भी होती है वहा आरम्भिकी क्रिया नहीं होती इसलिए माया प्रत्यया क्रिया के साथ आरम्भिकी क्रियाकी भजना कही है ।)

(प्रश्न) हे भगवन् ! जिसको आरम्भिकी क्रिया होती है क्या उसको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! जिसको आरम्भिकी क्रिया होती है उसको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती भी है और नहीं भी होती है परन्तु जिसको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है उसको आरम्भिकी क्रिया अवश्य होती है ।

(इसका भाव यह है कि आरम्भिकी क्रिया पट्ट गुण स्थान पर्यन्त होती है परन्तु पञ्चम और पट्ट गुण स्थानमें प्रत्याख्यान होनेसे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया नहीं होती इसलिये यह आरम्भिकीके साथ अप्रत्याख्यानिकी क्रियाकी भजना कही गई है । चतुर्थ गुण स्थान तकके जीवोंको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है और उनमें आरम्भिकी क्रियाका भी समाव होता है इस लिये अप्रत्याख्यानिकी क्रियाके साथ आरम्भिकी क्रियाका नियम कहा गया है)

(प्रश्न) हे भगवन् ! जिसको आरम्भिकी क्रिया होती है क्या उसको मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया होती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! जिसको आरम्भिकी क्रिया होती है उसको मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया होती भी है और नहीं भी होती है परन्तु जिसको मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया होती है उसको आरम्भिकी क्रिया अवश्य होती है ।

(इसका अभिप्राय यह है कि आरम्भिकी क्रिया चौथे पाचवें और छठे गुण स्थानमें भी होती है परन्तु बड़ा मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया नहीं होती क्योंकि इन गुण स्थानोंके जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं अतः आरम्भिकी क्रियाके साथ मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रियाकी भजना कही है । मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया मिथ्यादृष्टिको होती है और उसमें आरम्भिकी क्रिया भी मौजूद है इस लिये मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रियाके साथ आरम्भिकी क्रियाका नियम कहा गया है) ।

आरम्भिकी क्रियाके साथ शेष चार क्रियाओंकी भजना और नियमाका विचार कर दिया गया अतः पारिग्रहिकी क्रियाके साथ उसके आगेकी क्रियाओंकी भजना और नियमका विचार किया जाता है ।

(प्रश्न) हे भगवन् ! जिसको पारिग्रहिकी क्रिया होती है क्या उसको माया प्रत्यया क्रिया होती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! जिसको पारिग्रहिकी क्रिया होती है उसको माया प्रत्यया क्रिया अवश्य होती है परन्तु जिसको माया प्रत्यया क्रिया होती है उसको पारिग्रहिकी क्रिया होती भी है और नहीं भी होती है ।

(उत्तर)

हे गोतम ! जिसको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है उसको मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया होती भी है और नहीं भी होती परन्तु जिसको मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया होती है उसको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया अग्र्य होती है । (इसका भाव यह है कि चतुर्थ गुण स्थान वाले जीवोमे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है परन्तु मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया नहीं होती क्योंकि वे सम्यग्दृष्टि हैं इस लिये अप्रत्याख्यानिकी क्रियाके साथ मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रियाकी भजना कही है । मिथ्या दृष्टि जीवोंमें मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया होती है और उनमे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया भी मौजूद है इस लिये मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया के साथ अप्रत्याख्यानिकी क्रियाका नियम कहा गया है) यह उक्त मूल पाठका टीकातु मार भावार्थ है ।

यहा पारिमहिकी क्रियाके साथ अप्रत्याख्यानिकी क्रियाकी भजना कही गई है यह बात उसी हालतमे घट सकती है जय कि किसी जगह परिग्रह तो हो परन्तु अप्रत्याख्यान न हो, ऐसा स्थान, पञ्चम गुण स्थानको छोड कर दूसरा नहीं हो सकता क्योंकि षष्ठ आदि गुण स्थानोमे परिग्रह नहीं होता और पञ्चमसे पूर्वके गुण स्थानोंमें परिग्रहके साथ अप्रत्याख्यान भी मौजूद है अत एक पञ्चम गुण स्थान ही ऐसा है जहा परिग्रह तो होता है परन्तु अप्रत्याख्यान नहीं होता इसलिये उक्त मूल पाठमे परिग्रहके साथ अप्रत्याख्यानकी जो भजना कही है उसका पञ्चम गुण स्थान ही उदाहरण समझना चाहिये । यदि भ्रमविध्वसनकारके सिद्धान्तानुसार श्रावकको भी अग्रतकी क्रिया लगना माना जाय तो फिर उक्त मूलपाठमे पारिमहिकी क्रियाके साथ जो अप्रत्याख्यानिकी क्रियाकी भजना कही गई है उसका उदाहरण कौन हो सकता है ? तेरह पथी इसका कोई भी उदाहरण नहीं दे सकते । जो पुरुष किञ्चित् भी प्रत्याख्यान नहीं करता है उसीको अग्रतकी क्रिया लगना टीकाकारने भी कहा है । वह टीका यह है—

“अप्रत्याख्यान क्रिया अन्यतरस्याप्यप्रत्याख्यानित ।

अन्यतरदपि न किञ्चिदपीत्यर्थ यो न प्रत्याख्याति तस्येत्यर्थ ।”

अर्थात् “जो किञ्चित् भी प्रत्याख्यान नहीं करता उसीको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया लगती है” श्रावक तो देशसे प्रत्याख्यान करता है इस लिये उसको अग्रतकी क्रिया नहीं लग सकती तथापि श्रावकके खाने पीने वस्त्र मकान आदिको अग्रतमे ठहराकर उसको दान देनेसे जो जीतमलज्जिने एकान्त पाप और अग्रतका सेवन काना बतलाया है वह शास्त्र निरुद्ध समझना चाहिये ।

[बोल २४ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमनिश्चयनकार भ्रमविष्वसन पृष्ठ ९२ के ऊपर सुयगडाग और उपाई सूत्रका मूल पाठ लिख कर उनकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ अठे आवरुग व्रत अग्रत जूदा जूदा कया मोटा जीव हणवारा मोटा झूटा मोटो चोरी मिथुन परिग्रहरी उपरान्त मर्यादा कीधी ते तो व्रत कही अने पाव स्थावर हणवारी आगार छोटी झूठ छोटी चोरी मिथुन परिग्रहरी मर्यादा कीधी ते माहिला सेवन सेवा वन रो आगार ते अग्रत कही” इत्यादि इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

-सुय गडाग सूत्र और उपाई सूत्रका नाम लेकर आवरुको अग्रतकी क्रिया बताना मिय्या है। उक्त सूत्रमे कइ है कि—“आवरु अठारह पापोसे अग्रत हटा है और अशन नहीं हटा है।” जिस अशसे नहीं हटा है वह उसका अग्रत है ऐसा नहीं लिखा है अतः उक्त सूत्रोंकी सहायतामे आवरुको अग्रतकी क्रिया बताना अज्ञान है।

यदि कोई कहे कि आवरु जिस अशसे हटा है वह जब कि उसके व्रतमे है तब जिससे वह नहीं हटा है वह अग्रतमे क्यों नहीं है ? तो उससे कइना चाहिये कि सुय गडाग सूत्र और उपाई सूत्रके मूल पाठमें आवरुको अठारह पापोंमे अग्रत हटना और अशन नहीं हटना कइ है इस लिये आवरु मिथ्यादर्शन शल्यसे भी अग्रत हटा है और अशन नहीं हटा है। जिस अशमे आवरु नहीं हटा है उसके हिसारसे आवरुको मिथ्या दर्शनकी क्रिया क्यों नहीं लगती है ? यदि कहे कि आवरु मिथ्यादर्शन शल्य रूप पाप से यद्यपि सर्वथा नहीं हटा है तथापि सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेसे उसे मिथ्यादर्शनकी क्रिया नहीं लगती तो उसी तरह समझो कि १७ पापाक जिम जिस अशसे आवरु नहीं हटा है उनके सेवन करने पर भी प्रत्याग्यान होनेसे आवरुको अप्रत्याग्यानकी क्रिया नहीं लगती। भगवती सूत्र शतक १ उद्देश २ में स्पष्ट लिखा है कि आवरुको आरम्भिकी पारिप्रदिकी और माया प्रत्यया ये तीन ही क्रियायें लगती हैं अप्रत्याग्यानकी और मिथ्यादर्शनी क्रिया नहीं लगती। वह पाठ यह है —

“तत्पणं जेतुं संजया संजया तेषिणं आदि आजो तोणि किरि आजो कज्जंति”

(म० श० १ उ० २)

अर्थात् समयता समयत (आवरु) को आदिकी तीन क्रियाएँ लगती हैं नेव अप्रत्याग्यानकी और मिथ्यादर्शनकी क्रिया नहीं लगती। अतः आवरुको अग्रतकी क्रिया

लगानेकी प्रवृत्ति इस पाठसे विरुद्ध समझनी चाहिये । फिर भी कोई कहे कि १७ पापों का जो अंग श्रावकको बाकी है उसके हिसाबसे 'श्रावकको अग्रतकी क्रिया भी होनी चाहिये' तो श्रावकमें मिथ्यात्वका जो अंश बाकी है उसके हिसाबसे मिथ्यात्वकी क्रिया भी उसे होनी चाहिये । यदि कहो कि मिथ्यात्वकी क्रिया श्रावकको वर्जित की गई है तो भगवतीके उक्त पाठमें अग्रतकी क्रिया भी श्रावकको स्पष्ट रूपसे वर्जित की गई है अतः श्रावकको अग्रतकी क्रिया मानना एतन्त मिथ्या है । श्रावकको अग्रतकी क्रिया सिद्ध करनेके लिये उवाह सूत्र और सुय गङ्गाग सूत्रका जो मूलपाठ जीतमलजीने लिखा है वह निम्न लिखित है —

“एगच्चाओ पाणाइवाओ पडिविरया जाव जीवाए एगच्चाओ अपडि विरया एवं जाव परिग्गहाओ पडिविरया एगच्चाओ अपडि विरया । एगच्चाओ कोहाओ माणाओ मायाओ लोहाओ पेज्जाओ दोसाओ कलहाओ अब्भक्खाणाओ पेसुणाओ परपरिवाधाओ अरति रतिओ मायामोमाओ मिच्छादंसणमल्लाओ पडिविरया जाव जीवाए एगच्चाओ अपडिविरया जाव जीवाए ।”

(उवाह प्रश्न १२)

अर्थ—

श्रावक पाचमीवन, प्राणातिपातसे लेकर परिग्रह पर्यन्त एक एकसे निवृत्त और एक एकसे निवृत्त नहीं है इसी तरह क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, आख्यान, पैशुन्य, परपरीवाद, अरति रति, माया मृपा, और मिथ्यादर्शन शब्दोंके एक एक अंशसे बड़े हुए और एक एक अंशसे नहीं बड़े हैं ।

इस पाठमें जैसे १७ पापोंसे श्रावकका अंश नहीं निवृत्त होता कहा है उसी तरह अठारहवा पाप मिथ्यादर्शन शब्दसे भी अंश नहीं हटना कहा है इस लिये जैसे मिथ्यादर्शन शब्दसे अंश नहीं हटने पर भी श्रावकको मिथ्यादर्शनकी क्रिया नहीं लगती उसी तरह १७ पापोंसे अंश नहीं हटने पर भी श्रावकको अग्रतकी क्रिया नहीं लगती अतः उक्त मूलपाठकी साक्षी देकर श्रावकको अग्रतकी क्रिया लगाना ठहरा कर उसको अन्न पानादिके द्वारा सहायता करनेसे एतन्त पाप कहना अज्ञानियोंका कार्य समझना चाहिये ।

(बोल २५ वां समाप्त)

(प्रेरक)

श्रावकको अन्नकी क्रिया नहीं लगनी यह मुक्तको ज्ञान हुआ परन्तु श्रावकको उत्पन्न करनेसे धर्म या पुण्य होना है इसमें क्या प्रमाण है ?

(प्ररूपक)

श्रावकको सात्ता उत्पन्न करनेसे धर्म और पुण्य की उत्पत्ति होना भगवती सूत्रक ३ उद्देशा १ के मूल पाठसे सिद्ध होता है यह पाठ अथके साथ लिखा जाता

“सणं कुमारे देविन्दे देवराया बहुणं समणाणं बहुण समणीण
हुणं सावयाणं बहुणं सावियाणं हिय कामए सुह कामए पत्थकामए
अनुकम्पिए निस्सेयसिए हिय सुह निस्सेयस कामए सेते ण द्वेण
गीपमा सणं कुमारे भवसिद्धिए णो अचरिमे”
(भगवती शतक ३ व० १)

अर्थ —

हे गौतम । सनत्कुमार देवेन्द्र बहुतसे साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाओंके हित, सुख, पुण्य, अनुकम्पा और मोक्षकी कामना करते हैं इस लिये यह भवसिद्धिसे लेकर धावप प्रारम्भ हैं ।

इन पाठमें साधु साध्वीकी तरह श्रावक और श्राविकाओंका भी हित, सुख, पुण्य, अनुकम्पा और मोक्षकी कामना करनेमें सनत्कुमार देवेन्द्रको भवसिद्धिसे लेकर अन्न चरम होना कहा है । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रावक और श्राविकाओंको सात्ता उत्पन्न करनेसे धर्म और पुण्य की प्राप्ति होती है । श्रावक और श्राविकाओंके हित, सुख और पुण्यकी कामना मात्र करनेसे जन कि सनत्कुमार देवेन्द्रको इतना बड़ा उत्तम फल प्राप्त हुआ है तब फिर साक्षात् हित सुख और पुण्य करनेसे तो कइना ही क्या है । अब जो लोग श्रावको सुख साधक वस्तुका प्रदान करके धर्ममें सहायता देते हैं वे धर्मका कार्य करते हैं एकान्त पापका नहीं इस लिये श्रावकको सुखसाधक वस्तुका प्रदान करके उनको सात्ता उत्पन्न करनेसे जो एकान्त पाप और अन्नका सेवन कराना अवलगत हैं वे मिथ्यावादी हैं ।

उक्त मूल पाठमें आये हुए हित, सुख और पुण्य शब्दोंका अर्थ, टीकाकारने इस प्रकार किया है —

“हित सुख निबन्धन यस्तु” “सुह कामए” ति सुख शर्म” ।

“पत्थ कामए” ति पत्थ दु स त्राण” कस्मादेव मित्यत आह “अनुकम्पिए” तिक्रपावान् ।

“अर्थान् सुख साधक वस्तुका नाम “हित” है। सुख पहुचाना “सुख” है और दुःखसे राण (रक्षा) करना पथ्य कहलाता है। सनत्कुमार देवेन्द्र साधु साध्वी आरक और आदिकाओ पर अनुकम्पा रखते हैं इस लिये वह उनके हित, सुख, और पथ्यकी कामना करते हैं। यह उक्त टीकाका अर्थ है।

यदि कोई कहे कि उक्त मूल पाठमें आरक और आदिकाओके शारीरिक हित सुख और पथ्यकी कामना नहीं कही गई है किन्तु मोक्ष सम्बन्धी हित, सुख और पथ्य की कामना रही गई है इस लिये आरकको शारीरिक सुख देना कोई धर्म नहीं है तो उससे कहना चाहिये कि आरक और आदिकाओके समान ही यह पाठ साधु और साध्वियोंके लिये भी आया है इस लिये यदि आरक और आदिकाओके शारीरिक हित सुख और पथ्य करनेसे धर्म पुण्य नहीं है तो साधु और साध्वियोंके भी शारीरिक हित सुख और पथ्यसे धर्म पुण्य नहीं होना चाहिये। यदि साधु और साध्वीके शारीरिक हित सुख और पथ्यसे धर्म होना मानते हो तो फिर आरक और आदिकाओके शारीरिक हित सुख और पथ्यसे भी धर्म मानना ही होगा।

उबाई सूत्रके मूल पाठमें आरकको धार्मिक, सुशील, सुव्रत, धर्मानुग और धर्म पूर्वक जीविका करने वाला कहा है। वह पाठ यह है —

“अपिच्छा अप्पारंभा अप्प परिग्गहा धम्मिया धम्माणुया धम्मिद्वा धम्मक्खाइ धम्मप्पलोइया धम्मप्पलज्जणा धम्मसमुदायारा धम्मणेच्चेव चित्ति कप्पेमाणा विहरन्ति सुसोला सुव्वया सुप्पडियणंद साहू”

(उबाई सूत्र)

इस पाठमें कहा है कि—आरक अप्पारभी, अप्पपरिग्गही, धार्मिक, धर्मानुग धर्मिष्ठ, धर्मात्यायी, धर्म प्रलौकी, धर्म प्रगजन, धर्मसमुदाचार, सुशील, सुव्रत, सुप्रत्यान साधु तुल्य और धर्म पूर्वक जीविका करने वाले होते हैं। शास्त्र ऐसे ऐसे विशेषण लगा कर जिसकी प्रशंसा करता है उसी आरकको कुपात्र बताना और उसको दान देकर धर्म की सहायता पहुचानेसे एकान्त पाप कहना कितना तीव्रतर मिथ्यात्वका कार्य है यह हर एक बुद्धिमान मनुष्य समझ सकता है।

सुय गदांग सूत्रके मूल पाठमें आरकको धर्मपक्षमें माना है वह पाठ अर्थके सा दिया जाता है—

“तत्थणं जासा सव्वओ विरया विरइ एस ठाणे आरंभ णे आरंभ ठाणे । एस ठाणे आरिए केवले पडिपुन्ने जेयाउए संसुद्धे

मलगत्तणे सिद्धिमगो मुत्तिमगो निज्जाणमगो निज्जाणमगो सच्च
दुःखप्पहीणमगो एगंत समे साह”

अथ —

पढ़ते बनावे हुए स्थानमें जो विरता विरत नामक स्थान है वह आरम्भ जो आरम्भ
कइता है । यह स्थान, आर्य्य, केवल, प्रतिपूर्ग, मेपायिक, सपुह, इन्द्रियमधम, सिद्धि-
मार्ग, मुक्तिमार्ग, निष्पाजमार्ग सर्पविष दु खोका विनाशरूपार्ग, एकान्त सम्यग्भूत, और
साधुभूत समझना चाहिये ।

यहां विरता-विरत नामक स्थानको साधुभूत सम्यग्भूत इत्यादि कइकर धमपक्षमें
स्थापन किया है कि भी श्रावकको सुपात्र कायम काना और उसको अन्नादि दानसे
एकान्त पाप कइना अहानी और सुपात्रोंका काय समझना चाहिये यद्यपि कृषि, गो-
रक्षा, वाणिज्य आदिक व्यापार करते समय श्रावकोंसे आरम्भजा हिंसा भी होती है
तथापि श्रावकोंमें धर्मके बाहुल्य होनेसे वे धमपक्षमें ही गिने गये हैं टीकाकारने भी
यही पड़ा है । वह टीका यह है —

“एतच्च यद्यपि मिश्रत्वाद् धर्मा धर्मा भ्या मुपेत तथापि धर्म भूयिष्ठत्वाद् धार्मिक-
पक्ष एवाग्रतरति तद्यथा बहुषु गुणेषु मध्यपतितो दौषो नात्मानं लभते कलक इव
चन्द्रिकाया तथा बहुद्वकमध्यपतितो मृच्छकलावयरोनोऽकं फलुपर्यितुमलम् । एवम
धर्मोऽपि धर्म मिति स्थित धार्मिक पक्ष एवायम्” ।

अर्थात् यह विरता-विरत नामक स्थान, मिश्र होनेसे यद्यपि धर्म और अधर्म
दोनों हीसे युक्त है तथापि धर्मके बाहुल्य होनेसे यह धर्म पक्षमें ही ठहरता है । क्योंकि
बहुत गुणोंके मध्यमें पड़ा हुआ स्वल्प दोष अपना प्रभाव नहीं दीखाना । किन्तु
धन्त्रमात्री किण्वोमें फलकरी तरह छिप जाता है । जैसे बहुत जलमें पड़ा हुआ
मिट्टीका कण मिट्टीको गन्दा करनेके लिये समर्थ नहीं होता, उसी तरह बहुत धर्मके
मध्यमें पड़ा हुआ थोडासा अधर्म, धर्मकी कुठ भी हानि नहीं पहुंचा सकता ।

यहां टीकाकारने मूलपाठका आशय दर्शाते हुए श्रावकोंको धमपक्षमें ही मान
कर उसका स्वल्प पापको अकिञ्चित्कर और अगगनीय बतलाया है अतः उक्त मूलपाठ
और उसकी टीकासे श्रावक सुपात्र और धार्मिक सिद्ध होता है इसलिये श्रावकोंको
सेवा शुश्रूषा करने, और दान मम्मनादिके द्वारा धर्ममें सहायता देनेसे एकान्त पाप
कइना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये ।

(बोल २६ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ९३ के ऊपर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा दशकी गाथा लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ अठे दश शस्त्र कहा तिणमे अव्रतने भाव शस्त्र कहा तो जो आव्रत अव्रत सेवाया रूडा फल किम लागे । एतो अव्रत शस्त्र छे ते माटे जेतला जेतला आव्रकरे त्याग छे ते तो व्रत छे अने जेतलो आगार छे ते सर्व अव्रत छे । आगार अव्रतसेव्या सेवाया शस्त्र तीसो किओ कहिए पिणधर्म किम कहिये ” ।

(भ्र० पृ० ९३) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

गणाङ्ग सूत्रकी वह गाथा लिखकर इसका समाधान किया जाता है—

“दस बिहे सत्थे पन्नत्ते तं जहा—सत्थ मग्गी विसं लोणं सिण हो खार मंविंलं । हुप्पउत्तो मनोवाया काओ भावो य अविरई ।”

अर्थ —

दश प्रकारके शस्त्र होते हैं वे ये हैं—अग्नि, विष, नमक, तैल घृतादि चिकने पदार्थ, प्तारी चीज, भस्म आदि, खटाई, अथवा पूर्वक प्रयोग किये हुए मन, वचन, काया, और अप्रत्याग्यान, ये दश शस्त्र होते हैं । यह उक्त गाथाका अर्थ है ।

इसमें पहले कहे हुए छ द्रव्य शस्त्र और पीछले ४ भाग शस्त्र हैं । ये भाग शस्त्र जिसमें मौजूद हैं वह यदि कुपात्र माना जाय और उसको दान देना यदि शस्त्रको तीखा करना तथा एकान्त पाप समझा जाय तो छठे गुण स्थानवाले प्रमादी साधुको भी कुपात्र मानना पड़ेगा और उसे दान देना प्रमाद रूप शस्त्रको तीखा करना और एकान्त पाप कहना होगा क्योंकि प्रमादी साधुमें प्रमादवश मन, वचन और कायका दुष्प्रयोग रूप भाव शस्त्र विद्यमान है । यदि कहो कि प्रमादी साधुको प्रमादवृद्धि के लिये दान नहीं दिया जाता किन्तु उसके ज्ञान दर्शन और चारित्रकी उन्नतिके लिये दिया जाता है इसलिये प्रमादी साधुको दान देनेसे एकान्त पाप नहीं होता तो उसी तरह सगल बुद्धिसे यह भी समझो कि आव्रकको दोष वृद्धिके लिए दान नहीं दिया जाता उसके गुणका पोषण करनेके लिये दिया जाता है अत आव्रकको धर्मवृद्ध्यर्थ दान देना एकान्त पाप अथवा शस्त्रको तीखा करना नहीं है । आव्रकको अव्रतकी क्रिया भी नहीं लगती है इसलिये उसको दान देना अव्रतका सेवन कराना भी नहीं है यह बात विस्तारके साथ पहले कही जा चुकी है । वास्तवमें जैसे प्रमादी साधुको उसके मन वचन कायाके

प्रयोगको न्यून करनेके लिये दान दिया जाता है उसकी वृद्धिके लिये नहीं उसी तरह भ्रावकको भी उसके दोषोंकी निवृत्तिके लिये दान दिया जाता है उनकी वृद्धिके लिये नहीं अतः भ्रावकको दान देनेसे एकान्त पाप कहनेवाले मिथ्यावादी हैं ।

भ्रमविष्वक्साकार साधुके भोजनको धममे और भ्रावकके भोजनको पापमें कायम करके भ्रावकको दान देनेसे एकान्त पाप होना बतलाते हैं परन्तु शास्त्रविरुद्ध होनेसे यह अप्रामाणिक है । राज प्रश्नीय सूत्रमें भोजन विशेषसे पुण्य होना भी कहा है वह पाठ यह है —

“सुरियाभेणं भन्ते ! देवेणं सादिच्चा देविड्ढी सा दिव्या देव-
जुई से दिव्ये देवाणुभागे किण्णा लद्धे किण्णापत्ते किण्णा अभि-
समण्णागए पुव्व भवे के आसी किं नाम एवा को वा गुत्तेणं कयरं सिवा
गामंसिवा जाव सनिवेसंसिवा किंचा भोचा किंचा किंचा किंचा
समायरित्ता कस्सवा त्हाखवस्स समणस्स वा माहणस्सवा अन्ति ए
एगमपि आरियं धम्मियं सुवयणं सोचा णिसम्म जण्ण सुरियाभेणं
देवेणं सादिच्चा देव इड्ढी जावदेवाणुभागे लद्धे पत्ते अभिसमण्णा
गए” ।
(राज प्रश्नीय सूत्र)

अर्थ —

हे भगवन् ! इस सूर्याभ देवो ऐसी उत्तम दिव्य ऋद्धि, ऐसी उत्तम धृति और इस प्रकारका दिव्य प्रभाव कैसे प्राप्त किया है ? यह सूर्याभ देव पूर्वजन्ममें कौन था इत्यने नाम और गोत्र क्या थे यह किस ग्राममें या नगरमें निवास करता था इसी पूर्वजन्ममें कौनसा दान दिया था किन् नीरस पदार्थका भोजन किया था तथा कौनसा उद्योग और कौनसी तपस्या की थी किस भ्रमण या माह्नसे इसने एक भी आर्य्य धर्म सम्बन्धी छयाय्य उपाय नहीं किया जिससे इसको दिव्य ऋद्धिसे ठेकर बाबत इस प्रकारका प्रभाव प्राप्त हुआ है ।

इस पाठमें जैसे तथा रूपके भ्रमण माह्नसे आर्य्य धर्म सम्बन्धी सुवाक्य सुननेसे तथा दान देने तपस्या करने आदिसे दिव्य ऋद्धिकी प्राप्ति कही गयी है उसी तरह भोजन करनेसे भी कही गयी है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधुके सिवाय दूसरेका खाना पीना एकान्त पापमे नहीं है । यदि शुभ आशयसे नीरस पदार्थका भोजन किया जाय तो उससे पुण्य भी उत्पन्न होता है अतः भ्रावकके खानेपीने आदि कार्योंको एकान्त पापमे स्थापन करना इस पाठसे विरुद्ध और अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये ।

(बोल २७)

(प्रेरक)

भ्रमविज्वसनकार भ्रमविज्वसन पृष्ठ ९३ के ऊपर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा दशकी गाथा लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ अठे दश शस्त्र कक्षा तिगमे अन्नने भाग शस्त्र करो तो जो आवकने अन्न सेवाया रूडा फल किम लागे । एतो अन्न शस्त्र ठे ते माटे जेतला जेतला आवकरे त्याग छे ते तो व्रत छे अने जेतलो आगार छे ते सरे अन्न छे । आगार अन्नसेव्या सेवाया शस्त्र तोखो क्रियो कहिए पिणधर्म किम कहिये ” ।

(भ० पृ० ९३) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

गणाङ्ग सूत्रकी वह गाथा लिखकर इसका समाधान किया जाता है—

“दस विहे सत्ये पन्नत्ते तं जहा—सत्य मग्गी विसं लोणं सिण हो खार मंचिलं । दुप्पउत्तो मनोवाया काओ भावो य अविरई ।”

अर्थ —

दश प्रकारके शस्त्र होते हैं वे ये हैं—अग्नि, विष, नमक, तैल घृतादि चिकने पदार्थ, खारी चीज, भस्म आदि, खटाई, अथवा पूर्वक प्रयोग किये हुए मन, वचन, काया, और अप्रत्याख्यान, ये दश शस्त्र होते हैं । यह उक्त गाथाका अर्थ है ।

इसमें पहले कहे हुए छ द्रव्य शस्त्र और पीछे ४ भाव शस्त्र हैं । ये भाव शस्त्र जिसमें मौजूद हैं वह यदि कुपात्र माना जाय और उसको दान देना यदि शस्त्रको तीखा करना तथा एकान्त पाप समझा जाय तो छठे गुण स्थानवाले प्रमादी साधुको भी कुपात्र मानना पड़ेगा और उसे दान देना प्रमाद रूप शस्त्रको तीखा करना और एकान्त पाप रूहना होगा क्योंकि प्रमादी साधुमें प्रमादप्रश मन, वचन और कायका दुष्प्रयोग रूप भाव शस्त्र विद्यमान है । यदि कहो कि प्रमादी साधुको प्रमादबुद्धि के लिये दान नहीं दिया जाता किन्तु उसके ज्ञान दर्शन और चारित्रिकी उत्ततिके लिये दिया जाता है इसलिये प्रमादी साधुको दान देनेसे एकान्त पाप नहीं होता तो उसी तरह मरल बुद्धिसं यह भी समझो कि आवकको दोष बुद्धिके लिए दान नहीं दिया जाता उसके गुणका पोषण करनेके लिये दिया जाता है अतः आवकको धर्मबुद्ध्यर्थ दान देना एकान्त पाप अथवा शस्त्रको तीखा करना नहीं है । आवकको अन्नकी क्रिया भी नहीं लगती है इसलिये उसको दान देना अन्नका सेवन कराना भी नहीं है यह बात विस्तारके साथ पहले कही जा चुकी है । वास्तवमें जैसे प्रमादी साधुको उसके मन वचन कायके

प्रयोगको न्यून करनेके लिये दान दिया जाता है उसकी वृद्धिके लिये नहीं उसी तरह श्रावकको भी उसके दोषोंकी निवृत्तिके लिये दान दिया जाता है उनकी वृद्धिके लिये नहीं अतः श्रावकको दान देनेसे एकान्त पाप कहनेवाले मिथ्यावादी हैं ।

भ्रमविध्वसनकार साधुके भोजनको वर्मम और श्रावकके भोजनको पापमें कायम करके श्रावकको दान देनेसे एकान्त पाप होना बतलाते हैं परन्तु शास्त्रविरुद्ध होनेसे यह अप्रामाणिक है । राज प्रज्ञीय सूत्रमें भोजन विशेषसे पुण्य होना भी कहा है वह पाठ यह है —

“सुरियाभेणं भन्ते ! देवेणं सादिच्चा देविड्ढी सा दिव्या देव-
जुई से दिव्ये देवाणुभागे किण्णा लद्धे किण्णापत्ते किण्णा अभि-
समण्णागए पुब्ब भवे के आसी किंनम एवा को वा गुत्तेणं कयरं सिवा
गामंसिवा जाव सनिवेसंसिवा किंवा भोचा किवा किंवा किंवा
समायरित्ता कस्सवा तहाख्वस्स समणस्स वा माहणस्सवा अन्तिए
एगमपि आरियं धम्मियं सुवयणं सोचा णिसम्म जण्ण सुरियाभेणं
देवेणं सादिच्चा देव इड्ढी जावदेवाणुभागे लद्धेपत्ते अभिसमण्णा
गए” ।

(राज प्रज्ञीय सूत्र)

‘अर्थ —

हे भगवन् ! इस सुध्याम देवने ऐसी उत्तम दिव्य क्रद्धि, ऐसी उत्तम बुद्धि और इस प्रकारका दिव्य प्रभाव कैसे प्राप्त किया है ? यह सुध्याम देव पूर्वजन्ममें कौन था इसके नाम और गोत्र क्या थे यह किस ग्राममें या नगरमें निवास करता था इसने पूर्वजन्ममें कौनसा दान दिया था किस नीरस पदार्थका भोजन किया था तथा कौनसा उद्योग और कौनसी तपस्या की थी किस श्रमण या माहन्से इसने एक भी आर्य्य धर्म सम्बन्धी छात्र्य उता या निमसे इनको दिव्य क्रद्धिसे लेकर मात्र इस प्रकारका प्रभाव प्राप्त हुआ है ।

इस पाठमें जैसे तथा रूपके श्रमण माहन्से आर्य्य धर्म सम्बन्धी सुवास्य सुननेसे तथा दान देने तपस्या करने आदिसे दिव्य क्रद्धिकी प्राप्ति कही गयी है उसी तरह भोजन करनेसे भी कही गयी है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधुके सिन्धाय दूसरेका खाना पीना एकान्त पापमें नहीं है । यदि शुभ आशयसे नीरस पदार्थका भोजन किया जाय तो उससे पुण्य भी उत्पन्न होता है अतः श्रावक स्वानेपीने आदि कार्योंको एकान्त पापमें स्थापन करना इस पाठमें विरुद्ध और अज्ञानका परिणाम समझता चाहिये ।

(बोल २७)

(प्ररक)

अप्रविच्छसनकार भ्रमविघ्नसन पृष्ठ ९४ पर भगवतीसूत्र शतक १ उद्देशा ८ का मूल पाठ लिखकर कहते हैं कि उक्त पाठमें आनकको देश प्रत्याख्यान करनेसे देवता होना कहा है आगारके सेवनसे देवता होता नहीं कहा इसलिये आनकका आगार एकांत पापमे है । जैसे कि उन्होंने लिखा है —

‘अथ अठे कश्यो जे आनक देश थकी निवृत्यो देश थकी न थी निवृत्यो देश पद्य कस्याण कीधो देश पद्यक्याण कीधो न थी । जे देशे करि निवृत्यो अने देश पद्यक्याण कीधो तेगे कगी देवता हुवे इहा पद्यक्याण करी देतवा थाय कश्यो ते किम जे पद्यक्याण पालना कष्ट थो पुण्य बधे तणे करो देवायुप बधे कश्यो पिण अन्न सैन्या सेवाया देव गतिनो ग्रथ न कश्यो” ।

(भ्र० पृ० ९४) इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा ८ का मूल पाठ लिखकर इसका समाधान किया जाता है वह पाठ यह है —

“बाल पण्डिणं मणुसे रिं नेरइयाउयं पकरेइ जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ ? गोयमा ! णो नेरइयाउयं पकरेइ जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ । सेकेणट्ठेणं जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ ? गोयमा ! बाल पण्डिणं मणुसे तहा खवस्स समणस्स माहणस्स वा अन्तिए एगमपि आरियं धम्मिय सोचा णिसम्म देसं उवरमइ देसं नो उवरमइ देस पच्चक्खाइ देसं नो पच्चक्खाइ सेतेण ट्ठेणं देसो वरइ देस पच्च क्खाणेणं नो नेरइयाउयं पकरेइ जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ सेतेणट्ठेणं जाव देवेसु उववज्जइ ।”

(भगवती शतक १ उ० ८)

(प्रश्न) हे भगवन् ! बालपण्डित मनुष्य नरक तिर्प्यञ्च तथा मनुष्यकी आयु बाधकर नरक आदि योनियोंमें जाता है या देवताकी आयु बाधकर देवता होता है ।

(उत्तर) हे गोतम ! बाल पण्डित मनुष्य नरकादिकी आयु बाधकर नरक आदि गतिमें नहीं जाना किन्तु देवताकी आयु बाधकर देव योनिमें जाता है ।

(प्रश्न) ऐसा क्यों होता है ?

(उत्तर) हे गोतम । - बाल पण्डित मनुष्य तथारूपके श्रमण और माह्नसे आव्य में सम्बन्धी एक भी सुनाक्यको सुन कर देशमें निवृत्त होता है और देशसे निवृत्त नहीं ता देशसे प्रत्याख्यान करता है और देशसे प्रत्याख्यान नहीं करता अन् दश विगति और दश प्रत्याख्यानसे उसको नरकका आयु बन्ध नहीं होता किन्तु देवताका आयु-पथ कर वह देवता होता है । यह उक्त मूल पाठका अर्थ है ।

इस पाठमें देश विरति और देश प्रत्याख्यानमें नरकादि गतिगोका रुकना बतलाया गया है न कि उनसे देवताका आयुबन्ध होना भी । यदि विरति और प्रत्याख्यानसे आयु बन्ध होने लगे तो फिर मोक्ष कैसे हो सकता है ? अतएव फलानुगा सूत्रके २२ वें पद में टीकामें विरतिसे बन्ध होनेका स्पष्ट निषेध किया है यह टीका यह है —

“ ननु विरतस्य कथं बन्धो नहि विरतिबन्ध हेतुमनति यदि विरतिरपि बन्ध हेतु याचश निमोक्षप्रसंग, उपायामानात् । अन्यते—नहि विरतिबन्धहेतु किन्तु विर-स्य ये कथायास्तै बन्ध कारणम् । तथाहि सामायक छेदोपस्थापन चारित्र मिश्रद्विकेवपि विषये कथाया मङ्गलरूप उदय प्राप्ता सन्ति योगाश्च ततो विरतस्यापि देवायु-रादीना शुभ प्रकृतीना तत्प्रत्ययो बन्ध ”

अर्थ —

(प्रश्न) विरत पुरुषको बन्ध क्यों होता है ? विरति, बन्धका कारण नहीं है यदि वैरतिमें भी बन्ध हो तो मोक्ष कैसे हो सकता है ? क्योंकि विरतिके सिवाय दूसरा मोक्ष मोक्षका कारण नहीं है ।

(उत्तर) इसका समाधान यह है कि विरतिसे बन्ध नहीं होता किन्तु विरत पुरुषों का जो कथन है वह बन्धका कारण है । सामायक, छेदोपस्थापन, और परिहारविशुद्धि आदि समयमें भी सङ्गज्ज्ञात्मक कथाय और योग, उदयको प्राप्त रहते हैं इसलिये इन्हीं से विरत पुरुषोंका भी आयु आदिका बन्ध होता है ।

यह ऊपर लिखी हुई टीकाका अर्थ है ।

इस टीकामें विरतिसे बन्ध होनेका स्पष्ट निषेध किया है इसलिए भगवती शनक १ नरेशा ८ के मूल पाठमें विरति और प्रत्याख्यानसे देवताका आयु बन्ध होता नहीं कहा है । विरति और प्रत्याख्यानसे नरक आदिका आयु बन्ध रुक जाता है और विरत पुरुषोंमें जो कथाय और योग होता है उससे दश आयुका बन्ध होता है । अन् विरति और प्रत्याख्यानसे देवताका आयु बन्ध बनलाना मिया है ।

देश विरति और देश प्रत्याख्यानसे जो काय कष्ट होता है उससे पुण्य बन्ध मान का देवता होनेकी कल्पना करना भी मिया है कहीं भी मूल पाठ और टीकामें यह नहीं

कहा है कि "विरति और प्रत्याख्यानसे जो काय कष्ट होता है उससे देवता होता है" वहिक पन्तावगा सूत्र की टीका में विरति पुरुषके सञ्जलनात्मक कषाय और योगसे देवता होना बतलाया है अतः विरति और प्रत्याख्यानसे जो काय कष्ट होता है उससे कर्मोंकी निजरा होती है पुण्य बन्ध नहीं होता ।

यदि विरति और प्रत्याख्यानसे होनेवाले काय कष्टसे पुण्य बन्ध होने लगे तो फिर कर्मोंकी निजरा किससे होगी ? अतः विरति और प्रत्याख्यानसे होनेवाले काय कष्टके द्वारा पुण्य उन्नत मानकर उमने देवता होनेकी कल्पना करना मिथ्या है ।

अब यह होता है कि देश विरति और देश प्रत्याख्यानसे देवता यदि नहीं होता तो श्रावक किस कर्मके प्रभावसे देवता होता है ? तो इसका उत्तर यह है —

श्रावकोंमें जो अल्पास्म, अल्प परिग्रह, और अल्प क्रोध, मान, माया, आसक्ति आसक्त होते हैं उन्हींसे वे देवता होते हैं देश विरति और देश प्रत्याख्यानसे नहीं क्योंकि बन्ध, आसक्ति, होता है सत्त्व और निर्जगसे नहीं । देश विरति और देश प्रत्याख्यान सत्त्व हैं आसक्ति नहीं हैं अतः उनसे बन्ध नहीं हो सकता इस लिये देश विरति और देश प्रत्याख्यानसे देवता होनेकी बात मिथ्या है ।

अतः प्रत्याख्यानसे और उनमें होनेवाले काय कष्टसे देवता नहीं होता इस विषय भगवत्सूत्र शनक २ उद्देश ५ का मूल पाठ भी प्रमाण है । वह पाठ यह है —

“संजमेणं भन्ते ! किंफलह ? तवेणं भन्ते ! किं फलह
संजमेणं अज्जो ! अणण्हय फले तवेणं बोदारण फले ”

(भगवत्सूत्र शनक २ उद्देश ५)

अर्थ —

शुक्रिणा नगरीय आनिकेने भगवान् पार्श्वनाथकी स्थविरोंसे पूछा कि हे भगवन् ! संयम और तपस्याका क्या फल है ? इन प्रश्नका उत्तर देते हुए पार्श्वनाथ भगवान्के स्थविरोंसे कि संयमका फल, नवीन कर्मों का आगमन रुकना है और तपस्याका फल, पूर्वकृत कर्मों का नाश है ।

इस पाठमें श्रीपार्श्वनाथ भगवान्के स्थविरोंने अतः और प्रत्याख्यानसे संयम और निर्जराकी उत्पत्ति बतलाई है पुण्य बन्ध होना नहीं कहा है अतः अतः प्रत्याख्यान पुण्य बन्ध मानना शास्त्र विरुद्ध है । इसका अनन्तर उक्त श्रावकोंने पार्श्वनाथ भगवान्के स्थविरोंसे पूछा कि हे भगवन् ! संयम और तपस्यासे जिनके संयम और निजरा होती तो संयमी और तपस्वी पुरुष देवता कैसे होते हैं ? इस प्रश्नके चार उत्तर स्थविरोंने प्रत्येक पृथक् दिये थे । एकने कहा कि सराग अवस्थाकी तपस्यासे अतः

और तपस्वी पुन्य स्वर्ग जाते हैं । दूसरेने कहा कि सराग अस्त्राके समयसे जीव स्वर्ग जाते हैं । तीसरेने कहा कि क्षय होनेसे वचे हुए कर्माके द्वारा स्वर्ग जाने हैं । चौथेने कहा के मासारिक पदार्थों में आसक्त होनेसे देवना होते हैं । इन उत्तरामेने पहिलेके दो उत्तरों का अभिप्राय बतलाते हुए टीकाकागने यह लिखा है —

“ततश्च सराग कृतेन समयेन तपसाच देवत्वाप्राप्ति रागाशस्य कर्म बन्ध हेतु-
त्वात्” अर्थात् सराग समय और सराग तपस्यामें जो रागाग्न विद्यमान है वही कर्म
बन्धका हेतु है उसीमे सराग समय और सराग तपस्वी देवना होते हैं (समय और
तपस्यासे नहीं) तीसरे उत्तरमें क्षय होनेसे वचे हुए कर्माके कारण बन्ध होना कहा है
तपस्या और समयसे नहीं । चौथेमें, तपस्वी और समयमी पुरुषोका अपने भाण्डोप-
करणोंमें जो ममत्व भाव है उससे देव भवपाना गतलाया है तपस्या और समयसे नहीं ।
स प्रकार इन चारो उत्तरोंमेंसे किसीमे भी व्रत प्रत्याख्यानमे तथा व्रत प्रत्याख्यान पालते
समय जो काय कष्ट होता है उससे देवता होना नहीं कहा है अतः व्रत प्रत्याख्यानसे
या उनका पालन करनेमें होने वाले काय कष्टसे देवता होनेकी प्रत्याख्या एकान्त
मेध्या है । अर्थात् अल्पारम्भ और अपरिमहादिते व्यापक, देवता होत हैं तब उनका
समाश्रयसे भोजन करना एकान्त पापमें कैसे हो सकता है ? यह बुद्धिमानोंको स्वयं
ओच लेना चाहिये ।

(बोल २८ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १-२ पर लिखे हैं “अथ ईश पिण कयो
ते गृहस्थादिक नो देवो सत्तार भ्रमण हतु जागोने साधु त्याग्यो इमि कयो तो गृहस्थ
में तो श्रावक पिण आयो तो ते श्रावकने दानरी साधु अनुमोदता किम करे तिणमे धर्म
पुण्य किम कहिए ”

(अ० पृ० १०२)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सुयोगदाग सूत्रकी गाथा लिख कर इसका समाधान दिया जाता है । वर
गाथा यह है —

“जेणेह पिल्लहे भिक्खु भत्तपाणं तहा विहं
अणुत्तयाण मन्नेसिं तविज्ज परिजाणिया ”

(टीका)

“ येन अन्नेन पानेनवा तथाविधेनेन सुपरिशुद्धेन कारणापेक्षयात्त्वशुद्धेना
इदं अस्मिन् लोके इदं सयम यात्रादिकं दुर्भिक्ष रोगातट्टादिकं वा साधु निर्वहेन्तिवा
येद्वा तदन्नपानवा तथाविह द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया शुद्ध कल्प गृहणीयात्
तथैतेषामन्तादीनामनुप्रदानं मन्यस्मै साधवे सयमयात्रानिर्वाहणसमर्थमनुनिष्ठे
यदि वायेत केन चिदनुष्ठितेन इदं संयम निर्वहेदसारवामापादयेत् तथाविधमन्न
पानं मन्यद्वा तथापि मनुष्ठानं न कुर्व्याद् तथैतेषामन्तादीनामनुप्रदानं गृहस्थ
परतीर्थीकानां स्वययूथ्यानां वा सयमोपघातकं ननुशीलप्रेदिति तदेतत्सर्वं ज्ञपरिज्ञा
ज्ञात्वा सम्यक् परिहरेत् ” ।

अर्थ —

संयति पुरुष, उत्सर्ग मार्गमें शुद्ध और कारणकी अपेक्षासे अशुद्ध जिस अन्न
पानसे संयम और दुर्भिक्ष रोगातट्टादिका निर्वाह करता हो वह अन्न पान द्रव्य वं
काल और भावकी अपेक्षासे शुद्ध तथा कटपानुसार ही ग्रहण करे और उसी तरह
अन्न पान वह दूसरे साधुको भी सयम निर्वाहार्य प्रदान करे । अथवा जिसके अनुष्ठान
से साधुका सयम नष्ट हो जाय उस तरहका अन्न पान या और भी कोई अन्य का
साधु न करे । जिस अन्न पानसे साधुका सयम भ्रष्ट हो जाय ऐसा अन्न पान, गृहस्थ
स्वययूथिक, या परतीर्थीको साधु न देने किन्तु ज्ञपरिज्ञासे इसे जानकर प्रत्याख्यान
परिज्ञासे त्याग कर देवे । यह उक्त गाथाका टीकानुसार अर्थ है ।

इस गाथामें जिस अन्न पानके द्वारा साधुका सयम भ्रष्ट हो जाता है उसे स्वयं
देना और दूसरेको देना वर्जित किया है परन्तु “गृहस्थको दान देना ससार भ्रमणका
हेतु जान कर साधु छोड़ देवे ” यह नहीं कहा है इसलिये इस गाथाकी साक्षी देकर
गृहस्थके दानको ससार भ्रमणका हेतु बनाना मूर्खानाका परिणाम है । इस गाथाको लिख
कर इसके नीचे भ्रमनिषेधसनकारने जो टब्बा अर्थ लिखा है वह भी न तो मूल पाठ
शब्दोंसे निकलता है और न टीकासे ही मिलता है इसलिये वह महा अशुद्ध और मिथ्या
अर्थका घोषक है उसका आश्रय लेकर गृहस्थके दानको ससार भ्रमणका हेतु बनाना
मिथ्या है । इस गाथाके चतुर्थ चरणमें “तविज्ज परिजाणिया ” यह वाक्य आया है
सौचतानीसे यदि कोई इस वाक्यका अर्थ करे कि पूर्वोक्त कार्यको ससार भ्रमणका
हेतु जान कर साधु छोड़ देवे तो इस गाथाके पूर्व गाथामें भी यही वाक्य आया है
इसलिये उसे ब्रह्मा भी यही अर्थ करना होगा । वह गाथा यह है —

“ जस्तं किरिं सलोयंच जाय चदण पूयणा
सव्व लोमंसि जे कामा त विज्ज परिजाणिया ”

अर्थात् यज्ञ, कीर्ति, श्लाघा, चदन, पूजन और सासारिक सकल कामनायें साधु को छोड़ देनी चाहिये ।

इस गायामे भी “त विज्ज परिजाणिया” यह पाठ आया है इस लिये साधुके चदन पूजन और सत्कार सम्मानको भी ससार भ्रमणका हेतु ही मानना पड़ेगा । यदि कोई कहे कि यह बात साधुको अपने लिये कही गई है इस लिये साधु यदि अपनी वदना आदिकी इच्छा करे तो यह उसके समार भ्रमणका हेतु है परन्तु यदि गृहस्थ साधु का चदन पूजन करे तो यह काय्य बुरा नहीं है तो उसे कहना चाहिये कि इस गायामे अनुमार ही २३ वीं गायामे भी साधुके लिये ही कही गई है इस लिये साधु यदि गृहस्थको अनुचित दान देवे तो उसको २३ वीं गायामे बुरा कहा है परन्तु यदि गृहस्थ गृहस्थको अनुकम्पा दान देवे तो यह बुरा नहीं है । अतः सुय गङ्गा सूत्रकी २३ वीं गायामे नाम लेकर गृहस्थको दिये जाने वाले गृहस्थोके द्वारा अनुकम्पा दानको परान्त पाप बताना भ्रष्टानियोंका काय्य है ।

[बोल २९ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविश्वमनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १०३ के ऊपर निर्गीय सूत्र उद्देशा १५ बोल ७८-७९ के मूल पाठोको लिख कर उनकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ ईहा गृहस्थने वशनादिक दिया अने देताने अनुमोद्या चौमासी प्रायश्चित्त क्यो अने आवक पिग गृहस्थ इज छै ते माटे गृहस्थने दान साधुने अनुमोदनों नहीं धम इव तो अनुमोद्या प्रायश्चित्त क्यू कहो धर्मरी सदा ही साधु अनुमोदना करे ।”

इसका क्या समाधान ?

(भ० पृ० १०३)

(प्ररूपक)

निर्गीय सूत्र उद्देशा १५ बोल ७८-७९ के मूल पाठका आशय यह है कि साधु यदि किसी गृहस्थको उत्सव मार्गम अन्नादि देवे तो उसका अनुमोदन करने वाले साधु को प्रायश्चित्त आना है । यदि गृहस्थ किसी गृहस्थको अनुकम्पा दान देवे तो उसका अनुमोदन करने वाले साधुको प्रायश्चित्त बताना इस पाठका आशय नहीं है क्योंकि इस पाठके निकट वरी पाठका इसी प्रकारका अर्थ है तदनुसार इस पाठका भी यही अर्थ होना उचित है । यह निकट वरी पाठ यह है —

“जेभिक्षू अन्नउत्थियंवा गारत्थियंवा पज्जोसवेइ पज्जोसवं
तंवा साइज्जइ”

अर्थात् जो साधु अन्य यूथिको या, गृहस्थको पर्युपग करता है या कराते हुए का
वच्छा समझता है उसको प्रायश्चित्त आता है । यह इस पाठका अर्थ है ।

इसमें कहा है कि “गृहस्थ और अन्य तीर्थीको पर्युपग कराने वाले की अनुमोदना
करनेसे साधुको प्रायश्चित्त आता है” इसका आशय यही है कि साधु किसी गृहस्थको या
अन्य तीर्थीको पर्युपग करावे तो उसकी अनुमोदना करने वाले साधुको प्रायश्चित्त
होता है परन्तु यदि गृहस्थ किसी गृहस्थको पयुपग कराने तो उसका अनुमोदन करने
वाले साधुको प्रायश्चित्त बतलानेका आशय नहीं है उसी तरह बोल ७८ और ७९ के पाठ
का भी यही अभिप्राय है कि गृहस्थको उत्सर्ग मार्गमें दान देने वाले साधुको अनुमोदन
करनेसे साधुको प्रायश्चित्त होता है परन्तु गृहस्थको दान देने वाले गृहस्थकी अनुमोदना
करनेसे नहीं । यदि कोई यह बात न मान कर गृहस्थको अनुकम्पा दान देने वाले
गृहस्थके अनुमोदन करनेसे भी साधुको प्रायश्चित्त उतावे तो फिर उसके हिसाबसे
गृहस्थको या अन्य यूथिको प्रतिदमग (पर्युपग) कराने वाले गृहस्थके अनुमोदन
करनेसे भी साधुको प्रायश्चित्त होना चाहिये तथा जिस कार्यका साधु अनुमोदन नहीं
करते ऐसे पर्युपग रूप कार्य करने और कराने वाले गृहस्थको एकान्त पाप होता
चाड़िये परन्तु यह बात शास्त्र सम्मन नहीं है पर्युपग करने वाले या कराने वाले गृहस्थ
को तथा उसका अनुमोदन करने वाले साधुको एकान्त पाप नहीं होता उसी तरह गृहस्थ
को अनुकम्पादान देने वाले गृहस्थको और उसका अनुमोदन करने वाले साधुको प्राय-
श्चित्त नहीं होता । अतः गृहस्थको अनुकम्पा दान देने वाले गृहस्थके अनुमोदन करनेसे
साधुको पाप उताना मिथ्या है । भमन्निःसतनकारने निशीथ सूत्र उद्देशा १५ बोल ७८
और ७९ के मूल पाठका अर्थ पूर्वा पर मोचे निता ही गृहस्थको दान देने वाले गृहस्थके
अनुमोदन करनेसे साधुको प्रायश्चित्त होना बताया है अतः उनके अविवेक पूर्ण और
प्रकरण विरुद्ध अर्थके फदेमें पड़कर अनुकम्पा दानको एकान्त पाप नहीं समझना चाहिये ।

निशीथ सूत्रमें इस प्रकारके अनेकों पाठ मिलते हैं जिनका भूमविध्वसनकारकी
रीतिने अनेकान् महान् अत्ररत्ता लाग हो मरना है । अने कि निशीथ सूत्रमें यह
भी पाठ आया है —

“जेभिक्षू वासावास पज्जोसवो ंसि गामाणु गामं दुइज्जइ
दुइज्जंतं वा साइज्जइ”

(निशीथ सूत्र)

अर्थात् जो साधु, पथ्युपगके पूरा वषा ऋतुमें प्रामानुषाम विहार करता है या विहार करने वालेको अच्छा जानता है उसे प्रायश्चित्त आता है । जो साधु पथ्युपगक अनन्तर वषा ऋतुमें प्रामानुषाम विहार करता है या विहार करने वालेको अच्छा जानता है उसे प्रायश्चित्त आता है ।

इस पाठमें वर्षा ऋतुमें प्रामानुषाम विहार करने वाले और विहार करने वालेका अनुमोदन करने वाले साधुको प्रायश्चित्त आना कहा है इस लिये जो साधु अपने गुरुका दर्शन करनेके लिये भी पावस ऋतुमें प्रामानुषाम विहार करता है उसको, और उसका अनुमोदन करने वाले साधुको दोनों ही को प्रायश्चित्त आता है । भ्रमन्निध्वसनकारके मतसे जो श्रावक वर्षा ऋतुमें साधुदर्शनार्थ विहार करते हैं और जो साधु उस श्रावकको अच्छा जानते हैं उन दोनोंको उक्त पाठके अनुसार प्रायश्चित्त आना चाहिये । क्योंकि जैसे गृहस्थको दान देने वाले गृहस्थके अनुमोदन करनेसे साधुको प्रायश्चित्त होना भ्रमन्निध्वसनकार मानते हैं वही तरह वर्षा ऋतुमें साधु दर्शनार्थ प्रामानुषाम विहार करने वाले श्रावकको अच्छा जाननेसे भी साधुको प्रायश्चित्त मानना पड़गा । क्योंकि दान और विहारके सम्यन्धमें आये हुए पाठोंमें कोई विशेषता नहीं है जिससे इनके अर्थों में विशेषता हो, अतः जैसे गृहस्थको दान देने वाले गृहस्थ को अच्छा जाननेसे भ्रमन्निध्वसनकार साधुको प्रायश्चित्त होना बतलाते हैं उसी तरह पावस ऋतुमें साधुदर्शनार्थ प्रामानुषाम विहार करनेवाले श्रावकको अच्छा जाननेसे भी भ्रमन्निध्वसनकारके मतानुयायी साधुओंको प्रायश्चित्त होना चाहिये यदि कहो कि पावस ऋतुमें विहार करनेवाले साधुको अच्छा जाननेसे प्रायश्चित्त प्रत्यक्ष उक्त पाठका आशय है । साधु दर्शनार्थ प्रामानुषाम विहार करनेवाले श्रावकको अच्छा जाननेसे प्रायश्चित्त कहनका अभिप्राय नहीं है तो वही तरह सरल बुद्धिमत् समझो कि गृहस्थको दान देनेवाले साधुको अच्छा जाननेसे प्रायश्चित्त बतलाना निशीथके उस पाठका आशय है गृहस्थको दान देनेवाले गृहस्थको अच्छा जाननेसे प्रायश्चित्त बतलाना नहीं अतः निशीथ सूत्रका नाम लेकर श्रावकको धर्मपालनार्थ दान देनेसे अनन्त पाप कहना निनान्त मिथ्या है ।

भ्रमन्निध्वसनकारने श्रावकको दिये जाने वाले दानमें एकान्त पाप सिद्ध करनेके लिये जो निशीथ सूत्रका मूल पाठ लिया है उस पाठकी चूर्णीमें कारण पाकर साक्षात् साधुको भी गृहस्थ दानका विधान किया है वह चूर्णी मूल पाठके साथ लियी जाती है —

“जेमिक्खू अण्णउत्थिण्णवा भारत्थिण्णवा असणं वा ४ देयह देपन्तं वा साइज्जह जेमिक्खू अण्ण उत्थिण्ण वा भरत्थिण्ण वा

वत्थंवा परिग्गहंवा कम्बलंवा पायपुच्छणं वा देयह देयंतं वा साइज्जह”

(निशीथ सूत्र)

(चूर्णी)

“दुल्लहे भत्त पाण डंडिय माहिणा साहारणदिन्नं तत्थ ते गिही अन्नतीत्थिया विभज्जाएयवा अहते अनिच्छा साधु भणेज्ज अहंतेपन्ना ताते साह विभज्जनि साधुणा विभयंतेणं सव्वेसिं वा समगमेव विभईव्वं एसुवदेसो”

(निशीथ चूर्णी)

अथ —

किसी अकाल और दुष्कालके समय दाता पुरुष अन्य तीर्थी, गृहस्थ और साधुको शामिल में ही निश्चा छाकर देने तो साधु उस आहारका विभाग अन्य तीर्थी और गृहस्थोंसे ही कराये । यदि ये स्वयंविभाग न करके साधुसे ही विभाग करानेकी इच्छा प्रकट करे तो साधु बराबर बराबर बाट कर सबको दे देवे यही शास्त्रका उपदेश है ।

इस चूर्णीमें स्पष्ट लिखा है कि “कारण पडने पर साधु अन्य तीर्थी और गृहस्थ को शामिलमें मिली हुई भिक्षा बाट कर दे देते हैं” अतः साक्षात् साधु भी जब कारण पडने पर अन्य तीर्थी और गृहस्थको देता है तब यदि हीन दीन दुःखी जीव पर दया करके कोई गृहस्थ दान देवे तो उसमें एकान्त पाप कैसे हो सकता है ?

कारण पडने पर साधु भी गृहस्थको देते हैं यह केवल निशीथ सूत्रकी इस चूर्णी में ही नहीं आचाराग सूत्रके मूलपाठमें भी कहा है वह पाठ यह है —

“सेमिक्खूवा २ सेजं पुण जाणिज्जा समणं वा माहणं वा गोमपिण्ढोलगं वा अतिहिं वा पुच्चपचिट्ठं पेहाए नो तेसिं संलोए सपहि दुवारे चिट्ठिज्जा से तमायाए एगंतं भवक्कमेज्जा अवक्कमित्ता अणावायमसलोए चिट्ठिज्जा ससेपरो अणावाय मसंलोए चिट्ठमाणस्स असण वा ४ आरहुदलइज्जा सेयएवं वएज्जा आउसंतो समणा । इमेभेअसणे सव्वजणाए निसिद्धे तं भुंजह वाणं परिभाएहतचे गइओ पडिग्गाहिता तुसीणिओ उवेहिज्जा । अवि आहं एयं मम मेव सिया माइटाणं सेफासे नो एवं कारिज्जा से तमायाए तत्थगच्छिज्जा से पुच्वामेय आलोइज्जा आउसन्तो ! समणा ! इमे भे असणे वा ४

वज्रणां निसिद्धे तं भुज्जं वाणं जाव परिभाएहवाणं सेणं मेयं
 त्तं परो वएज्जा आउसन्तो समणा ! तुमं चैवंणं परिभाएहि
 तत्थ परिभाएमाणे नो अप्पणो खद्धं खद्धं दायं दायं ऊसढ ऊसढं
 सणं रसियं मणुन्नं मणुन्नं निद्धं निद्धं लुक्खं लुक्खं से तत्थ
 भुज्जिण अगिद्धे अगिद्धिण अणज्जोववन्ने बहु सममेव परिभा-
 ज्जा । सेणं परिभाएमाणं परोवएज्जा आउसन्तो समणा ! माणं
 मं परिभाएहि सव्वे वेगइया ठिआउ भुक्खामो से तत्थ भुज्जमाणे
 प्पगा खद्धं खद्धं जाव लुक्खं से तत्थ अमुज्जिण ४ बहु सम-
 व भुज्जिज्जा पाइज्जा वा”

(आचाराग सूत्र)

अथ —

किसी ग्राम या नगरमें मिश्राके लिये गये हुए साधु को यह मालूम हो जाय कि “इस
 ग्राममें कोई दूसरा मिश्रक मिश्राके निमित्त गया हुआ है” तो साधु दाता और याचकके अस्तित्व
 का अनुमान करके भयसे उनके सम्मुख न खड़ा रहे, तथा उस गृहके द्वार पर भी न खड़े बहसे हट
 कर किसी एकान्त स्थानमें चला जाय और जहां मनुष्योंका गमनागमन न होता हो तथा दाता
 और याचककी दृष्टि न पड़ती हो बह जाकर खड़े । ऐसे स्थानमें खड़े हुए साधुके पास आकर
 वह गृहस्थ यदि चतुर्विध आहार देकर कहे कि “हे आयुष्मन् श्रमण ! आज आप बहुतसे मिश्रक
 मिश्राय भरे घर पर आ गये हैं परन्तु मैं किसी कार्य विशेषमें फंसा हुआ हूँ अतः अलग अलग
 आटा आप लोगोंको मिश्रा देनेमें असमर्थ हूँ यह चतुर्विध आहार आप सबको इकट्ठा ही देता
 हूँ आप लोग अपनी इच्छानुसार इसे एक साथ ही खा लें या बाट बाट कर खायें” तो साधु
 अलग मार्गमें उस आहारको न लेय परन्तु दुर्भिक्ष आदिके समय या मार्गकी परावृत्ती के लक्षणोंमें
 साधु उस मिश्राको ले सकता है उसे लेकर साधु यदि यह सोचे कि “यह मिश्रा गृहस्थों मुझको
 देना है और यह है भी थोड़ी इस लिये इसे मैं जफेटा ही खा जाऊँ” तो यह कपटी है ऐसा
 साधुको कदापि न करना चाहिये अतः उस मिश्राको लेकर साधु दूसरे मिश्रकोंके पास जाये
 और उन्हें स्पष्टता पत्र कहे कि हे श्रमणो ! यह आहार आप सभी लोगोंके लिये गृहस्थोंने इकट्ठा
 दिया है इस लिये आप इसे इकट्ठा ही खा लें या बाट बाट कर खायें । यह सब कर यदि कोई
 साधु यह सोचे कि हे आयुष्मन् श्रमण ! आप ही इसे बाटबर हम सबको दे देंगे तो उत्सर्ग मार्गमें
 पुनः इस बातको एवोकार न कर । यदि अववाद मार्गमें साधुको शत्रुता पड़े तो वह लोभमें आकर
 क्रोध, घमण्य, चिन्ते रूप और मनोऽपवाद अपने हितमें अधिक न लेने किन्तु सभी चीजोंका

समान विभाग करें । विभाग करते समय यह ध्यान रखने कि सभी हिस्से प्रायः समान हों ।
उम समय यदि कोई यह कहे कि हे आयुष्मन् धर्मग ! आप इमे न घात हम सब इसे भाग
रहा होंगे तो साधु परतीरियोंके साथ भोजन न करे, अपने यूथके पार्श्वस्थ और संभोगिक साथ
साथ आलोचना लेकर खाये । खाते समय उन आहारोंमें साधु मूर्च्छित न हों और अच्छा भोजन
चीजें साथ खाये घालेंसे उपादा न खा जाय, समान ही खाये । यह इस पाठका संक्षेप
अर्थ है ।

यहां अपनाट मार्गमें दूसरे भिक्षुकोके शामिलमें मिली हुई भिक्षाको बाट
देना साधुके लिये कहा है इस लिये अपवाद मार्गमें साधु भी गृहस्थ और अन्य
को देते हैं । जन कि साधु भी अपवाद मार्गमें अन्य तीर्थों और गृहस्थको देते हैं
यदि कोई गृहस्थ किसी गृहस्थको दान देकर उसके धर्मकी रक्षा करे तो इसमें एक
पाप कैसे हो सकता है ? अतः निशीथ सूत्र उद्देशा १५ धोल ७८-७९ के मूल
नाम लेकर गृहस्थको अनुकम्पा दान देनेमें एकान्त पाप बताना अज्ञानका परिणाम सम
झना चाहिये ।

(प्रेरक)

भ्रमनिध्वसन कार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १०३ के ऊपर लिखते हैं “इण निशीथ
पनरमे उद्देशे एहवा पाठ कथा छे— “जेमिस्सू सचित्तं अस्वं मुज्झं मुज्जंतं वा स
उज्झं” इहा कथो सचित्तं आवो भोगवे भोगवताने अनुमोदो तो प्रायश्चित्त आवे ।
साधु भोगवतो हुवे तेहने अनुमोदनो नहीं तो गृहस्थ आवो भोगवे तेहने साधु किम
मोदे जो गृहस्थरा दानने साधु अनुमोदे तो तिण्णे लेखे आवो गृहस्थभोगवे तेहने
अनुमोदणो”

(भू० पृ० १०३)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

आम्र फल वाले पाठके दृष्टान्तसे गृहस्थके दानको एकान्त पापमें स्थापन करने
मिथ्या है । सचित्त आम्रके खानेमें प्रत्यय जीव हिंसा होती है इस लिये साधु उम
अनुमोदन नहीं कर सकते चाहे गृहस्थ सचित्त आम्र खावे या साधु खावे साधु दोनों
को बुरा जानते हैं परन्तु यह बात गृहस्थके दानमें नहीं घटती । गृहस्थ यदि किसी गृहस्थ
पर अनुकम्पा करके अचित्त अन्न और अचित्त दधि आदि पदार्थ देवे तो उममें कौनसे
जीवहिंसा होती है जिससे साधु उस अनुकम्पाका अनुमोदन न करे । साधु हिंसाका अनु
मोदन नहीं करते अनुकम्पाका अनुमोदन करते हैं अतः सचित्त आम्र फल वाले पाठ

अन्त देकर दीन हीन दुःखी जीवको अनुकम्पा दान देनेमें एकान्त पाप बतलाना
होना परिणाम समझना चाहिये ।

(बोल २९ वां समाप्त)

(प्रेरक)

गृहस्थको दान देनेसे यदि पुण्य होता है तो साधु भी उत्सर्ग मार्गमें गृहस्थको
क्यों नहीं देता तथा निशोध सूत्रमें गृहस्थको दान देने वाले साधुको प्रायश्चित्त माना
गया है ?

इसका उत्तर दीजिये ?

(प्रत्यक्ष)

गृहस्थ तथा अन्य तीर्थी के ऊपर अनुकम्पा लाकर दान देनेमें एकान्त पाप होता
होना निशोध सूत्रमें साधुको गृहस्थ दानका निषेध नहीं किया है, किन्तु, ज्ञान, दर्शन
और चारित्र्य रूप विशाल धर्मको छोड़ कर अनुकम्पा दान रूप एक साधारण पुण्यका
भोग करना साधुके लिये वर्जित किया गया है । अनुकम्पा दानका पुण्य लाभ तो गृह-
स्थावस्थामें भी किया जा सकता है परन्तु ज्ञान दर्शन और चारित्र्य रूप धर्मका लाभ
गृहस्थावस्थामें पूर्णतया नहीं हो सकता इसीलिये गृहस्थावस्थाको छोड़कर दीक्षा ग्रहण की
जाती है । दीक्षा लेनेका उद्देश्य ज्ञान दर्शन और चारित्र्यकी उत्पत्ति करना है उस मुख्य
उद्देश्यको छोड़ कर अनुकम्पा दान आदि साधारण पुण्यके कार्योंमें प्रवृत्त होना साधुके
लिये अनुचित और उसकी अवतत्तिका कारण है । जैसे कोई रत्नका व्यापारी रत्नके
व्यापारको छोड़ कर पैसेके व्यापारमें प्रवृत्त हो जाय तो उसके लिये यह उचित नहीं कहा
जा सकता यद्यपि उसको पैसेके व्यापारमें केवल घाटा ही नहीं लाभ भी होता है तथापि
रत्नक व्यापारमें होने वाले लाभकी अपेक्षासे वह लाभ बहुत ही निरुप है उसी तरह जो
साधु ज्ञान दर्शन और चारित्र्यका व्यापार छोड़ कर अनुकम्पा दान जैसा एक साधारण
पुण्यके व्यापारमें प्रवृत्त होता है वह महान लाभको छोड़ कर एक साधारण लाभका
कार्य करता है इसी लिये शास्त्रमें यह कार्य साधुको अनुचित कहा गया है, यह नहीं
है अनुकम्पा दानसे एकान्त पाप होना जान कर गृहस्थ दानका निषेध किया गया हो ।

यदि कोई कहे कि—गृहस्थको दान देनेसे साधुके ज्ञान दर्शन और चारित्र्यकी
उत्पत्तिमें क्या बाधा होती है ? तो उसे कहना चाहिये कि साधुको अपने शरीरके
निकाइसे अधिक भोजन लेना कठपटा नहीं है ऐसी दृष्टिमें यदि साधु अन्य तीर्थी और

गृहस्थको अनुष्णा दान देवे तो उसे अपने आहारमें अधिक भोजन लेनेकी आवश्यकता होगी और अपने आहारसे अधिक भोजन लेने पर साधुकी निग्वण भिक्षा वृत्ति नष्ट कायम रह सकती, तथा उसके चारित्र्यमें बाधा और गृहस्थाके साथ परिचय भी बढ़ेगा है इसी कारणसे निशीथ सूत्रमें साधुको गृहस्थ दानका निषेध किया है एकान्त पाप करने की नहीं। निशीथ सूत्रमें शिथिलाचारी साधुके अन्न, वस्त्र, फल आदि लेनेसे साधुको प्रायश्चित्त होना कहा है वह पाठ यह है —

“जे भिक्षू पासत्यस्स असणं पाणं खाइमं साइमं पडिच्छइ पडिच्छ तं वा साइज्झइ । जे भिक्षू पासत्यस्स वत्थं वा पडिच्छइ पडिच्छ तं वा साइज्झइ । जे भिक्षू पासत्यस्स गगहं वा कम्बलं वा पाय पुच्छणं वा पडिच्छइ पडिच्छ तं वा साइज्झइ । जे भिक्षू पासत्यस्स उज्जहं वा पडिच्छइ पडिच्छ तं वा साइज्झइ ।”
(निशोथ सूत्र)

अभाव जो साधु शिथिलाचारो साधुके अन्न, पान, पाय व्याय, धन्य परिपद, अन्न और पाद प्रोच्छन्न होता है वा लेने वालेको अच्छा जानता है उसे प्रायश्चित्त होता है।

इस पाठमे शिथिलाचारी साधुके अशन, पान, राग, स्वाद्य, वल, परिग्रह, कर्म और पाद प्रोष्ठन लेनेसे साधुको प्रायश्चित्त होना कहा है ।

यह यह प्रश्न उठता है कि साधु तो गृहस्थसे भी इन चीजोंको लेता है और गृहस्थ शिथिलाचारी साधुकी अपेक्षा बहुत ही न्यून है अतः जब गृहस्थसे इन चीजोंको लेना साधुके लिये बुरा नहीं है तो फिर शिथिलाचारी साधुने लेना क्यों दोषका कारण होता है ? इसका उत्तर यही है कि शिथिलाचारी साधुसे लेने देनेका व्यवहार रखने पर साधुको ससर्ग दोषसे स्वयं भी शिथिलाचारी हो जानेकी आशङ्का है इस आशङ्काके कारण ही निशोथके उक्त पाठमें शिथिलाचारी साधुसे अन्न वस्त्रादि लेने देनेका निषेध किया गया है शिथिलाचारी साधुसे लेनेमें एकान्त पाप जान कर नहीं उसी तरह ज्ञान दर्शन और चारित्रिकी उन्नतिमें बाधा पड़ती देख कर निशोथ सूत्रमें साधुको गृहस्थ दानका निषेध किया है एकान्त पाप जान कर नहीं उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १ गाय ३५ में श्वार्ते ओगसे धिरे हुण स्थानमें साधुको भोजन करनेका विधान किया गया है इसका अभिप्राय बतलाते हुए टीकाकारने यह लिखा है “तत्रापि प्रतिच्छन्ने उपरि प्राव रणान्विते अन्यथा सपातिम सत्त्व संपात मभवात् । सकटे पार्श्वत फट कुड्या दिन संकट द्वारे अटव्या कुड्गादिपुवा अन्यथा दीनादियाचने दानादानयो पुण्ययव प्रद्वेषा दि दर्शनात्” अर्थात् ऊपरसे धिरे हुण मकानमें साधुको भोजन करना चाहिये नहीं

उड़ने वाले जीव वहा आ सकते हैं । तथा दीवाल या चटाईके द्वारा चागे तफ से घिरे मकानमें साधुका आहार करना चाहिये अन्यथा दीन दुखीके मागने पर देनेसे अन्य श्रम्य और नशी देनेसे विद्वेष होता है ।

यहा टीकाकारने दीन दीन दुखी जीवको दान देनेसे पुण्य होना बतलाया है काल्प पाप होना नहीं परन्तु ऐसे सामान्य पुण्यक फाल्गुमि साधुको प्रवृत्त होना उचित ही है इसलिये उत्तराध्ययन सूत्रमें साधुको खुली जगहपर भोजन करना निषेध किया । साधु हीन दीन दुखी जीवोंको अनुकम्पा दान स्वयं नहीं देता इसलिये यदि कोई अनुकम्पा दानमें पाप ठहरावे तो भगवत्को निम्न लिखित पाठ दियला कर उसका भ्रम दूर करना चाहिये । वह पाठ यह है—

“ निगंधं चणं गाहावह कुलं पिण्डवायपडियाए अणुप्य विद्ध कैहं दोहिं पिण्डेहि उव निमन्तेज्जा । एगं आयुस्ते अप्पणा भुजाहि एगं येराणं दलपाहि सेय त पिण्डं पडिग्गाहेज्जा येरायसे अणुगवेसियन्वासिया जत्येव अणुगवेसमाणे थेरे पासिज्जा तत्ये- वाणुपदायन्वे सिया नो चेवणं अणुवेसमाणे थेरे पासिज्जा त नो अप्पणा भुजेज्जा नो अन्नेसिं दावए एगंते अणावाए अचित्ते बहु सासण पण्डिले पडिले हित्ता पमज्जित्ता परिट्ठावे सिया ”

(भगवती शास्त्रक ८ उद्देशा ६)

अथ —

गृहस्थके घर पर मिश्राय गण हुए साधुको कोई गृहस्थ दो पिण्ड (लड्डू) लाकर देने और कहे कि “ हे भायु पमन् धम्मग ! इनमेंसे एक पिण्ड तो आप स्वयं खा लेना और दूसरा स्थविरको देना ” तो साधु उन दोनों पिण्डोंको लेकर स्वविरकी गवेयणा करे जहा स्थविरको दान बहा लाकर वह पिण्ड उभे दे देवे । यदि दू दानेपर भी स्थविर न मिले तो वह पिण्ड साधु स्वयं न खाव और दूसरे किसी साधुको भी न देवे किन्तु एकान्त घट्ट प्रायक स्थानपर एउ और पडि- लेहन करके परठ देव । यह हम पाठका अर्थ है ।

इसमें कहा है कि “ स्थविरको दानार्थ गृहस्थसे मिला हुआ पिण्ड, स्थविरके न मिलनेपर साधु किसी दूसरे साधुको न देवे ” तुम्हारे हिसाबसे साधुको देनेमें भी पाप कदना चाहिये क्योंकि स्थविरको देनेके लिए मिला हुआ पिण्ड, किसी साधुको भी साधु नहीं देता । यदि कहो कि वह पिण्ड, साधुने स्थविरको देनेकी प्रवृत्तासे लिया है इसलिये उसे वह दूसरे साधुको नहीं देता लेकिन साधुको देनेमें पाप नहीं है तो वसी

तरह साधुने अपना और अपने सामोर्गिक साधुको खानेके लिये भिक्षा गृहस्थसे लेनी
दूमेरे किमीको देनेके लिये नहीं इसलिये वह अपना भिक्षान्न किसी गृहस्थ या अन्य
तीर्थीको नहीं देता परन्तु गृहस्थ या अन्य तीर्थीको अनुकम्पा दान देना एकान्त पाप नहीं
है अतः गृहस्थ या अन्य तीर्थीको अनुकम्पा दान देनेमें एकान्त पाप कहना शास्त्र विरुद्ध
समझना चाहिए ।

(बोल ३० वां समाप्त)

(प्रेरक)

साधुसे इतरको दान देनेसे पुण्यबन्ध होना यदि कहों मूल पाठमें लिखा हो तो
उसे बतलाइए ?

(प्ररूपक)

साधुसे इतरको अनुकम्पा दान देना पुण्यका कार्य है यह, दण्ड वैकालिक सूत्र
लिखा है वह गाथा यह है —

“ असणं पाणगंवापि खाइमं साइमं तथा
जं जाणिज्ज सुणिज्जावा पुणद्धा पगडं इमं
तं भवे भत्तपाणं तु संजयाणं अकप्पियं
दितिय पडियाइस्से नमे कप्पड तारिसं ”

(दशवैकालिक सूत्र अ० ५ उ० १ गाथा ४९-५०)

अर्थ —

भिक्षाचरीके निमत गया हुआ साधु, यदि यह जाने या खने कि यह अन्न पान खाए
और स्वाध पुण्याध बनाया गया है तो उसे अपने लिये अरुपनीय समझे । वह अन्न यदि कोई
देने लगे तो साधु न लेने और पुण्यार्थ बनाया हुआ अन्न सुप्तको नहीं कल्पता यह कह देवे ।

इन गाथाओंमें साधुसे इतरको देनेके लिये बनाये हुए अन्नको “ पुण्याध ” कहा
गया है । यदि साधुने इतरको दान देनेसे एकान्त पाप होता तो इस पाठमें वह अन्न
“ पापार्थ प्रकृत ” कहा जाता अतः साधुसे इतरको दान देनेसे एकान्त पाप कहना
अज्ञानका परिणाम है । जिसके घरमें साधुसे इतरको देनेके लिये अन्न बनाया जाता है
टीकाकारने उसे शिष्ट कहा है । वह टीका यह है “ पुण्यार्थ प्रकृत परित्यागे शिष्ट कुल्लु
वस्तु तो भिक्षाया अप्रहणमेव शिष्टाना पुण्यार्थमेव पाक प्रवरो ”

टीकाकारने मूलके गूढ आशयको प्रकट करनेके लिये शङ्का करते हुए यह लिखा
है कि “ पुण्यार्थ बनाया हुआ अन्न यदि साधु नहीं लेना तो फिर वह शिष्ट लोगोंके

जिसमें भिक्षा ले ही नहीं सकता क्योंकि शिष्ट लोगोंकी पुण्यार्था ही पाठमें प्रवृत्ति होती है। इसका समाधान आगे दिया गया है लेकिन प्रकृतानुषंगी होनेसे वह नहीं लिखा गया है। यहाँ टीकाकारने साधुसे इतरको दान देनेके लिये जिसके घरमें अन्न बनाया जाता है उसे शिष्ट कहा है एकान्त पापी नहीं कहा इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधु इतरको दान दत्ता एकान्त पाप नहीं है उसमें पुण्य भी होता है। अतः साधुसे इतर को दान दान हीन दुःखी जीवपर दिया लाकर दान देनेमें एकान्त पाप कहना अज्ञानियोंका कार्य समझना चाहिये ।

(बोल ३१)

(प्रश्न)

श्रावकोकी सेवा भक्ति और दान सम्मान करनेका विधान यदि कहीं मूल पाठमें किया हो तो उसे बतलाइये ।

(प्रत्युप)

भगवती सूत्र श्लोक २ उद्देश ५ के मूल पाठमें श्रावकोकी सेवा भक्ति करनेका स्पष्ट विधान किया है। वह पाठ अर्थके साथ लिया जाता है ।

“ तत्तारुवेणं भन्ते ! समणं वा माहनं वा पञ्जुवासमाणस्स किं फला पञ्जुवासणा ? णाण फले सेणं भन्ते ! णाणे किं फले विण्णाण फले सेणं भन्ते ! विण्णाणे किं फले पच्चक्खाण फले सेणं भन्ते ! पच्चक्खाणे किं फले सज्जम फले सेणं भन्ते ! सज्जमे किं फले अणहणय फले एवं अणहणय तव फले, तवेवोदारण फले, बोद्धाणे अकिरिया फले सेणं भन्ते ! अकिरिया किं फला सिद्धि पञ्जवसाण फला पणत्ता भोयमा ! ”

(भग० सू० २ उ० ५)

अर्थ —

(प्रश्न) हे भगवन् ! तथा रूपके श्रमण (साधु) और माहन (श्रावक) की सेवा करनेका क्या फल है ?

(उत्तर) हे गोतम ! तथारूपके श्रमण और माहनकी सेवा करनेका शास्त्र श्रवण फल है। और शास्त्रके श्रवण करनेका पदार्थज्ञान फल है इसी तरह पदार्थज्ञानका

और दशविंशति धर्मका अनुष्ठान करना आदि भगवान्‌की आज्ञामें है परन्तु साधुके समान वेप बनाना निर्दाप आहार लेना भाण्डोपकरण रखना इत्यादि कार्य वीतरागका आज्ञामें नहीं है इन कार्यों को ११ वीं प्रतिमाधारी आवश्यक अपनी इच्छासे करता है अतः ११ वीं प्रतिमाधारीका साधुके समान वेप बनाना, भाण्डोपकरण रखना, और पारणके दिन सूझता आहार लेना यह सब एकान्त पापमें है धर्म या पुण्य नहीं है । इसका क्या उत्तर ?

(प्रत्युपक)

एग्यारहवीं प्रतिमाधारी आवश्यकके लिये दशाश्रुत स्कन्ध सूत्रमें साधुके समान वेप बनाना, धार्मिक भाण्डोपकरण रखना और पारणके दिन सूझता आहार लेना, ये सब विधान किये गये हैं उस विधानके अनुसार ही एग्यारहवीं प्रतिमाधारी आवश्यक साधुके समान वेप बनाता है, भाण्डोपकरण रखता है और पारणके दिन सूझता आहार लेता है अतः ११ वीं प्रतिमाधारीके ये सब कार्य वीतरागकी आज्ञामें है अपनी इच्छासे नहीं है इसलिये इन कार्योंमें एकान्त पाप कहना मिथ्यावादिओंका कार्य है । सातवीं प्रतिमामें जो आरम्भका त्याग नहीं होता उसका दृष्टान्त देकर ११ वीं प्रतिमामें भाण्डोपकरण रखने आदिको आज्ञा बाहर कहना भी अज्ञान है क्योंकि सातवीं प्रतिमामें आरम्भ करनेका विधान शास्त्रमें नहीं किया गया है इसलिये सातवीं प्रतिमाधारीका आरम्भ करना अपनी इच्छासे है शास्त्रकी आज्ञासे नहीं परन्तु ११ वीं प्रतिमामें भाण्डोपकरण रखना साधुके सदृश वेप बनाना और पारणके दिन सूझता आहार लेना शास्त्रकी आज्ञानुसार है अपनी इच्छासे नहीं अतः यह सब आरम्भके समान एकान्त पापमें नहीं हैं । सातवीं प्रतिमामें “आरम्भे अपरिण्णाते भवति” यह पाठ आया है इसका अर्थ यह है कि “सातवीं प्रतिमाधारी आरम्भ नहीं छोड़ता कि तु आरम्भ करता है” यह पाठ सातवीं प्रतिमाधारीको आरम्भ करनेका विधान नहीं करता, किन्तु अनुवाद करता है । यदि विधान करता तो यहाँ यह कहा जाता कि “सातवीं प्रतिमामें आवश्यकको आरम्भ करना चाहिये” अतः सातवीं प्रतिमाधारीका आरम्भ अपनी इच्छासे है शास्त्रकी आज्ञासे नहीं और वह आरम्भ पहले हो से उस आवश्यकमें मौजूद है परन्तु ११ वीं प्रतिमामें साधुके समान वेप बनाना धार्मिक भाण्डोपकरण लेना पारणके दिन सूझता आहार लेना यह सब शास्त्रमें विधान किये गये हैं और उस विधानके अनुसार ही ११ वीं प्रतिमाधारी इन सब कार्यों को करता है और ये सब बातें आवश्यकमें पहलेसे मौजूद भी नहीं हैं किन्तु ११ वीं प्रतिमामें ही शास्त्रकी आज्ञा होनेसे नवीन स्वीकार की जाती हैं अतः आरम्भका दृष्टान्त देकर ११ वीं प्रतिमाधारी आवश्यकके साधु तुल्य वेप बनाने, भाण्डोपकरण

करने, पारणके दिन सुअना आहार लेने आदिको पापमे बताना मिथ्यावादियों का कार्य है ।

(बोल ३६ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमनिवृत्तकार भ्रमनिवृत्तन पृष्ठ १०९ के ऊपर लिखते हैं “तियारे कोई एक कह जो पहिमाधारीने दिया धर्म न हुवे तो दशाश्रुतस्कन्ध सूत्रमें इस क्यू नहो जे पहिमाधारी न्याती लारे घरे भिक्षाने अर्थ जाय तिहा पहिला वनरी दाळ अने पछे वतरया चावल तो कल्पे पहिमाधारीने दाळ लेगी न कल्पे चावल लेवा” इत्यादि लिख कर आगे लिखते हैं—“इस फहे तेहनो उत्तर ए कल्पनाम आज्ञानो नहीं छै ए कल्पनाम तो आचानो छै पहिमाधारीने जेहवो आचार कल्पतो हुन्तो ते बनायो पिण आज्ञा नहीं दी की इस जो आज्ञा हुये तो अम्बडने अधिकारे पिण एहवो कयो” इत्यादि लिख कर अम्बड सन्यासीके विषयमें आया हुआ पाठ लिख कर उसके दृष्टान्तसे ११ वीं प्रतिमाधारीक आचारको आज्ञा बाहर सिद्ध करनेकी चेष्टा की है । इसका क्या समाधान ? (प्ररूपक),

अम्बड सन्यासी तथा दूसरे परित्राजकके अधिकारमे जो “कल्प” शब्द आया है वह परित्राजकोंके शास्त्रका कल्प है वीतरागकी आज्ञाका रूप नहीं है तथा वरग वाग न चूयाने अधिकारमें जो यह कहा है कि “जो मुझे पहिले वाण मारेगा उमीको मैं भी वाण मारूंगा” यह कल्प भी तीर्थंकर की आज्ञाका नहीं किन्तु वरग नागनचूया की इच्छाका रूप है परन्तु प्रतिमाधारीके अधिकारमे जो कल्प शब्द आया है वह तीर्थंकरका विधान किया हुआ कल्प है प्रतिमाधारियोंकी इच्छाका कल्प नहीं है क्योंकि दशाश्रुत स्कन्ध सूत्रमें प्रतिमाधारीके कल्पका तीर्थंकर और गणगरोने विधान किया जाता लिया है । वह पाठ यह है —

“सुधमे जाउसं ! तेणं भगववा एव मङ्गलाहं” इह खलु धेरेहिं भगवन्तेहिं एगारस्स उवासग पहिमाओ पन्नत्ताओ”

अर्थात् हे आयुष्मन् ! स्वधिर भगवन्तोंने निम्न प्रकार धावकोंकी ११ प्रतिमाओंको हैं उर्या ताह तीर्थंकरने भी कही है यह भी छना है ।

इस पाठमे ११ प्रकारकी प्रतिमाओंका आचार तीर्थंकर और गणगरोसे कहा हुआ कहा है इसलिये ११ वीं प्रतिमाधारीका कल्प तीर्थंकर बोधित है अपनी इच्छाका कल्प

नहीं है अतः प्रतिमाधारीके रूपको ऐच्छिक कायम करके वीतरागकी आशासे उसे वाहर
वताना अज्ञानियोंका कार्य है ।

(बोल ३७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ११५ के ऊपर भगवती शतक ७ उद्देश १
का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं “अथ इहा पिण सामा
यकमे आचकरी आत्मा अधिकरण कही है । अधिकरण ते ह्य कायरो शस्त्र आणवो ते
माडे सामायक पोपामें तेहनी काया शस्त्र छै । ते शस्त्र तीग्या क्रिया यमै नहीं । वली
ठाणाङ्ग ठाणे दश अत्रवने भाय शस्त्र कछो छै ते सामायकमे पिण वस्त्र गेहणा पूजनी
आदिक उपकरण अने काया प सर्प अग्रन छै तेहना यन्न क्रिया धर्म नहीं” इसका क्या
समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक ७ उद्देश १ में जैसे आचकरी आत्मा अधिकरण कही है
उसी तरह भगवती सूत्र शतक १६ उद्देश १ में साधुकी आत्मा भी अधिकरणी कही
गई है वह पाठ यह है —

“जीवेणं भन्ते । आहारग शरीरं निवृत्तिमाणे किं अधिक
रणी अधिकरणं वा पुच्छा ? गोयमा ! अधिकरणीवि अधिकरणं वि ।
सेकेणद्वेणं जाव अधिकरणंवि । गोयमा ! प्रमादं पडुच्च सेतेणद्वेणं
जाव अधिकरणंवि”

(भगवती शतक १६ उ० १)

अर्थ —

(प्रश्न) हे भगवन् ! आहारक शरीरको उत्पन्न करता हुआ जीव, क्या अधिकरणी होता
है या अधिकरण होता है ?

(उत्तर) हे गोतम ! आहारक शरीरको उत्पन्न करता हुआ जीव अधिकरणी भी होता है
और अधिकरण भी होता है ।

(प्रश्न) इसका क्या कारण है ?

(उत्तर) हे गोतम ! आहारक शरीरको उत्पन्न करता हुआ जीव, प्रमादकी अपेक्षा से
अधिकरणी भी होता है और अधिकरण भी होता है ।

इस मूलपाठमे प्रमादी साधुकी आत्माको प्रमादकी अपेक्षासे अधिकरण, और
अधिकरणी कहा है और इस पाठकी टीकामें भी यही बात कही है वह टीका यह है —

“आहारकशरीर सयमवनामेव भवति तत्र चाविस्तेरभावेऽपि प्रमादादधिकरणत्वं न भवेत्यम्”

अर्थात् आहारक शरीर संयमधारीका ही होता है उस संयमधारीमे यद्यपि अविस्तेर नहीं है तथापि प्रमादके कारण उसे अधिकरग समझना चाहिये । तथा ठाणाङ्ग सूत्रके दशमं ठाणेमे अकुशल मन वचन और कायको भाग्य शस्त्र कहा है और प्रमादकी हालतमें प्रमादी साधुके भी मन वचन और काय अकुशल होते हैं । तथा भगवती शतक १ उद्देश १ में प्रमादी साधुको आत्मारम्भी परारम्भी और तदुभयारम्भी कहा है वह पाठ यह है —

“तत्पुणं जेतुं पमत्तं संजया ते सुहृजोगं पडुच्च णो आयारंभा णो परारंभा णो तदुभयारंभा अणारंभा चे व अस्तुभजोगं पडुच्च आया-
नावि परारंभावि तदुभयारंभावि णो अणारंभा”

(भगवती शतक १ उद्देश १)

अर्थ —

प्रमादी साधु, अशुभयोगकी अपेक्षासे आत्मारम्भी परारम्भी और तदुभयारम्भी नहीं है किन्तु आत्मी है परन्तु अशुभ योगकी अपेक्षासे आत्मारम्भी परारम्भी और तदुभयारम्भी है अन्तर्भा नहीं है ।

इस पाठमें प्रमादी साधुको अशुभ योगकी अपेक्षासे आत्मारम्भी परारम्भी और तदुभयारम्भी कहा है और पूर्वलिखित भगवतीके पाठमें प्रमादी साधुकी आत्माको अधिकरग कहा है एवं ठाणाङ्ग सूत्रके दशमं ठाणेमे दुष्प्रयुक्त मन वचन और कायको भाग्य शस्त्र कहा है अतः प्रमादी साधुको अन्नादि दान देना भी भ्रमरिष्यसन्नकारके हिसाबसे शस्त्रको ही तीरसा करना कहना चाहिये धर्म या पुण्य नहीं । यदि कहो कि “प्रमादी साधुको उनके प्रमादकी वृद्धिके लिये दान नहीं दिया जाता किन्तु उसके ज्ञान दर्शन और चारित्रकी उत्कर्षके लिये दिया जाता है इसलिये प्रमादी साधुको दान देना शस्त्रको तीरसा करना नहीं है” तो उसी तरह यह भी समझो कि श्रावकको उसका दोषोंकी वृद्धिके लिये आहारादि नहीं दिया जाता उसके प्रतिकी पुष्टिके लिये दिया जाता है अतः श्रावकको प्रत्येक पुण्यार्थ दान देना भी एकान्त पाप या शस्त्रको तीरसा करना नहीं है । इसे एकान्त पाप या शस्त्रको तीरसा करना घतलाने वाले मिथ्यावादी हैं ।

सामायक और पोषाके समय श्रावक, अपन धर्मका पालन करनेके लिये पूजनी आदि धर्मोपकरण रखने हैं उन उपकरणोंको एकान्त पापमें नाना पापियोंका फार्ज है । बिना पूजे पोषोपवास करनेसे श्रावकको अतिचार होना उपामक दशाग सूत्रके

मूलपाठमें कहा है अतः अपने अतिचारकी निवृत्ति और जीव रक्षाके लिये श्रावक पूजनी आदि धर्मोपकरण रखते हैं किसी दूसरे आरम्भादिक कार्यके लिये नहीं।

उपासक दशांग सूत्रका वह मूलपाठ यह है —

“तथाणं तरं चणं पोसहोववासस्स समणोवासणं पञ्च अहयात्ता जाणिपव्वा न समायरियव्वा तंजहा—अप्पडिलेहिय दुप्पडिलेहिय सिज्जा संत्थारे, अप्पमज्जिय दुप्पमज्जिय सिज्जा संत्थारे, अप्पडिलेहिय दुप्पडिलेहिय उच्चार पासवण भूमि, अप्पमज्जिय दुप्पमज्जिय उच्चारपासवण भूमि पोसहोववासस्स सम अणणुपालना”

(उपासक दशांग सूत्र)

अर्थ —

श्रमणोपासकको पौषपोषधास व्रतके पांच अतिचार जानने चाहिये और उनका आचरण न करना चाहिये ये अतिचार ये हैं — (१) शय्या संथाराका प्रतिलेखन न करना, या ठीक ठीक प्रति लेखन न करना (२) शय्या संथाराको पूजनी आदिते न पूजना, अथवा अच्छी तरहसे न पूजना। (३) उच्चार पासवण भूमिका प्रतिलेखन नहीं करना, अथवा अच्छी तरहसे प्रतिलेखन नहीं करना। (४) उच्चार पासवण भूमिको पूजनी आदिते न पूजना, अथवा अच्छी तरहसे न पूजना। (५) पौषपोषधास व्रतका विधिवत् पालन नहीं करना।

ये पांच पौषपोषधास व्रतके अतिचार हैं इन अतिचारोंको वर्जित करना आवश्यक है अतः श्रावक, पौषपोषधासके समय पूजनेके लिये पूजनी आदि धर्मोपकरण रखते हैं। यदि पौषपोषधासमें श्रावक पूजनी न रखे तो शय्या संथाग और उच्चार पासवण भूमिका पूजन नहीं हो सकता और उनका पूजन हुए बिना श्रावकके व्रतमें अतिचार आता है उसकी निवृत्तिके लिये श्रावक पूजनी आदि धर्मोपकरण रखते हैं अतः श्रावकके पूजनी आदि धर्मोपकरणोंको एकान्त पापमें स्थापन करना अज्ञानियोंका कार्य है। ११ वीं प्रतिमासगी श्रावक, जो मुप्त वस्त्रिका, ओषा पत्रादि धर्मोपकरण रखते हैं वह भी अपने व्रतका पालन करनेके लिये रखते हैं किसी दूसरे स्वार्थसे नहीं अतः उनका ओषा पत्रादि धर्मोपकरण रखना धर्मका उपकारक और उनके व्रतका अङ्गभूत है उसे एकान्त पापमें कायम करना अज्ञानका परिणाम है।

दशाश्रुत रत्नसूत्रके मूलपाठमें एग्याग्द्वी पडिमासारी श्रावकको सभी धर्मोपकरणोंके रखनेका विधान किया है वह पाठ यह है —

“उ चसिरण गहिच्चायाग भडगनेपत्था जागिसे समणाण निग्गथाण धम्मो तं धम्म कादग फासे माणे पाळे माणे” अर्थात् एग्याग्द्वी प्रतिमासारी श्रावकको शिरका लोच

करके सुख वस्त्रिका आदि सभी धर्मोपकरण माधुके आचार पालनार्थ रखने चाहिये और माधुके तुल्य वेप घना कर भ्रमण निग्रन्थोंके धमका शरीरमे स्पर्श और पालन करते हुए विचरना चाहिये ।

इस पाठमें ११ वीं प्रतिमाधारीको साधुके तुल्य आचार पालनार्थ धर्मोपकरण रखनेका विधान किया है और पौषधोपपादमे अतिचारको हटानेके लिये पूजनी आदि धर्मोपकरणोंकी आवश्यकता होती है अतः श्रावकके धर्मोपकरणोंको एकान्त पापमे स्थापन करना किननी विशाल मूर्ति है यह बुद्धिमान जीन स्वयं समझ सकते हैं ।

(बोल ३८ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ११५ के ऊपर लिखत है "ए पूजनी आदिक सामायकमें राखे त अव्रतमे छैं एतो सामायकमे शरीरनी रक्षा निमित्तो पूजनी आदिक उपधि राखे छैं ते पिण आपरी कचाई छैं परधर्म नहीं ते किम जे पूजनी आदिक न राखे तो काया स्थिर राखणी पड़े अने कायास्थिर राखनेरी शक्ति नहीं मच्छादिक ना फस एमणी आवे नहीं ते माटे पूजनी आदिक राखे मच्छादिक पूजी खाज करे ए तो शरीरनी रक्षा निमित्तो पूजे धर्म हेतु नहीं जो पूजनी बिना दया न पळे तो अढाई द्वीप वार असल्याता तिर्य्यञ्च श्रावक छैं सामायक व्रत पाळे छैं त्यारे पूजनी दीसे नहीं जे दयार धर्म पूजनी राखणी कहे त्यारे लेखे अढाई द्वीप वारे श्रावकार दया किम पळे"

इसका क्या समाधान ?

(भ्र० पृ० ११५-११६)

(प्रत्यक)

पौष व्रत करता हुआ श्रावक, अपने शरीरकी रक्षाने लिये नहीं किन्तु उपासक दशाग सूत्रक पूर्वाक्त मूल पाठानुसार पूजन किये बिना होने वाले अतिचारको दूर करने के लिये पूजनी आदि धर्मोपकरण रखता है । अतः पूजनी आदि धर्मोपकरणोंको शरीर रक्षाका साधन कायम करके उन्हें अव्रतमे या एकान्त पापमे स्थापन करना मिथ्या है ।

पूजनी अपनी शरीर रक्षाका कोई प्रधान साधन नहीं है इसके बिना भी शरीर रक्षा हो सकती है परन्तु इसके बिना पूजन नहीं किया जा सकता और पूजन किये बिना श्रावकके व्रतमे अतिचार होता है उसकी निवृत्तिकलिये पूजनी रखना श्रावकके लिये आवश्यक होता है । जो लोग पूजनीको शरीर रक्षाका साधन मान कर पौष व्रत करते समय शरीर रक्षार्थ उसका ग्रहण किया जाना चाहते हैं उनका मतमे पागल बुद्धि आदि से शरीर रक्षा करनेके लिये श्रावकको एक डडा भी रखना चाहिये तथा दूसर दूसर

साधन भी रखने चाहिये अतः पूजनी आदि धर्मोपकरणोंको अपनी शरीर रक्षाका साथ धनलाना मिथ्या है पूजनी आदि धर्मोपकरणोंके बिना जीवोंकी दया नहीं पायी सकती है इस लिये जीव रक्षार्थ आवश्यक पूजनी रखते हैं । इस विषयमें जीतमल्लजीं अढाई द्वीपसे बाहर रहने वाले तिर्य्यञ्च आवश्यकका दृष्टान्त देकर पूजनी रखने कि भी जीव दयाका पालन हो सकता कहा है, वह मिथ्या है । अढाई द्वीपसे बाहर रहनेवाले तिर्य्यञ्च आवश्यक, मनुष्य आवश्यककी तरह आवश्यकके वारह व्रतका शरीरसे स्पर्श और पालन करते हैं यह बात असम्भव है क्योंकि मनुष्य आवश्यकोंकी तरह शरीरसे बाह्य व्रतोंका स्पर्श और पालन करनेकी उनमें योग्यता नहीं है और शास्त्रमें भी कहीं यह नहीं कहा है कि “तिर्य्यञ्च आवश्यक मनुष्य आवश्यककी तरह आवश्यकके वारह व्रतका शरीरसे स्पर्श और पालन करते हैं” अतः अढाई द्वीपसे बाहर रहने वाले तिर्य्यञ्च आवश्यक, कई व्रतोंमें अद्भुत मात्र रखनेसे वारह व्रतधारी माने जाते हैं शरीरसे स्पर्श और पालन करनेसे नहीं अतएव हाता सूत्रमें नन्दन मनिहारका जीव, मेढक भवमें वारह व्रत धारी कहा गया है । यदि मनुष्य आवश्यककी तरह वारह व्रतोंका शरीरसे स्पर्श और पालन करनेसे तिर्य्यञ्च आवश्यक वारह व्रत धारी होते तो नन्दन मनिहार का जीव मेढक भवमें कदापि वारह व्रतधारी नहीं कहा जाता क्योंकि मेढक योनिके जीवमें सुनिको दान देने का वारहवें व्रतका शरीरसे स्पर्श करनेकी योग्यता नहीं है तथा मेढक योनिके जीवमें, आहार को सचित्त पदार्थ पर रखने और सचित्तसे ढकने पर जो अतिचार आता है उसका हटानेकी योग्यता भी नहीं है अतः तिर्य्यञ्च आवश्यक कई व्रतोंमें अद्भुत मात्र रखनेसे वारह व्रत धारी माने जाते हैं मनुष्य आवश्यककी तरह सभी व्रतोंका शरीरसे स्पर्श करनेसे नहीं । अढाई द्वीपसे बाहर रहने वाले तिर्य्यञ्च आवश्यक, मनुष्य आवश्यककी तरह पौष व्रतका शरीरसे स्पर्श और पालन करते हैं इसमें कोई प्रमाण नहीं है तथा कहीं मूल पाठमें भी यह नहीं कहा है कि “अमुक तिर्य्यञ्च आवश्यकने पौष व्रतका शरीरसे स्पर्श और पालन किया था” अतः तिर्य्यञ्च आवश्यकके पास पूजनी आदि धर्मोपकरण नहीं होने पर भी कोई क्षति नहीं है लेकिन मनुष्य आवश्यक तो सभी व्रतोंका शरीरसे स्पर्श और पालन करता है इस लिये उसके पास पौष व्रतमें होने वाले अतिचारकी निवृत्तिके लिये पूजनी आदि धर्मोपकरणोंकी अत्यन्त आवश्यकता है । उनके बिना पौष व्रतका अतिचार जो कि पूजे बिना होता है नहीं टल सकता अतः मनुष्य आवश्यकके पूजनी आदि धर्मोपकरणोंकी अपने शरीर रक्षाका साथ मान कर उन्हें अन्नमें फायदा करना अज्ञाननियोजका कार्य है । पूजनी आदि धर्मोपकरण व्रतके उपकारक और धर्मके अङ्ग हैं अतः उन्हें पापका साधन मानना मिथ्या है ।

जो लोग श्रावकोंके पूजनी आदि धर्मोपकरणोंको शरीर रक्षाका साधन मानते हैं उनसे कहना चाहिये कि प्रमादी साधुके ओषा पात्रादि धर्मोपकरणोंको भी तुम उनके शरीर रक्षाका साधन क्यों नहीं मानते ? यदि वे प्रमादी साधुके ओषा पात्रादि धर्मोपकरणोंको भी उनके शरीर रक्षाका साधन मानें तो फिर उनके मतमें प्रमादी साधुके ओषा पात्रादि उपकरण भी एकान्त पाप तथा अत्रयमें ही ठहरते हैं क्योंकि भगवतीजीके मूल मन्त्रमें प्रमादी साधुको आत्मार्थभी परार्थभी और तदुभयार्थभी कहा है तथा प्रमादी साधु को आत्मा अधिकार कही गई है इस लिये प्रमादी साधुके ओषा पात्रादिक भी तुम्हारे मतमें एकान्त पापमें ही ठहरते हैं । यदि कडो कि प्रमादी साधु, ओषा पात्रादि उपकरण प्रमाद सेवन और अपने शरीर रक्षाके लिये नहीं किन्तु जीव रक्षा आदि धर्मको पालन करनेके लिये रखते हैं अतः उनके धर्मोपकरण एकान्त पाप में नहीं हैं तो उसी तरह यह भी समझो कि श्रावक, पौष्य व्रतमें होने वाले अतिचारकी निवृत्ति और जीव रक्षाके लिये पूजनी आदि धर्मोपकरण रखते हैं अपने दोषोंकी वृद्धि तथा और किसी स्वार्थमें नहीं रखते अतः श्रावकोंके पूजनी आदि धर्मोपकरणोंको एकान्त पाप और अत्रयमें कायम करना अज्ञान है ।

यह बात दूसरी है कि साधु यदि धर्मोपकरणों पर मूर्च्छा ममता रखे और अत्यन्त पूर्वक उनका व्यवहार करे तो उसको परिग्रह तथा आरम्भ दोष लगता है तथा श्रावक धर्मोपकरणोंपर मूर्च्छा ममता रखे और अत्यन्त पूरक उनका व्यवहार करे तो उसको भी परिग्रह और आरम्भ होता है परन्तु यत्र पूर्वक उपकरणोंका व्यवहार करने और उनमें ममता मूर्च्छा नहीं रखने पर, वे उपकरण धर्मके सहायक हैं आरम्भ तथा परिग्रहके हेतु नहीं हैं अतः उन्हें पापमें गताना मिथ्या है ।

(बोल ३९)

(प्रेरक)

अमविश्वसनाकार अमविश्वसन पृष्ठ ११७ के ऊपर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ४ उद्देशा १ के मूल पाठका उद्धरण देकर लिखते हैं "अथ इहा चार व्यापार कथा मन, वचन, कथा, उपकरण, ये चारु व्यापार सन्निपन्नेन्द्रिय रे कथा ये चारु भु डा व्यापार पिण १६ दण्डक मन्तीपन्नेन्द्रिय रे कथा अने ए चारु भला व्यापार तो एक सयति मनुष्यने इज कथा पिय और ने न कथा तो जीवोनी साधुरा उपकरण तो भला व्यापार में धाल्या अने श्रावकरा पूजनी आदि उपकरण भला व्यापारमें न धाल्या ते माटे पूजनी आदिक श्रावक राखे ते सावय योग छै (अ० पृ० ११७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्रका वह पाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है । वह पा
यह है —

“चउच्चिहे पणिहाणे मन पणिहाणे वय पणिहाणे काय पणि
हाणे उवगरण पणिहाणे । एव नेरइयाणं जाव वेमाणिघाणं । चउच्चिहे
सुप्पणिहाणे पणत्ते तंजहा मन सुप्पडिहाणे जाव उपकरण सुपणि
हाणे एवं संजय मणुस्साणवि । चउच्चिहे दुप्पणिहाणे पं० तं० मन
दुप्पडिहाणे जाव उवगरण । एवं पञ्चेन्द्रियाणं जाव वेमाणिघाणं”

(ठाणाङ्ग ठाणा ४ उद्देश १)

(टीका)

“प्रणिधान प्रयोग तत्र मनस प्रणिधानम् आतरोद्ग धर्मादि रूपतया प्रयोगो मन
प्रणिधानम् । एव वाक्ययोगवि उपकरणस्य लौकिक लोकोत्तररूपस्य वस्त्र पात्रादे
सयमा सयमो पकाराय प्रणिधान प्रयोग उपकरण प्रणिधानम् । एवमिति तथा सामान्य
स्तथा नैरयिकाणामिति । तथा चतुर्विंशति दण्डक पठिताना मध्ये ये पञ्चेन्द्रियास्तेषा
मपि वैमानिकान्ताना मेवेति । एकेन्द्रियादीना मन प्रभृतीनाम सभवेन प्रणिधाना संभ-
वात् । प्रणिधान विशेष सुप्रणिधान दुष्प्रणिधानश्चेति तत्सूत्राणि । शोभन सयमार्थत्वा
त्प्रणिधान मन प्रभृतीना प्रयोजन सुप्रणिधानमिति । इदञ्च सुप्रणिधान चतुर्विंशति
दण्डक निरूपणाया मनुष्याणा तत्रापि सयतानामेव भवति चारित्र्यपरिणतिरूपत्वात्सु
प्रणिधानस्येत्याह “एवं सज्जण” इत्यादि, दुष्प्रणिधान सूत्र सामान्य सूत्रवन् नवर दुष्प्र
णिधानम् असयमार्थ मन प्रभृतीना प्रयोग इति”

अथ —

प्रयोग कलेका नाम “प्रणिधान” है । आर्त रौद्र और धर्म आदि ध्यान करना “मन
प्रणिधान” कहलाता है । इसी तरह घवन और क्षीरके प्रयोगको क्रमश घचन प्रणिधान और
काय प्रणिधान कहते हैं । उपकरण नाम वस्त्र पात्र आदिका है वह दो तरहका होता है लौकिक
और लोकोत्तर, उनका सयम और असयमके लिये प्रयोग करना उपकरण प्रणिधान कहलाता है ।
ये चारों प्रणिधान नारकि पञ्चेन्द्रियसे लेकर यावत् वैमानिक देव तकके प्राणियोंमें होते हैं ।
पञ्चेन्द्रिय आदि जीव जो मनोविकृत हैं उनमें उक्त चतुर्विध व्यापार नहीं होते । प्रणिधान विशेष
को सुप्रणिधान और दुष्प्रणिधान कहते हैं । मन, घचन काय और उपकरणका प्रयोग जो संयम
पात्रार्थ किया जाता है वह सुप्रणिधान है । यह सुप्रणिधान, चतुर्विंशति दण्डके जीवोंमें केवल

मन्त्रो जीवता ही होता है क्योंकि सुप्रणिधान चारित्र्य परित्याग स्वरूप है। हमी तरह समझे ठीक तो मन पालन काय और उपकरणका प्रयोग किया जाता है यह दुष्प्रणिधान कहलाता है यह एचेन्द्रियसे लेकर समानिक देव परमन्त्रने जीवोंको होता है। यह ऊपर लिखे मूल सूत्र की टीकानुसार जय है।

यहां मन, वचन, काय और उपकरणका सुप्रणिधान समयमधारी जीवोंका होना कहा है इस लिये देशसे समय पालन करने वाले आवकका देश समय पालनके लिये मन, वचन, काय और उपकरणोंका जो प्रयोग होता है वह भी सुप्रणिधान ही है दुष्प्रणिधान नहीं अतः इस पाठका नाम लेकर आरम्भके मन, वचन, काय और उपकरणोंके सभी व्यापारोंको दुष्प्रणिधान मनमाना मिथ्या है। उक्त मूल पाठ और उपरकी टीकामें जो समय पुण्योंका सुप्रणिधान होना कहा है वहां समय पदसे देश समय (आवक) और समय मन (साधु) दोनोंका ही ग्रहण है केवल सर्व समय का ही ग्रहण नहीं अतः आवक, अपने देश समयका पालन करनेके लिये जो मनसे धर्मध्यान, वचनमें अरिहन्त मित्र और साधुमाका गुणानुवाद, शरीरसे साधुओंका मान सन्मान, सेवा सुश्रूपा और उपकरणोंसे जीव रक्षा आदि शुभ व्यापार करता है यह सत्र व्यापार सुप्रणिधान ही है दुष्प्रणिधान नहीं।

जो लोग उक्त चारों ही सुप्रणिधान एक मात्र साधुओंका ही होता मान कर आवकके उपकरणके व्यापारको दुष्प्रणिधान मानते हैं उनसे कहना चाहिये कि आवक जो मनसे धर्म ध्यान और वचनसे अरिहन्त सिद्ध और साधुओंका गुणानुवाद और कायसे साधुको दान सम्मान सेवा सुश्रूपा आदि व्यापार करता है उसे भी आप दुष्प्रणिधान ही क्यों नहीं मानते ? यदि कहो कि ये सत्र व्यापार समय पालनके लिये किये जाते हैं इस लिये ये दुष्प्रणिधान नहीं हैं तो उसी तरह समय पालनके लिये जो आवक उपकरणका व्यापार करते हैं वह भी दुष्प्रणिधान नहीं किन्तु सुप्रणिधान ही है यदि उपकरणके व्यापारको दुष्प्रणिधान कहो तो उसके पूर्वोक्त मन, वचन और कायके व्यापारों को भी दुष्प्रणिधान ही कहना होगा परन्तु जैसे आवकका मन वचन और कायके पूर्वोक्त व्यापार सुप्रणिधान नहीं हैं उसी तरह समय पालनार्थ उपकरणका व्यापार भी दुष्प्रणिधान नहीं है अतः ठाण्ढा सूत्रके इस पाठका नाम लेकर आवकके पूजनों आदि धर्मापकरणोंके व्यापारको एकान्त पापमें स्थापन करना सूत्रार्थ न जाननेका फल समझना चाहिये।

यदि कोई कहे कि 'आरम्भके मन, वचन, काय और उपकरणके व्यापार यदि सुप्रणिधान हैं तो इस पाठमें मनुष्य सत्यतिओंके ही एक चतुर्विध सुप्रणिधान क्यों कहे

गये हैं तिर्य्यञ्च श्रावकोंके भी कहने चाहिये ?” तो इसका उत्तर यह है कि निर्जन्म श्रावकोंके पास धार्मिक उपकरण नहीं होते और धार्मिक उपकरणके न होनेसे का सुप्रणिधान उनमें असम्भव है इस लिये तिर्य्यञ्च श्रावकोंके चतुर्विध सुप्रणिधान नहीं कहे गये हैं । यद्यपि तिर्य्यञ्च श्रावकोंके भी मन वचन और कायके व्यापार होते हैं तथापि उपकरणके व्यापार न होनेसे तिर्य्यञ्च श्रावकोंका यहा कथन नहीं है । यह ठाणाङ्ग सूत्रका चौथा ठाणा है इस लिये जिसके चारों व्यापार यानी मन, वचन और उपकरणके व्यापार सुप्रणिधान होते हैं उन्हींका यहा कथन है ।

उक्त चारों सुप्रणिधान मनुष्य श्रावक और साधुओंके ही होते हैं श्रावकोंके नहीं होते अतः इस पाठमें मनुष्य संयतियोंके ही चतुर्विध सुप्रणिधान कहे गये हैं तिर्य्यञ्च श्रावकोंके नहीं । अतः इस पाठका नाम लेकर श्रावकोंके पूजनीय धर्मोपकरणोंको एकान्त पापमें स्थापन करना अज्ञानका परिणाम है ।

यदि कोई कहे कि “श्रावक असंयम पालनके लिये भी मन, वचन, काय और उपकरणोंका प्रयोग करते हैं फिर उनके ये व्यापार भी सुप्रणिधान क्यों नहीं मानते ?” तो इसका उत्तर यह है कि श्रावक समय पालनके लिये जो मन वचन काय और उपकरणका व्यापार करते हैं उन्हीं व्यापारोंकी अपेक्षासे वे देश संयति माने जाते हैं असंयम सेवनके लिये जो उक्त चतुर्विध व्यापार करते हैं उनकी अपेक्षा से नहीं इस लिये उक्त चतुर्विध व्यापार जो समय पालनार्थ होते हैं वे ही सुप्रणिधान हैं दूसरे व्यापार नहीं । असंयमके उपकारार्थ जो श्रावकोंके मन, वचन, काय और उपकरणके व्यापार होते हैं उनकी अपेक्षामें श्रावक असंयत माना जाता है और समय पालनार्थ जो उक्त चतुर्विध व्यापार होते हैं उनकी अपेक्षासे वह संयत समझा जाता है अतएव शास्त्र श्रावकोंको “संयता संयत” कहा है । “संयता संयत” वही है जो देशसे समय धारी और जिसके मन, वचन, काय और उपकरणके व्यापार देशसे समयोपकारी हैं । अतः संयमका उपकरणके लिये जो श्रावकोंके मन, वचन, काय और उपकरणके व्यापार होते हैं वे सुप्रणिधान हैं और असंयम पालनार्थ जो उनके उक्त चतुर्विध व्यापार होते हैं दुष्प्रणिधान हैं परन्तु भ्रम विष्वसन कार सामायक और पोषामें बैठे हुए श्रावकोंके मन वचन और कायके व्यापारको तो सुप्रणिधान और उसके उपकरणके व्यापारको दुष्प्रणिधान कहते हैं यह इनका एकान्त व्यामोह है । सामायक और पोषामें बैठे हुए श्रावकोंके उपकरणोंका व्यापार यदि दुष्प्रणिधान है तो उसके मन वचन और कायके व्यापार कैसे सुप्रणिधान हो सकते हैं ? और मन वचन तथा कायके व्यापार यदि सुप्रणिधान हैं तो उसका उपकरणका व्यापार कैसे दुष्प्रणिधान हो सकता है ? अतः सामा

और पोषामें बैठे हुए श्रावकके मन वचन और कायके व्यापारको सुप्रणिधान और उपकरणके व्यापारको दुष्प्रणिधान कहना एकान्त मिथ्या समझना चाहिये ।

ठाणाङ्ग सूत्रके उक्त मूल पाठमें मन, वचन, काय और उपकरणके व्यापार, कि मनुष्योंके सुप्रणिधान कहे गये हैं वहा रायति पदसे जीतमलजीने केवल साधुओं ही भ्रष्ट होना माना है देश रायति श्रावकोंका नहीं । ऐसी दृशमें इनके मतानुसार श्रावक और पोषामें बैठे हुए श्रावकोंके मन वचन और कायके व्यापार भी सुप्रणिधान नहीं कायम हो सकते क्योंकि मन वचन और कायके व्यापार भी उक्त पाठमें कियेके ही सुप्रणिधान कहे गये हैं दूसरोंके नहीं । यदि उक्त मूल पाठमें “रायत” पद देश रायति श्रावकोंका भी ग्रहण मान कर उनके भी मन वचन और कायके व्यापार सुप्रणिधान मानने हो तो फिर उसके उपकरणके व्यापारको भी सुप्रणिधान मानना पड़ेगा अतः ठाणाङ्गके उक्त मूल पाठ का नाम लेकर सामायक और पोषामें बैठे हुए श्रावकके मन वचन और कायके व्यापारको सुप्रणिधान और उसके उपकरणके व्यापारको दुष्प्रणिधान मानना एकान्त मिथ्या है ।

(बोल ४० वां)

इति दानाधिकारः समाप्तः ।



अथ अनुकम्पाधिकारः

उहुत लोग अहिंसा धर्मका रहस्य नहीं समझते । ऐसे अज्ञानी अनुकम्पाधिकार की व्याख्या भी अजीब तरहसे करते हैं । उनके मनसे जो मनुष्य जीवोंको मारता है वह हिंसा करता और एकान्त पापी होता है । जो नहीं मारता वह अहिंसा धर्मका पालन करता है वह धार्मिक है । लेकिन जो हिंसकको उपदेश देकर उसे हिंसा कर्मसे रोक्ता है और प्राणीकी प्राण रक्षा करता है वह भी अधर्म करता है । जैसे भ्रमविध्वसन का भ्रमविध्वसन पृष्ठ १२० पर लिखते हैं, “श्री तीर्थं कर द्य विण पोत्ताना कर्म दपत्ता तथा अनेराने ताग्वाने अर्थे उपदेश दये इम कप्पो छं विण जीव वंचाना उपदेश दय इम कह्यो नहीं” इत्यादि । अनुकम्पाकी ढालमें भीषणजीने इससे भी अधिक बढ़ कर कहा है “कईक अज्ञानी इम कहे छ कायारा काजे हो देना धर्म उपदेश । एकन जीवने सम झाविधा मिट जाये हो घगा जीवारा करेण । छ कायारे घरे शान्ति हुवे एइवा भाये हो अन्य तीर्थी धर्म । त्यामेद न पायो जिन धर्मगे त तो भूलया हो उदय आया अशुभ कर्म । मत मार कहे उगरो गगीरे तीजे करणे हिंसा लागी रे”

“अर्थात् “कुछ लोग कहत हैं कि छ कायके जीवोंक घरमें शान्ति होनेके लिये धर्मका उपदेश देते हैं, क्योंकि एक जीवको समझा देनेसे बहुत जीवोंका क्लेश मिट जाता है । लेकिन छ कायके जीवोंक घरमें शान्ति होनेके लिये उपदेश देना, अन्य तीर्थी लोगोंका धर्म बनलाता है जैन धर्म नहीं बनलाता इम लिये छ कायके जीवों के घरमें शान्ति होनेके लिये उपदेश देन वाले जैन धर्मक रहस्यज्ञों नहीं जानते वे मूढ़े हुए हैं और उनको अशुभ कर्मका उदय हुआ है ।

जो मनुष्य हिंसकके हाथसे मतमार कइ कर जीवकी रक्षा करता है वह तीसरे करणसे हिंसाका पाप करता है ।”

भीषणजीने और भी कहा है “मति मारगरो क्यो नहीं तेतो सावज जाणी वायरे” लेकिन ‘मतमार’ ऐसा कइके प्राण रक्षा करना कभी साध्य नहीं है । कोई भी जैन धर्मके सत्यको जानने वाला इसका अनुमोदन नहीं कर सकता । ऐसे ही अनर्गल उपदेश देकर लोगोंने जैन जगतमें भ्रम फैलाया है । जहां उपदेश द्वारा मरते प्राणीकी रक्षा करना एकान्त पाप है, वहां और किसी उपायसे वैसा करना तो और भी गह्रा होगा अर्थात् उसके तो एकान्त पाप होनेमें कोई सन्देह ही नहीं है ।

धर्मविघ्नसत्कारने अपने मतकी पुष्टिमें कुछ दृष्टान्त भी दे डाले हैं, जैसे “एक मनुष्य झूठ बोलता है और दूसरा झूठ नहीं बोलता और तीसरा सत्य बोलता है। इनमें जो झूठ बोलता है वह एकान्त पापी है और जो झूठ नहीं बोलता है वह एकान्त धार्मिक है। तथा जो सत्य बोलता है उसके दो भेद हैं। एक सायण सत्य बोलता है और दूसरा निरवय सत्य बोलता है। इनमें जो सायण सत्य बोलता है वह एकान्त पाप करता है और जो निरवय सत्य बोलता है वह धर्म करता है। यह तो दृष्टान्त हुआ इसका दार्ष्टान्त जीतमलजी यह देते हैं—“एक मनुष्य हिंसा करता है और दूसरा हिंसा नहीं करता और तीसरा रण करता है। इनमें जो हिंसा करता है वह एकान्त पापी है और जो हिंसा नहीं करता है वह एकान्त धार्मिक है। तथा जो जीवरक्षा करता है उसके दो भेद हैं। एक हिंसकको हिंसाके पापसे बचानेके लिये न मारनेका उपदेश करता है और दूसरा हिंसक हाथसे मारे जाने वाले प्राणीकी प्राणरक्षा करनेके लिये न मारनेका उपदेश देता है। इनमें जो हिंसकको हिंसा का पाप छुड़ानेके लिये न मारनेका उपदेश देता है वह तो धार्मिक है और जो हिंसकके हाथसे मारे जानेवाले प्राणीकी प्राणरक्षा करनेके लिये न मारनेका उपदेश देता है वह एकान्त पाप करता है क्योंकि मरत प्राणीकी प्राणरक्षा करना जैन धर्मका सिद्धान्त नहीं है” यह जीतमलजी का मत है। इस मतकी पुष्टिने लिये पूर्वोक्त दृष्टांतके सिवाय यह और भी दृष्टान्त देते हैं जैसे—चोरी करनेवालेको साधु धनीके मालकी रक्षाके लिये चोरी न करनेका उपदेश नहीं देत किन्तु चोरको चोरीके पापसे उचालनेके लिए उपदेश देते हैं उसी तरह साधु, कसाईके हाथसे मारे जानेवाले नरके की प्राणरक्षाके लिये न मारनेका उपदेश नहीं देते किन्तु कसाईको हिंसाके पापसे बचाने के लिये उपदेश देते हैं इत्यादि भ्रमोत्पादक बातें लिख कर जीतमलजीने जैन धर्मके प्राणभूत रक्षा धर्मका समूल नाश करनेकी चेष्टा की है परन्तु इनकी ये सब बातें निराधार और शास्त्रसे विरुद्ध हैं। कसाईके हाथसे मारे जाने वाले प्राणियों की प्राणरक्षानेके लिये उपदेश देना मात्र सत्यकी तरह एकान्त पाप नहीं है किन्तु यह धर्म कार्य है। मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करना जैन धर्मका स्वाम उद्देश्य है सब पूछिये तो प्राणियोंकी प्राणरक्षा के लिये ही जैनागमका निर्माण हुआ है। प्रश्न व्याकरण सूत्र प्रथम सवर द्वारमें यह पाठ आया है “सर्व जग जीव रक्षणं दयद्वयाण पावयण भगवया मुमुक्षुषि” अर्थात् “सत्त्वके सभी जीवोंकी रक्षारूप दयाने लिये भगवान् तीर्थङ्गसे प्रवचन (जैनागम) कहा गया है” यदि हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले जीवोंकी रक्षा करनेके लिए उपदेश देना, एकान्त पाप होता तो इस पाठमें मत्स्यके सभी जीवोंकी रक्षा रूप दयाने लिये जैनागमका स्थान होता क्यों कहा जाता ? अतः जीवरक्षानेके उद्देश्यसे उपदेश देनेको एकान्त पाप और इसे धर्म्य तीर्थी का धर्म बताना शरत्त विरुद्ध समझना चाहिये।

धम्म माइक्खेज्जा बहु गुणतर फलं होज्जा तेसिंच वहुणं समण माहन भिक्खुयाणं । तंजइणं देवाणुप्पिया ! पएसिस्स वहुगुणतरं होज्जा सव्वस्सवि जणवयस्स”

(राजप्रणीय सूत्र)

अर्थ —

हे देवानुप्रिय ! आप यदि प्रदेशी राजाको धर्म सुनावें तो बहुत गुण युक्त फल हो । क किसे हो ? पुत्र राजा प्रदेशीको गुण हो और उनके हाथसे मारे जाने वाले बहुतसे द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी और सरी सृषोंको हो । हे देवानुप्रिय ! आप यदि राजा प्रदेशीको धर्म उपायें तो बहुतसे धम्म, माहन, और भिक्षुकोंको, तथा राजा प्रदेशी और उनके सम्पूर्ण राष्ट्रको बहुत गुणयुक्त फल हो ।

इस पाठमे राजा प्रदेशीको धर्म सुनानेसे राजा प्रदेशी और उसके हाथसे मारे जाने वाले द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी और सरी सृष, दोनों ही को गुण होना कहा है । इसका भाव यह है कि राजा प्रदेशीको धर्म सुनानेसे वह हिंसा करना छोड़ कर हिंस्राके पापसे बच सकता है और उसके हाथसे मारे जाने वाले द्विपद, चतुष्पद आदि प्राणियोंकी प्रागरक्षा हो सकती है इसलिये राजा प्रदेशीको हिंस्राके पापसे बचनेका गुण है और उसके हाथसे मारे जाने वाले प्राणियोंको प्रागरक्षा रूप गुण है । इन दोनों ही लाभके लिए चित्त प्रधानने केशी स्वामीसे राजा प्रदेशीको धर्मोपदेश देनेकी प्रार्थना की है केवल प्रदेशीको हिंस्राके पापसे बचानेके लिए ही नहीं अतः हिंस्रकक हाथसे मारे जाने वाले प्राणियोंकी प्रागरक्षके लिए भी साधु उपदेश देते हैं सिर्फ हिंस्रको हिंस्राके पापसे बचानेके लिए ही नहीं यह हम पाठसे स्पष्ट सिद्ध होता है ।

यदि कोई कहे कि “यह पाठ, चित्त प्रधानकी प्रार्थनाको बतलानेके लिए आया है इसलिये यद्यपि इस पाठमे चित्त प्रधानने द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी और सरीसृपोंकी प्रागरक्षके लिए केशी स्वामीसे धर्मोपदेश देने की प्रार्थना की है तथापि इससे माधुओका मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करनेके लिये धर्मोपदेश देना नहीं सिद्ध हो सकता क्योंकि चित्त प्रधान, अन्नानवश भी मरते जीवकी रक्षा करनेके लिये मुनिसे धर्मोपदेश देनेकी प्रार्थना कर सकता है” तो इसका उत्तर यह है कि चित्त प्रधान, कोई मामूली मनुष्य नहीं किन्तु बाह्य प्रनधारी श्रावक था वह जीवरक्षाने धर्म या अधर्म होना जानता था । दूसरी बात यह कि चित्त प्रधानने केशी स्वामीसे जीव रक्षानेके लिए धर्मोपदेश करनेकी प्रार्थना की थी, यदि यह कार्य एकान्तपापका था तो केशी स्वामीने चित्त प्रधानको क्यों नहीं समझा दिया कि “हे देवानुप्रिय ! राजा प्रदेशीको तानेके

जैसे धर्मोपदेश देना तो ठीक है परन्तु उसके हाथसे मारे जाने वाले प्राणियोंकी प्राणरक्षा बिना धर्मोपदेश देना उचित नहीं है क्योंकि मरते जीवकी रक्षाके लिये उपदेश देना कान्त पाप है" अतः जीवरक्षामें धर्म होना स्पष्ट सिद्ध होता है तथापि हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणियोंकी प्राणरक्षाके उद्देश्यसे धर्मोपदेश करनेमें जो एकान्त पाप मत-
ज्ञ है उन्हें मित्यावादी और उत्सृज प्ररूपका करनेवाला समझना चाहिये ।

[बोल २ रा समाप्त]

(प्रेरक)

सुयगहाग सूत्र श्रु० १ अध्यायन ६ के मूलगाधामें "दाणाण सेट्ठ अभयप्पयाण" का वाक्य आया है इसका कई एक यह अर्थ करते हैं कि "अपनी ओरसे किसी प्राणी को भय न देना अभयदान है परन्तु दूसरेसे भय पाते हुए प्राणीको भयसे मुक्त करना अभयदान नहीं है" इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

किसी प्राणीको अपनी ओरसे भय न देना, और दूसरेसे भय पाते हुए जीवको भयसे मुक्त करना, ये दोनों ही अभयदान हैं परन्तु अपनी ओरसे किसीको भय न देना ही नहीं अतः दूसरेसे भय पाते हुए जीवको भयसे मुक्त करनेको अभयदान न मानना अमानियोंका कार्य है । इस गाथाकी टीकामें टीकाकारने, दूसरेसे भय पाते हुएको भयसे मुक्त करना अभयदान बतलाया है वह टीका यह है —

सपरालुप्रदार्थं मर्चिनेदीयत इति दानं मनोरुधा तेषां मध्ये जीवानां जीवितार्थिनां प्राणकारित्वादभयदानं श्रेष्ठम् । तदुत्तमं "दीयते त्रियमाणस्य कोटिं जीविजमेयं वा धत्त कोटिं न गृह्णाति सर्वो जीवितुमिच्छति"

गोपालाङ्गनादीनां दृष्टान्तद्वारेणार्थो धुद्धो मुखेनारोहतीत्यतोऽभयदानं प्रधान्यं कृपापार्थं कथानकं मिदम्—यसन्तपुरे नगरे अरिदमनो राजा, सब कदाचित् शत्रुवर्ष समेतो वातायनस्थ मीडायमानस्तिष्ठति तत्र कदाचिच्चोरो रक्त करवीरकृतमुण्डमालो रक्तपरियानो रक्तचन्दनोपलिप्तश्च प्रहृतवज्र्यदिण्डिमो राजमार्गेण नीयमानः सपत्नीकेन गृह्यते । दृष्ट्वा च तामि दृष्ट्वा किमनेना कारिति । तासामेके न राजपुरुषेणा वेदितम्, यथा पदव्यापहारेण राजविरुद्धं मिति तत एकया राजा विद्मस यथा यो भवता मम प्राग् वरः प्रतिपन्न सोऽधुना दीयताम् यथाहमस्योपकरोमि किञ्चित् राज्ञापि प्रतिपन्नम् । तत्रत्या स्नानादिपुर सरमलंकारेणालंकृतो दीनार सहस्रं व्ययेन पञ्चविधान् शम्बादीन्-विषयानेकं महं प्रापित । पुनर्द्वितीययाऽपि तथैव द्वितीयं महो दीनारं शतं सहस्रं व्ययेन

स्नातः तत् स्तृतीयया तृतीय महो दीनार कोटि व्ययेन सत्कारित । चतुर्थ्या तु राक्ष-
 समत्या मरणाद्रक्षितोऽभयप्रदानेन । ततोऽसावन्याभिहसिता नास्यत्वया किञ्चिद्वर्तमानम् ।
 तदेवं तासां परम्परं बहूपकारविषये विनादे जाते राक्षाऽस्मादेव चौर समाहूय
 “यथावेन तव बहूपकृतम्” तेनाप्यभाणि यथा न मया मरणमहाभयभीतेन नि-
 स्नानादिकं सुरा व्यज्ञायि अभयप्रदानाकर्णनेन पुनर्जन्मानमिवात्मानं भवेमीति ज-
 सर्वदानानां मभय प्रदानं श्रेष्ठं मिति स्थितम् ।

अर्थ —

अपने या परायेके अनुग्रहके लिये याचक पुरुषको जो दिया जाता है वह दान
 कहलाता है । वह अनेक प्रकारका है उनमें सनसे श्रेष्ठ अभयदान है । अभयदान, जीने
 की इच्छा रखने वाले प्राणियोंके जीवनकी रक्षा करता है इसलिये वह सन दानोंमें श्रेष्ठ
 माना गया है । कहा भी है—मरते हुए प्राणीको एक तरफ कोटि कोटि धन, और दूसरी
 तरफ जीवन दिया जाय तो वह धन कोटिको न लेकर जीवनको ही लेता है क्योंकि
 जीवोंको सनसे ज्यादा जीवन प्रिय है अतः सन दानोंमें अभय दान ही श्रेष्ठ है ।
 साधारण बुद्धिवालों को समझानेके लिये अभयदानकी प्रधानता दृष्टान्तके द्वारा बतलाई
 जाती है—

वसन्तपुर नगरमें अरिदमन नामक राजा रहता था । वह किसी समय अपनी
 चार रानियोंके साथ झरोखे पर बैठ कर शीड़ा करता था । उसने अपनी स्त्रियोंके साथ
 राजमांगेसे ले जाया जाता हुआ कण्ठमें लाल कनैलके फूलकी माला लगाया हुआ छाल
 कपड़ा पहिना हुआ शरीरमें रक्त चन्दनका लेप किया हुआ और धाजा बजा कर बस
 करनेकी घोषणा किया जाता हुआ किसी चोरको देखा । उसे देख कर रानियोंने पूछा
 कि “इसने क्या अपराध किया है ?” यह सुन कर किमी राजपुरषने कहा कि “इसने
 चोरी करके राजाकी आज्ञा उल्लङ्घन की है” इसके अनन्तर एक रानीने राजासे कहा कि
 “आपने जो मुझे पहले वरदान देना स्वीकार किया था वह अभी दे देंगे जिससे मैं इस
 चोरका कुल उपकार कर सकूँ” यह सुन कर राजाने वरदान देना स्वीकार कर लिया ।
 रानीने राजासे यह वर मागा कि “इस चोरको स्नान आदि करा कर भूषण आदि पहिना
 कर हजार मोहरके व्ययसे एक दिन तक शब्दादि पाच विषयोका सुख दिया जाय ।”
 पश्चात् दूसरी रानीने दूसरे दिन उस चोरको एक लाख मोहरके व्ययसे सुख देनेका वर
 मागा । तीसरीने तीसरे दिन एक कोटि मोहरके व्ययसे उसे सुख देनेको कहा । परन्तु
 चौथी रानीने राजासे वर माग कर उस चोरको अभयदान देकर मरनेसे बचा लिया ।
 यह देख कर पहली तीन रानियां चौथी रानीकी इसी उडाने लगीं वे कहने लगीं कि इस

हो इस विचारको कुछ भी नहीं दिया है” इसके अनन्तर उा रानियोंमें अपने अपने कारके विषयमें कलह होना आरम्भ हुआ उस कलहकी शान्तिके लिये राजाने चोरको मार पूछा कि “इन रानियोंमें सबसे अधिक तुम्हारा किसने उपकार किया है ?” चोर कहा कि—मरण रूपी महामयसे मैं इतना डरा हुआ था कि स्नान आदिका मुझ तक ही कुछ भी नहीं मालूम हुआ । जब मैं ने सुना कि मुझे अभयदान मिला है तब मुझमें नवीन जीवन प्राप्तिके समान महान् आनन्द प्राप्त हुआ । अतः सब दानोंमें अभयदान ही श्रेष्ठ स्वरूप सिद्ध होती है ।

यहां, मारें जाने वाले प्राणीको मरणसे बचा देना अभयदान कहा गया है और सब विक्रयको स्पष्ट समझानेके लिये चोरका दृष्टान्त दिया है । इस दृष्टान्तमें रानी ने अपनी ओरसे चोरको भय देनेका त्याग नहीं बल्कि शूरी या फासीके द्वारा होने वाले रणरूपी महामयसे उसे बचाया है और हम फार्मोंको यहां अभयदान कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि दूसरेसे भय पाने हुए प्राणीका भय दूर करना भी अभयदान है अपनी ओरसे भय न देना ही नहीं अतः दूसरेसे भय पाने हुए प्राणीको भयसे मुक्त करने में भी एकान्त पाप घनलात है वे मिथ्यावादी हैं ।

(बोल ३ रा समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १२१ पर सुयगडाग सूत्रकी गाथा लिख कर इसकी समालोचना करते हुए लिखत हैं —

“अथ अठे कश्यो पोताना कर्म खपाया तथा आर्यक्षेत्रना मनु यने तारिवा भगवान् धर्म कहै हम कश्यो पिण हम न कश्यो जे जीव बचावाने अर्थे धर्म कहै, इण न्याय असंयनि जीवारी जीवगों वाञ्छथा धर्म नहीं ।

इनके कहनेका तात्पर्य यह है कि भगवान् महावीर स्वामी आर्यक्षेत्रके मनुष्यको तारनेके लिए और अपने कर्मोंका क्षय करनेके लिये धर्मोपदेश करत थे परन्तु हिंसक प्राणीसे मारे जाने वाले प्राणियों की प्राणरक्षा करनेके लिये नहीं अतः मरते हुए प्राणीकी प्राणरक्षा करनेके लिये धर्मोपदेश देना साधुका कर्तव्य नहीं है । इसका क्या समाधान ?

(प्रत्युक्त)

सुयगडाग सूत्रकी गाथाओंको लिख कर इसका समाधान दिया जाता है । वे गाथायें ये हैं —

“नो काम किंचा नयवालकिंचा राजाभियोगेण कुतो भयेण ।
वियागरेज्जा पसिणं नवावि सकाम किंचे इह आरियाणं ।

गन्तायतत्था अदुवा अगन्ता वियागरेज्जा समिया सुप्पने । अना
रिया दंसणतो परीत्ता इति संकमाणो न उवेति तत्थ”

(सुय० श्रुत० ५ अ० ६ गाथा १७ १८)

अर्थ —

गोशालरुके मतको एण्डन करनेके लिये आर्द्र मुनि कहते हैं कि—भगवान् महा
स्वामी बिना हृच्छाके कोई कार्य नहीं करते । जो बिना विचारे काम करता है वह हृच्छाक विन
भी कार्य करता है और वह अपने या दूसरेका जिससे अनिष्ट हो ऐसा भी कार्य कर बाक
है परन्तु भगवान् महावीर स्वामी सर्वज्ञ सर्वदर्शी और परायेके हित करनेमें तत्पर रहते हैं जिस
अपना या दूसरेका उपकार नहीं होता ऐसा कार्य भगवान् नहीं करते । भगवान् अपनी प्रतिष्ठा
के लिये मयश किमी राजा महाराज आदिके दबावसे धर्मोपदेश नहीं देते क्योंकि उनकी प्रशं
मयसे नहीं होती । यदि कोई कुछ पूछता है तो उसका उपकार होता देख कर भगवान् उत्तर
हैं अन्यथा नहीं देते । बिना पूछे भी लाभ समझने पर भगवान् उपदेश देते हैं । अनुत्तर बिसाववा
देवता और मन पन्थाय शानियाँके प्रश्नोंके उत्तर भगवान् मनसे ही देते हैं वाणीद्वारा नहीं क्योंकि
उन्हें वाणीद्वारा उपदेश देनेकी आवश्यकता नहीं है ।

भगवान् महावीर स्वामी यद्यपि धीतराग हैं तथापि अपने तीर्थंकर नाम कर्मका क्षय न
के लिये और उपकार योग्य आर्य क्षेत्रके मनुष्यों का उपकार के लिये आर्यक्षेत्र में उपदेश
देते हैं । १७

भगवान् महावीर स्वामी दूसरोंके हित साधनमें प्रवृत्त रहते हैं इस लिये वह शिष्या
देने योग्य पुरुषके निकट जाकर भी उपदेश देते हैं, वह जिस प्रकार भग्न जीवोंका कल्याण देखते
हैं उसी तरह कार्य करते हैं, वह नहीं जाकर भी उपदेश देते हैं । उपकार होता देख कर बड़ा जाकर
भी उपदेश देते हैं और उपकार न होता देख कर वहा रहते हुए भी उपदेश नहीं देते भगवान् की
किसीसे भी राग द्वेष नहीं है, चाक्रवर्ती राजा हो चाहे दरिद्र हो सबको वह एक दृष्टिसे देखने हैं
पूछने पर या न पूछने पर वह सबको समान रूपसे धर्मोपदेश देते हैं । भगवान् अनार्य देशमें धर्मो
पदेश देनेके लिये इस कारण नहीं जाते कि वहाके निवासी दर्शन भ्रष्ट और ऐहिक सुखकी ह
अपना अन्तिम लक्ष्य समझकर परलोकको अङ्गीकार नहीं करते । उन लोगोंकी भाषा और कर्म में
आर्य प्रणालीसे विपरीत होते हैं इस लिये वहा उपकार होता नहीं देख कर भगवान् अनार्य देश
नहीं जाते ।

इन गाथाओंमें कहा है कि “भगवान् महावीर स्वामी आर्य क्षेत्रके मनुष्यों
उपकारके लिये और अपने तीर्थंकर नाम कर्मका क्षय करनेके लिये उपदेश देते हैं” इस

हिंसक के हाथसे मारे जाने वाले जीवोंकी प्राण रक्षाके लिये भी भगवान्का धर्मोपदेश देना सिद्ध होता है क्योंकि जैसे हिंसकको हिंसाके पापसे बचाना उसका उपकार करना है उसी तरह हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणीकी रक्षा करना भी उमका उपकार करना है । इन गाथाओंका अभिप्राय बतलाते हुए टीकाकारने भी यह लिखा है—

“असावपि तीर्थं कृन्नामकर्मण क्षणाय न यथा कथं चिदतोऽभावग्लान इह
अस्मिन् ससारे आर्य्यं क्षेत्रे वा उपकार योग्ये आर्य्याणां सर्वहेयधर्मदूरवर्तिना तदु-
पकाराय धर्मदेशना व्यावृत्तीयादसाविति”

अर्थात् भगवान् महावीर स्वामी अपने तीर्थकर नाम कर्मका क्षय करनेके लिये इस ससारमे, अथवा उपकार योग्य इस आर्य्य क्षेत्रमे त्यागने योग्य सभी घुरे धर्मों से भ्रष्ट रहने वाले आर्य्य क्षेत्र वासी मनुष्योंका उपकारके लिये धर्मोपदेश देते हैं ।

यह टीकाकारने भी मूल गाथाका अभिप्राय बतलाते हुए आर्य्य क्षेत्र वासी मनु-
ष्योंका उपकारके लिये भगवान्का धर्मोपदेश करना बतलाया है इस लिये हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले जीवोंकी रक्षाके लिये उपदेश देना भी धर्म सिद्ध होता है क्योंकि मरत प्राणीकी प्राण रक्षा करना उसका सत्रमे प्रवान उपकार है । अतः भगवान् महावीर स्वामी आर्य्य क्षेत्रके प्राणियोंकी प्राण रक्षा रूप उपकारके लिये भी धर्मोपदेश करते थे यह बात इस गाथा और इसकी टीकासे स्पष्ट सिद्ध होती है । तथापि इन गाथाओं का नाम लेकर यह कहना कि “भगवान् आर्य्य क्षेत्रके जीवोंकी प्राण रक्षा करनेके लिये उपदेश नहीं देते थे” एकान्त मिथ्या है ।

सुय गडाग सूत्रकी इन गाथाओंके पहलेकी गाथामे मरत जीवोंकी प्राण रक्षा करने के लिये भगवान्का धर्मोपदेश देना स्पष्ट लिखा है इस लिये वह गाथा भी यहा लिखी जाती है ।

“समिच्च लोगं तस थावराणं खेमंकरे समणे माहणेवा ।
आहवख माणेवि सहस्समज्जे एगतयं सारयति तद्वच्चे”

(सुय० सू० २ अ० ६ गाथा ४)

टीका—

“स्यादेतत् धर्मदेशनया प्राणिना कश्चिदुपकारो भवत्युत्तरेति, भवतीत्याह “समिच्च लोगं” मित्यादि सम्प्रत्ययावस्थित लोक पदद्रव्यात्मकं मत्वा अवगम्य कत्रला लोकेन परिच्छिन्न प्रत्यन्तोति त्रसा त्रघ्र नाम कर्मोदया द्वौन्द्रियादयः, तथा निष्ठन्तीति स्या-
वग” स्थावरनामकर्मोदयात्स्थावरा प्रथिव्यादयस्तेषां सुभयेषां मपि जन्तूनां क्षेमं

शान्ति रक्षा तत्करण शील क्षेमकर । श्राम्यतीति श्रमग द्वादश प्रकार तपोनिष्ठत्वे
 तथा माहन इति प्रवृत्तिरस्यासौ माहनो ब्राह्मणो वा स एव भूतो निर्ममो राग द्वेष रहित
 प्राणिहिताद्यर्थ न पूजालभ ख्यात्याद्यर्थ धर्ममाचक्षणाणोऽपि प्राग्वन् छत्रस्यावस्थया
 मौनव्रतिक इव वाक्संयत एव उत्पन्नदिव्यज्ञानत्वाद्वापागुणदोषविरोक्ततया
 भाषणेनैव गुणावाप्ते अनुत्पन्न दिव्य ज्ञानस्य तु मौन व्रतिकत्वेनेति । तथा देवासुर नर
 तिर्य्यक् सहस्रमध्येऽपि व्यवस्थित पकाघोरपञ्चवत्तद्दोषवशासंगाभावान्ममत्व गिहा
 दाशसादोष विकृत्यादेकान्तमेवासौ सारयति प्रख्यातिं नयति साधयतीति यावन् ।
 ननु चैकाग्रिपरिकरावस्थयोरस्ति विशेष प्रत्यक्षेणैवोपालभ्यमानत्वात्सत्यम्—अस्ति
 विशेषो बाह्यनो नत्वातरतोऽपि, दर्शयति—तथा प्राग्वदर्चा लेख्या शुक्लध्यानाख्या यस्य
 स तथार्चं यद्वा अर्चा शरीरं तच्च प्राग्वद्यस्य स तथार्चं । तथाहि असावशो काचष्ट प्राति-
 हाव्योपेतोऽपि नोत्सेक याति नापि शरीरं संस्क्रागयत्त विदधाति स हि भगवान् आल-
 न्तिक राग द्वेष प्रहाणादेकान्यपि जन परिवृतोऽप्येकाकी न तस्य तयोरवस्थयो कश्चि
 द्विशेषोऽस्ति । तथा चोक्तम् “राग द्वेषौ विनिर्जित्य किमग्नये करिष्यसि । अथनो निर्जि
 ताग्नेतौ किमग्नये करिष्यसि” इत्यतो बाह्य मनगमान्तरमेव कपायजयादिक प्रधान
 कारणं मिति स्थितम्”

अर्थ —


भगवान् महावीर स्वामीके धर्मोपदेशसे प्राणियोंका कुछ उपकार होता था या
 नहीं ? कहते हैं कि होता था । भगवान् महावीर स्वामी, केवल ज्ञानसे पद्मव्यात्मक
 लोकको यथार्थ रूपसे जान कर द्वीन्द्रियादिक त्रस और पृथिवी आदि स्थावर प्राणियोंकी
 स्वभावसे ही रक्षा, शान्ति या क्षेम करते थे । तथा बारह प्रकारकी तपस्यासे अपने
 शरीरको तपाये हुए और माहन यानी प्राणियोंको अहिंसाका उपदेश करते हुए ममता
 रहित होकर प्राणियोंके हितके लिये धर्मोपदेश करते थे उन्हें अपनी पूजा प्रतिष्ठा मान
 बढ़ाई आदिकी इच्छा न थी । भगवान् धर्मोपदेश करनेके समयमें भी पहलेके समान ही
 मौन व्रतिककी तरह वाक् संयत थे । तात्पर्य यह है कि छत्रस्यावस्थामें जैसे भगवान्
 मौन व्रतिक थे उन्हीं तरह केवल ज्ञान होने पर धर्मोपदेश देते हुए भी मौन व्रतिकक
 समान ही थे क्योंकि दिव्य ज्ञान उत्पन्न होने पर उन्हें भाषाके गुण और दोषके ज्ञान
 हो जानेसे बोलनेमें गुण ही था दोष नहीं था और जब तक वे केवल ज्ञानी नहीं हुए थे
 तबतक मौन रहनेमें ही गुण था । भगवान् महावीर स्वामी, यद्यपि हजारों देवता असुर
 मनुष्य और तिर्य्यकोंकी बीचमें रहते थे तथापि कीचड़में रहने वाले कमलकी तरह दोषसे

लिप्त नहीं होते थे । किन्तु ममता और सासारिक लाभ की इच्छा तथा दोष रहित होकर वह सदा और सर्वत्र एकान्त का ही अनुभव करते थे । यदि कोई कहे कि एकाकी अन्त्या और शिष्यादिकों के साथ रहने की अवस्थामें प्रत्यक्ष ही भेद दृष्टिगोचर होता था फिर भगवान् लोगों के मध्यमें रहने हुए एकान्त का अनुभव कैसे करते थे ? तो इसका उत्तर यह है कि एकाकी अवस्था और शिष्यादिकों के साथ रहने की अवस्थामें जो भेद दृष्टिगोचर होता था वह बाह्य भेद था आन्तरिक नहीं क्योंकि शिष्यादिकों के साथ रहने पर भी भगवान् की पहले के समान ही शुद्ध ध्यान रूपा लक्ष्यायी और वह अपने शरीर का पूर्ववत् ही भ्रकार नहीं करते थे तथा अशोकादि आठ प्रतिहागियों के साथ रहते हुए भी भगवान् गर्व रहित थे एवं राग द्वेष का सर्वथा अभाव हो गया था इस लिये मनुष्यों के साथ रहने पर भी भगवान् एकान्त का ही अनुभव करते थे । किसी आचार्य ने कहा है कि यदि तुमने राग द्वेष को जीत लिया है तो वनमें जाकर क्या करोगे ? और यदि राग द्वेष को नहीं जीता है तो जगलमें जाकर क्या करोगे । तात्पर्य यह है कि बाह्याचार कल्याण का कारण नहीं किन्तु आन्तरिक कृपाय आदिका विजय ही मुक्ति साधक है । यह वक्त गाथा का टीकानुसार अर्थ है ।

इस गायामें लिखा है कि भगवान् महावीर स्वामी व्रत और स्थावर सम्पूर्ण प्राणियों के क्षेम धानी रक्षा करने वाले थे । और टीकाकारने भी लिखा है कि “क्षेम शान्ति रक्षा उत्तरुण शील क्षेमकर ” अर्थात् भगवान् सब प्राणियों का क्षेम शान्ति, यानी रक्षा करते थे । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि भगवान् मरते प्राणी की प्राणरक्षा के लिये भी धर्मोपदेश देते थे केवल हिंसक को हिंसा के पापसे छुड़ाने के लिये ही नहीं । यदि कोई कहे कि हिंसा के पाससे बचा देना ही जीव की रक्षा या क्षेम है मरनेसे बचाना नहीं, तो हमें कहना चाहिये कि इस गायामें स्थावर जीवों का भी क्षेम करने वाला भगवान् को कहा है यदि वह मरते जीव की प्राणरक्षा के लिये उपदेश नहीं देते थे तो स्थावर जीवों का क्षेम करने वाले वह क्यों कहे गये हैं ? क्योंकि स्थावर जीवोंमें उपदेश प्रदण करने की योग्यता नहीं होती इस लिये हिंसा के पापसे बचाने के लिये उनको उपदेश देना नहीं घट सकता किन्तु उनकी प्राणरक्षा के लिये उपदेश देना ही घटता है अतः भगवान् मरते प्राणी की प्राण रक्षा के लिये भी उपदेश देते थे यह इस गायामें स्पष्ट सिद्ध होता है । कोई कोई अज्ञानी कहते हैं कि “हिंसक के हाथसे अमर्यनि जीव को बचाना उनके असंयम का अनुमोदन करना है, और असंयम का अनुमोदन करना साधु को नहीं कल्पता इस लिये हिंसक के हाथसे मारे जाते हुए असंयति जीव की प्राणरक्षा के लिये साधु को धर्मोपदेश नहीं देना चाहिये” उनसे कहना चाहिये कि साधु, असंयति

जीनकी प्राण रक्षा उसके असंयम सेवनका अनुमोदन करनेके लिये नहीं करता । साधु यह नहीं चाहता कि "यह असंयति जीवित रह कर असंयमका सेवन करे, या असंयम सेवन करना अच्छा है । साधु असंयम सेवनको घृणा जानता है इस लिये वह असंयम सेवनके लिये असंयतिकी रक्षा नहीं करना किन्तु असंयतिको आर्त रौद्र ध्यान और मरण भयसे मुक्त करनेके लिये उसकी प्राणरक्षा करता है अतः असंयतिकी प्राणरक्षा करनेके लिये धर्मोपदेश देनेसे साधुको असंयमका अनुमोदन बतलाना मिथ्या है । यदि इस तरह असंयमका अनुमोदन लगे तो फिर हिंसककी हिंसा छुड़ानेके लिये अहिंसाका उपदेश भी न देना चाहिये । क्योंकि धर्मोपदेश सुन कर हिंसक यदि असंयतिको न मारे तो उसकी प्राण रक्षा होगी और वह जीवित रह कर असंयमका सेवन भी कर सकता है । फिर रक्षामे पाप कहने वाले, हिंसककी हिंसा छुड़ानेके लिये अहिंसाका उपदेश क्यों देते हैं ?

यदि कहो कि हम असंयतिकी प्राणरक्षा करनेके लिये हिंसकको अहिंसाका उपदेश नहीं देते किन्तु उसे हिंसाके पापसे मुक्त करनेके लिये देते हैं इसलिये हमें असंयतिकी प्राणरक्षा या असंयम सेवनका अनुमोदन नहीं लगता तो उसी तरह समझो कि हम भी असंयमका सेवन करनेके लिये असंयतिकी प्राणरक्षा नहीं करते किन्तु उसका आर्त रौद्र ध्यान मिटा कर मरण दुःखसे उसे मुक्त करनेके लिये करते हैं अतः हमें असंयम सेवनका अनुमोदन नहीं लग सकता । अतः हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणीकी प्राण रक्षा करनेमें असंयम सेवनका नाम लेकर एकांत पाप कहने वाले मिथ्यावादी हैं ।

(बोल ४) 

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन शृष्ट १२१ पर लिखते हैं कि—

"जिम कोई कसाई पाच सौ पञ्चेन्द्रिय नित्य हणै छ । ते कसाईने कोई मारतो हुप तो तिणने साधु उपदेश देवे तो तिणने सारिवाने अर्थे पिण कसाईने जीवतो रक्खणे उपदेश न देवे, ए कसाई जीवतो रहे तो वाच्छो इम कसाईनो जीवणो वाच्छो नहीं । कोई पञ्चेन्द्रिय हणै केई एकेन्द्रियादिक हणै छै ते माटे असंयति जीव ते हिंसक छै हिंसकनो जीवणो वाच्छथा धर्म किम हुवे" इनके कहनेका आशय यह है कि कोई पञ्चेन्द्रिय जीव को मारता है और कोई एकेन्द्रिय जीवको मारता है इस लिये साधुको सिवाय सभी जीव कसाईके समान हिंसक हैं उनकी प्राण रक्षा करनेके लिये धर्मोपदेश देना धर्म नहीं

उनके असयम सेवनकी इच्छासे नहीं, उसको भी असंयम सेवनका अनुमोदन नहीं लगा किन्तु मरते हुए प्राणीकी प्राणरक्षा रूप महान् धर्मका लाभ होता है। अतः मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेके लिये धर्मोपदेश देनेसे असयम या हिंसाका समर्थन बनलाना निर्दोष जीवोंका कार्य्य समझना चाहिये ।

(बोल छट्टा समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १२७ पर लिखते हैं —“अथ ईहा तो पाथो कह्यो जे सहारे कारण या जीवाने हणो तो ए कारणज मोने परलोक्रमे फल्याणकारी भला नहीं इम निचारी पाठा फिरया पिण जीवाने छुडाया चाल्यो नहीं” तथा पृष्ठ १२४ पर लिखा है कि “त्या जीवारे जीवणरे अर्थे तो नेमिनाथजी पाठा फिरया नहीं। ए जे जीवारी अनुकम्पा करी तेहनो न्याय इम छे जे माहरा व्याहरे वास्ते या जीवाने हणो ते मोने ए कार्य्य कय्यो नहीं इम विचारी पाठा फिरया” इत्यादि ।

इमका न्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन सूत्रकी गाथाओंको टीकाके साथ लिख कर इसका समाधान दिया जाता है —

“सोऊण तस्स वयणं बहुपाणि विनासनं
चिन्तेइ से महापन्ने सानुकोसो जिये हिउ । १८
जइ मज्झ कारणा एए हम्मन्ति सुवहु जिया
नमे एयंतु निस्सेसं पर लोगे भविस्सइ । १९
सो कुण्डलाण जुगलं सुत्तगं च महा जसो
आभरणानिच सब्बाणि सारहिस्स पणामइ” २०

(उत्तराध्ययन अ० २०)

(टीका)

इत्य सारथिनोक्ते यद्भगवान् विहित वास्तदाह सुगम मेव नवरं तस्य सारथे बहूना प्रभूतानां प्राणाना प्राणिना विनाशनं हननम् अभिधेय यस्मिन् तद् बहुप्राणि विनाशनम् । समगगान् सानुकोज सकरुण केपु “जीणहिउ” त्ति जीवेषु तु पाद पूर्णं मम कारणादिति मद्भिवाह प्रयोजने भोजनार्थत्वाद्मीपामिति भाव । हम्मति हन्यन्ते

सामीप्ये लट् ततो हनिष्यन्ते इत्यर्ग । पाठान्तरत “इमिहति” चि, सुरापृष्ठम् ।
 भगवान् अनि प्रभूता “जिय” चि जीवा एतदिति जीव हननं तु एव कारणे नेत्यनेन
 शोभते नन नतु नैव नि श्रेयस कल्याण परलोके भविष्यति पाप हेतुत्वादभ्येति भाव
 भवान्तरपु परलोकमोक्षवन्त्यात्यन्तमभ्यस्ततयैवममिधान मन्यथा चरमशरीरत्वादिति
 शेषज्ञानित्वाच्च भगवत कुन एव विष चिन्ताप्रसङ्ग । अत्र च विदितभगवदाहृतेन सार-
 विना मोचितपु सत्त्वेषु परितोपिनोऽमौ यत्कृतमास्तदाह “सो” इत्यादि सुत्तरुथेति कटि
 सुत मर्पयनीति योग किमेतदेवेत्याह आभरणानि सर्वाणि शेषाणीति गम्यते ।”

अर्थ—
 इस प्रकार सारथीके कहने पर भगवान् ने मिनाथजीने जो किया वह इन गाथाओं
 में कहा गया है । बहुतसे प्राणियोंका बिनागरूप अर्थात् जो चनलाने वाले सारथी की
 भागी सुन कर बड़े बुद्धिमान ने मिनाथ जी, उन प्राणियों पर दयायुक्त हो कर सो-
 चने लगे ।

यदि ये, बहुतसे प्राणी मेरे कारण यानी मेरे बिनाहमे आये हुए लोगोंके भोज-
 नार्थ मारे जाए गे तो यह कार्य परलोकमें कल्याणकारक नहीं होगा । (यद्यपि भग-
 वान् ने मिनाथजी अविशय ज्ञानवान् और चरम शरीरी होनेके कारण उसी भवमें मोक्ष
 जाने वाले थे अन उन्हें परलोककी चिन्ता करनेकी आवश्यकता न थी तथापि दूसरे
 भवाम परलोकसे डरनेका जो उनको अत्यन्त अभ्याम था उस अभ्यामके कारण उन्हें
 पूर्वोक्त चिन्ता हुई थी) भगवान् ने मिनाथजीका अभिप्राय समझ कर सारथीने जन उन
 प्राणियोंको घन्यनमें मुक्त कर दिया तब भगवान् ने प्रसन्न होकर कानोरु छुण्डल और
 कटिमूर तथा दूसरे सब आभूषण उतार कर सारथीको इनाम दे दिये । यह उक्त गाथाओं
 का हीकानुसार अर्थ है ।

यहां मूलगाथामें कहा है कि “सानुरोसो जीणहिउ” अर्थात् उन प्राणियों पर
 भगवान् ने मिनाथजीको अनुकोश यानी दया उत्पन्न हुई । दया नाम दूसरेके दुःख को
 दूर करना यानी दुःखीकी रक्षा करना है कहा भी है “पर दुःख प्राणेच्छा दया” अर्थात्
 दूसरेके दुःखको दूर करनेकी इच्छाका नाम दया है । यदि मरते हुए प्राणीनी रक्षा करना
 एकान्न पाप होता तो भगवान् ने मिनाथजी को उन जीवों पर दया क्यों उत्पन्न
 होनी अत उक्त गाथाओंमें मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करना परम धर्म सिद्ध होता है ।

जीनमलजीने जो यह लिखा है कि ‘महार ऋण यां जीयाने हणे नो एकाग्रज
 मोन परलोकम कल्याणकारी भलो नहीं इस निचाहि पाछ फिग्या पिंग जीयने हुडाया
 चाल्यो नहीं’ यह मिथ्या है । भगवान् ने मिनाथजी जीवोंकी रक्षाने लिये और उनकी

मृत्युसे होने वाले पापसे बचनेके लिये पीछे लौटे थे केवल अपनी आत्मा को पाप से बचानेके लिये ही नहीं अतएव उक्त मूलगाथामें “सानुकोसोजिण हिउ” यह पाठ आया है । यह पाठ तभी सार्थक हो सकता है जब उन जीवोंकी रक्षा करनेके लिये भगवान् का लौट जाना माना जाय । जो लोग जीवों पर दया करके उनकी रक्षाके लिये भगवान् का लौट जाना नहीं मानते उनके मतमें उक्त पाठ निरर्थक ठहरता है क्योंकि पापके भयसे लौटना तो अपनी अनुकम्पा है उन जीवोंकी नहीं इसलिये जीतमलजीक हिसामें से उक्त गाथाका “सानुकोसोजिण हिउ” यह पाठ किसी प्रकार भी सार्थक नहीं हो सकता अतः उन जीवोंकी रक्षाके लिए भगवान् नहीं लौटे थे यह कहना मित्या है ।

ऊपर लिखी हुई बीसवीं गाथामें लिखा है कि भगवान् नेमिनाथजीन अणु फानोंके कुण्डल, कटिसूत्र तथा ग्रंथ सभी आभूषण उतार कर सारथीको इनाम दे दिए । यहां इनाम देनेका कारण बतलाते हुए टीकाकारने लिखा है कि “विदित भगवद्भक्तन

नोट—कोई कोई एकन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीवोंकी हिंसाको एक समान मान कर उनमें अल्प और महान रूप भेदका खण्डन करते हैं और एकेन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय जीवोंकी हिंसामें अल्प और महानका भेद बतलाने वालोंको हिंसाका अनुमोदक कहते हैं इसी तरह एकेन्द्रियकी दयासे पञ्चेन्द्रियकी दयाको प्रधान कहने वालोंको हिंसाका समर्थक बतलाते हैं परन्तु यह उनका अज्ञान है क्योंकि इसी उत्तराध्ययन सूत्र के २३ वें अध्ययनमें भगवान् नेमिनाथजीका विवाहके विमित्त जल स्नान करना लिखा है, जलके जीव, विवाह मण्डपमें बाधे हुए पशुओंसे असख्य गुण अधिक थे फिर भगवान् नेमिनाथजी उन जलके जीवोंकी हिंसा देर कर स्नान करनेसे क्यों नहीं निवृत्त हो गये । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि भगवान् नेमिनाथजीने जलके जीवोंकी अपेक्षा मण्डपमें बाधे हुए पञ्चेन्द्रिय जीवोंकी हिंसाको बहुत ज्यादा पाप और एकेन्द्रियकी अपेक्षा पञ्चेन्द्रियकी दया को बहुत ज्यादा उत्तम समझा था इस लिये वह जल्प्नानसे तो निवृत्त न हुए परन्तु मण्डपमें बाधे हुए पशुओंके रक्षार्थ निवृत्त हो गये थे । यद्यपि भगवान् नेमिनाथजी तीन ज्ञानके धनी होनेके कारण अपना विवाह न होना जानते थे और उनके पूर्व तीर्थकारोंने भी २२ वें तीर्थकारको वाल ब्रह्मचारी रह कर दीक्षा ग्रहण करना कहा था तथापि एकेन्द्रिय जीवोंकी अपेक्षा पञ्चेन्द्रिय जीवोंकी दयाका महत्व बतानेके लिये भगवान्ने जल स्नानमें कोई आपत्ति नहीं की परन्तु विवाह मण्डपमें बाधे हुए पञ्चेन्द्रिय जीवोंको देख कर वहांसे हट गये थे ।

सारथीना मोचितेषु सन्धेषु परितोषितोऽसौ यत्कृत्वास्तदाह” अर्थात् भगवान्का अमि-
 प्राय समझ कर जब सारथीने उन जीवोंको मुक्त कर दिया तब भगवान्ने सारथी पर
 प्रसन्न होकर जो कार्य किया था वह वीसवींगाथामें कहा है । वीसवींगाथामें भगवान्का
 आशय समझ कर उन जीवोंको मुक्त करना, और इस कार्यसे प्रसन्न होकर भगवान्
 का सारथीको इनाम देना स्पष्ट कहा गया है । यदि जीवरत्ना करनेमें पाप होता तो
 भगवान् उन जीवोंकी रक्षा करनेके कारण सारथी पर प्रसन्न हो कर उसे इनाम क्यों
 दत्त ? तथा उन जीवोंकी रक्षाके लिये भगवान् का भाव क्यों होता ? अतः उक्त
 गाथाओंसे मरते जीव की रक्षा करना परम धर्म सिद्ध होता है । जो लोग जीव-
 रक्षा को एकान्त पाप कहते हैं उन्हें उत्सृज वादी और निर्दय समझना चाहिये ।

(बोल ७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

अमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १२७ के ऊपर ज्ञाना सूत्रके प्रथम अध्ययनका
 मूलाष्ट लिख कर उसके अन्तर्गमने लिखते हैं कि “बली मेघकुमारगो जीव हाथीरे भरे
 सुमलारी अनुकम्पा करी परीत समार कियो । अने फेई कहे मण्डलामें घणा जीव बच्चा
 तथा घणा प्राणी गी अनुकम्पा ई करी परीत ससार कियो उ ते सूत्राथना अजाण छै एक
 सुमलारी अनुकम्पा दयाकरी परीत ससार कियो छै । (अ० पृ० १२७)

इसका क्या उत्तर ।

(प्रत्युक्त)

हाथीने अनेके शशककी अनुकम्पासे परीत समार किया है बहुत जीव, जो
 मण्डलार्थ दबे थे उनकी अनुकम्पासे संसार परीत नहीं किया यह कथन अधिवेत्ता सन
 से बड़ा वडाहरण है । जब भ्रम विध्वंसन कार एक जीव शशककी अनुकम्पासे संसार
 परिमित होना स्वयं ही स्वीकार करत हैं तब अनेक जीवोंकी अनुकम्पा से डरनेकी क्या
 घात है । एक प्राणीकी अनुकम्पासे जब संसार परीत हो सकता है तो अनेक जीवोंकी
 अनुकम्पासे और भी अधिक धर्म ही होगा । यह एक ऐसी साधारण बात है कि जिसे
 बाउक भी समझ सकता है । खैर । अब देखना यह है कि हाथीने अनेके शशककी अनु-
 कम्पा की या उहुतसे जीवों की ? यदि हाथीको शशककी ही अनुकम्पा करनी इष्ट थी
 दूसरोंकी नहीं तो वह अपना उड़ाया हुआ पैर शशकके ऊपर नहीं रख कर दूसरे प्राणी
 पर रख देता परन्तु उसने ऐसा नहीं करके अगई दिन तक पैर ऊपर ही उठाये रक्खा
 इससे स्पष्ट है कि हाथी शशकके माध और भी प्राणियोंकी रक्षा करना चाहता था ।

इसी बातको सूत्रकारने “पाणाणुकम्पयाए” इत्यादि चार पद देकर स्पष्ट बतला दिया है ।

कुछ लोग कहते हैं कि हाथीने बचाने रूप अनुकम्पा नहीं की थी सिर्फ न मारने रूप अनुकम्पा की थी और इधेसे उसने ससार परीत किया था । पता नहीं कैसे ज लोगोंने यह बात जान ली कि हाथीका विचार जीवोंको बचानेका नहीं था । जाननेको दो ही मार्ग हैं—या तो हाथीने आकर स्वयं उनसे ऐसा कहा हो या उन्होंने ही मन पर्याय ज्ञानसे जाना हो । इन दोनों उपायोमेसे एक भी संभव नहीं है ऐसी ठगामे सूत्रके पाठका ही आश्रय लेना पड़ता है । सूत्रके पाठमे ऐसा एक भी शब्द नहीं है जिससे यह जाना जा सके कि हाथीका विचार जीवरक्षा करनेका नहीं था वरन् स्पष्ट शब्दोंमें ‘पाणाणुकम्पयाए’ इत्यादि शब्द दिये हैं यदि उसने पापसे बचनेके लिये ही न मारने रूप अनुकम्पा की होती तो वह अनुकम्पा मुख्य रूपसे उसी (हाथी) की ही होती और भ्रमविध्वसन करने भी ऐसा नहीं लिखा कि हाथीने अपनी अनुकम्पासे ससार परीत किया किन्तु शशरुकी अनुकम्पासे वे ससार परीत होना मानते हैं और पाठमे “आयाणुकम्पयाए” या “प्राणार्हिमयाए” इत्यादि पाठ नहीं है अतः जो लोग पाप भयसे न मारने रूप अनुकम्पा से ही ससार परीत होना मानते हैं जीव रक्षा रूप अनुकम्पासे नहीं उनके मतसे ‘पाणाणुकम्पयाए’ इत्यादि पाठ मिथ्या ठहरना है इस लिये यही मानना उचित है कि हाथीने प्राणियोंकी रक्षा रूप अनुकम्पासे ससार परीत किया क्योंकि “पाणाणुकम्पयाए” इत्यादि पाठसे बचाने रूप दया अर्थ ही निकलता है । जो शशरु हाथीके पैर रखनेकी जगह आया था उसे बलवान प्राणी सता रहे थे हाथीने अपने पैरको ठहरनेका स्थान उसे दिया और स्वयं मारा भी नहीं इससे सिद्ध होता है कि जीवोंको स्वयं भी न मारे और यदि दूसरा मारता हो तो ऐसी सामग्री देवे कि उसके प्राणोंकी रक्षा हो जाय । अतः हाथीने एक शशरुकी अनुकम्पासे ही परीत ससार किया था दूसरेकी अनुकम्पासे नहीं यह कहने वाले मिथ्यावादी हैं ।

भीषणजीने इस विषयमे लिखा है कि —

कष्ट सहो तिण पापसो डरतो, मन दट से ठि राखी तिण काया ।

बलता जीव दवानलदेहि, सु ड सू ग्रही ग्रही बाहिरे न लाया ।”

(पद्य भीषण जी का)

इनके कहनेका भाव यह है कि हाथीने पापसे डर कर मनको दट और शरीरको मजबूत रखता परन्तु दवानलमे जलने हुए जीवोंको सुटसे पकड़ कर बाहर नहीं लाया था इस लिये मरते प्राणीकी प्राण श्वा रूप दया करना एकान्त पाप है” परन्तु यह बात

अश्विक पूर्ण है । हाथीके आनेके पहले ही उसका मण्डल जीवोंसे इतना ज्यादा भर गया था कि स्वयं हाथीको भी अपने उठाये हुए पैर को नीचे रखनेका स्थान नहीं मिला । इसी स्थानमें वह हाथी दागानलमें जलते हुए जीवोंको लाकर कहा रखता और उनको उनके लिये वह किस मार्गसे जाता क्योंकि वह स्थान जीवोंसे इतना ज्यादा भर गया था कि कहीं भी पैर रखनेकी जगह नहीं थी अतः भीषणजीका पूर्वोक्त कथन एकान्त में क्या समझना चाहिये । वास्तवमें हाथीने जञ्जरकी प्राणरक्षाके लिये अपना उठाया पैर नीचे नहीं रखा और दूसरे प्राणियोंकी प्राण रक्षाके लिये दूसरी जगह भी नहीं रक्खा अतः हाथीक उदाहरणसे जीव रक्षामें पाप बनाना मिथ्या दृष्टियोंका कार्य है ।

बोल ८ वां समाप्त

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १३४ पर सुय गटाग सूत्रकी गाथा लिए कर कमकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

अथ अठे कछो जीवाने मार तथा मत मार पढ़वू पिग वचन न कहिणो इहा प रहस्य—महणो महणो तो साधुने उपदेश छै ते तारिवाने अर्थे उपदेश दये अने इहा वच्यो ह्येप आणीन हणो इम पिग न कहिणो अनेत्या जीजारे राग आणीने मतहणो इम पिग न कहिणो मध्यस्थपणे रहिणो”

(भ्र० पृ० १३४)

इतके कहनेका भाव यह है कि हिंस्रके हाथसे मारे जाते हुए प्राणीकी प्राणरक्षा के लिये ‘मत मार’ कहना मरते जीव पर राग लाना है, किसी जीव पर राग करना साधुको उचित नहीं है अतः मरते जीवकी प्राण रक्षा करनेके लिये साधुको ‘मत मार’ यह उपदेश न देना चाहिये ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रम विध्वंसनकारने सुय गटाग सूत्रकी गाथाका मूल अर्थ बनहात हुए जो यह लिखा है कि “अथ अठे कछो जीवाने मार तथा मत मार पढ़वू पिग वचन न कहिणो” यह अर्थ ही मिथ्या है । भ्रम विध्वंसनकार इस गाथाका ठीक ठीक अर्थ नहीं समझ सके । इस गाथामें कहा है कि

“ वज्झा पाणा न वज्जेति इति वायं न नोसरे ”

इसका अर्थ करते हुए शीलाकाचार्य अपनी टीकामें लिखते हैं “व्याघ्र पारदारिकादयोऽस्यावा तत्कर्मानुमति प्रसगादित्येव भूता वार्च स्त्रानुष्ठान पराण साधु पर व्यापार निरपेक्षो न निस्तजेत्” अर्थात् वध दण्ड देने योग्य चोर और पारदारिक प्राणीको साधु, वध दण्ड न देने योग्य निरपराधी न कहे क्योंकि अपराधीको निरपराधी कहनेसे साधुको उसके कार्यका अनुमोदन लगता है अतः अपने अनुष्ठानमें पायण और दूसरोंके व्यापारसे निरपेक्ष साधुको पूर्वोक्त बात न कहनी चाहिये । यह उक्त मूल पाठका टीकानुसार अर्थ है । यहा मार और मत मार न कहनेका कोई प्रसंग नहीं है यहा तो वध दण्ड देने योग्य अपराधीको निरपराधी कहनेका निषेध किया है अतः इस गाथाका नाम लेकर निरपराधी प्राणीकी प्राण रक्षा करनेके लिये मत मार कहनेका निषेध करना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये ।

आगे चल कर इस गाथाका तात्पर्य बतलाने हुए भ्रमविध्वसन कारने जो यह लिखा है कि ‘द्वेप आणीने हणो इम पिण न कहिगो, अनेत्याजीवारे राग आणीने मत हणो इम पिण न कहिगो” यह भी अयुक्त है क्योंकि मूल गाथामें न तो राग शब्द है और न द्वेप शब्द, परन्तु भ्रम विध्वसनकारने दया धर्म को पाप बतलानेके लिये अपने मनसे राग और द्वेप घुसेड दिये हैं । इस गाथामें भाषा सुमतिका उपदेश किया गया है राग द्वेपकी कोई चर्चा नहीं है अतः मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेमें रागका नाम लेकर पाप बतलाना मूलगाथाका अभिप्राय न समझनेका परिणाम है ।

अब शीलाका चार्य की टीका लिख कर इसका अर्थ बतलाया जाता है जिससे उक्त टीकाका नाम लेकर भ्र० वि० कारका फैलाया हुआ भ्रम दूर हो जाय । “तथाहि सिंह व्याघ्र मार्जारादीन् परसत्त्वव्यापादन परायणान् दृष्ट्वा साधुर्माध्यस्थ्य मवलब्येत् तथाचोक्तम्—मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ्यानि सत्त्वगुणाधिकृष्ट्यमाना विनेयेषु”

अर्थात् जीवोकी हिंसा करनेमें तत्पर रहने वाले सिंह, व्याघ्र, मार्जार आदि प्राणियोंको दूर कर साधु मध्यस्थ होकर रहे । कहा है कि सब जीवोके साथ मैत्री और अधिक गुणगानोमें प्रमोद, क्लेश पाते हुए जीवो पर करुणा और अविनेय प्राणियों पर मध्यस्थ भाव रखना चाहिये ।

यहा टीकामें “सिंह व्याघ्र मार्जारादीन्” इस पदमें जो आदि शब्द आया है उससे पञ्चेन्द्रियघातक महारम्भी प्राणियोंका ग्रहण होता है साधुके सिवाय सभी जीवोंका नहीं इसलिए सिंह व्याघ्र और पञ्चेन्द्रिय जीवोका विघातक प्राणियोंके विषयमें ही मौन रहना, या मध्यस्थ भाव रखना शास्त्र सम्मत है क्लेश पाते हुए हीन दीन दुःखी जीवोंके

कर्ममें नहीं उन पर करुणा करना साधुओंका कर्तव्य है । इसलिये जो मरत प्राणी पर
या नहीं करता और दया करके उसकी रक्षाका उपदेश नहीं देता वह भ्रष्टानी गव
स्याट्ट है उसे आस्थायी रहस्यका ज्ञान नहीं है । जो लोग इस टीकामें आये हुए आदि
मन्त्रसे साधुके सिवाय सभी जीवोंका प्रहण होना मान कर साधुके मित्राय सभी जीवों
को हिंसक और सभीके विषयमें मध्यस्थ भाव रखनेका उपदेश देते हैं वे त्रिलुल मूर्ख
हैं । यदि साधुके सिवाय सभी हिंसक हैं और सभीके विषयमें मध्यस्थ भाव रखना शास्त्र
सम्मत है तो फिर मैत्री, प्रमोद, और कारण्य किस पर रखते जाएंगे ? अब इस टीका
का नाम लेकर साधुके सिवाय सभी प्राणियोंको हिंसक और उपदेशके द्वारा उनकी प्राण
रक्षा करनेमें पाप बताना एकान्त मिथ्या है वास्तवमें पञ्चेन्द्रिय घान आदि महारम्भका
प्रार्थन करने वाले जो प्राणी समझानेसे भी नहीं समझ सकते हैं उन्हींके विषयमें मौन रहने
या मध्यस्थ भाव रखनेका यही उपदेश किया है मरते प्राणी पर दया करके उपदेश
नका निषेध नहीं किया है उन पर करुणा करनी ही चाहिये, जो नहीं करता और
रक्षा करनेमें पाप कहता है उसे निन्द्य और प्राणियोंका द्रोही समझना चाहिये ।

(चोल ९ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन गृष्ठ १३५ पर आचाराग सूत्रका मूलपाठ लिख
वसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—“अथ इहा कश्चो गृहस्थ माहो माहि छडे
आक्रोश आदि करे छै तो इम चिन्तवगो नहीं पहनो आक्रोशो हणो रोको उद्वेग दु ख
ताबो । तथा पहने मतहणो मत आक्रोशो मन रोको उद्वेग दु ख मत उपजाबो इमि
उवगो नहीं । एहनो ए परमार्थो जे राग आगी जीवगो धाच्छी इम न चिन्तवगो
पहाने मतहणो उद्वेग दु ख न देबो । तो रागमे धमकिहाथी जीवगो धाच्छ्या
किम कहिए अने जे हणो तेहने पाप टालिजाने तारिजाने उपदेश देई हिंसा छोडावे ते
मैं छै” (भ० पृ० १३५।३६)

इसका क्या उत्तर ?

(प्रेरक)

आचाराग सूत्रका मूल पाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है वह पाठ

“आयाण मेयं भिवस्वस्स सागारिण उवस्सए मंवस्समाणस्स
सलु गाहावईवा जाव [कम्मकरीवा अन्नमन्नं आक्कोसतिवा

वयंतिवा रुंभंतिवा उद्वंतिवा अहंभिक्खू उच्चावधं मणं नियजेज्जा
एए खलु अन्नमन्नं आक्कोसंतुवा मावा आक्कोसंतु जाव मावा
उद्वंतिवा”

(आचाराग श्रु० १ अ० २ उ० १)

अर्थ —

गृहस्थ जिस मकानमें रहते हैं उसमें साधुका रहना कर्मबन्धका कारण होता है क्योंकि उस मकानमें रहते हुए साधुके समक्ष यदि उस गृहका स्वामी या, कमरूरी आदि, परस्पर आक्रोश करते हों या एक दूसरेको दुष्ट आदिसे मारते हों रोक्ते हों या उपद्रव करते हों यह देख कर साधु अपना मन ऊँचा नीचा करे, अर्थात् ये लोग परस्पर आक्रोश मत करें मत मारें मत रोको मत उपद्रव कर या ये लोग पूजाके कार्यों करें तो यह कर्मबन्धका कारण होता है इसलिये गृह के निवास स्थानमें साधुको नहीं रहना चाहिए । यह इस पाठका भावार्थ है ।

इस पाठमें कहा है कि जिस मकानमें सपरिवार गृहस्थ रहता हो उसमें साधु रहना कर्मबन्धका कारण है क्योंकि गृहस्थोंके घरोंमें कभी कभी पारिवारिक कलह होता है वह यदि साधुकी मौजूदगीमें हो और साधु उसे देख कर अपने मनको ऊँचा नीचा करे तो यह कर्मबन्धका कारण होता है । यहाँ मत मारो मत रोको मत उपद्रव करो इस भावनाको ऊँचा मन कहा है और मारो रोको उपद्रव करो इस भावनाको नीचा मन कहा है । परिवार वालोंके घरमें रहने पर साधुकी ऐसी भावना होना सम्भव है इस लिये शास्त्रमें परिवार वालोंके निवास स्थानमें साधुका रहना वर्जित किया है ।

इस पाठसे यह मतलब नहीं निकलता कि कोई हिंसक किसी पञ्चेन्द्रिय जीवका घात करना चाहता हो तो उसे देख कर न मारनेकी भावना करनेसे साधुको कर्मबन्ध होता है या उसे पाप लगता है क्योंकि इस पाठमें पारिवारिक कलहका वर्णन है जो कि गृहस्थोंके घरोंमें कभी कभी हो जाया करता है वह कलह किसीकी हिंसाके लिये नहीं होता क्योंकि परिवारमें परस्पर बड़ा भारी स्नेह होता है अतः वह कलह एक प्रकारसे प्रणय कलह है उसका असर गृहस्थके साथ रहनेसे साधु पर भी पड़ सकता है इस निवृत्तिके लिये गृहस्थके मकानमें साधुका रहना वर्जित किया है हिंसकके हाथसे मरने वाले प्राणीकी प्राणरक्षाके भयसे नहीं अतः इस पाठका नाम लेकर हिंसकके हाथसे मरने वाले प्राणीकी प्राणरक्षा करनेके लिये उपदेश देनेमें पाप कहना अज्ञान परिणाम है ।

जो लोग इस पाठका तात्पर्य यह बतलाते हैं कि “किमी मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेकी भावना करना अनुचित है” उनसे कहना चाहिये कि आप लोग गृहस्थ

निवासभूत गृहमें क्यों नहीं रहते ? क्योंकि आपके हिसाबसे मरते प्राणी की प्राणरक्षा करनेकी भावना न करता हुआ साधु यदि गृहस्थके निवासभूत गृहमें भी रहे तो उसे कर्मबन्ध नहीं हो सकता है तथा दूसरी जगह रहता हुआ भी यदि मरते प्राणीकी प्राणरक्षा की भावना करे तो उसे कर्मबन्ध होगा । ऐसी दशामे गृहस्थके निवासभूत मकानमें साधुका रहना इस पाठमें क्यों वर्जित किया गया है ? सिर्फ मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करना वर्जित कर देते परन्तु शास्त्रकारने मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करनेकी भावनाको वर्जित नहीं करके गृहस्थके निवासभूत मकानमें साधुका रहना वर्जित किया । अतः मरते जीवकी रक्षाके लिये उपदश आदिमें पाप कहना अज्ञान है ।

(बोल १० वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमशिख्यं मनकार भ्रमविज्वसन पृष्ठ १३७ पर आचार्यग सूत्रका मूलपाठ लिख उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ अटे इम क्खो जे अग्नि लगाव तथा मत लगाव बुझाय इम पिण साधुने चिन्तवगो नहीं । तो लाय मत लगाव इहा स्यू आरम्भ छै ते माटे इमो चिन्तवगो नहीं । इहा ए गृहस्थ — जे अग्निथी कीडिया आदि घणा जीव मरस्ये त्या जीवार जीवणो बाल्हीने इम न चिन्तवगो जे अग्नि मत लगाव । अने अग्निरो आरम्भ तेहनो पाप बाल्ही तहने सारिवा अग्निसे आरम्भ करबारा त्याग कर या धर्म छै पिण जीवणो बाल्ही धर्म नहीं” (अ० पृ० १३७)

इसका क्या समाधान ?

(प्रत्यक्ष)

आचार्यग सूत्रका वह पाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है वह पाठ यह है —

“आपाणमेय भिक्खूस्स गाहावड्ढिं सद्धिं वसमाणस्स इह खलुगाहावड्ढिं अप्पणो सग्गहा अगणिकायं उज्जालिज्जाया पज्जालिज्जाया विज्जावेज्जवा, अहमिस्स उच्चावचं मणं निपच्छेज्जा एते खलु अगणिकायं उज्जालेंतुवा मावाउज्जालेंतुवा पज्जालेंतुवा मावापज्जालेंतु विज्जवेंतुया मावाविज्जवेंतुवा”

(आचार्यग श्रु० २ अ० २ उ० १)

अर्थ —

गृहस्थके निवासभूत गृहमें साधुका रहना कर्मबन्धका कारण होता है । गृहस्थ अपने काट्याके लिये आग जलावे या बुझावे उस समय यदि साधुका मन ऊँचा नीचा हो अथवा गृहस्थ आग न जलावे या जलावे बुझावे या न बुझावे तो यह कर्मबन्धका कारण होता है इसलिये गृहस्थके निवासभूत गृहमें साधुको नहीं रहना चाहिये । यह इस पाठका अर्थ है ।

इस पाठमें अग्नि जलानेसे मरने वाले कीड़े आदिकी रक्षाके लिये साधुको अग्नि नहीं जलानेकी भावना नहीं करनी चाहिये यह नहीं कहा है इसलिये अग्नि जलानेसे मरने वाले जीवोंकी रक्षाके लिये अग्नि नहीं जलानेकी भावनाको कर्मबन्धका कारण ब्रह्मा भ्रमविध्वसनकारका अज्ञान है ।

भ्रमविध्वसनकारको जीवरक्षा न करना ही इस पाठका रहस्य सूझा है परन्तु इसका कारण क्या आपना स्वार्थ नहीं हो सकता है ? जैसे कि साधुको शीतकी पीडा हो रही हो तो उसके मनमें ऐसी भावना होना सम्भव है कि यह गृहस्थ आग जलावे तो अच्छा हो, एवं गर्मी लगने पर यह भावना होना भी सम्भव है कि यह गृहस्थ आग न जलावे तो अच्छा हो । इस प्रकार अपने स्वार्थके लिये साधुके मनमें आग जलाने और न जलानेकी भावना हो सकती है । ऐसी भावना गृहस्थके निवास स्थानमें रहने वाले साधुके मनमें सम्भव होना देख कर शास्त्रकारने गृहस्थके निवास स्थानमें साधुका रहना वर्जित किया है जीव बचानेके लिये उक्त भावनाका होना कर्मबन्धको कारण जान कर नहीं क्योंकि जीव बचाना और जीव बचानेके लिये जगतको उपदेश देना तो साधुका प्रधान कर्तव्य है सच पूछिये तो जैनागमका निर्माण ही जीवरक्षाके लिये हुआ है अत एव प्रश्न व्याकरण सूत्रमें “सर्व जग जीव रक्षण दयदृष्ट्या ए पाचयण भगवया सुकटिय” यह पाठ आया है । अत जीवरक्षामें पाप कहना और जीवरक्षा के लिये आग नहीं जलानेकी भावना को कर्मबन्ध का कारण बतलाना शास्त्र का रहस्य नहीं समझने का फल है ।

भ्रमविध्वसनकारने जो इस पाठकी व्याख्या की है उससे तो यहाँका सारा शास्त्रीय सिद्धान्त ही विपरीत हो जाता है । भ्रमविध्वसनकार कहते हैं कि “आगमें जल कर मरने वाले जीवोंकी रक्षाके भावसे साधु यदि आग नहीं जलानेकी भावना करे तो यह कर्मबन्धका कारण है” इनके हिसाबमें साधु यदि आगसे जल कर मरने वाले जीवोंकी रक्षाकी भावनासे नहीं बरन अपने स्वार्थसे आग न जलाने की भावना करे और गृहस्थके निवासभूत गृहमें रहे तो दोष न होना चाहिये । वृत्ति इनके हिसाब से तो साधुको गृहस्थके निवासभूत भवनमें ही रहना चाहिये क्योंकि वहाँ रहनेसे जब जब

गृहस्थ आग जलाना या बुझाना चाहेगा तब तब साधु उसे समझा बुझा कर आग जलाने का बुझानेका निषेध कर सकता है इस प्रकार गृहस्थके करनेमें और ज्यादा सुविधा ही होगी परन्तु शास्त्रकार गृहस्थके मकानमें साधुका रहना वर्जित करते हैं इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अपने स्वार्थके लिये ही साधुको पूर्णक भावना करना बुरा है जीव रक्षा करना बुरा नहीं है अतः उक्त पाठका उदाहरण देकर जीवरक्षा करनेमें पाप बतलाना भ्रम समझना चाहिये ।

(चोल ११ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसन कार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ १३८ पर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा वशका मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं — “अथ अठे पिण कसो जीव णो मरणो आपणो वाञ्छणो नही तो पारको क्याने वाञ्छमी” इत्यादि लिख कर हिंसक के हाथसे मार जाने वाले प्राणोंकी प्राण रक्षा करनेमें एकान्त पाप बतलाते हैं ।

इसका क्या समाधान ?

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसन कारने भ्र० वि० पृ० ३५४ में लिखा है कि “अथ अठे कसो साध्वी पानीमें डूबतीने साधु चाहिरे फाडे तो आशा उल्लाचे नहीं” इनके मतानुयायियोंसे पूछना चाहिये कि साधु जब कि अपना या दूसरेका जीवन ही नहीं चाहता तब वह पानीमें डूबती हुई साध्वीको क्यों निकालता है ? तथा अपनी प्राण रक्षाके लिये साधु क्यों आहार करता है ? उत्तराध्ययन सूत्रके २६ वें अध्ययनमें अपनी प्राण रक्षाके लिये साधु को आहार करनेका विधान किया गया है वह गाथा यह है —

“वेधण वेधावच्चे हरियट्ठाए य संजमट्ठाए

तह पाण वत्तिघाए छट्ठं पुण धम्म चिन्ताए”

अर्थात् (१) क्षुधा और पिपासासे उत्पन्न हुई वेदनाकी निवृत्ति के लिये (२) क्षुधा और पिपासासे व्याकुल मनुष्य गुरु आदिकी सेवा नहीं कर सकता अतः गुरु आदिकी सेवा करनेके लिये (३) क्षुधा और पिपासासे व्याकुल मनुष्य विधिवत् ईश्या समितिमें पालन नहीं कर सकता अतः ईश्या समितिका पालन करनेके लिये (४) मृगतुर होकर यदि सविच यन्त्रका आहार कर ले तो संयम ही महा कायम रह सकता अतः संयमको रक्षाने के लिये (५) अपने प्राणोंकी रक्षा करनेके लिये (६) धम्मकी चिन्ता के लिये, साधुको आहार पानीका अन्येका करना चाहिये ।

यहा स्पष्ट लिखा है कि अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये साधुको आहार पानो अन्वेषण करना चाहिये और टीका करने भी लिखा है कि “पाणवत्तिया एति प्रा प्रत्ययं जीवत निमित्तम् अविधिनाह्यात्मनोऽपि प्राणोपक्रमणे हिंसा स्यात् ।”

अर्थात् अपने जीवनकी रक्षा करनेके लिये साधुको आहारका अन्वेषण करना चाहिये क्योंकि शास्त्रीय विधिसे विपरीत अपने प्राणोंको छोड़ना भी हिंसा करना है। यह उक्त टीकाका अर्थ है। यहा टीकामे साधुको अपने जीवनकी रक्षाके लिये आहार करना बतलाया है और मूल पाठमे भी यही बात कही है इस लिये साधु अपने जीवनकी रक्षा नहीं करते यह कहना मिथ्या है। जब कि साधु अपने प्राणोंकी रक्षा करते हैं तो वह दूसरे प्राणीकी प्राण रक्षाके लिये उपदेश देवें तो इसमे पाप कैसे हो सकता है ? या बुद्धिमानोंको विचार लेना चाहिये। उत्तराध्ययन सूत्रकी ऊपर लिखी हुई गायमे जीने अपने प्राणकी रक्षाके लिये साधुको आहार करनेका विधान किया गया है उसी तरह भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा ९ मे पृथिवी काय आदिकी रक्षाके लिये साधुको प्रासु और एणिक आहार लेनेका विधान किया है। वह पाठ यह है —

“फोसु एसणिज्जं भुंजमाणे समणे निगंथे आयाए धम्म
नाईक्कमइ आयाए धम्मं अणइक्कममाणे पुढवित्तायं अवकांखइ जा
तसकायं अवकांखइ”

(भ० श० १ उ० ९)

अर्थ —

जो साधु प्रासुक और एणिक आहार लेता है वह अपने धर्मका उल्लंघन नहीं करता और अपने धर्मका उल्लंघन नहीं करता हुआ साधु पृथिवी कायसे लेकर मावत् त्रस कायकी प्राण रक्षा करना चाहता है।

यहा पृथिवी कायसे लेकर यावत् त्रस कायके प्राणियोंकी प्राणरक्षा करनेके लिये साधुको प्रासुक और एणिक आहार लेनेका विधान किया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि दूसरे प्राणियोंकी प्राण रक्षा करना भी साधुका कर्तव्य है। अतः ठाणाङ्ग सूत्रका नाम लेकर अपनी तथा दूसरेकी प्राण रक्षा साधु नहीं चाहते यह कहने वाले अज्ञानी हैं।

ठाणाङ्ग सूत्रके दशवें ठाणामे साधुको प्राप्त जीवनकी इच्छा करना वर्जित नहीं की है चिर काल तक जीते रहनेकी इच्छा वर्जित की गई है। वहा साधुको “जीवनार्गसा” का निषेध किया है “आगसा” नाम है नहीं पायी हुई चीजके पानेका है। अभिधान राजेन्द्र कोशमें लिखा है “अप्राप्त प्रापणमाश्रमा” अर्थात् नहीं पायी हुई चीजको पाना आश्रमा

इस प्रकार जो जीवन प्राप्त नहीं है उसके पानेकी इच्छा करना यानी चिर काल तक जीनेकी इच्छा करना "जीवनाशासा" कहलाती है वही साधुके लिये वर्जित की गई है यथा प्राप्त जीवनकी इच्छा वर्जित नहीं की है अन्यथा उत्तराध्ययन और पूर्वोक्त भगवत्के मूल पाठमे ठाण्डा सूत्रका स्पष्ट ही विरोध होगा अब ठाण्डा सूत्रके मूल पाठ का नाम लेकर साधु अपने और दूसरेका जीवन नहीं चाहता यह कहना अज्ञान तथा एकान्त मिथ्या है ।

कोई कोई कहते हैं कि "असंयतिकी प्राण रक्षा करनेसे असंयमका अनुमोदन होता है" इससे कहना चाहिये कि जो काम जिसको अच्छा नहीं लगना उसका अनुमोदन उसको नहीं लग सकता । साधु असंयतिको असंयम सेवनके लिये उपदेश नहीं देता और उसके असंयम सेवनको वह अच्छा भी नहीं समझता बल्कि वह असंयतिको असंयम सेवनका त्याग करनेके लिये उपदेश देता है फिर असंयतिकी प्राण रक्षाके लिये उपदेश देनेसे साधुको उसके असंयमका अनुमोदन कैसे लग सकता है ? यदि असंयतिके बच जाने मात्रसे साधुको असंयमका अनुमोदन लग जाय तो फिर कसाईको तारने के लिये भी अहिंसाका उपदेश न देना चाहिये क्योंकि अहिंसाका उपदेश सुनकर कसाई यदि असंयतिको न मारे तो वह बच सकता है और बच कर वह असंयमका सेवन कर सकता है । फिर कमाईको तारनेके लिये अहिंसाका उपदेश देने वालेको असंयमका अनुमोदन क्यों नहीं लगता ? यदि कहो कि कमाईको तारनेके लिये उपदेश देनेपर यद्यपि असंयति बच जाता है और बच कर वह असंयमका सेवन भी कर सकता है तथापि साधुको असंयमका अनुमोदन नहीं लगता क्योंकि उसने असंयम सेवन करानेके लिये कसाईको अहिंसाका उपदेश नहीं दिया है तो इसी तरह यह भी समझो कि मरते प्राणी की प्राण रक्षा करनेके लिये जो उपदेश देता है वह उस प्राणीका आर्त रौद्र ध्यान छुड़ाना की चाहता है और कसाईको भी पापसे बचाना चाहता है वह यह नहीं चाहता कि यह प्राणी असंयमका सेवन करे तो अच्छा हो इस लिये मरते हुए असंयति प्राणीका आर्त रौद्र ध्यान छुड़ानेके लिये उसकी प्राण रक्षा करनेसे असंयमका अनुमोदन घटलाना मिथ्या वादियोंका कार्य है ।

(बोल १२ वां)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसन कार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ १३८ पर सुय० सू० अ० १० गाथा २४ एवं सुय० श्रुत० १ अ० १३ गाथा २६ वीं को लिख कर बतलाते हैं कि इन

ओंमे साधुको अपने जीने और मरनेकी इच्छा करना वर्जित की गई है अतः दूसरों मरने और जीनेकी इच्छा भी न करनी चाहिये । इस प्रकार साधु जब कि दूसरे प्राणी जीवनकी ही इच्छा नहीं रखता तब फिर वह मरते प्राणीकी प्राण रक्षाके लिये उपदेश कैसे दे सकता है ? अतः मरते प्राणीको प्राण रक्षाके लिये उपदेश देना एकान्त पाप है इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सुय गडाग सूत्रकी दो गाथाओंका नाम लेकर हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणीकी प्राण रक्षाके लिये धर्मेपदेश देनेमें एकान्त पाप कहना मिथ्या है । उन गाथाओं में भी ठाणाङ्ग ठाणा दशमे कहे हुये “जीविताशसा सप्रयोग” मरणाशसा सप्रयोग की तरह साधुको चिर काल तक जीवित रहने और जीघ्न मर जानेकी इच्छा ही वर्जित की गई है यथा प्राप्त जीवन और यथा काल मरणकी इच्छा वर्जित नहीं की है अन्यथा उत्तराध्ययन सूत्रकी पूर्व लिखित गाथाके साथ सूय० की गाथाओंका भी विरोध पड़ेगा क्योंकि उत्तराध्ययनकी पूर्व लिखित गाथामें, साधुको अपने जीवन रक्षार्थ आहार अन्वेषण करनेका विधान किया है और भगवतीजीके पूर्व लिखित पाठमें पृथिवी कायपुत्र लेकर यागव्रतस कायकी रक्षाके लिये साधुको प्रासुक और एषणिक आहार लेनेका विधान किया है ऐसी दशामे सूय गडाग सूत्रकी गाथाओंमें साधुको अपने जीवन और मरणकी इच्छा करना नहीं वर्जित की जा सकती है ? क्योंकि उत्तराध्ययन सूत्र और भगवतीके उक्त पाठोंसे विरोध पड़ता है अतः सुय गडाग सूत्रकी गाथाओंका यही भाव है कि साधु चिर काल तक जीवित रहने और जीघ्न मर जानेकी इच्छा न करे यथा प्राप्त जीवन और यथा काल मरणकी इच्छाका निषेध नहीं किया है । अतएव सुय गडाग सूत्र की उक्त गाथाओंकी टीकामें टीकाकारने लिखा है कि—

“जीवित मसयम जीवित दीर्घायुष्क वा स्थावर जगम जन्तुदण्डेन नाभिकारि स्यात्”

अर्थात् साधु, स्थावर जगम जन्तुओंको दण्ड देकर असयमके साथ जीवित रहने, या चिर काल तक जीवित रहनेकी इच्छा न करे ।

यहां प्राणियोंकी हिंसा करके तथा चिर काल तक जीवित रहनेकी इच्छा करना साधुको वर्जित की गई है परन्तु प्राणियोंकी रक्षा करके और यथा प्राप्त जीवित रहनेकी इच्छा वर्जित नहीं की है । इस लिये साधु जीवोंकी रक्षाके साथ यथा प्राप्त जीवनकी इच्छा करते हैं और इसी इच्छासे प्रेरित होकर वे मरते प्राणीकी प्राण रक्षाके लिये उपदेश

भी दत्त हैं मारने वाले और मरने वाले दोनों ही से वे जीव रक्षा करनेका उपदेश देते हैं । साधुका परम कर्तव्य है कि वह जीव रक्षा करनेका आदेश जगह जगह पहुँचा दें और सभी जीवोंको हिंसककी छुरीसे बचा दें । पढ़ले कश जा चुका है कि जीव रक्षाके लिये ही जैनागमका निर्माण हुआ है । अतः जीवरक्षाके लिये उपदेश देनेमें जो एकान्त पापकी स्थापना करते हैं वह एक प्रकारका हिंसक और मिथ्या दृष्टि है ।

सुयगडाग सूत्रकी उक्त गाथाओंमें “नो जीविअनो मरणावकस्सी” इस वाक्यमें “नो अवकस्सी” ये पद आये हैं इनको देख कर कई भ्रम जालमें पड़कर कहने लगते हैं कि “यहा तो जीवनकी इच्छा करना साफ साफ वर्जित की गई है फिर साधु किसो मरते प्राणीकी रक्षा क्यों कर सकता है ? उन भ्रात पुरुषोंसे कहना चाहिये कि जैसे सुयगडाग सूत्रकी उक्त गाथाओंमें “नो अवकस्सी” यह पाठ आया है वसी तरह भगवती शास्त्रक १ उद्देशा ९ में “पुढवी काय अवकस्सी जाव तसकाय अवकस्सी” इस पाठमें “अवकस्सी” यह पाठ आया है इसका अर्थ, पृथिवी कायसे लेकर यावन्म्रम कायके जीवोंको जीवनरक्षा की इच्छा करना है इसके विरुद्ध सुयगडाग सूत्रमें जीवन रक्षा की इच्छा करना कैसे वर्जित की जा सकती है ? अतः सुयगडाग सूत्रके उक्त पाठका यही आशय है कि साधु चिरकाल तक जीते रहनेकी इच्छा नहीं करें यथाप्राप्त जीवन रक्षाकी इच्छा करनेका निषेध नहीं है अतः सुयगडाग सूत्रका नाम लेकर जीवरक्षाके लिये उपदेश देनेमें पाप कहना एकान्त मिथ्या है ।

[बोल १३ समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रम० पृष्ठ १४० । १४१ । १४२ के ऊपर सुयगडाग सूत्र श्रुत० १ अ० १५ गाथा १० तथा उक्त सूत्र श्रुत० १ अ० ३ उ० ४ गाथा १५ एवं उक्त सूत्र श्रुत० १ अ० ५ गाथा ३ तथा उक्त सूत्र श्रुत० १ अ० १ गाथा ३ और उक्त सूत्र श्रुत० १ अ० २ उ० २ गाथा १६ का नाम लेकर हिंसकके हाथसे मार जाने वाले प्राणी की प्राणरक्षा करनेमें पाप बतलाते हैं ।

इसका क्या समाधान ?

(प्रत्युक्त)

भ्रमविध्वंसनकारकी लिखी हुई सुयगडाग सूत्रकी गाथाओंमें छ कायके जीवोंकी रक्षा करनेके साधुको जीवित रहनेकी इच्छाका निषेध किया गया है परन्तु छ काय

जीवोकी रक्षाके साथ जीवित रहनेकी इच्छा नहीं वर्जित की है अतः उक्त गायत्री का नाम लेकर जीवरक्षा करनेमें पाप बतलाना मूर्खता है ।

सुयगडाग सूत्र श्रुत० १ अ० १५ के दशमीं गायामे लिप्ता है कि “जीविय पाठोकिच्चा” इसका भाव यह है कि “साधु असयम (हिंसा) सहित जीवनको पीछे न देवे” इससे प्राणियोंकी रक्षाके साथ जीवित रहना स्पष्ट मित्र होता है ।

इसी तरह सूय० श्रु० १ अ० ३ उ० ४ के गायी १५ में भी असयम यानी हिंस के साथ जीना ही निषेध किया गया है रक्षाके साथ जीनेका निषेध नहीं किया है वह जो “नाव करति जीविय” यह वाक्य आया है उसका यही आशय है कि “साधु असयम (हिंसा) के साथ जीवित रहनेकी इच्छा नहीं करते” इससे जीवरक्षाके साथ जीव की इच्छा करनेका निषेध नहीं सिद्ध होता । एवं सुयगडाग सूत्र श्रुत० १ अ० ५ उ० १ गायी ३ में अपने जीवनके निमित्त दूसरे प्राणियोंको भय देने, और हिंसादि पापोंसे आचरण करनेमें नरक जाना कहा है प्राणियोंको अभयदान देने, और उनकी रक्षा करने से नरक होना नहीं कहा है देखिये वह गायी यह है —

“जेकेइ चाले इह जोवियही पाचाइं कम्माइं करेंतिरुदा । ते घोर रुवे तिमिसङ्ख्यारे तीव्याभितावे नरए पतन्ति”

अर्थ —

(सूय० श्रु० १ अ० ५ उ० १ गायी ३)

अर्थात् जो अज्ञानी पुरुष, अपने जीवनके लिये दूसरे प्राणियोंको भय देना है और हिंसादि घोर कर्म करता है वह तीन तापयुक्त अन्धकार परिपूर्ण घोर नरकमें पड़ता है ।

यह प्राणियोंको भय देने, और उनकी हिंसा करनेसे नरक जाना कहा है प्राणियोंको अभयदान देने, और उनकी रक्षा करनेसे नरक जाना नहीं कहा है अतः इस गायीका नाम लेकर हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणी की प्राणरक्षा करने के लिये उपदेश देनेमें पाप बतलाना एकान्त मिथ्या है ।

इसी तरह सूय० श्रु० १ अ० १० गायी तीसरीका नाम लेकर जीवरक्षा करनेमें पाप बताना मिथ्या है देखिये वह गायी यह है —

“सुयक्खाय धम्मे वित्तिगिच्छतिन्ने

लाढेचरे आय तुले पयासु -

आर्यांन कुज्जा इह जीविअट्ठी

वर्यं न कुज्जा सुतवस्सिभिवखु”

(सूय० श्रु० १ अ० १० गायी ३)

अथा धीतराग भाषित धमका आचरण करने वाला संशयरहित, ज्ञान दर्शन सम्पन्न
 धर्म तत्त्वों साधु प्राणिक आधारसे अपना जीवन निर्वाह करे और समयके पालनमें सदा दत्त-
 धर्म रहे, तथा सब प्राणियों को आत्म तुल्य देखता हुआ आत्म का सेवन नहीं करे पृथ-
 क जीवन (हिंसा के साथ जीवन) और परिग्रह रूप संन्यास की इच्छा नहीं करे। यह इस
 गाथा का अर्थ है।

इस गाथामें कहा है कि "साधु अपने समान सब प्राणियोंको देखे" अतः अपने
 समान सब प्राणियोंको देखना जब साधुका कर्तव्य है तो जिस प्रकार साधु अपनी रक्षा
 करनेमें पाप नहीं समझता उसी प्रकार उसे किसी भी प्राणीकी रक्षा करनेमें पाप नहीं
 समझना चाहिये। इस प्रकार इस गाथासे जीवरक्षा करना साधुका कर्तव्य सिद्ध होता है
 अतः जीवमलजनीने इसी गाथाका नाम लेकर जीवरक्षा करनेमें पाप बतानेकी चेष्टा की
 बुद्धिमानीको विचार कर देखना चाहिये कि इस गाथासे जीवरक्षा करनेमें धर्म सिद्ध
 है या पाप ?

एक साधारण बुद्धिवाला भी इस गाथाको देख कर जीव रक्षा करनेमें धर्म ही
 है या पाप नहीं कह सकता। तथा इस गाथामें भी पूर्ण गाथाओं की तरह असयम
 (हिंसा) के साथ जीवित रहना ही वर्जित क्रिया है रक्षक साथ जीवित रहने का
 पाप नहीं है अतः इस गाथा का नाम लेकर जीव रक्षा करने में पाप कहना
 गलत है।

इसी तरह सूय० श्रु० १ अ० २ गाथा १६ वीं का नाम लेकर मरते जीवकी प्राण-
 रक्षा करनेमें पाप बतलाना मिथ्या है देखिये वह गाथा यह है —

“नो अभिकलेज्ज जीवियं नावि य पूयण पत्थएसिया । अज्जत्थ
 भंति भेरवा सुन्तो गारगयस्स भिक्खुणो”

(सूय० श्रु० १ अ० २ गाथा १६)

अर्थ —
 अथा शून्य गृहमें निवास करते हुए साधुके निकट यदि भैरवादि कुछ उपद्रव हो तो उस
 को मार कर भागना नहीं चाहिये किन्तु अपने जीवनकी परवाह न करके उस उपद्रवका सहन करना
 ऐसे वह सहन अपनी मान पूजा बढ़ाईके लिये नहीं किन्तु स्वामाधिक होना चाहिये। यह इस
 गाथा की भावनासे अर्थ है।

इस गाथामें अभिप्रेतवागी साधुके लिये भैरवादि कुछ उपद्रव सहन करनेका उप-
 क्रिया गता है, किसी हिंसकके हाथसे मारे जान वाले प्राणीकी प्राणरक्षा करनेका

निषेध नहीं किया है अतः इस गाथाका नाम लेकर मरते जीवकी प्राणरक्षा करने में कहना मूर्खता है ।

(बोल १४ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १४३ पर उत्तराध्ययन सूत्र अ० ४ गाथा सातवींको लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ अठे पिण कह्यो अन्न पानी आदि देई संयम जीवितव्य बधानो पिण औ मतलब नहीं ते किम उग जीवितव्यरी चाञ्छा नहीं एक सयमरी चाछा । आहार कता पिण सयम छै आहार करणरी पिण अवत नहीं तीर्थकर री आज्ञा छै अने आवक नौ त आहार अवतमे छै तीर्थकरनी आज्ञा चाहिरे छै । आवकने तो जेतलो जेतलो पच कषाण छै ते धर्म छै ते माटे अद्ययम जीवन मरणरी चाछा करे ते तो अवतमे है (अ० पृ० १४३)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन सूत्रकी वह गाथा लिख कर इसका समाधान किया जाता है गाथा यह है —

“चरे पयाईं’ परिसङ्कमाणो जंकिं चि पासं इह मन्नमाणो
लाभंतरे जीविय बूहइत्ता पच्छा परिन्नाय मलावधंसी,,

अर्थ —

(उत्तरा० अ० ४ गाथा ७)

किसी तस प्राणीकी विराधना न हो जाय इसलिये साधु अपने पैरको शङ्काके साथ पृष्ठ पर रख कर बैठे । गृहस्थ लोग यदि थोड़ी भी प्रशंसा करें तो उसे पासके सत्तान कर्मका कारण समझे । ज्ञान दान और चारित्रिके विशेष लाभार्थ अन्न पानादिसे अपने जीवन का रक्षा करे । जब ज्ञान दर्शन और चारित्रिकी प्राप्ति हो जाय और अपना शरीर भी रोगादिसे प्रसन्न हो पृथक् हो जाय, तथा साधुको ज्ञात हो कि इस शरीरसे अब ज्ञान दर्शन और चारित्रिका उपार्जन नहीं हो सकता, तब यह शास्त्रीय विधानसे अपने शरीरका त्याग कर देवे । यह इस गाथाका शास्त्रानुसार अर्थ है ।

इसमे कहा है कि साधु ज्ञान दर्शन और चारित्र आदि गुणका उपार्जन करनेके लिये अन्न पानादिके द्वारा अपने जीवनकी रक्षा करे । इससे मरते हुए प्राणीकी प्राण रक्षाके लिये उपदेश आदि देना भी साधुका कर्त्तव्य सिद्ध होता है क्योंकि प्रश्न व्याक-

रणादि सुखोंमें जीवोंकी रक्षा करना गुण कहा गया है और गुणका उपार्जन करनेके लिये हम गायामें साधुको जीवनरक्षा करना कहा है इसलिये जो साधु उपदेश आदिके द्वारा मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करता है वह गुणका उपार्जन करना है पापका उपार्जन नहीं करता अतः इस गायिका नाम लेकर मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेके लिये उपदेश देनेमें एकान्त पाप कहना अज्ञान है ।

इस गायिकाकी समालोचनामें भ्रमविध्वसनकारने साधुके भोजनकी स्वतः प्रतमे बतलाया है यह भी इनकी भारी भूल है यदि भोजन करना स्वतः प्रतमे है तो जैसे अपिक्रमे अधिक उपवास करना उत्तम है उसी तरह अधिकसे अधिक भोजन करना भी साधुके लिये गुण होना चाहिये । जो साधु अधिकसे अधिक और बार बार भोजन करे वह जीवमलजीके हिसानमें बहुत ही उत्तम समझा जाना चाहिये । जैसे अधिकसे अधिक उपवास करने वाला साधु उत्कृष्ट प्रतधारी समझा जाता है उसी तरह अधिक से अधिक भोजन करनेवाला साधु जीवमलजीके मतमें उच्चश्रेणिका प्रतधारी समझा जाना चाहिए । परन्तु शास्त्र ऐसा नहीं कहता शास्त्र तो साधुको कारणवश आहार करनेका आदेश देता है और और अकारणसे तथा बार बार अधिक आहार करनेवाले साधुको पाप भ्रमण कहता है इसलिए साधुका भोजन करना उपवासादिकी तरह साक्षात् प्रतमे नहीं है उसे स्वतः प्रतमे गिनना अज्ञानका परिणाम है । साधुका कारणवश आहार करना उसके प्रतका उपकारक है इसलिए वह अग्रतमें नहीं है और उपवासादिकी तरह वह साक्षात् घन स्वरूप भी नहीं है अतः साधुके भोजनको उपवासादिकी तरह साक्षात् प्रत स्वरूप बतलाना अज्ञानियोंका कार्य है ।

जैसे साधुका आहार करना उसके प्रतका उपकारक होनेसे अग्रतमें नहीं है उसी तरह बारह प्रतधारी श्रावक का भोजन भी उसके प्रतका उपकारक होनेसे अग्रतमें नहीं है । श्रावकको अग्रतकी क्रिया लगती भी नहीं है यह विस्तारके साथ पहले कहा जा चुका है अतः साधुके आहारको उपवासादिकी तरह साक्षात् प्रतमे, और श्रावकके आहारको अग्रतमें मानना मिथ्यात्वका परिणाम समझना चाहिये ।

इसी तरह मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेसे असंयम जीवनकी इच्छा बतलाना भी मिथ्या है हिंसा करके जीवित रहनेकी की इच्छा करना असंयम जीवनकी इच्छा करना, या उसका अनुमोदन करना है गप्पाके साथ जीवित रहनेकी इच्छा करना असंयम जीवनकी इच्छा नहीं है अतः मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेसे असंयम जीवनकी इच्छा बतलाना भ्रमविध्वसनकारका एकान्त मिथ्या है ।

(बोल वां १५ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंससन कार भ्र० वि० पृष्ठ १४४ पर सूयगडाग सूत्रकी गाथा लिखकर उसको समालोचना करते हुए लिखते हैं “अथ अठे पिण सयम जीवितव्य दोहिलो फहो पिण और जीवितव्य दोहिलो न फहो” भ्रम पृ० १४४)

इनका आशय यह है कि हिंसकके हाथसे मारे जाने जानेवाले असयमि जीवकी रक्षा करना असयम जीवनकी इच्छा करना है इसलिये साधुको मरते प्राणीकी रक्षाके लिये उपदेश नहीं देना चाहिये । इसका क्या समाधान ?

(प्रत्युपक)

सूयगडाग सूत्रकी यह गाथा लिखकर इसका समाधान किया जाता है । वह गाथा निम्नलिखित है—

“संवुज्झह, किं न वुज्झह संवोहो खलुपेच दुल्लहा,

नोद्वेषण मंति राहयो नो सुलभं पुनराविजीविमि”

अर्थ —

(सू० भ्रु० १ २ गाथा १)

हे प्राणियों ! तुम सम्यग् ज्ञान आदिकी प्राप्ति करो, तुम इसकी प्राप्ति क्यों नहीं करत यदि इस भ्रममें नहीं किया तो परलोकमें करना दुर्लभ होगा । जो राग द्योत जाती है वह फिर छोट कर नहीं आती । संसारमें संयम प्रधान जीवन दुर्लभ है अथवा जिस जीवनकी आपु दूट गई है वह फिर नहीं जूट सकती । यह उक्त गाथाका अर्थ है ।

इसमें सयम प्रधान जीवनको दुर्लभ कहा है । जो जीवन हिंसासे निवृत्त होकर रक्षाके साथ साथ व्यतीत होता है वही सयम जीवन है इसलिये जो साधु मरते प्राणीकी रक्षा करता है उसका जीवन संयम जीवन है असयम जीवन नहीं है । रक्षा करनेसे सयमकी निर्मलता होती है इसलिए संयमी पुरुष जीव रक्षा करते हैं इसमें पाप करना अज्ञानका परिणाम है । ऊपर लिखी हुई गायामे ‘ऐसा एक भी शब्द नहीं है जिससे जीवरक्षामे पाप होनेका समर्थन किया जा सके तथापि जीतमलजीने झूठाही इस गाथाका नाम लेकर रक्षा करनेमें पाप मित्र करनेकी चेष्टा की है अतः बुद्धिमानोंको इनके कथनका विश्वास न करना चाहिये ।

(बोल १६ वां)

(प्रेरक)

भूम विध्वंसनकार भूमविध्वसन पृष्ठ १४५ के ऊपर उत्तगाध्ययन सूत्र अध्ययन ९ की १२।१३ और १४ की गाथाओंको लिखकर उनकी समालोचना

करते हुए छिरते हैं—“अथ अठे इम कसो मिथिला नगरी बलनी देल नमिराज ऋषि साहमो न जोयो बली कसो म्हारो बाहलो दुचाहलो एकही नहीं, रागद्वेष अकरवा माटे तो साधु मितक्रियादिकरे लारे पड़ने च दुरादिक जीगने वचावे ते शुद्ध के अशुद्ध अस-
तिरा गरीरनी जाब्जा करे ते धर्म के अघर्म” (भू० पृ० १४५)

(प्रत्येक)

नमिराज ऋषिका दाखला देकर मरते जीवकी रक्षा करनेमें पाप कहना अज्ञान है। नमिराज ऋषि प्रत्येक बुद्ध साधुओं का आचार स्थविर रूप वालोंसे कियेनेही अशोभे भिन्न होता है। वे किसी मरते प्राणीकी प्राणरक्षा नहीं करते शिष्य भी नहीं करते और अहाज पानी लाकर किसी साधुका व्यायच भी नहीं करते वे सधके अन्दर न रहकर अकेला रहते हैं जीतमलजीनेभी पडि माधारी साधुके विषयमें यह यह लिखा है—“जे पडिमा धारी किणहीने मयारो पिण पच खाने नहीं कोईने दीआ दवे नहीं थावकरा व्रत आदराने नहीं उपदेज देवे नहीं। पडिमाधारी धर्मोपदेशकादिक कोईने देवे नहीं एतो एकान्त आपरोइज उद्धार करवाने उठ्या छै। तो पोते किणही जीवने हणे नहीं एतो आपरी अनुकम्पा कर पिण परनी न करे। जिन ठाणाइ चौथे ठाणे उदे शा ४ करो “आयाणु कम्पए नाम मेगे तो परालु कम्पए’ आत्मानीज अनुकम्पा करे पिण परनी न करे ते जिन कम्पी आदिक। इहा पिण जिन कल्पिक आदि कसो ते आदिक शब्दमे तो पडिमाधारी पिण आया त आपरीज अनु-
कम्पा करे पिण परनी न करे तो जीवने नहणे ते आरीज अनुकम्पा छै” यह लिखकर जीतमलजीने पडिमाधारी साधुको अपने पर अनुकम्पा करनेवाला और दूसरे पर नहीं करनेवाला बतलाया है और इसमे प्रमाण देनेके लिये ठाणाइ सूत्र ठाणा चौथेका मूल पाठ लिखा है। उस मूलपाठमे जिन कम्पी आदिक शब्द नहीं है परन्तु उसकी टीकासे लिखा है कि अपने पर अनुकम्पा करनेवाले और दूसरे पर अनुकम्पा नहीं करनेवाले तीन प्रकारके जीव होते हैं (१) प्रत्येक बुद्ध साधु, (२) जिन कम्पी (३) और परोपकार बुद्धि रहित निर्दय। इस टीकाके अनुसार प्रत्येक बुद्ध साधु दूसरेकी अनु-
कम्पा नहीं करते यह बात सर्वमान्य है और जीतमलजीको भी स्वीकृत है ऐसी दशामे प्रत्येक बुद्ध साधु नमिराज ऋषिका उदाहरण देकर स्थविर कल्पीको जीव रक्षा करनेमें आप बतलाना किना महान् अज्ञान है यह बुद्धिमानोंको देखना चाहिये। प्रत्येक बुद्ध अपनी ही अनुकम्पा करते हैं दूसरेकी नहीं और स्थविर कल्पी अपनी तथा दूसरेकी दोनोंकी अनुकम्पा करते हैं फिर प्रत्येक बुद्धके उदाहरणसे स्थविर कल्पीको जीवरक्षा करनेमें पाप कैसे कहा जा सकता है ? प्रत्येक बुद्धका रूप दूसरा है और स्थविर

कल्पीका कल्प दूसरा है अतः इन दोनोंके कार्य एक समान नहीं हो सक्त। जे नमिराजके उदाहरणसे जीव रक्षा करनेमें पाप कहते हैं उनसे कहना चाहिए कि प्रत्येक बुद्ध साधु शिष्य नहीं करते धर्मोपदेश नहीं देते आहार व पानी लाकर किसी साधुका व्यावच नहीं काते इसलिए तुम्हारे हिमानसे स्थविर कल्पी साधुको भी ये कार्य नहीं करना चाहिए और जो स्थविर कल्पी इन कार्योंको करे उसे एकान्त पाप होना चाहिए। यदि कहो कि प्रत्येक बुद्धका कल्प दूसरा और स्थविर कल्पीका दूसरा है इसलिए इन कार्यों से प्रत्येक बुद्धको ही दोष आता है स्थविर कल्पीको नहीं आता तो उसी तरह जीवरक्षक विषयमें भी तुझको मानना चाहिए अर्थात् जीवरक्षा करनेमें स्थविर कल्पीको धर्म होता है और उसका यह कल्प है परन्तु प्रत्येक बुद्धका यह कल्प नहीं है। अतः प्रत्येक बुद्ध साधुका उदाहरण देकर स्थविरकल्पी साधुको जीव रक्षा करनेमें पाप कहना अज्ञानका परिणाम है।

दूसरी बात यह है कि इन्द्रने नमिराज ऋषिसे यह नहीं पूछा था कि मर्ते जीवको रक्षा करना धर्म है या पाप है ? यदि वह ऐसा पूछते और इसके उत्तरमें नमिराज ऋषि जीव रक्षा करना पाप बतलाते तो अवश्य जीवरक्षा करनेमें पाप माना जाता परन्तु वहा तो इन्द्रने माया करके नमिराज ऋषिकी ससारिक पदार्थों में आसक्ति न होनेकी परीक्षा की है और नमिराज ऋषिने यह स्पष्ट कह दिया है कि “मिथिलाए डङ्गलमाणीए नमे डङ्गलइ किचण” अर्थात् मिथिलाके जलजाने पर भी मेरा कुछ नहीं जलता। ऐसा उत्तर देकर नमिराज ऋषिने ससासारिक पदार्थों से अपना ममत्व हट जाना बतलाया है परन्तु मर्ते जीवको रक्षा करनेमें पाप नहीं कहा है क्योंकि इन्द्रका यह प्रश्न ही नहीं था अतः नमिराज ऋषिके उदाहरणसे जीवरक्षा करनेमें पाप कहना अज्ञानियोका काव्य है।

(बोल १७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भूमविष्वसनकार भूमविष्वसन पृष्ठ १४६ पर दशवैकालिक सूत्रकी गाथा लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—“अथ अठे पिण कझो देवता मनुष्य तिर्ह्यञ्च माहोमाही कन्ह करे तो हार जीत वाञ्छणी नहीं तो कायाधी हार जीत किम करावणी असयति ना शरीरनी साता करेते तो सावय है” (भू० पृष्ठ १४६) इसका क्या समाधान ?

(प्रसङ्ग)

दशवैकालिक सूत्रकी गाथाका नाम लेकर मरते जीवकी रक्षा करनेमें पाप करना एकान्त मिथ्या है। यह बात इन गाथासे किसी प्रकार भी नहीं सिद्ध होती, किन्तु यह गाथा यह है —

“देवाणं मणुषाणश्च तिरियाणंच दुग्गहे
अमुयाणं जपो होउं मावा होउत्तिणोवए,,

(दशवैकालिक सूत्र अ० ७ गाथा ५०)

अर्थ —

देवता, मनुष्य और तिर्य्यञ्चोके परस्पर युद्ध होने पर अमुककी जीत हो और अमुककी जीत हो यह साधुको नहीं कहना चाहिये ।

यहां देवता मनुष्य और तिर्य्यञ्चोके युद्ध होने पर किसी एक पक्षकी हार या जीत कहनेका निषेध किया गया है क्योंकि साधुको मध्यस्थ भाव रखना ही शास्त्र सम्मत है किन्ती एक पक्षका श्रेय और दूसरे पक्षका अहित चाहना उचित नहीं है इस लिये जो दुर्लभमें युद्ध होने पर एक दुलकी जीत और दूसरे दुलकी हार होनेकी बात कहना साधुको उचित नहीं है। ऐसे समयमें, जब कि दोनों दुल बाले लड़ रहे हों साधु समझा हुआ कर युद्ध बन्द करदे और युद्धमें मारे जाने वाले जीवोंकी रक्षा कर तो उसका इस गाथाका निषेध नहीं है एक दुलके पक्षपात करनेका और दूसरे पर द्वेष करने का यहां निषेध है इस लिये इस गाथा का नाम लेकर जीवरक्षा करनेमें पाप बतलाना अज्ञान का परिणाम है ।

इसी गाथाका नाम लेकर जीतमलज्जी कहते हैं कि “बिल्लीसे मारे जाते हुए चूहे की रक्षा करना एकान्त पाप है क्योंकि यह बिल्ली पर द्वेष और चूहे पर राग करना है, तथा बिल्लीकी हार और चूहेकी जीत कराना है” परन्तु यह इनका अज्ञान है। बिल्लीसे मार जाते हुए चूहेकी रक्षा करना चूहेकी अनुकम्पा करना है अनुकम्पा करना पाप नहीं किन्तु धर्म है और यह बिल्ली पर द्वेष करना नहीं है क्योंकि जो बिल्ली चूहे को मारना चाहती है उसी बिल्लीको यदि कोई कुत्ता आदि मारना चाहे तो दयालु पुरुष, कुत्तेसे उस बिल्लीकी भी रक्षा करता है यदि बिल्ली पर उसका द्वेष होता तो वह कुत्ते से बिल्ली को क्यों बचाता ?

इसके सिवाय बिल्लीसे चूहेकी रक्षा करना बिल्लीकी हार और चूहेकी जीत कराना नहीं है क्योंकि हार और जीत का व्यवहार युद्धमें होता है परन्तु चूहेके साथ बिल्लीका

कल्पपीका कल्प दूसरा है अतः इन दोनोंके कार्य एक समान नहीं हो सकत। जो नमिराजके उदाहरणसे जीव रक्षा करनेमें पाप कहते हैं उनसे कहना चाहिए कि प्रत्येक बुद्ध साधु शिष्य नहीं करते धर्मोपदेश नहीं देते आहार व पानी लेकर किसी साधुका व्यावच नहीं कातें इसलिए तुम्हारे हिसाबसे स्थविर कल्पपी साधुको भी ये कार्य नहीं करते चाहिए और जो स्थविर कल्पपी इन कार्ययोंको कर उसे एकान्त पाप होना चाहिए। यदि कहो कि प्रत्येक बुद्धका कल्प दूसरा और स्थविर कल्पपीका दूसरा है इसलिये इन कार्ययों से प्रत्येक बुद्धको ही दोष आता है स्थविर कल्पपीको नहीं आता तो उसी तरह जीवरक्षाके विषयमें भी तुम्हको मानना चाहिए अर्थात् जीवरक्षा करनेमें स्थविर कल्पपीको धर्म होता है और उसका यह कल्प है परन्तु प्रत्येक बुद्धका यह कल्प नहीं है। अतः प्रत्येक बुद्ध साधुका उदाहरण देकर स्थविरकल्पपी साधुको जीव रक्षा करनेमें पाप कहना अज्ञानका परिणाम है।

दूसरी बात यह है कि इन्द्रने नमिराज ऋषिसे यह नहीं पूछा था कि मरते जीवकी रक्षा करना धर्म है या पाप है ? यदि वह ऐसा पूछते और इसके उत्तरमें नमिराज ऋषि जीव रक्षा करना पाप बतलाते तो अवश्य जीवरक्षा करनेमें पाप माना जाता परन्तु वहा तो इन्द्रने माया करके नमिराज ऋषिकी सप्तारिक पदार्थोंमें आसक्ति न होनेकी परीक्षा की है और नमिराज ऋषिने यह स्पष्ट कह दिया है कि “मिथिलाप डङ्गमाणीए नमै डङ्गह किचण” अर्थात् मिथिलाके जलजाने पर भी मेरा कुछ नहीं जलता। ऐसा उत्तर देकर नमिराज ऋषिने सप्तासारिक पदार्थों से अपना ममत्व हट जाना बतलाया है परन्तु मरते जीवको रक्षा करनेमें पाप नहीं कहा है क्योंकि इन्द्रका यह प्रश्न हो नहीं था अतः नमिराज ऋषिके उदाहरणसे जीवरक्षा करनेमें पाप कहना अज्ञानियोका काव्य है।

(बोल १७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भूमविध्वसनकार भूमविध्वसन पृष्ठ १४६ पर दशवैकालिक सूत्रकी गाथा लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—“अथ अठे पिण कडो देवता मनुष्य तिर्य्यञ्च माहोमाही कलह करे तो हार जीत वाञ्छणी नही तो कायाथी हार जीत किम करावणी असंयति ना शरीरनी साता करते तो सावध हैं” (भू० पृष्ठ १४६) इसका क्या समाधान ?

प्रत्येक)

दशवैकालिक सूत्रकी गाथाका नाम लेकर मरते जीवकी रक्षा करनेमें पाप ना एकान्त मिय्या है । यह बात हम गाथामें किसी प्रकार भी नहीं सिद्ध होती, बड़े वह गाथा यह है —

“देवाणं मणुष्याणश्च तिरियाणंच युग्माहे
अमुषाणं जयो होजं मावा होजत्तिणोवए,,

(दशवैकालिक सूत्र अ० ७ गाथा ५०)

तं —

देवता, मनुष्य और तिर्य्यगोपि पाप्मर युद्ध होने पर अमुककी जीत हो और अमुककी जीत हो यह साधुको नहीं कहना चाहिये ।

यहां देवता, मनुष्य और तिर्य्यगोपि युद्ध होने पर किसी एक पक्षकी हार या जीत कहनेका निषेध किया गया है क्योंकि साधुको मध्यस्थ भाव रखना ही शास्त्र मत है किसी एक पक्षका श्रेय और दूसरे पक्षका अहित चाहना उचित नहीं है इससे दो दुर्लभ युद्ध होने पर एक दलकी जीत और दूसरे दलकी हार होनेकी बात कहना उचित नहीं है । ऐसे समयमें, जब कि दोनों दल घाते लड़ रह हों साधु समझा । कर युद्ध बन्द करादे और युद्धमें मारे जाने वाले जीमोंकी रक्षा करे तो उसका इस नाम निषेध नहीं है एक दलके पक्षपात करनेका और दूसरे पर द्वेष करने का यहाँ नहीं है इस लिये हम गाथा का नाम लेकर जीवरक्षा करनेमें पाप बनलाना अज्ञान का काम है ।

इसी गाथाका नाम लेकर जीतमलज्जी कहते हैं कि “बिल्लीसे मारे जाते हुए चूहे रक्षा करना एकान्त पाप है क्योंकि यह बिल्ली पर द्वेष और चूहे पर राग करना है, बिल्लीकी हार और चूहेकी जीत कराना है” परन्तु यह इतना अज्ञान है । बिल्लीसे मारे जाते हुए चूहेकी रक्षा करना चूहेकी अनुरम्पा करना है अनुरम्पा करना पाप नहीं किन्तु धर्म है और यह बिल्ली पर द्वेष करना नहीं है क्योंकि जो बिल्ली चूहे को मारना चाहती है उसी बिल्लीको यदि कोई कुत्ता आदि मारना चाहे तो टपालु पुरुष, कुत्तेसे उस बिल्लीकी भी रक्षा करता है यदि बिल्ली पर उसका द्वेष होता तो वह कुत्ते से बिल्ली को क्यों बचाता ?

इसके सिवाय बिल्लीसे चूहेकी रक्षा करना बिल्लीकी हार और चूहेकी जीत कराना नहीं है क्योंकि हार और जीत का व्यवहार युद्धमें होता है परन्तु चूहेके साथ बिल्लीका

कोई युद्ध नहीं होता क्योंकि जहा दोनो ही विजयकी इच्छासे दोनों पर आक्रमण की वही युद्ध है चूहा तो गिरीसे डर कर भयभीत होकर आप ही भागा फिरता है वह कुद करनेके लिये गिरीके सम्मुख नहीं जाता इसलिये वह युद्ध नहीं है किन्तु चलवान हिसक प्राणीके द्वारा वहा दुर्बल और कायर प्राणीकी हिंसा हो रही है उसे युद्ध कायम कर चूहे की प्राणरक्षा करनेसे चूहेकी जेत और बिल्लीकी हार बनलाना अज्ञानियों समझना चाहिये ।

बोल १८ वां समाप्त

(प्रेरक)

दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ७ गाथा ५१ को लिख कर उसकी समालोचते हुए भ्रमविध्वसनकार पृष्ठ १४६ पर लिखते हैं —

“अथ अठे कणो—वायरो, वर्षा, शीत, तावडो, राजविरोध रहित सुभिक्षणो उपद्रव रहित पणो, ए सात बोल हुबो इम साधुने कहिणो नहीं तो करणो किम उहुग दिक्कने भिनकियादिकथी छुडायने उपद्रव पणो रहित करे ते सूत्र विरुद्ध कागं है (भ्र० पृ० १४६ । १४७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ७ गाथा ५१ में साधुको अपनी पीडाकी निवृत्तिक लिये उक्त सात बातोंकी प्रार्थना करना वर्जित किया गया है क्योंकि आर्ताभ्यान करना साधुको उचित नहीं है और यह आर्ताभ्यान है परन्तु असंयति जीवकी प्राणरक्षा होना भयसे उक्त सात बातोंकी प्रार्थनाका निषेध यहा नहीं किया गया है । देखिये वह गाथा और उसकी टीका ये है —

“वाओ विट्ठिं च सोउण्हं खेमं धायं सिवन्तिवा । कयाणुहुज्ज एयाणि भावाहोऊत्ति णोचए”

(दशवैकालिक अ० ७ गाथा ५१)

इसकी दीपिका टीका —

“पुन किञ्च धर्मादिनाऽभिभूतोयतिरेवंनोवदेदधिकरणादिदोषप्रसंगान् । वातादिषु सत्सु सत्त्व पीडा प्राप्ते । तद्वचनतस्तथाऽभवन्नेऽन्यार्ताभ्यान भावादित्येव नो वदेत् । तत्किं—वातो मल्लय मास्तुादि वृष्टं वा वर्षण शीतोष्ण प्रतीत क्षेमं राज

केवल मृत्यु पुनः प्राप्त सुभिक्षं शिवायमिति उपसर्ग रहित कदाचु भवेयुरेतानि वाता-
नि मावा भवेयुरिति ।

अर्थ —

घाम (गर्मी) आदिसे पीड़ित होकर साधु इन बातोंको न कहे क्योंकि इसमें अधिकर-
ण दोष होता है । वायु आदिके चलने पर प्राणियोंको पीड़ा होती है । यद्यपि साधुके कहने
से वायु आदि नहीं चलते तथापि साधुको आर्तध्यान करना उचित नहीं है इसलिये यह इन बातों
से नहीं कहे व बातें ये हैं — (१) मलय मारुत आदि (२) वषा (३) शीत (४) उष्ण (५) राज-
स होना (६) दुग्ध होना (७) उपसर्ग रहित होना । इन सात बातोंके होने या नहीं
होना बात साधुको नहीं कहनी चाहिये । यह उक्त गाथाका दोषिकानुसार अर्थ है ।

इसमें अपनी पीड़ाकी निवृत्तिके लिये साधुको इन सात बातोंकी प्रार्थना करनेका
लेख किया है परन्तु असत्यति प्राणियोंकी रक्षाको पाप मान कर उसकी निवृत्तिके लिये
इस लिये इस गाथाका नाम लेकर जीवरक्षा करनेमें पाप कहना मिथ्या है । इस
बातकी टीकामें लिखा है —

“एतानि वातादीनि मात्रा भवेयुरिति चर्माद्यभिभूतो नो वदेद् अधिकरणादि दोष-
पूर्णम् । वातादिषु सत्सु सत्त्वपीडा प्राप्ते । तद्वचनन स्तथाऽभवनेऽप्यार्तं ध्यान भावा-
नि सूत्रम् ।

अर्थात् वायु आदिके चलने पर प्राणियोंको पीड़ा होती है इसलिये घाम (गर्मी)
दिसे पीड़ित होकर साधु वायु आदि सात बातोंके होने या न होनेकी प्रार्थना नहीं
करेगा क्योंकि इसमें अधिकरण आदि दोषोंका प्रसङ्ग होता है । यद्यपि साधुके कहनेसे ये
बातें नहीं हो जाती तथापि आर्तध्यान करना साधुको उचित नहीं है इसलिये यह
सात बातोंको न कहे ।

यह गाथाका अभिप्राय बतलाते हुए टीकाकारने भी यही कहा है कि “अपनी
पीड़ाकी निवृत्तिके लिये साधुको इन सात बातोंकी प्रार्थना नहीं करनी चाहिये परन्तु
प्राणियोंकी रक्षाको पाप जान कर उसकी निवृत्तिके लिये इन सात बातोंकी प्रार्थना का
लेख नहीं किया है । टीकाकारने यह भी लिखा है कि “वायु आदिके चलने पर प्राणि-
योंको पीड़ा होती है” इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि दूसरे प्राणीको पीड़ा न हो इसलिये
वायु आदिसे स्वयं पीड़ा पाते हुए भी साधु वायु आदि सात बातोंकी प्रार्थना नहीं करते ।
जीवोंकी रक्षा नहीं वर्जित की गयी है प्रत्युत जीवोंकी पीड़ा वर्जित की गयी
इस लिये इस गाथा का नाम लेकर जीव रक्षामें पाप सिद्ध करना अज्ञान का परि-
णाम है ।

वस्तुतः इस गाथामे वर्जित की हुई सात बातें सम्पूर्ण रूपसे जिन कल्पीके लिये और अपनी कल्प मर्यादानुसार कई बातें स्थविर कल्पीके लिये समझनी चाहिये । सात ही बातें स्थविर कल्पीके लिये वर्जित नहीं हैं क्योंकि स्थविर कल्पी साधु रोग साधुको रोग निवृत्त्यर्थ औषध आदि भी देते हैं और पानीमें डूबती हुई साध्वीको न से बाहर निकाल कर उसका उपसर्ग भी दूर करते हैं तथा उपदेश देकर जनताक दुःख और उपसर्गको निवृत्त करते हैं साक्षात् भगवान् महावीर स्वामी त्रस और स्थावर प्राणियोंका क्षेमके लिये उपदेश दिया करते थे । सुय० श्रु० २ अ० ६ गाथा ४ में लिखा है “समिच्च लोग तसथावगण रोमकरे समणे माहणेवा” अर्थात् भगवान् महावीर स्वामी, त्रस और स्थावर सम्पूर्ण प्राणियोंका क्षेमके लिये उपदेश देते थे । यदि वहाँ कालिक सूत्र की उक्त गाथानुसार साधुको क्षेम की प्रार्थना करना बुग होता । भगवान् त्रस और स्थावरका क्षेम करनेके लिये उपदेश क्यों देते ? अतः दशवैकान्त सूत्रकी उक्तगाथामे जो सात बातें वर्जित की हैं वे सम्पूर्णरूपसे जिन कल्पीके लिये कई बातें स्थविर कल्पीके लिये समझनी चाहिये । अतएव इस गाथामे उपसर्ग दूर करने और रोग निवृत्ति करनेकी प्रार्थना वर्जित होने पर भी स्थविर कल्पी साधु रोगी साधु की रोग निवृत्तिके लिये औषध आदि देते हैं और पानीमें डूबती हुई साध्वीको निकाल कर उसका उपसर्ग दूर करते हैं । अतः उक्त गाथामे कही हुई सात ही बातोंको स्वर्ण कल्पीके लिए भी धतलाना मिथ्या है ।

इस गाथामे आये हुए “क्षेम” शब्दका टीकाकारने “राज विज्वर शून्यम्” एवम् अर्थ किया है यानी राज रोगका अभाव होना “क्षेम” है परन्तु जीतमलजीन “राज विज्वर शून्यम्” का अर्थ नहीं समझा है अतएव उन्होंने लिखा है कि “राजादिकका कलह रहित हुये ते क्षेम” यह अर्थ मिथ्या है अतः किसी प्राणीको उपद्रव रहित करनेसे पाप धतलाना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये । स्वयं भ्रमविध्वसनकारने भी इसी जगह पर उपसर्ग निवारण करना साधुका कर्तव्य धतलाया है । उन्होंने भ्र० वि० ५० १४९ पर लिखा है कि “धर्मनी चोयणा करीने परने उपदेशे जिम अनुकूल प्रतिकूल उपसर्ग कर्ताने वारे” इस लेखमें जीतमलजीने उपसर्ग निवारण करना साफ साफ साधुका कर्तव्य माना है तथापि दुरामहमे पड कर अपने कथनसे ही विरुद्ध यद्वा उन्होंने उपसर्ग निवारण करनेको दोष धतलाया है इस प्रकार अपने कथनसे ही विरुद्ध बोलने वाली बातमें आकर मन्चे धर्मका तिरस्कार करना बुद्धिमान् पुरुषोका कार्य नहीं है ।

(बोल १९ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविष्वसनकार भ्रमविष्वसन पृष्ठ १४८ के ऊपर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ४ की चौभट्टी लिख कर उसकी ममालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ अठे पिग कह्यो—जे साधु पोतानी अनुकम्पा करे पिण आगलानी अनुकम्पा न कर तो जे परजीव ऊपर पग न देवे ते पिण पोतानीज अनुकम्पा (नश्यत नियमा) तै त किम् पढ़ने मारया मोने हज पाप लागसी इम जाणी नहुणो ते मणी पोतानी अनुकम्पा कही छै । अने आपने पाप लगायने आगलानी अनुकम्पा करे ते सावय छै”

(भ० वि० पृ० १४८)

इसका क्या समाधान ?

(प्रहणक)

ठाणाङ्ग सूत्रके चौथे ठाणेकी चौभट्टीमें मरते जीवकी रक्षा करना स्थविर कल्पी माधुका परम कर्त्तव्य बतलाया है परन्तु अपनी पोल छिपानेके लिए भ० वि० कारने इसका साफ साफ भावार्थ नहीं लिखा है । ठाणाङ्ग सूत्रका वह पाठ यह है —

“चत्तारि पुरिस जाया पन्नत्ता तं जहा—

आयानु कम्पए नाम मेगे णो परानु कम्पए” ।

इसकी टीका—

आत्मानुकम्पक आत्म हित प्रवृत्त प्रत्येक बुद्धो जिन कल्पिको वा परानपेक्षो निर्दुष्य । परानु कम्पक निष्ठिनार्थतया तीर्थ कर अत्मानपेक्षोया दयैकरसो मेताम्ये-वन् । उभयानुकम्पक स्थविरकल्पिक । उभयानुकम्पक पापात्मा फालशौकरिकादिरिति ।”

अर्थात्—चार प्रकारके पुरुष होते हैं । (१) अपनी ही अनुकम्पा करते हैं परन्तु दूसरेकी नहीं करते, ऐसे तीन पुरुष होते हैं—प्रत्येक बुद्ध, चित्त कपी और दूसरे की अपेक्षा नहीं करनेवाला निर्दुष्य पुरुष । ये तीनों अपने ही हितमें तत्पर रहते हैं दूसरेका हित नहीं करते । (२) जो दूसरेकी अनुकम्पा करता है अपनी अनुकम्पा नहीं करता वह दूसरा भद्रका स्वामी है, ऐसा पुरुष या तो तीर्थंकर होते हैं अथवा अपनी पगवाह नहीं रखनेवाला मेताम्यकी तरह परम दयालु पुरुष होता है । (३) जो अपनी और दूसरेकी दोनोंकी अनुकम्पा करता है वह तीसरा भद्रका स्वामी है । ऐसा पुरुष स्थविर कल्पी माधु होता है । स्थविर कल्पी साधु अपनी और दूसरेकी दोनोंकी अनुकम्पा करता है । (४) जो अपनी भी अनुकम्पा नहीं करता और दूसरे की भी नहीं करता वह पुण्य

चौथा भङ्गका स्वामी है । ऐसा पुरुष काल शौकरिकादिकी तरह अतिशय पापी होता है । यह उक्त चौभङ्गीका टीकानुसार अर्थ है ।

इसमें कहा है कि स्थविर कल्पी साधु उभयानुकम्पी है वह अपनी और दूसरे दोनोकी अनुकम्पा करता है अतः मरते प्राणीकी रक्षा करना स्थविर कल्पी साधुका धार्मिक कर्तव्य सिद्ध होता है । जो स्थविर कल्पी साधु कहलाकर दूसरे जीवकी रक्षा नहीं करता वह उक्त पाठानुसार अपने कर्त्तव्यसे पतित होता है । जिन कल्पी और प्रत्येक बुद्ध साधु दूसरेकी अनुकम्पा नहीं करते किन्तु अपने हितमें ही प्रवृत्त रहते हैं । इसलिए वे प्रथम भङ्गके स्वामी कहे गए हैं उनकी तरह जो दूसरे जीवकी अनुकम्पा नहीं करता है वह पुरुष यदि जिनकल्पी और प्रत्येक बुद्ध नहीं है तो उसे प्रथम भङ्गका वीसरा स्वामी निर्दय समझना चाहिए ।

अ० वि० कारने अ० वि० पृष्ठ १४७ पर इस चौभङ्गीके पहला भङ्गका अर्थ इस प्रकार लिखा है—

“जे पोताना हितने विपै प्रवर्ते ते प्रत्येक बुद्ध अथवा जिन कल्पिक अथवा परो प्रकार बुद्धि रहित निर्दय पारका हितने विपे न प्रवर्ते” । इनके अपने लेखसे भी यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि जो जिन कल्पिक और प्रत्येक बुद्धसे भिन्न पुरुष, दूसरे प्राणीकी अनुकम्पा (रक्षा) नहीं करता वह दयाहीन पुरुष है, साधु नहीं है । उस निर्दय को साधु समझना भ्रम है ।

इस पाठकी समालोचना करते हुए भ्रमविध्वंसन कारने समी प्रकारके कल्प वाले साधुओंको इस चौभङ्गीके प्रथम भङ्गमें ही रक्खा है उन्होंने लिखा है कि “अथमठे पिण कयो साधु पोतानी अनुकम्पा करे पिण आगलानी अनुकम्पा न करे तो जे पर जीव ऊपर पग न देवेते पिण पोतानीज अनुकम्पा निश्चय नियमाठे” यह मिथ्या है । स्थविर कल्पी साधु दूसरेकी भी अनुकम्पा करते हैं । स्वयं अ० वि० कारने भी लिखा है—“तीजे बेहूने हित बाच्छे ते स्थविर कल्पी” इनके इस लेखसे भी स्थविर कल्पीका दूसरेकी अनुकम्पा करना सिद्ध होती है ।

अन्य प्रश्न यह है कि दूसरे जीवपर पैर नहीं रखना तो निश्चय नयसे अपनी ही अनुकम्पा है दूसरेकी नहीं है फिर स्थविर कल्पी दूसरेकी क्या अनुकम्पा करता है ? इसका उत्तर यही हो सकता है कि स्थविर कल्पी दूसरे मरते हुए जीवकी जो प्राण रक्षा करता है यह दूसरेकी अनुकम्पा है और स्वयं किसी जीवको वह नहीं मारता यह निश्चय नयसे उसकी अपनी अनुकम्पा है अतः उक्त पाठका नाम लेकर मरते जीवकी प्राणरक्षा करनेमें पाप कहना अज्ञानका फल समझना चाहिये ।

यदि कोई कहे कि स्वयं कृपी साधु दूसरेको धर्मोपदेश देते हैं यह तो उनकी तरफ अनुकम्पा करना है और वह स्वयं किसी जीवको नहीं मारते यह निश्चय नये अनुसार अपनी अनुकम्पा है परन्तु मरते जीवकी रक्षा करना दूसरेकी अनुकम्पा नहीं है । यह मिथ्या है । तीर्थंकर भी धर्मोपदेश देते हैं और वह स्वयं किसी जीवको मारते भी नहीं हैं फिर तो वह भी तीसरे भङ्गका स्वामी उभयानुकम्पक ही ठहरेगे । दूसरे भङ्गका स्वामी परानुकम्पक मात्र नहीं इसलिए दूसरे जीवकी रक्षा करना ही यहाँ परानुकम्पा कही गई है इस प्रकार जो जीव अपनी रक्षाके ऊपर ध्यान न देकर दूसरे जीवकी ही रक्षा करता है वह दूसरे भङ्गका स्वामी है । ऐसे पुरुष तीर्थंकर और श्रेष्ठ ऋषि की तरह परम दयालु पुरुष होते हैं । जो अपनी और दूसरेकी दोनोंकी रक्षा करता है वह तीसरा भङ्गका स्वामी स्वयं कृपी है । जो अपनी और दूसरेकी किसी भी रक्षा नहीं करता वह चतुर्थे भङ्गका स्वामी काल शोकारिकादिकी तरह पापात्मा है । जो केवल अपनी ही रक्षा करता है दूसरेकी नहीं करता वह प्रथम भङ्गका स्वामी है । इस प्रकार इस चतुर्भगीसे मरते जीवकी रक्षा करना स्वयं कृपी साधु कर्तव्य सिद्ध होता है । जो किसी प्राणीकी स्वयं भी रक्षा नहीं करता और दूसरेकी भी रक्षा करनेमें पापका उपदेश देता है वह इस पाठसे परोपकार बुद्धि रहित निर्दय हो जाता है । मेघकुमारके जीवने हाथीके भयमे अपनी रक्षाका रयाल नहीं रख कर दूसरेकी रक्षाकी थी और वमरुचि अनगणने भी अपनी रक्षाकी परवाह नहीं करके दूसरेकी रक्षा करना ही अपना कर्तव्य समझा था इसलिए वे लोग इस चतुर्भङ्गीके दूसरे भङ्गका स्वामी थे अतः इस चतुर्भङ्गीका नाम लेकर जीवरक्षा करनेमें पाप कहना अज्ञानका रोग समझना चाहिए ।

(बोल २२ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसन कार भ्रमविध्वसना पृष्ठ १४८ पर उत्तराध्ययन सूत्रकी गायिका लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ अठे पिण कछो-समुद्र पाली चोरने मग्नो देखि वैराग्य आणी चारिण जो पिण गर्व देखि छुड़ायो नहीं” (अ० पृ० १४८) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

समुद्रपालीका उदाहरण देकर जीव रक्षामें पाप धनाना अज्ञान है । राजा, चोर और मित्र नहीं करता था और उमने द्रव्य लेकर चोगको छोड़नेकी घोषणा नहीं कराई

धी फिर समुद्रपाली द्रव्य देकर उस चोरको कैसे छुड़ा सकता था ।” वध दण्डके योग्य अपराधी प्राणीको द्रव्य लेकर न्यायकारी राजा छोड़ता भी नहीं है यह जगत्प्रसिद्ध है कि वध दण्डके लिए आज्ञा पाया हुआ अपराधी, द्रव्य देकर भी नहीं छुड़ाया जा सकता ऐसे दृगामे समुद्रपाली किसी प्रकार भी उस चोरको नहीं छुड़ा सकता था अतः समुद्रपालीका उदाहरण देकर हिंसकके हाथसे मारे जाते हुए निरपराधी प्राणीकी प्राण रक्षा करनेमें एकान्त पाप कहना नितान्त मिथ्या समझना चाहिए ।

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १४८ पर लिखते हैं “परिग्रह तो पापों का पाप कह्यो छे । जो परिग्रह देई छुड़ाया धर्महुवे तो बाकी चार आक्षेप सेनायने जीव छुड़ाया पिण धर्म कहिणो पिण इण धर्म निपजे नहीं” इनके आचार्यने इस विषयमें यह लिखा है —

“दोय वेश्या कसाई चाडे गई । करता देखी हो जीवारा सहार । दोनों जणिया मतो करी । मरता गल्या हो जीव दोय हजार ।

एक गहणो देई आपणो । तिण छोड़ायो हो जीव एक हजार । दूजो छुड़ाया प्र विधे एक दोयसे हो चौथे आक्षेप सेनाय ।

(अनुकम्पाकी ढाल ७)

इनके कहनेका भाव यह है कि किसी हिंसकको द्रव्य देकर जीव छुड़ाना, या उससे व्यभिचार कराकर जीव छुड़ाना दोनों ही एक समान एकान्त पापके कार्य हैं अतः हिंसकको द्रव्य देकर उसके हाथसे मारे जाते हुए जीवकी रक्षा करना एकान्त पाप है । इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

जीव रक्षा आदि परोपकारके कार्यमें अपने द्रव्यको लगाना, अपने धनमें लोभ और तृष्णाके न्यून करनेका फल है । अपने धनमें जिसकी तृष्णा और लोभ न्यून होता है वही पुरुष परोपकारार्थ अपने द्रव्यका व्यय करता है परन्तु जिसकी तृष्णा और लोभ तीव्र होते हैं वह नहीं कर सकता । जीव रक्षा आदि परोपकारके लिए अपने धनका व्यय करनेवाला पुरुष अपने लोभ और मोहको न्यून करता है तथा इसके साथ वह मरते प्राणीकी प्राण रक्षा भी करता है अतः यह पुरुष धार्मिक है एकान्त पापी नहीं है । परिग्रहसे अपनी ममता उबरना और जीव रक्षा करना ये दोनों ही धर्मोपमार्ग हैं अतः इन दोनोंको एकान्त पाप बताना जीतमलजी और अज्ञान है ।

द्रव्य देकर जीन छुड़ानेको एकान्त पाप मिट्ट करनेके लिए, व्यभिचार कराकर जीन छुड़ानेवाली वेज्याका दृष्टान्त देना भी भीषणजीका अज्ञान है । परोपकारार्थ अपने धनका खर्च करना, धनसे अपनी मोह तृप्णा और ममताको घटाना है और व्यभिचार सेवन करना, अपना मोह और तृप्णाको घटाना है इसलिए ये दोनों बातें प्रकाश और अन्वकारकी तरह परस्पर एक दूसरेसे त्रिलुल विपरीत हैं इन्हें एक समान मान का परोपकारार्थ धन देनेवाले और व्यभिचार कराकर जीव रक्षा करनेवाले इन दोनोंको एक समान पापी उताना भीषणजीका अज्ञान है ।

इस विषयको साफ करनेके लिए भीषणजीके दिये हुए दृष्टान्तके समान ही एक दृष्टान्त दिता जाता है ।

मान लीजिए कि भीषणजीके पाटानुपाटपर बैठे हुए पूज्यजीका दशन करनेके के लिए दो गरीब स्त्रियां दूर देशसे आईं, उनसे पूज्यजीने पूछा कि “तुम लोगोंने इतने दूर स्थान पर आनेके लिये द्रव्य आदि किस प्रकार प्राप्त किये हैं ।” यह सुन कर एकने उत्तर दिया कि “मैंने अपने जेवरों को बेच कर आपके दर्शनार्थ द्रव्य प्राप्त किया है” दूसरीने कहा कि “मैंने व्यभिचार करा कर द्रव्य प्राप्त किया है और उस द्रव्यसे आप के पान आई हू ।” कहा कोई मध्यस्थ सम्यग्दृष्टि आचक यथा हुआ था उसने पूज्यजीसे पूछा कि “इन दोनों स्त्रियोंमेंसे कौनसी धार्मिक और कौन पापिनी है ?” इसके उत्तरमें भ्रमविश्रमनकारके मतानुयायी पूज्यजी यह तो नहीं कह सकन कि “ये दोनों स्त्रियां एक समान ही धार्मिक हैं” किन्तु लाचार होकर उन्हें कहना ही पड़ेगा कि “जिसने जेवर बेच कर दर्शनका लाभ किया है वह स्रो धार्मिक है और जिसने व्यभिचार करा कर द्रव्य प्राप्त किया है वह धमको लज्जित करने वाली दुराचारिणी है माधुके दशनसे उत्पन्न होने वाला धम उसे नहीं हो सकता । ऐसी दुष्टा स्त्रियोंका साधु दशन का नाम लेना दम्भ है ।”

यह सुन कर प्रश्नकर्ताने कहा कि “एकने तो पाचवें आस्रयका सेवन किया है और दूसरीने चौथे आस्रयका सेवन किया है फिर इन दोनोंको आप एक समान ही क्यों नहीं मानते ? जिसने पाचवें आस्रयका सेवन करके आपके दर्शनका लाभ किया है उसे धार्मिक और चौथे आस्रयका सेवा करके आपके दर्शनका लाभ उठाने वालीको आप पापिनी क्यों कहते हैं ?”

इसके उत्तरमें उनके पूज्यजीको यह कहना ही पड़ेगा कि जिसने साधु दर्शनार्थ अपना जेवर बेचा है उसने शृङ्गार और द्रव्यसे अपना ममत्व हटाया है और गहना बेचनेसे उसने चारित्र्यमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं हुई है । अतः वह धार्मिक है । परन्तु

थी फिर समुद्रपाली द्रव्य देकर उस चोरको कैसे छुड़ा सकता था ।” वध दण्डके योग्य अपराधी प्राणीको द्रव्य देकर न्यायकारी राजा छोड़ता भी नहीं है यह जगन्मे प्रसिद्ध है कि वध दण्डके लिए आज्ञा पाया हुआ अपराधी, द्रव्य देकर भी नहीं छुड़ाया जा सकता ऐसी दशामे समुद्रपाली किसी प्रकार भी उस चोरको नहीं छुड़ा सकता था अतः समुद्रपालीका उदाहरण देकर हिंसकके हाथसे मारे जाते हुए निरपराधी प्राणीकी प्राण रक्षा करनेमें एकान्त पाप कहना नितान्त मिथ्या समझना चाहिए ।

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १४८ पर लिखते हैं “परिमह तो पाच में पाप कह्यो छे । जो परिग्रह देई छुड़ाया धर्महुये तो बाकी चार आसन्न सेनायने जीव छुड़ाया पिण धर्म कहिणो पिण इण धर्म निपजे नहीं” इनके आचार्यने इस विषयमें यह लिखा है —

“दोय वेइया कसाई वाडे गई । करता देसी हो जीवारा सहार । दोनों जणिया मतो करी । मगता रारया हो जीव दोय हजार ।

एक गहणो देई आपणो । तिण छोडायो हो जीव एक हजार । दूजी छुडायो इण विधे एक दोयसे हो चौथे आसन्न सेवाय ।

(अनुकम्पाकी ढाल ७)

इनके कहनेका भाव यह है कि किसी हिंसकको द्रव्य देकर जीव छुड़ाना, या उससे व्यभिचार कराकर जीव छुड़ाना दोनों ही एक समान एकान्त पापके कार्य हैं अतः हिंसकको द्रव्य देकर उसके हाथसे मारे जाते हुए जीवकी रक्षा करना एकान्त पाप है । इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

जीव रक्षा आदि परोपकारके कार्यमें अपने द्रव्यको लगाना, अपने धनमें लोभ और तृष्णाके न्यून करनेका फल है । अपने धनमें जिसकी तृष्णा और लोभ न्यून होता है वही पुरुष परोपकारार्थ अपने द्रव्यका व्यय करता है परन्तु जिसकी तृष्णा और लोभ तीव्र होते हैं वह नहीं कर सकता । जीव रक्षा आदि परोपकारके लिए अपने धनका व्यय करनेवाला पुरुष अपने लोभ और मोहको न्यून करता है तथा इसका साथ वह मरते प्राणीकी प्राण रक्षा भी करता है अतः यह पुरुष धार्मिक है एकान्त पापी नहीं है । परिग्रहसे अपनी ममता उतरना और जीव रक्षा करना ये दोनों ही बर्तन महान् धर्मके कारण हैं अतः इन दोनोंको एकान्त पाप बताना जीनमलजी और भीषणजीका अज्ञान है ।

द्रव्य देकर जीव छुड़ानेको एकान्त पाप मिट्ट करानेके लिए, व्यभिचार कराकर जीव छुड़ानेवाली वेद्याका दृष्टान्त दना भी भीषणजीका अज्ञान है । परोपकारार्थ अपने धनका खर्च करना, धनसे अपनी मोह तृष्णा और ममताको घटाना है और व्यभिचार सेवन करना, अपना मोह और तृष्णाको बढ़ाना है इसलिए ये दोनों बातें काग और अन्यकारकी तरह परस्पर एक दूसरेसे मिलतुल विपरीत हैं इन्हें एक समान मान कर परोपकारार्थ धन देनेवाले और व्यभिचार कराकर जीव रक्षा करनेवाले इन दोनोंको एक समान पापी बताना भीषणजीका अज्ञान है ।

इस विषयको साफ करनेके लिए भीषणजीके दिये हुए दृष्टान्तके समान ही एक अन्त दित्ता जाता है ।

मान लीजिए कि भीषणजीके पाटानुपाटपर बैठे हुए पूज्यजीका दशन करनेका लिए दो गरीब स्त्रिया दूर देगसे आईं, उनसे पूज्यजीने पूछा कि "तुम लोगोंने इनने रधान पर आनेके लिये द्रव्य आदि किम प्रकार प्राप्त किये हैं ।" यह सुन कर एकने र दिया कि "मैंने अपने जेबरो को बँच कर आपके दर्शनार्थ द्रव्य प्राप्त किया है" दूसरीने कहा कि "मैंने व्यभिचार करा कर द्रव्य प्राप्त किया है और उस द्रव्यसे आप के पास आई हूँ ।" वहा कोई मध्यम्य सम्यग्दृष्टि आरक उठा हुआ था उसने पूज्यजीसे पूछा कि "इन दोनों स्त्रियोंमेंसे कौनमी धार्मिक और कौन पापिनी है ?" इसके उत्तरमें भ्रमविध्वसनकारके मतानुयायी पूज्यजी यह तो नहीं कह सकन कि "ये दोनों स्त्रिया एक समान ही धार्मिक हैं" किन्तु लाचार होकर उन्हे कहना ही पड़ेगा कि "जिसने जेवर बँच कर दर्शनका लाभ किया है वह सा धार्मिक है और जिसने व्यभिचार करा कर द्रव्य प्राप्त किया है वह धमको लज्जित करने वाली दुराचारिणी है साधुक दशनसे उत्पन्न होने वाला धम उसे नहीं हो सकता । ऐसी दुष्टा स्त्रियोंका साधु दशन का नाम उना दम्भ है ।"

यह सुन कर प्रश्नकर्ताने कहा कि "एकने तो पाचवें आखरका सेवन किया है और दूसरीने चौथे आखरका सेवन किया है फिर इन दोनोंको आप एक समान ही क्यों नहीं मानते ? जिसने पाचवें आखरका सेवन करके आपके दर्शनका लाभ किया है उसे धार्मिक और चौथे आखरका सेवन करके आपके दर्शनका लाभ उठाने वालीको आप पापिनी क्यों कहते हैं ?"

इसके उत्तरमें उनके पूज्यजीको यह कहना ही पड़ेगा कि जिसने साधु दर्शनार्थ अपना जेवर बँचा है उसने शृङ्गार और द्रव्यसे अपना ममत्व हटाया है और गहना चनेसे उसके चारित्र्यमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं हुई है । अत वह धार्मिक है । परन्तु

जिसने व्यभिचार करके द्रव्य संप्रद किया है उसने अपने मोह ममताको बढ़ाया है तथा अपने चारित्र्यको नष्ट किया है इसलिये वह विषयानुरागिणी है धर्मानुरागिणी नहीं है। यह सुन कर उक्त श्रावकने कहा कि “जिस प्रकार आपके दर्शनार्थ आई हुई इन दोनों स्त्रियोंमेंसे गहना बेच कर साधु दर्शनका लाभ उठाने वालीको धार्मिक और व्यभिचार कर कर दर्शनका लाभ करने वालीको आप पापिनी कहते हैं, उसी तरह अपना जेवर देकर जीवरक्षा करने वाली स्त्रीको धार्मिक और व्यभिचार कर कर जीवरक्षा करने वालीको आप पापिनी क्यों नहीं कहते ? जिसने अपना जेवर देकर जीवरक्षा की है उसने अपने जेवरसे प्रेम उतार कर किसी सन्त महात्माके सत्सङ्गसे दयामे चित्त लगाया है और घुरे कार्यसे निवृत्त हो कर जीवरक्षा जैसे उत्तम कार्य का सेवन किया है अतः वह धार्मिक स्त्री है। और जिसने जीवरक्षाके बढ़ानेसे व्यभिचारका सेवन किया है वह साधु दर्शनार्थ व्यभिचार सेवन करने वाली स्त्रीके समान ही दुरात्मा है। परन्तु आप लोग साधु दर्शनार्थ आई हुई उक्त दोनो स्त्रियोंमें तो क्षुद्र भेद बतला देते हैं और जीवरक्षाके विषयमें उक्त दोनो स्त्रियोंको एक समान ही पापिनी बतलाते हैं इसका कारण क्या है ? यह तो आपका एक दुराग्रह है।

अब कि साधु दर्शनार्थ अपने जेवरसे प्रेम हटाने वाली स्त्री धार्मिक हो सकती है तो जीवरक्षार्थ अपने जेवरका प्रेम हटाने वाली स्त्री धार्मिक क्यों नहीं हो सकती ? अतः द्रव्य दान देकर जीवरक्षा करने वाली स्त्रीको पापिनी कहना पापियोंका कार्य समझना चाहिये।

(बोल २१ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १४९ पर निशीथ सूत्र उद्देश १३ बोल २० का नाम लेकर लिखते हैं —

“अथ अठे गृहस्थ तथा अन्य तीर्थीने मार्गे भूलाने दुःखी अत्यन्त देवि मार्ग वताया श्रीमासी प्रायश्चित्त बहो ते माटे असयतिरी सुख साता बाढछया धर्म नहीं”
(भ० पृ० १४९)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

निशीथ सूत्रका वह पाठ लिख कर इसका समाधान दिया जाता है वह पाठ यह है —

“जे भिक्षू अन्नउत्थिपाणंवा गारन्धिपाणं णट्ठाणं मुट्ठाणं
विपरिपासिपाणं मग्गंवा पवेदेह संधिं पवेदेह संधिउवा मग्गं पवेदेह
वेदंत्तंवा साट्ठज्जइ”

(निशीथ सूत्र उ० १३ । बोल २७)

अर्थ —

जो साधु, मार्ग छट या दिहूँ तया विपरीत मार्गसे जाते हुए गृहस्थ या अन्य यूथिक
को मार्ग, या मार्गकी संधि बतलाता है अथवा संधिसे मार्ग या मार्गसे संधि बतलाता है तथा
बतलाते हुए को जो अच्छा जानता है उसे चौमासी प्रायश्चित्त आता है । यह इस पाठ का
मूल्य है ।

यहा यह प्रश्न होता है कि अन्य यूथिक और गृहस्थको मार्ग या उमकी संधि
साधु द्वारा नहीं बतलानेका क्या कारण है ? तो इसका उत्तर देते हुए चूर्णीकार इस पाठ
की चूर्णीमें बतलाते हैं कि—

मुनिसे बताये हुए मार्गसे जाते हुए गृहस्थ या अन्य यूथिकको कदाचित् कोई
चोर छुट ले, सिंहादि जङ्गली जानवर उन्हें दुख दे, और उस उपसर्गसे कदाचित् उन
का प्राण छूट जाय, अथवा वे ही कदाचित् मृगादि पशुओं का हनन करें, इस लिये
व्यापार मुनि अन्य यूथिक और गृहस्थको मार्ग नहीं बतलाते । वह चूर्णी यह है —

“तेण पहेण गच्छताण सावयोवद्व सरीरोवदि तेणोवद्व पावेति जवा ते गच्छता
जन्नेसि उवद्व करेति ।”

अर्थात् साधुके बताये हुए मार्गसे जाते हुए अन्य यूथिक और गृहस्थको कदा-
चित् जङ्गली जानवरोंसे उपद्रव हो अथवा चोरोसे वे छुट लिये जाय या वे ही किसी
जीव पर उपद्रव कर बैठें अथवा साधु अन्य तीर्थी और गृहस्थ को मार्ग नहीं बतलाते ।
यह ऊपर लिखी हुई चूर्णीका अर्थ है ।

यहा चूर्णीकारने स्पष्ट लिखा है कि अन्य यूथिक और गृहस्थ पर होने वाले या
उनके द्वारा दूसरे पर किये जाने वाले उपद्रवकी संभावनासे साधु मार्ग नहीं बतलाते
रन्तु जीवजन्तुको या दुखसे उचानेकी वृत्ति जान कर नहीं अथवा निशीथ सूत्रके इस
पाठका नाम लेकर जीववृक्षामे पाप कहना अज्ञान मूलक है ।

इसी पाठका नाम लेकर भोपणजीने अनुकम्पाको सायज बतलाया है । अनुकम्पा
की दालमें उन्होंने लिखा है —

“गृहस्थ भूलो ऊजड वनमें । अटवीने बले ऊजड जाने । अनुकम्पा आणी साधु
को बतावे । तो चार महीना रो चारित्र जावे । आ अनुकम्पा सायज जानो”

यह भीषणजीकी प्ररूपणा एकान्त मिथ्या है शास्त्रमें कहीं भी अनुकम्पा को सावध नहीं कहा है और इस पाठकी चूर्णोंमें भी रास्ता नहीं बतानेका कारण अनुकम्पा का सावध होना नहीं लिखा है प्रत्युत भावी उपद्रवकी आशङ्कासे रास्ता बतानेका निषेध करके अनुकम्पाका समर्थन किया है अतः अमन्यतिकी प्राणरक्षाको पाप और अनुकम्पा को सावध बताना इनका अज्ञान है ।

यदि इनसे पूछा जाय कि कोई मनुष्यका झुण्ड आपके पूज्यजीके दर्शनार्थ ग्रामान्तरको जाना चाहे और वह आपसे मार्ग पूछे तो आप बतला सकते हैं या नहीं ? यदि कहे कि हम नहीं बतला सकते तो पूटना चाहिये कि क्या आपके पूज्यजीका दर्शन सावध है ? नहीं तो आप दर्शनार्थ जाने वालेको मार्ग क्यों नहीं बतलाते हैं ? यदि कहें कि “पूज्यजीका दर्शन तो सावध नहीं है परन्तु रास्ता बतलाना साधुका कर्तव्य नहीं है इसलिये हम रास्ता नहीं बतलाते” तो सिद्ध हुआ कि जैसे आपके पूज्यजीका दर्शन सावध नहीं है तथापि रास्ता बताना कर्तव्यमें न होनेसे आप रास्ता नहीं बताते वही तरह किसी प्राणीका दुःख दूर करना, अथवा अनुकम्पा करना सावध नहीं है परन्तु रास्ता बताना साधुका कर्तव्य न होनेसे साधु रास्ता नहीं बतलाते । यदि वह कहें कि पूज्यजीके दर्शनार्थ जाने वालेको निरवय भाषासे रास्ता बतानेमें कोई दोष नहीं है तो उसी तरह प्राणियों के कष्ट निवर्णार्थ निरवय भाषासे रास्ता बता देनेमें भी दोष नहीं मानना चाहिये ।

(बोल २२ वां समाप्त)

(प्रेरक)

अमविध्वंसकस्तनकार भ्रम० पृ० १४९ पर ठाणा १ सूत्र ठाणा ३ का मूल पाठ लिखकर उसकी समाचोलना करते हुए लिखते हैं — “अथ अठे पिण कसो हिंसादिअकार्य्य कता देखि धम उपदेश देई समझावणो तथा अनबोत्थो रहे तथा उठि एकान्त जायणो कसो पिण जवरीसू छडावनो न कसो तो रजोहरणयी भिनकीने छराने” ४ दुगने धचावे त्याने आत्मरक्षक क्रिम कहिए”

(भू० वि० पृ० १४९) इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ३ उद्देश ४ के पाठका नाम लेकर जीवरक्षाका निषेध करना मिथ्या है उम पाठमें मर्ते प्राणीकी प्राणग्रन्था करनेका निषेध नहीं है । देखिये वह पाठ और उमकी टीका ये है —

“तत्रो आपरक्खा पन्नत्ता तंजहा—धम्मियाए पडिचोय-
णाए भवइ तुसिणीए वासिया उचित्तावा आया एगंत मवक्कमेज्जा”
(टग्गाठाणा ३ उद्देशा ४)

टीका

“आत्मान रागद्वेषा दे रक्षत्या उप कृपा द्वाग्धन्नीति आत्मरक्षा । “धम्मियाए पडिचोयणा” इति धार्मिकोपदेशेन नेद भगवत्या मुचित मित्यादिना प्रेरयिता उप द्या भवति अनुकृतेनोपसग कारिण । ततोऽमातुपमगकरगान्निवर्तत ततोऽट्टन्या त्वा न भवती ह्यात्मा रक्षितो भवति । तुग्गीकोजा वार्चयम उपेयक स्पादिति प्रेरणा अपिपये उपेयगा सामर्थ्येच तत स्थानादुत्थाय आत्मना एकान्त विजनम् अन्य भूमिभाग मवक्कामेद् गच्छेत्” ।

अर्थ —

जो पुण्य रागद्वेषसे, अनुचित आचरणसे, तथा भवहारसे अपनी आत्माकी रक्षा करता वह आत्मरक्षक कहलाता है । उस आत्मरक्षक पुण्यके पास आकर यदि कोई पुरुष उद्वेग करे तो धर्मोपदेश देकर समझाना चाहिये । कहना चाहिये कि—“आप से पुण्यको यह आचरण करने योग्य नहीं है” इस उपदेशको सबकर यदि वह उपसर्ग करनेवाला उपसर्ग करना बन्द कर दे तो मायुसे अकाम्यकी सेवा नहीं होतो किन्तु साधुकी आत्मा रक्ष्य आचरणसे बच जाती है । अथवा पुण्य कहकर मायु उस उपसर्गका सहन करेवे तो इस प्रकार भी अनुचित आचरणसे उसकी आत्मा रक्षित होती है । यदि उपसर्ग करनेवाला धर्मोपदेश देने योग्य न हो और साधुसे उपसर्ग भी न सदा जा सके तो बहासे हटकर किसी एकान्त स्थानमें साधुको बला जाना चाहिये । हमप्रकार अनुचित आचरणसे साधुको अपनी आत्माकी रक्षा करनी चाहिये ।

(यह उक्त मूलपाठका टीकालुमार अर्थ है)

यहां अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग करनेवालेके प्रति रागद्वेष और अक्षुभ्य आचरणसे बचनेके लिये आत्म रक्षक पुरुषको तीन उपाय बताये हैं (१) धर्मोपदेश देना (२) उपसर्गको सह लेना (३) बहासे हटकर एकान्तमें चला जाना । इसमें जिसके द्वारा मारे जाते हुए प्राणीकी प्राणरक्षा करने, या उसके लिये धर्मोपदेश देनेका नियम नहीं किया है अतः इस पाठका नाम लेकर मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेमें पाप बनलाना एकान्त मिथ्या है ।

इस पाठकी समालोचनामें जीतमलजीने लिखा है कि ‘पिण जवरी मू छुडा धगो ७ बहो’ इस लेखसे प्रनीत होता है कि जीतमलजी जवरक्षस्तीसे जीव

वंचानेमे पाप कहते हैं उपदेश देकर जीव वंचानेमे पाप नहीं कहते परन्तु यह बात भी मिथ्या है । यह उपदेश देकर भी जीवगक्षा करनेमे पापही कहते हैं । इनका मतव्य, इनके लेख और भीषणजीकी ढाल लिखकर विस्तारके साथ बतलाया जा चुका है इसलिए इनका यह लिखना कि “पिण जवरीसू छोडावणो न कह्यो” जनताको धोखा देना है ।

आगे चलकर जीवमलजीने लिखा है कि “रओहरणथी मिनकीने डरायने उडुराने वचावे त्याने आत्मरक्षक किम कहिए” इनकी यह बात भी असंगत है जो दयालु मनुष्य ओघासे विह्लीको डराकर चूहेकी प्राणरक्षा करता है वह कौनसा अनुचित कार्य करता है जिससे वह आत्मरक्षक नहीं कहा जाय ? यदि कहो कि “किसी प्राणी को भय देना उचित नहीं है और वह विह्लीको भय देकर चूहेकी रक्षा करता है इसलिये विह्लीको भय देनेके कारण वह आत्मरक्षक नहीं है” तो जो साधु, मारनेकेलिये आती हुई गाय भैंसको तथा काटनेके लिये आते हुए कुत्तेको ओघासे डराकर अपनी रक्षा करता है वह आत्मरक्षक कैसे कहला सकता है ? क्योंकि वह भी कुत्ते, गाय भैंसको ओघासे डराता है ? इसलिये उसे भी आत्मरक्षक नहीं कहना चाहिए । यदि कहो कि जो साधु मारनेके लिये आती हुई गाय भैंसको तथा काटनेके लिये आते हुए कुत्तेको ओघासे डराकर अपनी रक्षा करता है वह कुछ भी अनुचित कार्य नहीं करता अतः वह आत्मरक्षक ही है तो उसी तरह यह भी समझो कि जो दयालु पुरुष ओघासे विह्लीको डराकर चूहेकी रक्षा करता है वह भी अनुचित कार्य नहीं करता परन्तु विह्लीको हिंसाके पापसे बचाता है और चूहेकी प्राणरक्षा करता है इसलिये वह अपनी और दूसरेकी दोनोंकी रक्षा करता है किसीकी भी हानि नहीं करता इसलिये वह धार्मिक ही है पापी नहीं है अतः भूमविध्वसनकारकी पूर्वोक्त बात भी मिथ्या है ।

(बोल २३ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भूम विध्वसनकार भूमविध्वसन पृष्ठ १५१ पर निशीथ सूत्र उद्देशा ११ बोल १७० का मूल पाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ मठे पर जीवने विद्वान्या विहावताने अनुमोद्या चौमासी प्रायश्चित्त कह्यो तो मिनकीने डरायने उडुराने पोपगो किहाथी अने असयतिना शरीरनी रक्षा किम करणी” (अ० द० १५१) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

निशीथ सूत्रके मूलपाठमें किसी प्राणीको भय देनेमें साधुको चौमासी प्रायश्चित्त होना कहा है इसलिए ओघासे बिड़ीको डराकर चूहेको रक्षा करना पाप है तो काटनेके लिए आते हुए गुत्तेको और मारनेके लिए आनी हुई गाय भैंसको ओघासे डराकर अपनी रक्षा करनेमें भी पाप ही होना चाहिए। परन्तु भ्रम विघ्नसन कारक मतानुयायी साधु कुत्ते, गाय, भैंस आदि प्राणियोंको ओघासे डराकर अपनी रक्षा कर लेते हैं और इससे निशीथ सूत्रकी आज्ञाका उल्लंघन भी नहीं मानते परन्तु उगोही बिड़ीको डराकर चूहेकी रक्षा करनेका प्रश्न आता है क्योंकि इदपट निशीथ सूत्रकी आज्ञाका उल्लंघन होने का कोलाहल मचाने लगते हैं यह इनका दूसरे जीवोंपर द्वेष करनेके सित्राय और कुछ नहीं है। जब कि ओघासे गाय भैंस और कुत्तेको डराकर अपनी रक्षा करनेमें निशीथ की आज्ञा उल्लंघन नहीं होती तब ओघासे बिड़ीको डराकर चूहेकी रक्षा करनेमें निशीथ सूत्रकी आज्ञा उल्लंघन कैसे हो सकती है ? यह युद्धिमानोंको स्वयं सोच लेना चाहिए।

वास्तवमें, किसी जीवको सतानेके अभिप्रायमें भय देना पाप है और इसी पाप के लिए निशीथ सूत्रके मूलपाठमें प्रायश्चित्त कहा गया है। किसी जीवको पापसे बचाने, तथा आत्मरक्षा और पर रक्षा करनेके लिए नासमझ प्राणीको भय दिखाकर हटा देना पाप नहीं है और उसके लिए निशीथ सूत्रमें प्रायश्चित्त भी नहीं कहा गया है क्योंकि किसी ना समझ प्राणीको भय दिखाकर जो पाप करनेसे हटाता है या आत्मरक्षा तथा पर रक्षा करता है उसका अभिप्राय उस नासमझ प्राणीको सतानेका नहीं किन्तु उसे पाप करनेसे हटानेका होता है इसलिए यह पाप नहीं कहा जा सकता यह तो उस प्राणी का कल्याण करना है फिर इसमें प्रायश्चित्त कैसे हो सकता है ? यह हरण्य युद्धिमान समझ सकता है। अतः निशीथ सूत्रका नाम लेकर जीव रक्षा करनेमें पाप घटाना अज्ञानियोंका कार्य्य समझना चाहिए।

(बोल २४ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रम० पृ० १५१ पर निशीथ सूत्र उद्देशा १३ बोल १४ का मूल पाठ लिखकर इसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ कठे गृहस्थनी रक्षा निमित्ते मंत्रादिक क्रिया अनुमोक्षा चौमासी प्रायश्चित्त कर्त्तव्यः । तो जे उ दुरादिकनी रक्षा साधु क्रिम करे । अने जो रक्षा क्रिया घम हुवे सो डाकिनी नाकिनी भूतादिक काटना सर्पादिकका जहर उतारना औषधादिक करो

असयतिने वचवणा । अने जो एतला बोल न करणा तो असयतिना शरीरनी रक्षा पिकरणी (अ० प० १५२) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

निशीथ सूत्रका वह पाठ लिखकर इसका समाधान किया जाता है । वह यह है —

“जे भिक्खू अण्णउत्थिदंवा गारत्थियवा भुइकम्मं करेइ करतंवा साइज्जइ ।”

(निशीथ उ० १३ बोल १४)

अर्थ—

जो साधु गृहस्थ या अन्य युधिको भूति कर्म करता है अथवा भूति कर्म करवायक अच्छा जानता है उसे प्रायश्चित्त होता है ।

इस पाठमें साधुको भूति कर्म करनेका निषेध किया है किसी मरते प्राणीको अपनी कल्प मर्यादानुसार रक्षा करनेका निषेध नहीं किया है किन्तु भ्रमविध्वंसनकारको चाहे जिस पाठमें जीवरक्षा करने का निषेध ही निषेध सूक्ष्म पड़ता है निशीथ सूत्रमें भी पाठ आया है कि —

“जेभिक्खू विज्जा पिण्डं भुंजइ भुंजतंवा साइज्जइ”

“जेभिक्खू मंत पिण्डं भुंजइ भुंजतंवा साइज्जइ”

“जेभिक्खू जोग पिण्डं भुंजइ भुंजतंवा साइज्जइ”

(निशीथ सूत्र)

अर्थ —

जो साधु विद्या वृत्ति से आहार पानी लेता है जो मन्त्र और योग वृत्ति से पानी पीता है या छेने वाले साधु को अच्छा समझता है उसे प्रायश्चित्त होता है । यह पाठका मूलार्थ है ।

इस पाठमें जैसे विद्या मन्त्र और योग वृत्तिसे साधुको आहार पानी लेना वर्जित किया है अपनी कल्पमर्यादानुसार आहार लेना वर्जित नहीं किया है न्नी तत्र निशीथके पूर्वोक्त पाठमें भूति कर्म करनेका निषेध किया है अपनी कल्प मर्यादानुसार जीव रक्षा करनेका निषेध नहीं किया है यदि जीव रक्षा करनेसे प्रायश्चित्त वतलता होना तो वह भूति कर्म करनेका नाम क्यों लेते ? क्योंकि केवल भूति कायसे ही रक्षा होती रक्षा करनेके अनेकों उपाय होते हैं इसलिए सामान्य रूपसे यही लिख देते कि—

“जे भिक्षू अन्न उत्थियवा गारत्थिय वा रक्खइ रक्खतं वा साइज्जइ”

ऐसा लिखनेपर जीवरक्षाका निषेध सरल गीतिसे हो जाता परन्तु ऐसा नहीं लिख
शास्त्रकारने भूति कम करनेका निषेध किया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि
शास्त्रकारको भूतिकम करनेमें प्रायश्चित्त बतलाना है जीवरक्षा करनेमें नहीं ।

जैसे किसी मनुष्यको प्रतिबोध देना पापका कार्य नहीं है तथापि यदि कोई
प्राणी किसीको भूति कर्मके द्वारा प्रतिबोध देवे तो उसे अग्र्य ही निशीय सूत्रके
म पाठके अनुसार प्रायश्चित्त होगा परन्तु वह प्रायश्चित्त प्रतिबोध देनेका नहीं किन्तु
भूति कर्म करनेका है उसी तरह जो भूतिकर्मके द्वारा किसीकी रक्षा करता है उसको
भूति कर्म करनेका प्रायश्चित्त आता है जीवरक्षा करनेका नहीं क्योंकि जीवरक्षा करना
रक्षा देनेके समानही धर्म है पाप नहीं है ।

इसी तरह डाकिनी, शाकिनी, और भूत आदि निकालना तथा सर्प आदिका
मरत उतारना, और, औषध आदि बाटना साधुका कर्ष नहीं है अत इन कार्योंको
ज्ञान नहीं करते परन्तु मरते प्राणीको अपने कल्पानुसार रक्षा करते हैं क्योंकि मरते
प्राणीकी रक्षा करना प्रतिबोध देनेके समान ही एकान्त धर्मका कार्य है पाप नहीं है इस-
लिये विविध कृतकों की सहायतासे मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेमें पाप कहना निर्दय
जीवोंका कार्य समझना चाहिये ।

(बोल २५ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ १५० से लेकर १५६ तक उपासक
वशात् सूत्रका मूलपाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ अंठे पिण कट्ठी चुलगी प्रिय आवकरा मुइहा आगे देवता तीन पुनाना
मूला किया पिण त्याने बंचाया नहीं माताने बंचावा उठयो ते पोपा अत भार्यो फसो
ते उ दुरादिकने साधु किम बंचावे (भ्र० द० १५९ इसका क्या समाधान ?)

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वंसनकारकी सिद्धान्त है कि “हिंसकको हिंसाके पापसे बचानेके
लिये उपदेश देना चाहिये किन्तु मरते जीवकी रक्षाके लिए नहीं” अत इनके मत-
नुसार यहा यह प्रश्न होता है कि “चुलगी प्रिय आवकरने उसके सामने हिंसा करते
हुए हिंसक पुरुषको हिंसाके पापसे बचानेके लिए धर्मोपदेश क्यों नहीं दिया ?”

क्योंकि हिंसक प्राणीको हिंसा नहीं करनेके उिये उपदेश देना तो भूमविध्वंसन का मतमे भी धर्म ही है ।

यदि कहो कि हिंसकको हिंसाके पापसे वचानेके लिये धर्मोपदेश देना धर्म तो है परन्तु वह पुरुष निलकुल अनार्य्य और अयोग्य था उसे उपदेश देना निष्फल जानकर चुलगी प्रियने उपदेश नहीं दिया था तो इसी तरह सरल बुद्धिसे यह भी समझो कि जीवरक्षाके लिये धर्मोपदेश देना धर्म तो है परन्तु वह पुरुष अनार्य्य और अयोग्य था उसे जीवरक्षाके लिए उपदेश देना निष्फल जानकर चुलगी प्रियने उपदेश नहीं दिया । अतः चुलगी प्रिय आवरुका दृष्टान्त देकर जीवरक्षा करनेमें पाप वताना इनका अज्ञान समझना चाहिए ।

इसीतरह माताकी रक्षाके लिये प्रवृत्त होनेसे चुलगी प्रियने व्रतनियमका भगवताना भी अज्ञान है क्योंकि हिंसक पुरुषपर क्रोध करके उसे मारणार्थ दौड़नेसे चुलगी प्रियने व्रत नियम नष्ट हुए थे माताकी रक्षाका भाव आनेसे नहीं देखिये वहाका मूलपाठ और टीका ये हैं —

“तएणं साभदा सात्थवाही चुलणी पियं समणोवासयं एवं वयासो नो खलु केइ पुरिसे तव जाव कणीयसं पुत्तं साओ गिहाओ निणेइ २ ता तव अग्गओ घाएइ । एसणं केइ पुरिसे तव उवसणं करेइ एसणं तुमे विदरिसणे दिहे तणं तुमं एयाणि भग्गवए भग्गणि यमे भग्ग पोसहे विहरसि”

(टीका)

“भगवए” त्ति भगवत स्थूलप्राणातिपातविरतेर्भावतोभग्नत्वात् तद्विना-
नाशार्थं कोपेनोद्धावनात् । सापराधस्यापित्रताविपयीकृतत्वात् । भग्ननियम कोपोदये
नोत्तरगुणस्य क्रोधाभिग्रहरूपस्य भग्नत्वात् । भग्नपोष अव्यापार पोषरूपस्य
भग्नत्वात्”

(मूलार्थ)

इसके अमन्तर उस भद्रा सार्थवाहिनीने कहा कि हे चुलगी प्रिय ! तुम्हारे ज्येष्ठ पुत्र से लेकर पावत् कनिष्ठ पुत्रको घरसे बाहर लाकर तुम्हारे समक्ष किसीने भी नहीं मारा है । यह तुम्हारे पर किमीने उपसर्ग किया है तुमने जो देखा है वह मिथ्या हृदय था । इस समय तुम्हारे व्रत नियम और पोषण नष्ट हो गये हैं । यह ऊपर लिखे मूलपाठका अर्थ है ।

इस मूल पाठमे भद्रासार्थवाहिनीने चुलगीप्रियके व्रत नियम और पोषण भंग होनेकी जो बात कही है इसका कारण बतलाते हुए टीकाकारने यह कहा है—

(टीका)

चुलगी प्रिय आपका स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत भावसे नष्ट हो गया क्योंकि वह क्रोध करके हिंसकको मारनेके लिये दौड़ा था। व्रतमें अपराधी प्राणी को भी मारनेका त्याग होता है। उत्तर गुण—क्रोध नहीं करने का जो अभिप्राय था वह क्रोध करनेसे नष्ट हो गया और अग्रजत्वं पूर्वक दौड़नेसे उसका अव्यापार पोष्य नष्ट हो गया। यह टीकाका अर्थ है।

यहां टीकाकारने व्रत नियम और पोष्य भंगका कारण बतलाते हुए यह स्पष्ट लिखा है कि “हिंसक पर क्रोध करके मारणार्थ दौड़नेसे चुलगी प्रियके व्रत नियम और पोष्य नष्ट हुए थे” मातृरक्षाका भाव आनेसे व्रत नियम और पोष्य भङ्ग होना नहीं था। अतः चुलगी प्रियके हृदयमें मातृरक्षाके भाव आनेसे और मातृ रक्षार्थ प्रवृत्ति से उसके व्रत नियम और पोष्य का भङ्ग घटाना कपूतो का कार्य समझना चाहिये।

इसी तरह भीषणजीने भूड मवियोंको बहकानेके लिये माताकी अनुकम्पा करनेसे चुलगी प्रियका व्रत भङ्ग होना कहा है। उन्होंने लिखा है —

“इम मुणने चुलगी पिया चल गयो, माने राखग रो करे उपाय रे। ओतो पुरुष अनाथ कहे जिसो, झाल राखू ज्यो न करे चातर। ओतो भद्रा बचावण ऊठियो, इगरे धामो आयो हाथरे। अनुकम्पा आगी जननी तगी तो भाग्या वतरे नेमर। दुरो मोह अनुकम्पा एहवी, तिणमें धर्म कहीजे केमरे”

(अनुकम्पा विचार ढाल ७ कड़ी ३५)

इनके कहनेका भाव यह है कि किसी मरते प्राणीकी प्राणरक्षार्थ अनुकम्पा करना मोह अनुकम्पा है चुलगी प्रियने माताकी रक्षाके लिये अनुकम्पा की थी इसीसे उसका व्रत भङ्ग हुआ क्योंकि वह मोह अनुकम्पा थी। इनकी यह प्रवृत्ति शास्त्र विरुद्ध है। टीकाके प्रमाणसे भी पहले बतला दिया गया है कि क्रोधित होकर हिंसकके मारणार्थ दौड़नेसे चुलगी प्रियका व्रत नष्ट हुआ था माताकी अनुकम्पासे नहीं क्योंकि व्रत पोष्य के समय श्रावकको हिंसाका त्याग होता है अनुकम्पाका त्याग नहीं होता अतः हिंसाके भाव आनेसे ही व्रत भङ्ग हो सकता है अनुकम्पाके भाव आनेसे नहीं। भीषणजी ने सामायक और पोष्यके समय अग्नि सर्पादिका भय होन पर जयणाके साथ निश्चय जाने की आज्ञा दी है। जैसे कि उन्होंने लिखा है —

“लाय सर्पादिकग भययकी, जयणासू निसर जायजी। रागया ते द्रव्य ले जावना तामादरो भंगनयायजी। पोषाने सामायक व्रतना सरीखा छे पञ्चमखायजी। पोषाने सामायक व्रतने यहा पोषामें सरीखा है आगारजी”

(आवक धर्म विचार नवम व्रतकी ढाल)

इस ढालमें भीषणजीने यह आज्ञा दी है कि “अग्नि सर्पादिका भय होन ॥
श्रावक यदि जयणाके साथ निकल जाय तो उसका व्रत नष्ट नहीं होता ।”

यदि सामायक और पौषधके समय अनुकम्पा करना बुरा है तो अग्नि सर्पादिका भय होने पर श्रावक जयणाके साथ कैसे निकल सकता है ? क्योंकि यह भी तो अपने ऊपर अनुकम्पा ही करना है । यदि कहो कि अपने पर अनुकम्पा करनेसे व्रत भङ्ग नहीं होता किन्तु दूसरे पर अनुकम्पा करनेसे होता है इसलिये सामायक और पौषधमें अपनी अनुकम्पाके लिये जयणाके साथ निकल जानेमें कोई दोष नहीं है तो फिर सुरादेवका व्रत भङ्ग क्यों हुआ था क्योंकि उसने किसी दूसरे पर अनुकम्पा नहीं करके अपने पर अनुकम्पा की थी । देखिये वह पाठ यह है —

“तएणं से सुरादेवे समणोवासए धन्नं भारियं एवं वयासी—
एवं खलु देवाणुप्पिए ! केवि पुरिसे तद्देव कहइ जहा चुलणीपिया !
धन्नाविभणइ—जाव कणीयसं नो खलु देवाणुप्पिया ! तुब्भंकेऽपि
पुरिसे सरीर गंसि जमग समगं सोलस रोगायंके परिपक्खिक्क ।
तएणं केवि पुरिसे तुब्भं उवसग्गं करेइ सेस जहा चुलणीपियस
तहा भणइ”

(उपासक दशाग अ० ४)

अर्थ —

इसके अनन्तर उस सुरादेव श्रमणोपासकने धन्वा नामक अपनी भार्यासे अपना सारा वृत्तान्त घूर्णी प्रिय श्रावकके समान ही कह चुनाया । यह सुन कर धन्याने कहा कि हे देवतु प्रिय ! किमीने भी तुम्हारे ज्येष्ठ पुत्रसे लेकर यावत् कनिष्ठ पुत्रको नहीं मारा है और को भी तुम्हारे शरीरमें एक ही साथ सोलह रोग नहीं डाल रहा था किन्तु यह किमीने तुम्हारे पर उपमा किया है । नेप बातें घूर्णीप्रियको माताके समान धन्याने अपने पतिसे कहीं । अर्थात् “तुम्हारा व्रत नियम और पौषध इस समय भङ्ग हो गये” यह, धन्याने अपने पतिसे कहा ।

यहां मूलपाठमें घूर्णी प्रिय श्रावकके समान ही सुरादेव श्रावकका व्रत नियम और पौषध भङ्ग होना कहा गया है अतः भीषण मतानुयायियोंसे पूछना चाहिये कि “सुरादेवका व्रत नियम और पौषध क्यों भङ्ग हुए ? । सुरादेवने अपनी अनुकम्पा की थी दूसरे की नहीं की थी, और अपनी अनुकम्पासे व्रत नियम और पौषध का भङ्ग होना भीषणजीने भी नहीं माना है फिर सुरादेवके व्रत नियम और पौषध भङ्ग होनेका

का कारण है ? । यदि कहो कि सुरादेवके व्रत नियम और पौषः अपनी अनुकम्पाके लक्षण नहीं नष्ट हुए किन्तु अपराधीको मारणार्थ क्रोधित हो कर दौड़नेसे नष्ट हुए तो यहही बात चूर्णीप्रिय आवकके निषयमें भी तुमको मानना चाहिये । चूर्णीप्रिय और राद्वके सम्बन्धमें आये हुए पाठोंमें विलकुल समानता है केवल भेद इतना हो है कि ग्रीप्रियने अपनी माता पर अनुकम्पा की थी और सुरादेवने अपने ऊपर की थी । यदि उसके ऊपर अनुकम्पा करनेसे चूर्णीप्रियका व्रत भङ्ग होना मानने हो तो फिर सुरादेवका पन पर अनुकम्पा करनेसे व्रत भङ्ग मानना पड़ेगा और जैसे चूर्णी प्रियकी मातृ अनुकम्पाको साज्य कहते हो उसी तरह सुरादेवकी अपनी अनुकम्पाकोभी सावय कहना होगा । दशार्थ भोगजोने उन्नत ढालमे सामायक और पौषःमें अपने पर अनुकम्पा करके मि सर्पादिके भयसे बचनेके लिये जयगाके साथ जो निकल जानेकी आज्ञा दी है वह लङ्कुड मिथ्या सिद्ध होगी अतः अपनी अनुकम्पाको भोग मत्तानुयायी सावय नहीं है सक्ते अतः जैसे सुरादेवकी अपनी अनुकम्पा साज्य नहीं थी और उससे व्रत नियम या पौषः नष्ट नहीं हुए थे उसी तरह चूर्णीप्रिय की भी माता के ऊपर अनुकम्पा लक्षण नहीं थी और उससे उसके व्रत नियम भङ्ग नहीं हुए थे इसलिये चूर्णीप्रियका दाहरण देकर अनुकम्पाको सावय बनलाना अज्ञानियोंका कार्य है ।

(बोल २६ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविचित्रसनकार भ्रमविचित्रसन पृष्ठ १५९ पर आचारारग सूत्रका मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ अठे कश्यो जे पाणी नागमें आये घगा मनुष्य डूबना देखे पिण साधुने मन बचन करी घतावणो नहीं जो असंयतिरो जीवणो बाळ्छथा धर्म हुवे तो नागमें पाणी आवतो दरि साधु क्यों न बतावे । केनला एक कहे जे छाय लाया ते पररा फवाड उगाडना तथा गाडा हेठे बाळ्छ आवे तो साधुने बढाय लेणो इमि कहे तेहनो उत्तर—जे छाय लाया दाढा बाहिर काडना तो नागमें पानी आये ते ब्यू न घतावणो” (भ्र० पृ० १५९)

इमका क्या समाधान

(प्रत्यक्ष)

भ्रमविचित्रसनकार दूसरे प्रणालीकी रक्षा करना पाप मानते हैं परन्तु अपनी रक्षा करना पाप नहीं मानते । अपनी रक्षा करना तो वे साधुका कर्तव्य मानते हैं ऐसी दशा

में दूसरेकी रक्षाके लिये न सही, अपनी रक्षाके लिये साधु नाबमें आता हुआ पानी क्या नहीं बतला देता ? क्योंकि नाबमें पानी आने पर दूसरे लोगोंके समान साधु मय भी तो डूब सकता है फिर वह अपनी रक्षाके लिये पानी क्यों नहीं बतलाता ? यदि कहे कि अपनी रक्षा करना साधुका कर्त्तव्य तो है परन्तु पानी बतलानेकी जिन आज्ञा नहीं है यह साधुका कल्प नहीं है इसलिये साधु नाबमें आता हुआ पानी नहीं बतलाता तो उसी तरह यह भी समझो कि दूसरे जीवकी रक्षा करना साधुका कर्त्तव्य है परन्तु पानी बतलाना उसका कल्प नहीं है इसलिये साधु नाबमें आता हुआ पानी नहीं बतलाना ।

भीषगजी ने लिखा है कि “ आप डूबे अनेरा प्राणी अनुकम्पा क्रिणी नहीं आणी ”

अर्थात् नाबमें बैठा हुआ साधु आप भी डूबे और दूसरे प्राणी भी डूब जाय परन्तु साधु किसी पर अनुकम्पा न करे । ऐसा माननेसे भीषगजीके सम्प्रदाय वाले साधु ठाणाग सूत्रकी पूर्वोक्त चतुर्भुगीके चौथे भगमे शामिल होते हैं क्योंकि उस चतुर्भुगीके चौथे भग वाले जीव न अपनी अनुकम्पा करते हैं और न परकी, जैसे काल गौरिक आदि, किन्तु यह बात शास्त्र तथा इनके अपने सिद्धांतसे भी विरुद्ध है । जीतमलजीने लिखा है कि —

“अथ अठे पिण कइो जे साधु पोतानो अनुकम्पा करे पिण आगलानी अनुकम्पा न करे” (भ्र० पृ० १४७)

यह लिख कर जीतमलजीने अपनी अनुकम्पा करना साधुका कर्त्तव्य बतलाया है तथा इनके मतानुयायी साधु गाय भैंस कुत्ता आदिसे अपनी रक्षा करते हैं और अपने शरीर की रक्षाके लिये आहार पानी का अन्वेषण करते हैं इस लिये पूर्वोक्त ढालमें भीषगजीने जो यह लिखा है कि “आप डूबे अनेरा प्राणी अनुकम्पा क्रिणी नहीं आणी” यह इनके अपने सिद्धांत और आचारसे भी विपरीत है परन्तु पर जीव की प्राण रक्षा का सम्यग्दर्शन के आवेग से आकर भीषग जी ने अपनी रक्षा का भी निषेध कर दिया है अत आचारागके मूलपाठसे जीवरक्षाका निषेध करना जीतमलजी और भीषग जी का अज्ञान समझना चाहिये ।

वास्तवमें ठाणाग सूत्र ठाणा ४ में कही हुई चौभुगीके अनुसार स्थविर कर्त्तव्य साधु अपनी और दूसरोंकी दोनोंकी रक्षा करते हैं परन्तु नाबमें आता हुआ पानी गुरुत्व को बताना उनका कल्प नहीं है इसलिये वे नाबमें आना हुआ पानी नहीं बतलाते । इसी जगह आचाराग सूत्रमें साधुको तैर कर नदी पार करना कहा है । यदि भीषगजी की

अधिके अनुसार अपनी रक्षा करना साधुको कर्तव्य नहीं होता तो इस पाठमें नदी तैर कर साधुको अपनी रक्षा करना कैसे बतलाया जाता ? वह पाठ यह है —

“सेमिक्खूवा उदगंसि पवमाणे नो हत्थेणं हत्थं पाएण पायं
काएण कायं आसाइज्जा से अणासायणाए अणासायमाणे तओ
स० उदगंसि पविज्जा ।

सेमिक्खूवा उदगंसि पवमाणे नो उमुग्ग निमुग्गियं करिज्जा
मामेय उदगं कन्नेसुवा अच्छोसुवा नक्कंसिया मुहंसिया परियाव-
ज्जिज्जा तओ संजयामेव उदगंसि पविज्जा । सेमिक्खूवा उदगंसि
पवमाणे दुव्वलियं पाउणिज्जा खिप्पामेव उवहिं विगिं चिज्जवा विसो
हिज्जवा नो चेवणं साइजिज्जा । अह पु० पारए सिया उदगाओ तीरं
पाउणित्तए तओ संजयामेव उदउल्लेणवा ससिणिद्धेणवा काएण
उदगतीरे चिट्ठिज्जा”

(आचाराग ध्रु० २ अ० २६)

अर्थ —

साधु या साध्वी जलसे तैरकर पार करते समय हाथसे हाथका, पैरसे पैरका और शरीरसे शरीरका स्पर्श न करें । किन्तु अपने अङ्गोंका परस्पर स्पर्श न होने देकर जपणाके साथ जलको पार कर । तैरते समय जलमें दूङ्गो न लगाव और अपने आख, कान, नासिका और मुखमें जल न घेरने दे । जलमें तैरते तैरते यदि साधुके अंग दुर्बल हो जायें तो वह अपने उपकरणोंको तुरन्त उसी जगह छोड़ देने उनमें थोड़ी भी मूढ़ता न छाने । यदि आणवोपकरणोंको लेकर साधु पार जानेमें समय हो सब उन्हें छोड़नेकी आवश्यकता नहीं है । इस प्रकार जलसे पार हो कर जबतक शरीर न जलके बिन्दु गिरें और शरीर भीगा रहे तबतक साधु जलसे किनारे पर ही खड़ा रहे, यह ऊपर के पाठसे स्पष्ट हो पाठका अर्थ है ।

यहां जलसे तैरकर साधुको पार जाना कहा है जलमें डूबकर मरना नहीं कहा है । इसलिए इस पाठसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधु अपनी रक्षा करना पाप नहीं समझते ?

जब अपनी रक्षा साधु करता है और उससे उसे पाप नहीं होता तो दूसरेकी रक्षा करनेसे उसे पाप कैसे हो सकता है ? अब भीषणजीने साधुको जलमें डूब मरनेकी आज्ञा दी है वह एकान्त मिथ्या है ।

यदि कोई कहे कि “नदी पार करते समय साधुसे जलके जीवोंकी विराधता हो जाती है ही है फिर वह नावमें आना हुआ पानी बगलाकर अपनी और दूसरेकी रक्षा क्यों नहीं

करता ? । तो इसका उत्तर यही है कि साधु शास्त्रीय विगानुसार ही अपनी और दूसरों की रक्षा करता है विधानका उल्लंघन करके नहीं करता । नावमें आता हुआ पानी बतलाना साधुका कल्प नहीं है इसलिए वह नावमें आता हुआ पानी नहीं बतलाता । जैसे कि गृहस्थके हाथ की रेखा भी यदि कच्चे पानीसे भीगी हुई हो तो साधु उसके हाथमें आहार नहीं लेता क्योंकि उसका यह कल्प नहीं है और वही साधु अपवाद मार्गमें नई भी पार करता है । नदी पार करना उसके कल्पके विरुद्ध नहीं है क्योंकि इसक लिये तीर्थ करकी आज्ञा है परन्तु नावमें आता हुआ पानी बतलाना आज्ञामें नहीं है इसलिए सा नावमें आता हुआ पानी नहीं बतलाता परन्तु अपनी और दूसरोंकी कल्पानुसार रक्षा करने में साधु पाप नहीं समझता अत आचाराग सूत्रका नाम लेकर जीव रक्षा करनेमें पाप बताना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिए ।

(बोल २७)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १६१ पर निशीथ सूत्र उद्देश १२ बोल १२ का मूल पाठ लिखकर उनकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ इहा “कोलुण पडियाए” कहिता अनुकम्पा निमित्ते तस जीवने बाजे बावताने अनुमोदे भलो जाणे तो चौमासी दण्ड कसो अने बाध्या जीवने छोड़े छोड़वाने अनुमोदे भलो जाणे तो पिण चौमासी प्रायश्चित्त कसो बाजे छोड़े तिणने सरीखो प्रायश्चित्त कसो छे । (भ० पृ० १६१ इसका क्या समाधान ?

(प्रत्यक्ष)

निशीथ सूत्रका वह पाठ लिखकर इसका समाधान किया जाता है ।

“जे भिक्खू कोलुण पडिआए अण्णरियां तसपाणिजायं तण पासएणवा मुज्जपासएणवा कट्टपासएणवा चम्म पासएणवा वंघइ वंधतंवा साइज्जइ । जेभिक्खू वंधोल्लयं मुयइ मुयंतंवा साइज्जइ ।”

जो साधु अनुकम्पाके निमित्त किसी तस प्राणीको तृण पाससे, मुज्जके पाससे, काटपाससे या चर्म पाससे बाधता है या बाधनेवालेको अच्छा जानता है तथा जो साधु बंधे हुए तस प्राणीको छोड़ता है या छोड़ते हुएको अच्छा जानता है उसे चौमासी प्रायश्चित्त आता है । यह पाठका अर्थ है ।

यहा उस प्राणीको धाधने और छोड़नेसे साधुको प्रायश्चित्त कहा है वनपर अनु-
 कम्पा करनेसे नही क्योंकि अनुकम्पा करनेकी तीर्थादिकी आज्ञा है। जैसे साधुको
 आहार पानी लेनेसे प्रायश्चित्त नही होता क्योंकि आहार पानी लेनेकी भगवानकी आज्ञा
 है। किन्तु यदि विद्या वृत्तिसे, या मन्त्र वृत्तिसे साधु आहार पानी ले तो उसका प्राय-
 चित्त साधुको होता है। वह प्रायश्चित्त आहार पानी लेनेका नहीं किन्तु विद्या वृत्ति
 और मन्त्र वृत्ति करनेका है उसी तरह निमीयके इस पाठमें जो उस प्राणीको अनुकम्पाके
 निमित्त धाधन छोड़नेसे प्रायश्चित्त कहा है वह उस प्राणीपर अनुकम्पा करनेका प्राय-
 चित्त नहीं किन्तु उनको धाधने और छोड़नेका प्रायश्चित्त है। उस प्राणीपर अनुकम्पा
 करना, उनमें शान्ति स्थापित करना, तथा किसी जीवकी प्राणरक्षा करना पाप नहीं है
 और अनुकम्पा करनेसे प्रायश्चित्त कैसे हो सकता है ?

इस पाठके भाष्य और चूर्णमें स्पष्ट लिखा हुआ है कि “उस प्राणीको धाधने
 और छोड़नेसे अनर्थकी सम्भावना रहती है इसलिये इस पाठमें उस प्राणीको धाधने
 और छोड़नेमें प्रायश्चित्त कहा है अनुकम्पा करनेसे प्रायश्चित्त नहीं कहा” वह भाष्य और
 चूर्ण छिपी जाई।

“अच्छायेदन मरण तराय फट्ठ त आत्त पर हिंसा सिंग सुग्ग पेहग्गया उद्वाहो भदपत्ता
 ॥” (भाष्य)

“अर्ध आयेदिय परिताविज्जइ मरइया अन्तरायचमवइ। वट्ठ चतइ फूकटतं
 प्पाण परवाहिंसइ एसा मज्जम विहरणा, तथा वज्जत सिंगेण सुरेणया काएणावा
 ण्णु पेल्लेज्जा एव्व माहुस्स आय तिराहणा तच्च वट्ठु जणो उद्वाह करज्जा अहो दुद्धि
 म्मा पर तत्ति वाहिणो एव पण्यणोवघाओ भदयत्त दोषा वा भय। भदो भणइ अहो
 ने माहुवो अम्हे परोवक्खणघरे वावार कं ति पतो पुग्गभणेज्जा दुद्धि धम्म चाहु
 णिणो कीसवा अम्हं वच्छे वधति सुयतिना दिवा वा राओया निच्छुभेज्जा वोच्छेववा
 रग्ग एए उघणे दोसा”
 (चूणा)

अर्थ —

रस्सी आदिसे बांधे हुए पशु अत्यन्त आटा खाकर दुग्ध पाते हैं। एवं वन्धन
 पीड़ित होकर तड़फड़ाते हुए अपनी या दूसरेकी हिंसा भी कर देते हैं। इस
 कारण पशु धाधनेसे साधुके संयमकी विराधना होती है। पशु धाधने ममय पशु, यदि
 मम या खुशसे साधुको मार देवे तो साधुकी अपनी विराधना होती है।

यदि ये धाधने न हों तो भी गृहस्थके पशुओंको धाधने और छोड़ने हुए साधुको
 मार लोख साधुकी निन्दा करते हैं। वे कहते हैं कि इन साधुओंका धर्म अच्छा नहीं है

ये लोग गृहस्थकी नौकरी करते हैं। इस प्रकार प्रवचनकी निन्दा होती है। उमः पर श्रेष्ठजन और साधारणजन दोनोंही दोष लगाते हैं श्रेष्ठ पुरुष कहते हैं कि ये मेरे घरके कामकाज करते हैं और साधारण पुरुष कहते हैं ये साधु गृहस्थाकी सु मद करते हैं। इनका धर्म अच्छा नहीं है ये मेरे बटखोको बाधते हैं और छोड़ इन निन्दा आदि कारणोंसे साधुको गाय आदि प्राणियोंका बधन और मोचन न चाहिये। यह ऊपर लिखे हुए भाष्यकी चूर्णीके पाठका अर्थ है।

उक्त भाष्य और चूर्णीमें गाय आदि पशुओंके बाधनेसे अनर्थ होना बताना प्रायश्चित्त कहा है परन्तु गाय पर अनुकम्पा करनेसे प्रायश्चित्त होना नहीं है। इसलिए निशीथ सूत्रके इस पाठका नाम लेकर गाय आदि प्राणियोंपर अनुकम्पा बताना प्रायश्चित्त बताना अज्ञानियोंका कार्य समझना चाहिए।

अब प्रश्न यह होता है कि त्रस प्राणीको बाधनेसे तो अनर्थ होनेकी इसलिए निशीथके उक्त पाठमें उन्हें बाधनेसे साधुको प्रायश्चित्त होना कहा है बाधे हुए पशुको बंधनसे मुक्त करनेमें कौनसा अनर्थ होता है जिससे बाधे हुए पशु छोड़नेसे भी प्रायश्चित्त कहा है” तो इसका उत्तर भी इसी भाष्य और चूर्णी दिया है, वह निम्नलिखित भाष्य और चूर्णीका पाठ है—

“छ काय अगद विममे हिय णट्ट पलाय रयइ पीएवा । जोग वसेम वण्णेवं दोसाय जे वुत्ता”

(भाष्य)

तन्न गाय मुक्ता भवत छ काय विराहण करेज्ज । अगदे विसमेवा एहि तेणेहिवा हीरेज्जा नट्टं अटवीए कलत अत्येज्ज मुक्ता वा पलाइयं पुणो वणि सपट । दुगादि सडफुडहिवा रज्जइ । मुक्तांवा माऊए थणात रीर पीएज्ज । एवमादि दोषा न होज्ज तहवि गिहिणो विसत्था अत्येज्ज अम्ह धरे साइने हुक्क जोग वसेम वावार वईति मणति एव मणेण चिन्तिता अणुत्त सत्ता अप्पणो करेति । अहतहोपमया मुक्ता पुणो वधति तत्थण वन्धने जे दोसा वुत्ता ते भवति जम्हा एए दोसा तम्हाण वधति णमुयति” (चूर्णी)

(अर्थ)

बन्धनसे छुटे हुए चटखे दौड़कर छ कायके जीवोंकी विराधना करते हैं साई या गद्दे आदिमें गिर जाते भी हैं उन्हें चोर चुरा सकता है या जगलमें भूख श्पर छपर भटकते फिरते हैं। भागने फिरते हुए चटखोंको फिर बाधनेमें कठिनाई होती है। तथा नाहर आदि जीवोंमें यदि वे मार दिए जायें अथवा वे अपनी

न दूध पी जायें तो उनका धनी नाराज हो, इत्यादि अनेको दोष बढे आदिको धनसे छोडनेपर सम्भव होते हैं। यदि ये दोष न हों तो भी इस कार्यमे साधुकी प्रतिष्ठानेपर गृहस्थके मनमें यह विश्वास हो जाता है कि मेर घरकी सम्हाल रखने के साधु बड़ा मौजूद हैं मुझे गृह कार्यकी कुछ भी चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं। यह सोच कर गृहस्थ गृह कार्यकी चिन्ता छोड कर दूसरे काममें प्रवृत्त हो जाते ऐसी दशामे साधु यदि गृहस्थके पशुओंको बाधे तो उसे बाधनेके दोष लगते हैं अतः गृहस्थके पशुओंको बाधते और छोडते नहीं है।

यह ऊपर लिखे हुए भाष्य और चूर्णीके पाठोका अर्थ है।

इसमे स्पष्ट लिखा है कि “बढे आदिको धनसे मुक्त करने पर अनेक प्रकारके द्रव्योंकी सभावना है इसलिये साधु गृहस्थके बढे आदिको नहीं छोडते” यदि छोड इन्हीं उपद्रवोंके कारण ही साधुको प्रायश्चित्त होना पड़ा है परन्तु अनुकम्पा करनेसे प्रायश्चित्त नहीं पड़ा है अतः इस पाठका नाम लेकर उस प्राणी पर अनुकम्पा करने का प्रयत्न करना भाष्य और चूर्णीसे विरुद्ध है।

गाय आदि प्राणियों पर अनुकम्पा करना महान् धर्मका कार्य है परन्तु उनको धन और छोटनेमे अनर्थकी सम्भावना है इसलिये उन्हें बाधने और छोटनेसे साधुको प्रायश्चित्त पड़ा है। जहा बाधे और छोडे बिना गाय आदि प्राणियों की रक्षा नहीं हो सकती हो वहा इसी जगह निशेधसूत्रके भाष्य और चूर्णीमे बाधने और छोडनेका विधान किया है—

“कारणे पुन वन्यमुयण करेडजा ।

चित्तिप पदमणपज्जे वन्ये अविक्खोवित्तेव अप्पज्जे

विसम गडअ गणिआउ घणभूफगादीसु जाणमयी”

(भाष्य)

अणपज्जो घणइ अविक्खोविओवा सेहो अहया विक्खोविओवा सेहो । अथया विक्खो-
जो अपज्जो इमेहिं कारणेहिं वयति निममा अगडि अगणिऊसु मरिज्जिहि । इति
गादिमणफणया मासज्जिहिं एव जाणायावि घणइ मुयइ”

अर्थात् जहा पशुकी आगमें जल कर गडुमें गिर कर या जङ्गली जानवरसे मारा
फर मर जानेकी आशङ्का हो वहा साधु उन्हें बाधन और छोडने भी है। परन्तु वन्य
न होना चाहिये।

यह ऊपर लिखे हुए भाष्य और चूर्णीका अर्थ है।

ये लोग गृहस्थकी नौकरी करते हैं। इस प्रकार प्रवचनकी निन्दा होनी है। उन पर श्रेष्ठजन और साधारणजन दोनोंही दोष लगाते हैं श्रेष्ठ पुरुष कहते हैं कि ये मेरे घरके कामकाज करते हैं और साधारण पुरुष कहते हैं ये साधु गृहस्थाकी तुम्हारी मद करते हैं। इनका धर्म अच्छा नहीं है ये मेरे बड़ोको बाधते हैं और छोड़ते हैं इन निन्दा आदि कारणोंसे साधुको गाय आदि प्राणियोंका बधन और मोचन न चाहिये। यह ऊपर लिखे हुए भाष्यकी चूर्णीके पाठका अर्थ है।

उक्त भाष्य और चूर्णीमें गाय आदि पशुओंके बाधनेसे अनर्थ होता है प्रायश्चित्त कहा है परन्तु गाय पर अनुकम्पा करनेसे प्रायश्चित्त होना नहीं चाहिए इसलिए निशीथ सूत्रके इस पाठका नाम लेकर गाय आदि प्राणियोंपर अनुकम्पा प्रायश्चित्त बताना अज्ञानियोंका कार्य समझना चाहिए।

अब प्रश्न यह होता है कि त्रस प्राणीको बाधनेसे तो अनर्थ होनेकी संभावना इसलिए निशीथके उक्त पाठमें उन्हें बाधनेसे साधुको प्रायश्चित्त होना कहा है बाधे हुए पशुको बाधनेसे मुक्त करनेमें कौनसा अनर्थ होता है जिससे बाधे हुए छोड़नेसे भी प्रायश्चित्त कहा है तो इसका उत्तर भी इसी भाष्य और चूर्णीमें दिया है, वह निम्नलिखित भाष्य और चूर्णीका पाठ है—

“छ काय अगड विसमे हिय णट्ट पलाय सयइ पीएवा । जोग वस्सेम वणेधं दोसाय जे युत्ता”

(भाष्य)

तन्न गाय मुक्क मडतं छ काय विराहण करेज्ज । अगडे विममेवा पणित्तेणोहिवा हीरेज्जा नट्टं अटवीए रलतं अत्थेज्ज मुक्कंवा पलाइय पुणो वधति सक्कइ । दुगादि सडफ्फहहिवा सज्जइ । मुक्क वा माऊए थणात खीर पीएज्ज । एवमादि दोषा न होज्ज तहवि गिहिणो विसत्था अत्थेज्ज अम्ह घरे साइवो जोग वस्सेम वावार वहति मणति एव मणेण चिन्तित्ता अणुत्त सत्ता अप्पगो करेति । अहतदोषभया मुक्क पुणो वधति तत्थग वन्धने जे दोसा युत्ता ते मज्झा ण्ण दोसा तम्हाण वधति णमुयति” (चूर्णी)

(अर्थ)

वन्धनसे छुटे हुए बड़ड़े दौड़कर छ कायके जीवोंकी विराधना करते हैं साई या गहदे आदिमें गिर जाते भी हैं उन्हें चोर चुरा सकता है या जगलमें इधर उधर भटकते फिरते हैं। भागते फिरते हुए बड़ड़ोंको फिर बाधनेमें कठिन दोषी है। तथा नाहर आदि जीवोंसे यदि वे मार दिए जायें अथवा वे अपनी

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

हरिण गमेशी देवनाने अनुकम्पा करके उ बालकोंके प्राण बचाये थे इस अनुकम्पाको सावग कहना अज्ञान है । वे छ ही लडके चरम शरीरी थे और वे दीक्षा लेकर मोक्ष गये । यदि हरिण गमेशो उनकी रक्षा नहीं करता तो वे किस तरह बचते और दीक्षा धारण करके किस प्रकार मोक्ष पाते ? इसलिये हरिण गमेशीने जो बालकों पर अनुकम्पा करके उनके प्राण बचाये थे और सुकमाकी दुःख निवृत्ति की थी उसे सावग कहना सबथा मिथ्या है ।

उन बालकोंकी रक्षा करनेके लिये जो देवनाने आने जानेकी क्रिया की थी उस क्रियाका नाम लेकर अनुकम्पाको सावग बनाना भी अज्ञान है । आने जानेकी क्रिया दूसरी है और अनुकम्पाका परिणाम दूसरा है अन आने जानेके कारण अनुकम्पा सावग नहीं हो सकती । तीर्थंकरों की वन्दना करनेके लिये देवना लोग आते जाते हैं परन्तु आने जानेमें तीर्थंकर की वन्दना सावग नहीं होगी क्योंकि आने जानेकी क्रिया पृथक् है और वन्दना पृथक् है उसी तरह आने जानेकी क्रिया दूसरी है और अनुकम्पा दूसरी है इसलिये आने जानेकी क्रिया सावग होने पर भी अनुकम्पा सावग नहीं है । यदि कोई आने जानेकी क्रिया सावग होनेसे अनुकम्पाको सावग माने तो उसे आने जानेसे सावग होनेसे तीर्थंकर की वन्दनाको भी सावग कहना चाहिये । परन्तु आने जानेसे यदि तीर्थंकरकी वन्दना सावग नहीं होती तो उसी तरह आने जानेसे अनुकम्पा भी सावग नहीं हो सकती । हरिण गमेशी की अनुकम्पा का यह फल हुआ कि वे छ ही लडके कस के भयसे बच गये । अन हरिण गमेशीको अनुकम्पाको सावग कहना अज्ञान का परिणाम है ।

(बोल २९ वां)

(प्रेरक)

भ्रमप्रित्यमनकार भ्रमप्रित्यमनसत पृष्ठ १६८ पर अन्तगोष्ठ सूत्रका मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ ईहा कुगजी डोकरानी अनुकम्पा करी हस्तिस्त्रय बैठा ईंट उपाडी तिणर धरे मू को ए अनुकम्पा आज्ञामे के आज्ञा बाहिरे सावग छै के निरवय छै”
(भ० पृ० १६९)

इसका क्या समाधान ?

यह वाधे और छोड़े बिना त्रस प्राणीकी रक्षा न होनेकी दशम माधु को ज्ञान वाधने और छोड़नेका भी विधान किया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि निशीथ सूत्र उक्त मूलपाठमें जहां वाधने और छोड़नेसे अनर्थ की सम्भावना है वहीं त्रस प्राणी को वाधने और छोड़नेसे प्रायश्चित्त कहा है परन्तु त्रसप्राणीकी रक्षा या अनुकम्पा करनेसे प्रायश्चित्त नहीं कहा है । इसलिये निशीथ सूत्रके मूलपाठ का नाम लेकर त्रस प्राणी को अनुकम्पा करने और उन की रक्षा करनेमें पाप बनाना अज्ञानियोंका कार्य है ।

यदि जीतमलजीके मतानुयायी साधु कहें कि “अपवाद मार्ग में गाय आदि वाधने और छोड़ने का विधान भाष्य में किया है मूल पाठ में नहीं” तो उनसे कहना चाहिये कि—

आप लोग अपने जलके पात्रमें पड़ कर शीतसे मूर्च्छित मत्स्यों को क्यों वाध कर क्यों रखते हैं ? और मूर्च्छा मिट जाने पर उसे क्यों छोड़ते हैं ? क्योंकि मत्स्य भी तो त्रस प्राणी ही है । तथा पागल होनेकी हालतमें साधुको क्यों वाधते हैं ? क्या कि साधु भी त्रस प्राणीसे इतर नहीं हैं अतः निशीथ सूत्रकी चूणी और भाष्यमें जो बात कही है उसका आप लोग भी मत्स्यी आदि तथा साधुओं पर व्यवहार करते हैं पशु गाय आदिके विषयमें इसे पाप कहने लगते हैं यह आप लोगोंका अज्ञानक सिद्धान्त और कुछ नहीं है ।

निशीथ सूत्रकी इस चूणीको जीतमलजीने भी प्रमाण माना है उन्होंने लिखा कि “कोलुण पडियाण” से अर्थ चूणी में अनुकम्पा कृष्णाइज कियो छै” (प्र० ११६)

वही चूणी कारण पड़ने पर पशुके बन्धन और मोचनका भी विधान करती है इस लिये इस चूणी की आधी बात को मानना और आधी नहीं मानना दुराग्रह सिद्धान्त और कुछ नहीं है ।

(बोल २८ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १६८ पर लिखते हैं —

“अथ अठे ऋषी सुलसानी अनुकम्पाने अर्थ देवकी पासे सुलसानी मुआ वाउर मेल्या देवकी ना पुत्र सुलसा पासे मेज्या एपिण अनुकम्पा कही ए अनुकम्पा आता माउ के आता बाहिरे सावय के निरवय छै । एनो कार्य्य प्रत्यक्ष आजा बाहिरे सावय छै त कार्य्यनी देवता ना मनमे उपनी जे ए दुखिनी छै तो एहने कार्य्य करी दुख में । परिणाम रूप अनुकम्पा पिण सावय छै (भ्र० पृ० १६८)

“अथ अठे हरिपेशी मुनिनी अनुकम्पा करी यझे त्रिपाने तात्या ऊघापाड्या ॥
अनुकम्पा सावण छै के निरवण छै आशामे छै के आह्ता बाहिर छै एतो प्रत्यक्ष आह्ता
बाहिर छै” (अ० पृ० १६९)

इसका क्या समाधान ?

(प्रत्युक्त)

उत्तराध्ययन सूत्रकी वह गाथा लिख कर इसका समाधान किया जाता है वह
गाथा यह है —

“जक्खो तहिं तिंदुग नखवासो,

अणु कम्पओ तस्स महा मुनिस्स ।

पच्छाड्यत्ता नियगं सरीरं

इमाइ वयणाइ मुदाहरित्था ।”

(उ० अ० १२ गाथा ८)

अर्थ —

तिंदुग वृक्षपर नियाम करनेवाला उम महा मुनिक अनुकम्पाकी वानी उनमें भक्तिभाव
लेवाला यह अपने शरीरको छिपाकर ब्राह्मणोंसे इस प्रकार कहा । यह उक्त गाथाका अर्थ है ।

इसीका नाम लेकर जीतमलजी और भीयगजी अनुकम्पाको साजसज्जा करते ।
नका कहना है कि यज्जने जो ब्राह्मण कुमारोंका ताडन किया था यह उसकी हरिकशी
निपर अनुकम्पा हुई” परन्तु यह बात मिथ्या है यज्जने मुनिपर अनुकम्पा करके ब्राह्मणों
से सदुपदेश दिया था जन वे ब्राह्मण उसे मारने लगे तो उसने भी मारनेके बदलेमें
मारा था परन्तु अनुकम्पाके कारण नहीं मारा । मुनिपर अनुकम्पा करके सदुपदेश
नका शास्त्रमें कथन है मारनेका नहीं वह गाथा यह है —

“समणो अहं सज्ज वभयारो,

विरओ घण पयण परि गहाओ ।

पर प्पवित्तस्सउ भिक्ख काले,

अन्नस अट्ठा इह आगओ मि” ॥

विपरिज्जइ, स्वज्जइ, भुज्जइय, अन्नं पभुयं भवपाणमेयं
भाणाहिमे जायण जीवणुत्ति, सेसावरोसं लहओ तवस्सो” ।

(उत्तराध्ययन अ० १२ गाथा ९।१०)

(प्ररूपक)

श्रीकृष्णजी नेमिनाथजीकी वन्दनाके निमित्त जा रहे थे रास्तामें उन्होंने जगन्जीर्ण अति दुःखी और कापते हुए एक वृद्धको देखा उसे देख कर कृष्णजीके हृदयमें अनुकम्पा उत्पन्न हुई और उन्होंने अपने हाथोंसे ईंट उठा कर बुढ़ेके घर पर रख दी थी । यह श्रीकृष्णजीकी अनुकम्पा स्वार्थरहित थी इसे सावध सिद्ध करनेके लिये भ्रमविध्वसनकारकी ओरसे यह कुदेतु लगाया जाता है कि “ईंट उठा कर रखने की साधु आज्ञा नहीं देते इसलिये श्रीकृष्णजीकी बुढ़े पर अनुकम्पा सावध थी” परन्तु यह कि कुल अयुक्त है ईंट उठानेकी क्रियाके सावध होनेसे अनुकम्पा सावध नहीं हो सकती क्योंकि ईंट उठानेकी क्रिया भिन्न है और अनुकम्पा भिन्न है, दोनों एक नहीं हैं इसलिये ईंट उठानेकी क्रियाके सावध होनेसे अनुकम्पा सावध नहीं हो सकती । श्रीकृष्णजीकी नेमिनाथजीका दशन करनेके लिये जन इच्छा उत्पन्न हुई तब उन्होंने चतुर गिणीसेना सजायी थी । उस सेना सजाने रूप कार्यकी साधु आज्ञा नहीं देते परन्तु तीर्थकरके वन्दनको तो अच्छा जानते हैं । वह तीर्थकरका वन्दन जैसे सेना सजाने रूप कार्यके सावध होने पर भी सावध नहीं समझा जाता क्योंकि सेना सजाना दूसरा कार्य है और वन्दन करना उससे भिन्न है उसी तरह ईंट उठा कर रखने की आज्ञा साधु नहीं देते परन्तु अनुकम्पा करनेकी आज्ञा देते हैं अतः ईंट उठानेकी क्रिया का नाम लेकर अनुकम्पाको सावध बताना मिथ्या है । यदि ईंट उठानेकी क्रियाके कारण अनुकम्पा सावध हो तो फिर सेना सजा कर आने जानेकी क्रियाके कारण नेमिनाथजीका वन्दन भी सावध होना चाहिये परन्तु जैसे सेना सजा कर आने जानेसे वन्दन सावध नहीं होता वसी तरह ईंट उठानेसे अनुकम्पा भी सावध नहीं होती ।

उत्तराध्ययन सूत्रके २९ वें अध्ययनमें वन्दनका फल उच्च गोत्र धाधना कहा है और भगवती सूत्रमें अनुकम्पाका फल सात वेदनीय कर्मका बन्ध बतलाया है इसलिये ये दोनों ही कार्य अच्छे हैं अनुकम्पा करना सावध नहीं है अतः बुढ़े पर श्रीकृष्णजीकी अनुकम्पाको सावध बताना अज्ञानका परिणाम है ।

(बोल ३०)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १६९ पर उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १९ गाथा ८ वींको लिख कर उसकी समालोचना करत हुए लिखते हैं—

(प्रेरक)



भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १७० पर ज्ञाता सूत्रका मूल पाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं "अथ ईहा धारणी गणी गर्भनी अनुकम्पा करी मन मगता आहार जीस्या ॥ अनुकम्पा सावग छै के निरवद्य छै एतो प्रत्यक्ष आद्या बाहिरे छै" (अ० पृ० १७०) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वसन कारने जनताको भ्रममे डालनेके लिए ज्ञाता सूत्रका मूल पाठ अपूरा लिखा है इसलिए उसका पूरा पाठ और अर्थ लिखकर इसका समाधान किया जाता है।

वह पाठ यह है—

"तएणं सा धारणी देवो तंसि अकालदोहलंसि विणियंसि सम्मा-
णियदोहला तस्स गम्भस्स अणुकम्पणद्वयाण जयं चिद्धह जयं आसह
जयं सुवह आहारं पिणणं आहारेभाणी नोइतित्तं नाह कहुअं नाह
कसायं नाह अंखिलं णाह महुअं जं तस्स गम्भस्स हिय मियं पत्थं
तं देसेय कालेय आहारं आहारेभाणी णाहचिन्तां णाह सोगं णाह-
देण्ण णाह मोहं णाह भयं णाह परितास ववगयचिन्तासोगमोह
भयपरितासा भोयणछायणगन्धमल्लालकारेहितं गम्भ सुखां सुखेम
वहति"

(ज्ञाता अ० १)

अर्थ —

इसके अनन्तर वह धारिणी रानी अकाल दोहदको पूर्ण करके गर्भकी अनुकम्पाके लिये जयणाके साथ खडी होती थी। जयणाके साथ बैठती थी। जयणाके साथ सोती थी। मेधा और आयुको बढाने वाला इन्द्रियोंने अनुकूल नीरोग और देशकालके अनुसार न अति दिक न अति कटु न अति कषाय न अति आम्ब (बन्हा) न अति मधुर किन्तु उस गम्भके हितकारक, परिमित, तथा पथ्य आहार खाती थी और अति चिन्ता, अति शोक, अति दीनता, अति मोह अति भय तथा अति परित्रास नहीं करती थी। चिन्ता, शोक, मोह, भय और परित्रास से रहित हो कर भोजन, आच्छादान, गन्धमाल्य और अलङ्कारों से युक्त होकर सुखपूर्वक उस गर्भके रहन करती थी। यह ज्ञाता सूत्रों उक्तपाठका अर्थ है।

इसी पाठका नाम लेकर जीतमलनी कहते हैं कि धारिणीने गर्भ पर अनुकम्पा करके मनवाञ्छित आहार खाया था परन्तु इस पाठमे मनवाञ्छित आहार खाना नहीं

अथ —

मैं धमण हूँ और सयत यानी सर्व सावध योगोंसे हटा हुआ हूँ । मैं ब्राह्मचारी और धन, पचन, पाचन, तथा परिग्रहसे रहित हूँ, आपके यहाँ मिश्रार्थ मिश्राके समयमें आया हूँ गुरुन् अपने भोजनार्थ जो अन्न बनाते हैं उसी अन्नको मिश्राके लिए मैं आया हूँ आपके इस पद स्थान में प्रचुर अन्न दीन अनाथ और दरिद्रोंको दिया जाता है और खाया जाता है तथा खिलाया जाता है यह सब अन्न आप लोगोंका ही है । मैं मिश्राजीवी तपस्वी हूँ इसलिए आपके यहाँ जो बचाव भी बचा हुआ अन्न हो वह मुझे मिलना चाहिए ।

यहाँ यक्षने मुनिपर अनुकम्पा करके ब्राह्मणोंसे नम्रतापूर्वक मुनिको भिक्षा देनेका उपदेश दिया है यह उपदेश देना बुरा नहीं किन्तु धर्म है । जैसे कोई पुरुष क्षुधातुर साधुको भिक्षा देनेके लिए लोगोंको उपदेश देवे तो वह बुरा नहीं कहा जा सकता । उसी तरह मुनिको भिक्षा देनेके लिए यक्षका ब्राह्मणोंको उपदेश देना बुरा नहीं है ।

जब यक्षके उपदेशसे ब्राह्मण लोग न समझे बल्कि और अधिक उत्तेजित होकर मुनिको मारने दौड़े तब यक्षने भी क्रोध करके ब्राह्मणोंको मारा था । यह मारना रूप कार्य्य ब्राह्मणोंपर क्रोध करके यक्षने किया था मुनिपर अनुकम्पा करके नहीं क्योंकि जहाँ मारने पीटनेकी बात आई है वहाँ मूल पाठमें यह नहीं कहा है कि यक्षने मुनिपर अनुकम्पा करके ब्राह्मणोंको मारा था अतः यक्षका यह कार्य्य क्रोधके कारण हुआ था अनुकम्पाके कारण नहीं अनुकम्पा करके उसने ब्राह्मणोंको उपदेश दिया था मारा नहीं था । इसलिए इस मारने रूप कार्य्यके सावध होनेपर भी इसके पहले जो यक्षन ब्राह्मणोंको उपदेश दिया था वह सावध नहीं हो सकता ।

जैसे कोई साधु भक्त श्रावक, साधुपर अनुकम्पा करके लोगोंको भिक्षा देनेका उपदेश देवे परन्तु उसके उपदेशसे लोग भिक्षा तो न दें उल्टे उत्तेजित होकर मुनिको मारने दौड़े, यह देखकर साधु भक्त वह श्रावक भी यदि लोगोंको मारे पीटे तो उसके इस कार्य्यसे उसका पहला कार्य्य यानी साधुको भिक्षा देनेके लिए उपदेश देना बुरा नहीं हो सकता उसी तरह यक्षने जो ब्राह्मणोंको मारा था इससे उसका पहला कार्य्य यानी मुनि पर अनुकम्पा करके भिक्षा देनेके लिए उपदेश देना बुरा नहीं हो सकता । अतः उत्तराध्ययन सूत्रकी गाथाका नाम लेकर हरिकेशी मुनिपर यक्षकी अनुकम्पा को सावध पहना एकान्त मिथ्या है ।

(बोल ३१ वां समाप्त)

अतः अविचार आता है अतः धारिणी रानीकी गर्मानुकम्पाको मोह अनुकम्पा और मातृ अनुकम्पा घटाना अज्ञानियोंका कार्य है ।

(वोल ३२ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १७१ पर ज्ञाना सूत्र अध्ययन १ का मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ इहा अभयकुमारनी अनुकम्पा कही दबना मेद वरसायो, ए पिण अनुकम्पा कही ते सावय छै के निरवय ते एतो प्रत्यक्ष आज्ञा बाहिरे छै” (भ्र० पृ० १७१)

इसका क्या समाधान ?

(प्रहृषक)

अभयकुमारने तीन दिन तक उपवास किया था और ब्रह्मचर्य धारण पूर्वक तीन दिन तक बैठा रहा । उसका कष्ट देख कर देवताके हृदयमें अनुकम्पा उत्पन्न हुई तथा अभयकुमारका जीवके साथ उस देवताके पूर्वजन्ममें जो स्नेह, प्रीति, और बहुमान थे उनका स्मरण करके उसके हृदयमें क्षोभ उत्पन्न हुआ था । मूलपाठमें यही बात कही है अनुकम्पा लाकर पानी बरसाना नहीं कहा है परन्तु जीतमलजी अनुकम्पा लाकर पानी बरसानेकी बात कहते हैं इसकी यह बात मिथ्या है मूलपाठमें पानी बरसानेका कारण अनुकम्पा नहीं किन्तु प्रीति कही गयी है । यह मूल पाठ लिख कर स्पष्ट किया जाता है—

“अभयकुमार मनुकम्पमाणे दवे पूर्वभव जणिय नेहपीई बहुमान जाय सोने”

(टीका)

हा । तस्य अष्टमोपवास रूप कष्ट विवृते इति विस्मयम्”

अर्थात् मेरे मित्रको अष्टमोपवास जनित कष्ट हो रहा है यह सोचते हुए उस देवताके हृदयमें पूर्वजन्मकी प्रीति स्नेह बहुमान (गुणानुराग) के स्मरण होनेसे मित्र विरह रूप खेद उत्पन्न हुआ ।

यहा अनुकम्पा करने पानी बरसाना नहीं लिखा है आगे चल कर मूलपाठमें पानी बरसानेकी बात आई है वहा प्रीतिके कारण पानी बरसाना कहा है अनुकम्पा के कारण नहीं वह पाठ यह है—

“अभयं कुमारं एवं वयासी गत्र खलुदेवाणुप्पिया ! मए तव पिपट्ठयाए सगल्लिया, सफुसिया सविज्जुया दिव्वा पाउससिरी विउच्चिया”

(ज्ञाता अ० १)

वर्तिक मनवाछित आहार छोड़ना लिखा है तथा गर्भके हितकारक आहार खाना लिखा है इसलिये “धारिणीने गर्भ पर अनुकम्पा करके मनवाछित आहार खाया था” यह जीतमलजीकी प्ररूपणा इस मूलपाठसे प्रत्यक्ष विरुद्ध है ।

इस पाठमें गर्भ पर अनुकम्पा करके धारिणीसे अजयणाका त्याग किया जाना लिखा है तथा चिन्ता शोक मोह और भयको छोड़ देना लिखा है अतः तेरह पन्थियोंसे पूछना चाहिये कि धारिणीने गर्भ पर अनुकम्पा करके जो अजयणाका त्याग किया था तथा चिन्ता शोक मोह और भय आदि छोड़ दिये थे यह अच्छा किया था या बुरा किया था ? यदि अच्छा किया था तो धारिणीकी गर्भ पर अनुकम्पा बुरी कैसे हुई ?

इस पाठमें स्पष्ट लिखा है कि धारिणीने गर्भ पर अनुकम्पा करके मोह छोड़ दिया था तथापि जीतमलजी धारिणीको गर्भानुकम्पाको मोह अनुकम्पा बतलाते हैं क्योंकि इनका महान् अज्ञान है जिस अनुकम्पाके होनेसे मोह छोड़ दिया जाता है वह अनुकम्पा खुद ही मोह अनुकम्पा हो यह किस प्रकार हो सकता है ?

इस पाठमें कहा है कि “धारिणी रानी गर्भ पर अनुकम्पा करके गर्भका हितकारक आहार खाती थी” इस आहार खानेका नाम लेकर गर्भकी अनुकम्पा को साबित कहना भी अज्ञान है क्योंकि गर्भका आहार गर्भवतीके आहारके आधीन है यदि गर्भवती आहार न करे तो उसके गर्भका भी आहार बन्द हो जाता है और आहार बन्द होनेसे वह गर्भ मर सकता है ऐसी दशामे आहार नहीं करनेवाली गर्भवतीको गर्भ हितकारक का पाप लग सकता है उस गर्भ हिंसाकी निवृत्ति और गर्भरक्षार्थे लिये धारिणीका भोजन करना भी एकान्त पापमें नहीं है

गर्भवती श्राविका यदि भोजन न करे तो उसके पहले व्रतमें अतिचार आता है क्योंकि अपने अश्रित प्राणीको भूखा मारना पहले व्रतका अतिचार है परन्तु निर्दय जीव इतना भी नहीं सोचते वे गर्भवतीको उपवास करनेका उपदेश देते हैं और गर्भको दया न करनेको धर्म मानते हैं वे प्रत्यक्ष ही शास्त्रविरुद्ध कार्य्य करा कर गर्भ हिंसा समर्थक बनते हैं । भगवती सूत्र शतक १ उद्देश ७ में साक्षात् तीर्थकरने कहा है कि “माताके आहारसे गर्भको आहार मिलता है” अतः जो गर्भवतीका आहार छुड़ाते हैं गर्भवतीस्य बालकको भूखा मारते हैं परन्तु सम्यग्दृष्टि मनुष्य कदापि गर्भको दुःख नहीं देता उस पर अनुकम्पा रखते हैं ।

यह बात केवल गर्भके लिये ही नहीं किन्तु अपने अश्रित द्विपद चतुष्पद प्राणियोंको भी सम्यग्दृष्टि भूखा नहीं रखते । उनपर अनुकम्पा करते हैं नहीं तो उनके पक्ष

ई कारण न था किन्तु प्रियाके वियोगसे जो करुण नामक एक रस उत्पन्न होता है उसी वहा सामग्री पूर्णरूपसे मौजूद थी इसलिये रयणा देवीके प्रति जिन ऋषिका करुण रस ही उत्पन्न हुआ था अनुकम्पा नहीं अत उक्त पाठमे आया हुआ “कलुण” शब्द अगरसका ही बोधक है अनुकम्पाका नहीं ।

ज्ञाता सूत्रके मूल पाठमें साफ साफ लिखा है कि रयणा देवीके विचित्र हाव भाव र कटाक्ष तथा सुरत सुखको स्मरण करके तथा उसके मनोहर शब्द और भूषणोंकी श्रुति ध्वनि सुन कर जिन ऋषिके हृदयमे करुण भाव उत्पन्न हुआ था इससे स्पष्ट सिद्ध है कि जिन ऋषिका रयणा देवीके ऊपर करुण रस उत्पन्न हुआ था अनुकम्पा नहीं बल्कि अपनी प्रियाके हाव भाव कटाक्ष और सुरत सुखके स्मरण करनेसे और उसके लोहर वाक्य तथा भूषणोंकी ध्वनि सुननेसे करुण रस ही उत्पन्न होता है अनुकम्पा ही उत्पन्न होती है । वह ज्ञाता सूत्रका पाठ यह है —

“ततेणं से जिण रक्खिए चलमणे तेणेव भूसणरवेणं कण्णसुह
जोहरेणं तेहिंय सप्पणय सरल मधुर भासिएहिं संजायविडल-
ए रयणा देवीस्स देवयाए तीसे सुन्दर धण जहण वयण कर चरण
पन लावणरूप जोवण सिरीचदिव्वं सरभस उवगूहियाह जातिं
वेवोय विलसिताणिय विहसिय सकडक्खदिट्ठी निस्ससिय मलिय
बललिय ठियगमण पणयखिज्जिय पासादियाणिय सरमाणे राग
ओहियमइ अवसे कम्मवसगण अवयक्खति मग्गतो सविलियं ।
तेणं जिणरक्खियं समुप्पन्नकलुण भावं मच्चुगल्लत्थल्लणोल्लियमइं
वयक्खंत तहेव जक्खेय सेलए जाणिउण सणियं सणियं उव्विहति
यग पिट्ठाहिं विगयसत्थं । ततेणं सा रयणा दीव देवता निस्संसा
लुणं जिण रक्खियं सकलुसा सेलए पिट्ठाहिं उवयंत दास ! मओ-
त्ति जप्पमाणो अप्पत्तं सागर सलिलं गेण्हिय वाहारिं आरसंत
इदं उव्विहति अंवर तले ओवयमाणं च मडलगेण पडिच्छित्ता
लुप्पणधवल अयसिप्पगासेण असिवरण खडाखडि करेति”

अर्थ —

अर्थात् देवताने अभयकुमारसे कहा कि—

हे देवानुप्रिय ! मैंने तुम्हारे प्रेमके लिये गर्जन विद्युत और जलविन्दु पातक साज किया था।

यहां अभयकुमारकी प्रीतिके लिये मेह घरसाना कहा है अनुकम्पाके लिये नहीं। अतः अनुकम्पासे मेह घरसानेकी बात मूलपाठसे विरुद्ध है।

जैसे गुणोंमें प्रेम रखने वाले देवता तप और सयमसे युक्त मुनि पर अनुकम्पा करके उत्तर वैक्रिय शरीर बना कर उनके दर्शनार्थ हर्षके साथ आते हैं और उन देवताओं के गुणानुराग और मुनि पर अनुकम्पा तथा साधु दर्शनको शास्त्रकार वैक्रिय शरीर बनाने और आने जानेकी क्रिया करनेसे घुरा नहीं किन्तु उत्तम बतलाते हैं क्योंकि गुणानुराग, अनुकम्पा और साधु दर्शन भिन्न हैं और उत्तर वैक्रिय शरीर बनाना तथा आना आदि भिन्न है उसी तरह आने जाने आदिकी क्रियायें भिन्न हैं और अनुकम्पा भिन्न है इस लिये आने जाने आदि क्रिया के सामर्थ्य होने पर भी अनुकम्पा सावद्र्य नहीं होती अतः अभय कुमार पर देवता की अनुकम्पा को सावद्र्य कहना अज्ञान का परिणाम है।

(बोल ३३ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन १७१ पर ज्ञाता सूत्र अध्ययन ९ का मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ इहा रयणा देवीरी अनुकम्पा करी जिन ऋषि साहमो जोयो एपिण अनुकम्पा कही ए अनुकम्पा मोह कर्मरा उदयथी के मोह कर्मरा क्षयोपशम थी ए अनुकम्पा सावद्र्य छै के निरवद्र्य छै आह्वामे छै के आह्व बाहिरे छै विपेक विलोचने करी विचारी जोयजो” (भ्र० पृ० १७१)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

जिन ऋषिने रयणा देवी पर अनुकम्पा करके उसे देखा था यह भ्रमविध्वसनकारकी बात बिल्कुल झूठी और मूलपाठसे विरुद्ध है। वहां मूल पाठमें अनुकम्पाका नाम नहीं है वहां यह पाठ आया है—

“समुपपन्न क्लृणुभाव” इस पाठमें जो “क्लृणु” शब्द आया है वह अनुकम्पा अर्थमें नहीं है क्योंकि रयणा देवी पर जिन ऋषिकी अनुकम्पा उत्पन्न होने का

“वीरो सिंगारो अब्भुओ रोदो होइ धोद्धव्वो ।

वेलणओ वीभच्छो हासो कलुणो पसंतो अ”

(अनुयोग द्वार सूत्र)

र्थ —

मौ प्रकारके काव्यके रस होते हैं ये ये हैं—(१) वीर (२) गृह्य (३) मज्जुत (४)
(५) मोहनक (६) वीमत्स (७) हास्य (८) करुण (९) प्रशान्त ।

यहां करुण नामक एक रस बनाया गया है उसकी उत्पत्तिका कारण भी इसी
हि मूलश्लोकमें कहा है । यह पाठ यह है —

“पिय विषयोण वंध वह वाहि विणिवाय सम्भमुप्पण्णो । सोइय
लविय अपम्हाण रुणलिंगो रसो करुणो” करुणो रसो जहा—
उज्जाय किलामिअयं चाहागपप्पुअच्छियं बहुसो । तस्सवियोगे
तेप दुव्वलयंते सुहं जायं”

(अनु० गाथा १६।१७)

अर्थ —

प्रियके साथ वियोग होनेसे तथा वृत्तजन, घष, व्याधि, पुत्रादि मरण और पर राष्ट्रके भय
जैसे कारण रस उत्पन्न होता है । विन्ता काला विलाप करना उदास होना रोपी होना इसके
लक्षण हैं । इसके उदाहरणही गाथाका यह अर्थ है—

प्रिय वियोगसे दुःखि बालासे कोई वृद्धा स्त्री बइती है कि हे पुत्रि ! अपने प्रियकी
अत्यन्त विन्ता करनेसे तुम्हारा मुख खिन्न हो गया है और अविरत अश्रुधारासे तुम्हारी आँखें
भी भरी रहती हैं ।

यहां प्रियके वियोगसे करुण रसकी उत्पत्ति बना कर प्रियके वियोगसे अत्यन्त
दुःखित बालाका उदाहरण दिया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि रयणा देवीके वियोग
पर जिन ऋषिके हृदय में करुण रस उत्पन्न हुआ था अनुकम्पा उत्पन्न नहीं हुई थी ।
यह रयणा देवीके ऊपर जिन ऋषिके करुण रसको अनुकम्पा कायम करके अनुकम्पाको
भाव्य धताना अज्ञानियोंका कार्य है ।

बोल ३४ वां

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसन कर भ्रम विध्वंसन पृष्ठ १७५ के ऊपर राज प्रहरीय सूत्रका मूल
पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

अर्थ —

इसके अनन्तर उस जिन रक्षितका मन रयणा देवीके ऊपर चलायमान हो गया । रयणा देवीके कर्ण मनोहर भूषण शब्द, और प्रेम सहित सरल मृदु भाषणसे जिन रक्षितका राग (मोह) रयणा देवी पर पहलेसे भी ज्यादा बढ कर द्विगुण हो गया । रयणा देवीके सुन्दर स्तन, जघन, मुख, कर चरण और नयनोंके लावण्यको तथा उसके शरीरकी सुन्दरता दिव्य यौवनकी शोभा ईश्वर साथ आलङ्कन करना ह्यो चेष्टा विलास मधुर हास्य सकटाक्ष दर्शन निश्वास सुख अगस्त्य रति कृजित अक तथा आमनादि पर बैठना हसपत्त गमन प्रणय क्रोध और प्रसन्नताको स्मरण करके वह जिन रक्षित रयणा देवी पर मोहित हो गया वह अपने घरमें नहीं रह सका । वह जिन रक्षित अवकाश और कर्म धरीभूत होकर पीछेसे आती हुई रयणा देवीको लज्जाके भाव देखने लगा ।

इसके अनन्तर प्रियाके वियोगसे जिसको करुण रस उत्पन्न हो गया था और रयणा देवीके जिसका गला पकड़ लिया गया था जो यमपुरी जानेके लिये तत्पर हो गया था जो रयणा देवीके प्रेम सहित देख रहा था ऐसे जिन रक्षितको उस दौलक यक्षने धीरे धीरे अपने मृच्छर गाने गिरा दिया ।

इसके अनन्तर मनुष्योंका घात करने वाली द्रुपदे पूर्ण हृदय वाली उस रयणा देवीके दौलक यक्षके घृष्टमे गिरते हुए करुणारससे युक्त उस जिन रक्षितको ओर दास ! मरा ऐसा कहता है । समुद्रमें पड़नेके पहले ही अपनी भुजाओंसे ऊपर आकाशमें फेंक दिया पश्चात् अपने तीक्ष्ण दृष्टिकोण ऊपर उसे रोप कर तीक्ष्ण तटघातसे खण्ड खण्ड कर डाला ।

यह ज्ञाता सूत्रके ऊपर लिखे हुए मूल पाठका अर्थ है ।

यहां साफ साफ लिखा है कि रयणा देवीके भूषणोंके मनोहर शब्द और उनके कर्णमधुर वाक्योंको सुनकर जिन रक्षितका राग रयणा देवीके ऊपर पहलेसे भी अधिक हो गया तथा रयणा देवीके शरीरकी सुन्दरता और स्तन जघन मुख आदि अंगोंको देख कर जिन रक्षित उसके ऊपर मोहित हो गया । मोहित होकर जिन रक्षित रयणा देवीके ओर देखने लगा । यहां रयणा देवी पर मोहित होकर जिन रक्षितका उसकी ओर दबना कहा है अनुकम्पाके कारण देखना नहीं कहा है । अतः जिन रक्षितका रयणा देवीके ऊपर मोह उत्पन्न हुआ था अनुकम्पा नहीं उत्पन्न हुई थी इस पाठमें जो “समुत्पन्न कलुष भाव” यह जिन रक्षितका विशेषण आया है इसका अर्थ भी रयणा देवीके ऊपर प्रिय वियोगसे उत्पन्न होने वाला करुण रसका उत्पन्न होना ही है अनुकम्पा होना नहीं । अनुयोग द्वार सूत्रमें प्रियके वियोगसे करुण रसको उत्पत्ति बताई है वह पाठ यहां लिखा जाता है—

“नव कव्य रसा पणत्ता तंजहा—

भगवान् सूर्याभने कथनका आदर नहीं किया । अनुमोदन भी नहीं किया किन्तु मौन धारण रखा । यह ऊपर लिखे हुए पाठका अर्थ है ।

इस पाठमें सूर्याभने भक्तिपूर्वक नाटक दिखानेकी बात कही है भक्ति को ही क नहीं कहा है यदि नाटक ही भक्ति होता तो इस पाठमें “भक्ति पुञ्ज” की जगह “तत् रूप” ऐसा नाटकका विशेषण आना परन्तु वह नहीं होकर जो यहाँ “भक्ति” यह पाठ आया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि नाटक दूसरी चीज है और वानकी भक्ति दूसरी है, ये दोनों एक नहीं हैं । वीतरागमें परमानुगम रखना वीतरागकी भक्ति है और वष भाषा और भूषाके द्वारा किसी उत्तम पुरुषका अनुकरण करना एक है । ये दोनों भिन्न पदार्थ हैं एक नहीं हैं । नाटकके आरम्भमें वित्त निवारणके लिये नट लोग भगवान्की भक्ति करते हैं यदि नाटक ही स्वयं भक्ति स्वरूप होता तो उसके पूर्वमें भक्ति करनेकी क्या आवश्यकता थी । रागादिवासनाके उद्भयसे नाटक या और देखा जाता है परन्तु वीतरागकी भक्ति, रागके क्षयोपशम आदि होनेसे की गी है इसलिये भगवद्भक्ति और नाटक दोनों एक पदार्थ नहीं हैं । भगवान्ने भक्ति देनेकी आज्ञा दी थी परन्तु नाटककी आज्ञा नहीं दी इसलिये भक्ति और नाटक भिन्न भिन्न पदार्थ हैं एक नहीं हैं । अब नाटकका ही भक्ति कायम करके उसे सावध सिद्ध करनेकी चेष्टा करना अज्ञान है ।

इस पाठकी टीकामें टीकाकारने लिखा है कि नाटक स्वाध्याय का विघातक है और भगवान् महावीर स्वामी वीतराग थे इसलिये भगवान्ने नाटक करनेकी आज्ञा नहीं दी । यदि नाटक ही भक्ति होता तो टीकाकार स्पष्ट लिख देते कि नाटकरूप भक्ति सावध है इसलिये भगवान्ने उसकी आज्ञा नहीं दी थी । देखिये वह टीका यह है—

“ततः श्रमणो भगवान् सूर्याभेग एवमुक्तः सन् सूर्याभस्य देवस्यैव मनतरो देवमर्थं नाद्रियते ननदर्थं करणायादृशपरोभवति नापि परिजानाति, अनुमन्यते वक्तुं वीतरागत्वात् गोतमादीनाञ्च नाट्यं विधे स्वाध्यायादि विघात कारित्वात् । केवलं गौकोऽवतिष्ठते” ।

अर्थात् सूर्याभदेवके इस प्रकार कहने पर भगवान् महावीर स्वामीने उसके कथनका आदर नहीं किया और उसका अनुमोदन भी नहीं किया । भगवान् स्वयं वीतराग थे और नाटक गोतमादि मुनियोंके स्वाध्यायका विघातक था । अतः भगवान् ने निषयमें मौन रहे ।

यहाँ टीकाकारने नाटककी आज्ञा न देनेका कारण भगवान्का वीतराग होना, और नाटकका गोतमादिके स्वाध्यायका विघातक होना बतलाया है परन्तु वीतराग की

“अथ अठे सूर्यामरी नाटक रूपभक्ति कही तेहनी भगवान् आज्ञा न दी थी अनुमोदना पिण न कीधी । अने सूर्याभ वन्दना रूप सेवा भक्ति की थी तिहा एहो पण है । “अवभृणुष्णाग मेय सुरियाभा” एवन्दनारूप भक्तिरी म्हारी आज्ञा इम आज्ञा दीधी अने नाटक रूपभक्ति सावय है ते माटे आज्ञा न दी थी अनुमोदना पिण न की थी जिम सावय निरवय भक्ति है तिम अनुकम्पा पिण सावय निरवय फोई कहे सावय अनुकम्पा किइ कही है तेहणो कहिणो सावय भक्ति किइ कहा है”

इसका क्या समाधान ?

(अ० पृ० १७५)

(प्ररूपक)

राज प्रह्नीय सूत्रका मूल पाठ लिए कर इसका समाधान किया जाता है—

“तएणं से सूरियाभे देवे समणेणं भगवथा महावीरेणं एणं बुद्धे
समाणे हट्ठ तुट्ठ चित्त माणं दिए परम सोमणस्सो समणं भगवं म्हावीरं
वीरं वंदति नमंसति एणं वयासी तुब्भेणं भन्ते ! सव्वंजाणं
सव्वं पासह सव्वं कालं जाणह सव्वं कालं पासह सव्वे भावे
जाणह सव्वे भावे पासह जाणंतिणं देवाणुप्पिया ! मम पुब्बिवा प
च्छावा ममेयस्सुवं दिव्वंदेविद्धिं दिव्वं देवजुहं दिव्वं देवाणुभागं
पत्तं अभिसमण्णागयं चेति तं इच्छामिणं देवाणुप्पियाणं भत्तिपुब्ब
गोतमातिघोणं समणाणं निग्गंथाणं दिव्वं देविद्धि दिव्वं देवजुहं
दिव्वं देवाणुभागं दिव्वं वत्तीसति वद्धं नट्ठविहिं उवदंसितए । तए
समणे भगवं महावीरे सूर्याभेणं देवेणं एवं बुत्ते समाणे सूरियाभे
देवस्स एयमट्ठं नो आढाति नोपारिजाणाह तुसिणिए सविद्धि”

(राज प्रह्नीय सूत्र)

अर्थ —

अमण भगवान् महावीर स्वामीसे इस प्रकार कहा हुआ सूर्याभ देवता हट्ट तुट्ट आनन्दिष्ठ चित्त होकर भगवाण्की वन्दना नमस्कार करके कहने लगा कि हे भगवान् ! आप कुछ जानते और देखते हैं । आप सब कालको सब भावोंको जानते और देखते हैं । तथा इस प्रकार की दिव्य देव अद्धि देव धृति और दिव्य देव प्रभाव मुझको सर्वदा प्राप्त है यह भी आप जानते हैं इस लिये आपकी भक्ति पूर्वक मे गौतमादि नियन्त्रियोंको दिव्य देव अद्धि, दिव्य देव धृति, दिव्य देव प्रभाव और वत्तीस प्रकारकी नाटक विधि दिखलाना चाहता हूँ । यह सुन कर भगवान्

तथापि यदि कोई हठ करके “वेयावडियठूपाए” यह पाठ देस कर मारनेको ही बच कहे ता फिर उसे वन्दनके निमित्त किया जाने वाला वैक्रिय समुद्रघातको भी वन स्वरूप ही मानता पड़ेगा और भगवान्‌का वन्दन भी वैक्रिय समुद्रघात स्वरूप होने साव्य कइना पड़ेगा । परन्तु वैक्रिय समुद्रघातको यदि वन्दन स्वरूप नहीं मान कर वन्दनसे भिन्न मानते हो तो उसी तरह व्यावचको भी मारनेसे भिन्न ही मानना ना एक नहीं मान सकते ।

उत्तराध्ययन सूत्रकी गाथामें भी मुनिने ब्राह्मणसे यही कहा है कि “यक्ष मेरा बच करते हैं” परन्तु यक्षोंने जो ब्राह्मण कुमारोंको मारा था उसे ही मुनिने अपना बच नहीं कहा था । देखिये, उत्तराध्ययनकी गाथा यह है —

“पुर्व्विच इण्हच अनागयच मनप्पदोसो नमे अत्थिक्कोई ।

जक्खसाहु वेयावडियं करेत्ति तम्हाहु ए ण निहया कुमारा”

(उत्तरा० अ० १० गाथा ३२)

अर्थात् आप लोगोंके प्रति मेरे मनमें न कभी द्वेष था और न है और न होगा । यक्ष मेरा व्यावच करते हैं इसलिये ये लडके मारे गये हैं । यह उक्त गाथा अर्थ है ।

यहां मुनिने यही कहा है कि यक्ष मेरा व्यावच करते हैं परन्तु यक्षोंने जो ब्राह्मण कुमारोंको मारा है यह मेरा व्यावच है ऐसा नहीं कहा, इसलिये मारनेकी ही व्यावच मानना अज्ञान है ।

यद्यपि यक्षोंने मुनिका व्यावच करनेके लिये ही ब्राह्मण कुमारोंका ताडन किया था तथापि जैसे तीर्थङ्करकी वन्दनाके लिये देवताओंसे किया हुआ वैक्रिय समुद्रघात वन्दनसे भिन्न है उसी तरह मुनिका व्यावचके लिये किया हुआ ब्राह्मण कुमारोंका ताडन भी व्यावचसे भिन्न है । आज कल भी व्यावच लोग मुनियोंका दर्शन करनेके लिये रेल-गाडी घोड़ा गाडी मोटर गाडी आदि विविध वाहनोमें बैठ कर दूर दूरसे मुनियोंके पास जाते हैं । उनका आना मुनियोंका वन्दनके लिये ही होता है परन्तु जैसे आने जाने रूप कैयासे मुनिका वन्दन भिन्न है उसी तरह हरि केशी मुनिका व्यावचके लिये यक्षोंके द्वारा ब्राह्मण कुमारोंका ताडन भी व्यावचसे भिन्न है अतः मुनिके वन्दनके समान ही मुनिका व्यावच भी निरवय है साव्य नहीं है ।

यदि कोई कहे कि “मुनिका वन्दन तो अपने लिये किया जाता है परन्तु व्यावच अपने लिये नहीं मुनिके लिये किया जाता है इस लिये व्यावच और वन्दन दोनों समान नहीं हैं” तो उस कइना चाहिये कि व्यावच भी वन्दनके समान अपने लिये ही किया जाता है और उस व्यावचसे जो निजरा होती है वह भी व्यावच करनेवाले को ही

भक्तिका सावय होना कारण नहीं बतलाया है अतः नाटकको भक्ति मान कर उसको आह्वा न देनेसे वीतरागकी भक्तिको सावय कायम करना अज्ञानका परिणाम है। यदि नाटक भक्तिस्वरूप होता तो मूलपाठमे “भक्ति पूज्यम्” यह पाठ न होकर “भक्ति स्वरूपम्” यह पाठ आता और टीकाकार नाटककी आह्वा न देनेका कारण भक्तिका सावय होना बतलाते परन्तु टीकाकारने भक्तिको सावय नहीं कहा है और मूलपाठमें नाटकको भक्ति रूप नहीं कहा है अतः राजप्रशनीय सूत्रके उक्त मूलपाठके आधार पर वीतरागकी भक्तिको सावय कहना अज्ञानका परिणाम है ।

(बोल ३५ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १७६ पर उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १२ ३२ वीं गाथाको लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि —

“अथ अठे हरिकेशी कह्यो ए छात्राने हण्या ते यक्षे व्यावच की धी छै पर मारना दोष तीन ही कालमे न थी इहां व्यावच कही ते सावय छै आह्वा बाहिरे छै अने हरिकेशी मुनिने अशनादिक दान रूप जे व्यावच ते निरवय छै तिम अनुकम्पा पिण सावय निरवय छै” (भ० पृ० १७६)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

यक्षने ब्राह्मण कुमारोको जो मारा था उसे मुनिका व्यावच कहना मिथ्या क्योंकि व्यावच दूसरी वस्तु है और मारना दूसरा है । मारना ही व्यावच नहीं है अतः गाथामें कहा है कि—

“इसिस्स वेयावडियट्ठयाए जक्खा कुमारे विणिवारयन्ति”

अर्थात् ऋषिका व्यावच करनेके लिये यक्ष, ब्राह्मण कुमारोका निवारण करने के लिये

यह व्यावचके लिये मारना कहा है परन्तु मारनेको ही व्यावच नहीं कहा है बल्कि लिये मारनेको ही व्यावच बतलाना मिथ्या है । जैसे भगवान् महावीर स्वामीका वन्दन करनेके लिये अहा देवताओने वैक्रिय समुद्रघात किया है वहा “वन्दन वत्तियाए” यह कहा आया है उसी तरह यहा भी “वेयावडियट्ठयाए” यह पाठ आया है अतः जैसे भगवान् का वन्दन करनेके लिये देवताओसे किया हुआ वैक्रिय समुद्रघात वन्दन स्वरूप है किन्तु उससे भिन्न है उसी तरह मुनिका व्यावचके लिये यक्षोसे किया हुआ ब्राह्मण कुमारोका ताडन भी व्यावच स्वरूप नहीं किन्तु उससे भिन्न है ।

वग कहना अज्ञान है। शीतललेख्यामे जीवकी विराधना नहीं होती यह बात विस्तार साथ लब्धि प्रकरणमे चल कर बतलाई जावेगी।

कृष्णजीने बूढ़े पर जो अनुकम्पा की थी वह भी सावय नहीं है। यद्यपि अनु-
कम्पाके लिये कृष्णजीने बूढ़ेकी ईंट उपाड़ी थी परन्तु ईंट उपाड़नेकी क्रिया न्यायी और
नुकम्पा न्यायी चीज है इस लिये ईंट उपाड़ने रूप कार्याके सावय होने पर भी अनु-
कम्पा सावय नहीं हो सकती। यह बात विस्तारके साथ पहले बतला दी गई है अन-
कम्पाजी आदिकी अनुकम्पाके उदाहरणसे गोशालक पर भगवान्की अनुकम्पाको सावय
गना अज्ञान मूलक ही है।

(बोल ३७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमनिवृत्तन कर भ्रम विध्वसन पृष्ठ १७८ पर लिखते हैं —

“एकार्यानी मनमे अपनी हियो कम्पायमान हुवो ते माटे ० अनुकम्पा पिण सावय
है। इहा अनुकम्पा अने कार्या सलान छै। जे कृष्णजी ईंट उपाड़ी ते अनुकम्पाने अर्थे
“अनुकम्पाद्वयाए” एहू पाठ कइो छै। ते अनुकम्पाने अर्थे ईंट उपाड़ी मूकी ते माटे
“एकार्यानी अनुकम्पा सलान छै एकार्या रूप अनुकम्पा सावय छै। इस हरिण गमेशी
तया धारिणी अनुकम्पा की धी तिहा पिण “अनुकम्पाद्वयाए” पाठ कइो ते माटे ते अनु-
कम्पा पिण सावय छै। जिम भगवती शतक ७ उद्देश २ कइो “जीवो द्रव्यद्वयाए सातए
भावद्वयाए असातए” जीव द्रव्यार्थे मासवो भावार्थे असातवो कइो ते द्रव्य भाव जीव
भी न्यायी नहीं तिम कृष्ण आदि जे सावय कार्या किया त वो अनुकम्पा अर्थे किया
ते माटे ए कार्या थी अनुकम्पा पिण न्यायी न गिणयी” (अ० पृ० १७८)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

अनुकम्पाके निमित्त जो कार्या किया जाता है वह यदि अनुकम्पासे भिन्न नहीं
है तो फिर भगवान् महावीर स्वामी और साधुओंके दर्शनके लिये जो कार्या किया जाता
है वह भी भगवान् महावीर स्वामी और साधुओंके दर्शनसे भिन्न न होना चाहिये।
ऐसी दशामें अनुकम्पाके निमित्त किये जाने वाले कार्याके वजहसे जैसे अनुकम्पाको भ्रम
निवृत्तनकार सावय कइते हैं उसी तरह दर्शनके लिये किये जाने वाले कार्याकी वजहसे
दर्शनको भी सावय कहना चाहिये। जैसे कृष्णजीकी अनुकम्पाके विषयमे “अनुकम्पा-
द्वयाए” यह पाठ आया है उसी तरह भगवान् महावीर स्वामीके दर्शनार्थ कौणिक रागा

होती है अतएव बारह प्रकारकी निर्जराओमें व्यावच को भी गिनाया है। मुनि तो वच का एक साधन मात्र है अतः मुनिका व्यावच भी मुनि वन्दनके समान ही नि है और वह अपने लिये ही किया जाता है। जैसे वन्दनके लिये की जान आनेकी क्रिया वन्दनसे भिन्न है उमो तरह मुनिका व्यावचके लिये की जाने क्रिया भी व्यावचसे भिन्न है अतः यक्षोंने हरिकेशी मुनिका व्यावच करनेके लिये ब्राह्मण कुमारोका ताडन किया था उसे मुनि का व्यावच स्वरूप कायम करके घटाना और उस के दृष्टान्त से अनुकम्पा को भी सावय कहना अज्ञानियों का समझना चाहिये ।

(बोल ३६ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १७७ के ऊपर लिखते हैं—

‘बली केतला एक कहे—गोशालाने भगवान् वचायो ते अनुकम्पा कही छै माटे धर्म छै’

तेहनो उत्तर—जो प अनुकम्पामे धर्म छै तो अनुकम्पा घणे ठीकाने कही छै’

इत्यादि लिख कर बूढ़े पर कृष्णजीकी और सुलसापर हरिण गमेशी आदि अनुकम्पाका दृष्टान्त देकर गोशालक पर भगवान् की अनुकम्पाको सावय बतलाते हैं।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवान् महावीर स्वामीने गोशालक पर अनुकम्पा करके उसके प्राण बचाये । इस अनुकम्पाको सावय कहना अनुकम्पाके साथ द्रोह करने वालोंका कार्य है। प्रक व्याकरण सूत्रके मूलपाठका प्रमाण दे कर यह बनलाया जा चुका है कि मरते जीव पर दया करके उसकी प्राणरक्षा करना जैनागमका प्रधान उद्देश्य है अतः गोशालकपर अनुकम्पा करके भगवान् ने उसके प्राण बचाये थे । इस कार्यको सावय कहना अज्ञानका परिणाम है ।

यदि कोई कहे कि गोशालकको बचानेके लिये भगवान् को शीतललेइया प्रक करनी पडो थी और शीतललेइया प्रकट करनेसे जीवोकी विराधना होती है इसलिये भगवान् की यह अनुकम्पा निरवय नहीं कही जा सकती किन्तु यह सावय है तो उन कहना चाहिये कि शीतल लेइयासे जीवोंकी विराधना नहीं प्रत्युत उससे जीवरक्षा होती है इस लिये शीतल लेइयाका नाम लेकर भी गोशालक पर भगवान् की अनुकम्पा को

अर्थ —

पर हम का हृष्ट हृदय चाहे देवतागण, कोई भगवानकी वन्दना करनेके लिये, कोई को पूजा करनेके लिये, कोई सत्कार सम्मान करनेके लिये, कोई कौतूहलके लिये, कोई नहीं तो हुई बातको सुननेके लिये और सुने हुए संदिग्ध भयको पूरनेके लिये, कोई सूर्याभके आज्ञा करनेके लिये, कोई अपने मित्रकी आज्ञा पालनके लिये, कोई भगवद्भक्तिके अनुगमसे, कोई समस्त कर, सम्पत्ति ऋद्धियोंसे युक्त होकर सूर्याभके निकट उपस्थित हुए ।

इस पाठमें कहा है कि “देवता लोग भगवान् महावीर स्वामीका वन्दन नमस्कार कर सम्मान और सेवा शुश्रूषा करनेके लिये सूर्याभके निकट सप्त ऋद्धियोंसे युक्त का आण” । देवताओंके हृदयमें जब भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन नमस्कार करनेका भाव उत्पन्न हुआ तब वे सूर्याभके पास आये थे अतः भ्रमविध्वंसनकार के भावसे भगवान् का वन्दन नमस्कार भी सावय ही उदरेगा क्योंकि साधु किसीको कहीं जाने आनेकी आज्ञा नहीं देते । परन्तु यदि जाने जानेकी क्रिया दूसरी है और वन्दन नमस्कार दूसरा है इसलिये जाने जानेकी क्रियाके आज्ञा बाहर होने पर भी वन्दन नमस्कार आज्ञा बाहर नहीं है तो उसी तरह अनुकम्पा भी दूसरी है और उसके लिये किया जाने वाला कार्य्य दूसरा है । उस कार्य्यके आज्ञा बाहर होने पर भी अनुकम्पा आज्ञा बाहर और सावय नहीं है । अतः अनुकम्पाके लिये की जाने वाली क्रियाका नाम लेकर अनुकम्पाको सावय कायम करना अज्ञानका परिणाम है ।

जिस कार्य्यके लिये मुनि आज्ञा नहीं देते वह एकान्त पाप है यह भ्रमविध्वंसनकारकी प्रहृषणा भी मिथ्या है क्योंकि मुनि लोग किसीको साधुका दर्शन करनेके लिये जानेकी भी आज्ञा नहीं देते तथापि साधु का दर्शन करने के लिये जाता एकान्त पाप नहीं है ।

भगवती सूत्र और राजप्रश्नीय सूत्रमें यह पाठ आया है—“तहारूपाण अरिहता भगवताण नाम गोयस्सवि मज्जयाए महाफलं किमङ्क पुण अभिगमण वन्दन तमसण परिपुञ्जण पज्जुवासणआण”

अर्थात् तथारूपके अरिहत और भगवत्तोंके नाम गोत्रके श्रवण करनेसे भी महान् फल होता है फिर उनके सम्मुख जाने, वन्दन नमस्कार करने, कुशल प्रश्न करने और सेवा शुश्रूषा करनेसे तो कदना ही क्या है अर्थात् उससे तो अवश्य ही महान् फल होता है ।

इस पाठमें अरिहत भगवत्तोंके सम्मुख जानेका महान् फल बतलाया है परन्तु साधु किसीको अरिहतोंके सम्मुख जानेकी आज्ञा नहीं देते तथापि शास्त्रकार

अर्थ —

सूर्याभ देवने भगवान् महावीर स्वामीकी वन्दना करनेके लिये जाते समय सुयोप नामक घण्टा बजा कर अपने विमान वासी देवताओंको सूचित किया कि हे देवानुग्रियों ! सूर्याभ देवता जम्बू द्वीपके भारतवर्षमें भगवान् महावीर स्वामीको वन्दना करनेके लिये आश्रमस्था बगल आश्रमशाल नामक उद्यानमें जा रहा है अतः आप लोग भी अपनी सम्पूर्ण कठिपासे युक्त हाथ-पैर ही सूर्याभ देवके समीप आ जावें ।

इस पाठमें कहा है कि “सूर्याभदेवने भगवान् महावीर स्वामीकी वन्दनाके लिये जाते समय सुयोप नामक घण्टेको बजा कर देवताओंको सूचना दी थी” । इस सूर्याभ देवके हृदयमें भगवान् महावीर स्वामीको वन्दन करनेका भाव उत्पन्न हुआ तो उसने घण्टा बजाकर देवोंको सूचना दी थी । घण्टा बजानेके लिये सुनि आना नहीं है इस लिये घण्टा बजाना आज्ञा बाहर है । जो लोग अनुकम्पाके भाव आनेसे जो कार्य किया जाता है उसकी वजहसे अनुकम्पाको सावय कहते हैं उनके मतमें भगवान्की वन्दना भी सावय कहनी चाहिये क्योंकि वन्दनाके भाव आनेसे ही सूर्याभदेवने सुयोप नामक घण्टा बजाया था । यदि घण्टा बजाना दूसरा है और वन्दना करना दूसरा है इस लिए घण्टा बजाना आज्ञा बाहर होने पर भी वन्दना आज्ञा बाहर नहीं है तो वही तरह अनुकम्पा दूसरी है और उसके लिये जो कार्य किया जाता है वह दूसरा है इस लिये अनुकम्पाके लिये किये जाने वाले कार्यके आज्ञा बाहर होने पर भी अनुकम्पा आज्ञा बाहर और सावय नहीं है ।

सूर्याभकी आज्ञा पाकर देवता लोग जब भगवान्का दर्शन करनेके लिये सूर्याभ के समीप आये हैं उस समयका वर्णन करनेके लिये यह पाठ आया है —

“एयमट्ठं सोचा णिसम्म हट्ठ तुट्ठ जाव हियया अप्पेगइया वन्दन वत्तिपाए अप्पेगइया पूयण वत्तिपाए अप्पेगइया सक्कारवत्तिपाए अप्पेगइया असुयाइं सुणिस्सामो सुयाइं अट्ठाइं हेउइं पासिणाइं कारणाडं वागरणाइं पुच्छिस्सामो अप्पेगइया सूरियाभस्स वण्ण मणुपत्तमाणा अप्पेगइया अन्न मन्न मणुपत्तमाणा अप्पेगइया जिण भत्तिरागेणं अप्पेगइया धम्मोत्ति अप्पेगइया जियमेयंति कट्ठु सब डिट्ठए जाव अकाल परिहोणाचेव सूरियाभस्स अन्तियं पाउवभवति”

(राज प्रश्नीय सूत्रम्)

मध्य —

यह सन का हृष्ट हृष्ट हृष्ट घाटे देवतागण, कोई भगवानकी वन्दना करने लिये, कोई को पूजा करनेके लिये, कोई सत्कार सम्मान पानेके लिये, कोई कौतूहलके लिये, कोई गहीं की हुई बातको सुननेके लिये और एने हुए संदिग्ध भयको पूछनेके लिये, कोई सूर्याभके आज्ञा करनेके लिये, कोई अपने मित्रकी आज्ञा पाछने लिये, कोई भगवत्किये अनुगमने, कोई ममत्ता कर, सम्पूर्ण कठिणोंसे युक्त होकर सूर्याभके विरुद्ध उपस्थित हुए ।

इस पाठमें कहा है कि “देवता लोग भगवान् महावीर स्वामीका वन्दन नमस्कार सत्कार सम्मान और सेवा शुश्रूषा करनेके लिये सूर्याभके निकट सप्त ऋद्धियोंसे युक्त का आण” । देवताओंके हृदयमें जब भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन नमस्कार करनेका भाव उत्पन्न हुआ तब वे सूर्याभके पास आये थे अतः भ्रमविध्वंसनकार के सामने भगवान् का वन्दन नमस्कार भी सावध ही ठहरेगा क्योंकि साधु किसीको कहीं जाने जानेकी आज्ञा नहीं देते । परन्तु यदि जाने जानेंकी क्रिया दूसरी है और वन्दन नमस्कार दूसरा है इसलिये जाने जानेकी क्रियाके आज्ञा बाहर होने पर भी वन्दन नमस्कार आज्ञा बाहर नहीं है तो उसी तरह अनुकम्पा भी दूसरी है और उसके लिये किया जाने वाला काव्य दूसरा है । वस काव्यके आज्ञा बाहर होने पर भी अनुकम्पा आज्ञा बाहर और सावध नहीं है । अतः अनुकम्पाके लिये की जाने वाली क्रियाका नाम लेकर अनुकम्पाकी सावध कायम करना अज्ञानका परिणाम है ।

जिस काव्यके लिये मुनि आज्ञा नहीं देते वह एकान्त पाप है यह भ्रमविध्वंसनकारकी प्रकृति भी मिथ्या है क्योंकि मुनि लोग किसीको साधुका दर्शन करनेके लिये जानेकी भी आज्ञा नहीं देते तथापि साधु का दर्शन करने के लिये जाना एकान्त पाप नहीं है ।

भगवती सूत्र और राजप्रश्नीय सूत्रमें यह पाठ आया है—“तहारुवाण अरिहता भगवताण नाम गोयस्सवि सवगयाण महाफलं किमहं पुण अभिगमण वन्दन नमसण परिपुच्छण पञ्जुवासणआण”

अर्थात् तथारूपके अरिहत और भगवत्तोंके नाम गोत्रके श्रवण करनेसे भी महान् फल होता है फिर उनके सम्मुख जाने, वन्दन नमस्कार करने, कुशल प्रश्न करने और सेवा शुश्रूषा करनेसे तो कदना ही क्या है अर्थात् उससे तो अवश्य ही महान् फल होता है ।

इस पाठमें अरिहत भगवत्तोंके सम्मुख जानेका महान् फल बतलाया है परन्तु साधु किसीको अरिहतोंके सम्मुख जानेकी आज्ञा नहीं देते तथापि शास्त्रकार अरिहतोंके

सम्मुख जानेसे महान् फल होना बतलाते हैं इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि जिस कार्य के लिये साधु आशा नहीं देते वह सब कार्य एकान्त पाप ही हो यह कोई नियम नहीं है अतः आशा वाहर के कार्यों को एकान्त पाप कहना अज्ञान भूलक समझना चाहिये ।

(बोल ३८)

इति अनुकम्पाधिकारः



अथ लब्ध्यधिकारः ।

(प्रक)

भ्रमविध्वंसनकार कहते हैं कि भगवान् महावीर स्वामीने छद्मस्थपनेमें शीतल पात्रो प्रकट करके गोशालककी प्राणरक्षा की थी इसमें भगवान् को जघन्य तीन और छ पात्र किया। छी थीं क्योंकि पन्नावणा पद ३६ में तेजः समुद्घात करनेसे जघन्य तीन और उत्कृष्ट पात्र किया लगना बतलाया है। शीतल ऐश्या भी तेजो ऐश्या है इसलिये उसमें भी तेजः समुद्घात होता है अतः शीतल ऐश्याको प्रकट करके भगवान् ने जो गोशालक की प्राणरक्षा की थी उसमें उनको जघन्य तीन और उत्कृष्ट पात्र किया छी ।

इसका क्या समाधान ?

(प्रकृषक)

तेजः समुद्घात करनेसे जघन्य तीन और उत्कृष्ट पात्र कियाओंका स्मराना शास्त्र कहता है परन्तु तेजः समुद्घात उग्न तेजोऐश्याके प्रकट करनेमें ही होता है शीतल ऐश्याके प्रकट करनेमें नहीं होता ।

भगवती शतक १५ उद्देश १ में उग्न तेजोऐश्याके प्रकट करनेमें तेजका समुद्घात होना बतलाया है परन्तु शीतल ऐश्या के प्रकट करने में नहीं कहा है यह पाठ है —

“तएणं से गोशाले मंखलि पुत्ते वेसियायणं बालतवस्सिं पासइ सइत्ता भमं अंतिआओ सणियं पच्चोसकइ पच्चोसकइत्ता जेणेव सिपायणे बालतपस्वी तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता वेसियायणं बालतवस्सिं एव वयासी—कि भवं मुणा मुणोए उदाह्व जुया सेज्जा चरण ? तएणं से वेसियायणे बालतवस्सो गोशालस्स मखलि पुत्त- एवमद्वं नो आढाइ नो परिजाणइ तुसिणोए संचिट्ठइ । तएणं से गोशाले मंखलिपुत्ते वेसियायणं बालतवस्सिं दोव पि एवं वयासी— भव मुणो मुणोए जावसेज्जाचरण । तएणं से वेसियायणे बाल-

तवस्सी गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं दोच्च'पि तच्च'पि एवं दुरो समाणे
असुक्ते जाव मिस मिसे माणे आयावण भूमिओ पच्चोसकइ पच्चोस
कइत्ता तेया समुद्घाएणं समोहणइ समोहणइत्ता सत्तट्ठपयाइ' पच्चो
सकइ पच्चोसकइत्ता गोसालस्स मंखलि पुत्तस्स वहाए सरीरगं तेयं
णिसिरइ तएणं अहं गोयमा ! गोसालस्स मंखलि पुत्तस्स अणुक्कम
णट्ठयाए वेसियायणस्स बालतवस्सिस्स सा उसिण तेयलेस्सा तेय
पडिसाहरणट्ठयाए एत्थणं अन्तरा अहं सीयलियं तेयलेस्सं निस्स
रामि । जाए सा ममं सियलियाए तेय लेस्साए वेसियायणस्स बाल
तवस्सिस्स साउसिण तेय लेस्सा पडिहया''

(भगवती शतक १५ उद्देशा १)

अर्थ.—

इसके अनन्तर गोशालक मंखलिपुत्रन वैश्यायन बालतपस्वीको देखा । देल कर धार धारे
मेरे पाससे हट कर उसके पास गया वहा जाकर गोशालक मंखलिपुत्रने वैश्यायन बाल तपस्वीसे
फहा कि "तुम कोई मुनि हो या जू आदिकी शय्या हो ?" यह छन कर वैश्यायन बालतपस्वीने
गोशालककी बात पर कुछ ध्यान नर्हा दिया किन्तु मौन धारण करके रहा । पश्चात् गोशालक
मखलिपुत्रने दो तीन बार यही बात कही । यह देख कर क्रोधके मारे मिस निम करता हुआ
वैश्यायन बाल तपस्वीने आत्तापन भूमिसे पीछे हट कर तेजका समुद्रघात किया । तेजका समुद्रघात
करके सात आठ पैर पीछे हट कर गोशालक मंखलिपुत्रका बध करनेके लिये अपने शरीर सम्बन्धी
तेजको गोशालकके ऊपर फेंका । हे गोतम ! उस समय गोशालक मंखलिपुत्रकी अलुक्कपाक
लिये उस पर आती हुई तेजोलेइयाके निवारणार्थ मेने शीतललेइया छोडी । मेरी शीतललेइया
से वैश्यायन बाल तपस्वी की उष्ण तेजो लेइया प्रतिहत हो गई । यह इस पाठका अर्थ है ।

इसमे उष्ण तेजो लेइयाके वर्णनमे तेजके समुद्रघात होनेका कथन है पारन्तु शीत
ललेइयाके प्रकट करनेमें तेजके समुद्रघात होनेका जिक्र नहीं है इसलिये शीतल लेइयामें
तेजके समुद्रघात होनेकी बात अप्रामाणिक है । जब कि शीतल लेइयाके प्रकट करनेमें
तेजका समुद्रघात नहीं होता तब फिर उसमे जघन्य तीन और उत्कृष्ट पाच क्रियाएँ कैसे
लग सकती हैं ? अतः शीतल तेजो लेइयाके प्रकट करनेमे जघन्य तीन और उत्कृष्ट
पाच क्रिया लगानेकी प्ररूपणा एकान्त मिथ्या समझनी चाहिये ।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

“तेज समुद्रघात” शब्दका प्रमाणके साथ अर्ज वतलाइये जिससे यह ज्ञात हो जाय कि शीतल लेइयाके प्रकट करनेमें तेजका समुद्रघात क्यों नहीं होता ?”

(प्ररूपक)

प्राचीन आचार्यों ने तेज समुद्रघात शब्दका यह अर्थ किया है—

“तेजो निसर्गं लब्धिमान् क्रुद्ध साध्वादि सप्ताष्टोपदानि अवप्त्रप्य विक्रम बाहल्याभ्या शरीरमान मायामतस्तु सत्येय योजन प्रमाण जीवप्रदेशदण्ड शरीराद्वहि प्रक्षिप्य क्रोध विपयी कृतं मनुष्यादि निर्दहति तत्रच प्रभूतास्तैजसशरीरनामपुद्गलान् शातयति”

(प्रवचन सारोद्धार २३१ द्वार)

अर्थ —

तेजो लब्धिधारी साधु आदि क्रोधित होकर सात आठ पैर पीठे हट कर अपने शरीरक समान स्थूल और विन्मृत तथा सख्यात योजन पर्यन्त लम्बायमान जीव प्रदेश दण्डको बाहर निकाल कर क्रोध विपयीभूत मनुष्य आदिको जला देता है इसमें जहुवसे तैजस शरीर नाम वाले पुद्गलोंका शासन होता है इसलिये इसे तेज समुद्रघात कहते हैं । यह प्रवचन सारोद्धारके ऊपर लिखे हुए पाठका अर्थ है ।

इसमें, क्रोधित हो कर तेजोलब्धि धारी साधु किसीको जलानेक लिये जो दण्ड तेजोलेइयाका प्रक्षेप करता है उसीमें तेजका समुद्रघात होना कहा है परन्तु किसी मरते प्राणीकी प्राणरक्षाके लिये जो शीतल लेइया छोड़ी जाती है उसमें तेजका समुद्रघात होना नहीं कहा है अतः भगवान् महावीर स्वामीने गोशालककी प्राणरक्षा करनेक लिये जो शीतल लेइया छोड़ी थी उसमें तेजके समुद्रघातका नाम लेकर जघन्य तीन और बच्छष्ट पाव क्रिया लगानेकी प्ररूपणा करना मिथ्या है ।

(बोल २ समाप्त)

(प्रेरक)

जगलेइया के प्रकट करनेमें जिन क्रियाओं का लगाना बतलाया है उनके नाम और अर्थ बतलाइये ।

(प्ररूपक)

ये क्रियाएँ पाच हैं—(१) कायिकी (२) आधिकरणिनी (प्राप्तेपिकी), (३) पारि-
तापनिकी (४) प्राणातिपाविकी । ये पाच ही क्रियायें हिंसाके साथ सम्बन्ध होनेसे

तवस्सी गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्ते समणे
असुक्ते जाव मिस मित्ते माणे आयावण भूमिओ पचोसक्क पचोस
क्कत्ता तेया समुग्घाएणं समोहणइ समोहणइत्ता सत्तट्ठपयाइ पचो
सक्कइ पचोसक्कत्ता गोसालस्स मंखलि पुत्तस्स चहाए सरीरगं तेयं
णिसिरइ तएणं अहं गोयमा ! गोसालस्स मंखलि पुत्तस्स अणुक्कम्प
णट्ठयाए वेसियायणस्स बालतवस्सिस्स सा उप्पिण तेयलेस्सा तेय
पड्डिसाहरणट्ठयाए एत्थणं अन्तरा अहं सीयलियं तेयलेस्सं निस्स
रामि । जाए सा ममं सियलियाए तेय लेस्साए वेसियायणस्स बाल
तवस्सिस्स साउप्पिण तेय लेस्सा पड्डिहया”

(भगवती शतक १५ उद्देशा १)

अर्थ —

इसके अनन्तर गोशालक मंखलिपुत्र ने वैश्यायन बालतपस्वीको देखा । देख कर धार धार
मेरे पाससे हट कर उसके पास गया घड़ा जाकर गोशालक मंखलिपुत्रने वैश्यायन बाल तपस्वी
कहा कि “तुम कोई भुनि हो या जू आदिकी शय्या हो ?” यह उन का वैश्यायन बालतपस्वी
गोशालककी बात पर कुछ ध्यान नहीं दिया किन्तु मौन धारण करके रहा । पश्चात् गोशालक
मंखलिपुत्रने दो तीन बार यही बात कही । यह देख कर प्रोधकने भारे मिस मिस करता हुआ
वैश्यायन बाल तपस्वीने आतावन भूमिते पीछे हट कर तेजका समुद्घात किया । तेजका समुद्घात
करके सात आठ पैर पीछे हट कर गोशालक मंखलिपुत्रका बध करनेके लिये अपने शरीर सम्बन्ध
तेजको गोशालकके ऊपर फेंका । हे गोतम ! उस समय गोशालक मंखलिपुत्रकी अनुकम्पा
लिये उस पर आती हुई तेजोलेख्याके निवारणार्थ मेने शीतललेख्या छोड़ी । मेरी शीतललेख्या
से वैश्यायन बाल तपस्वी की उष्ण तेजो लेख्या प्रतिहत हो गई । यह इस पाठका अर्थ है ।

इसमें उष्ण तेजो लेख्याके वर्णनमें तेजके समुद्घात होनेका कथन है परन्तु शीतल
लेख्याके प्रकट करनेमें तेजक समुद्घात होनेका जिक्र नहीं है इसलिये शीतल लेख्या
तेजके समुद्घात होनेकी बात अप्रामाणिक है । जब कि शीतल लेख्याके प्रकट करनेमें
तेजका समुद्घात नहीं होता तब फिर उसमें जघन्य तीन और उत्कृष्ट पांच क्रियाएँ कौन
लग सकती हैं ? अतः शीतल तेजो लेख्याके प्रकट करनेमें जघन्य तीन और उत्कृष्ट
पांच क्रिया लगानेकी प्ररूपणा एकान्त मिथ्या समझनी चाहिये ।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

“तेज समुद्घात” शब्दका प्रमाणके साथ अर्थ बतलाइये जिससे यह ज्ञात हो जाय कि शीतल लेख्याके प्रकट करनेमें तेजका समुद्घात क्यों नहीं होता ?”

(प्ररूपक)

प्राचीन आचार्यों ने तेज समुद्घात शब्दका यह अर्थ किया है—

“तेजो निसर्गं छविमान् मृद्ध साध्वादि सप्ताष्टौपदानि अवप्वप्य विष्कभ बाह्याभ्या शरीरमान मायामतस्तु सरयेव योजन प्रमाण जीवप्रदेशदण्ड शरीराद्वहि प्रक्षिप्य क्रोध विषयी कृत मनुष्यादि निर्देहसि तत्रच प्रभूतास्तेजसशरीरनामपुद्गलान् शातयति”

(प्रवचन सारोद्धार २३१ द्वार)

अर्थ —

तजो छविधारी साधु आदि क्रोधित होकर सात आठ पैर पीछे हट कर अपने शरीरके समान स्थूल और विस्तृत तथा सख्यात योजन पर्यन्त लम्बायमान जीव प्रदेश दण्डको बाहर निकाल कर क्रोध विषयीभूत मनुष्य आदिको जला देता है इसमें बहुतसे तेजस शरीर नाम वाले पुद्गलोंका शासन होता है इसलिये इसे तेज समुद्घात कहते हैं । यह प्रवचन सारोद्धारक ऊपर लिखे हुए पाठका अर्थ है ।

इसमें, क्रोधित हो कर तजोछवि धारी साधु किसीको जलानेके लिये जो उष्ण तजोलेख्याका प्रक्षेप करता है उसीमें तेजका समुद्घात होना कहा है परन्तु किसी मर्ते प्राणीकी प्राणरक्षाके लिये जो शीतल लेख्या छोड़ी जाती है उसमें तेजका समुद्घात होना नहीं कहा है अब भगवान् महावीर स्वामीने गोशालरुकी प्राणरक्षा करनेके लिये जो शीतल लेख्या छोड़ी थी उसमें तेजका समुद्घातका नाम लेकर जघन्य तीन और उत्कृष्ट पाच क्रिया लगानेकी प्ररूपणा करना मिथ्या है ।

(बोल २ समाप्त)

(प्रेरक)

उष्णलेख्या के प्रकट करनेमें जिन क्रियामों का लगना बतलाया है उनके नाम और अर्थ बतलाइये ।

(प्ररूपक)

य क्रियाए पाच हैं—(१) कायिकी (२) आधिकारणिकी (प्राद्वेपिकी), (४) पारि-
तापनिकी (५) प्राणातिपासिकी । ये पाच ही क्रियायें हिंसाक साथ सम्बन्ध होनासे

छगती हैं रक्षा करने वालेको नहीं छगतीं । इनका अर्थ ठाणाङ्ग सूत्रका मूल पाठ देखा जाता है ।

“काइया किरिया दुविहा पन्नत्ता तंजहा—अनुवरयकायकिरियाचेव दुप्पउत्त कायकिरियाचेव । आहिकरणिआ किरिया दुविहापन्नत्ता तंजहा—संजोयणाधिकरणिआ चेव निवत्तनाधिकरणिआ चेव । पाउसिया किरिया दुविहा पन्नत्ता तजहा—जीव पाउसिया चेव अजीव पाउसिया चेव । पारियावणिपाकिरिया दुविहा पन्नत्ता तंजहा—सहत्थ पारियावणिआचेव परहत्थपारियावणिआचेव । पाणाइवाय किरिया दुविहा पन्नत्ता तंजहा—सहत्थ पाणाइवाय किरियाचेव परहत्थ पाणाइवाय किरिया चेव ।”

(ठाणाङ्ग ठाणा २)

अर्थ —

जो क्रिया शरीरसे की जाती है वह कायिकी क्रिया है वह दो तरहकी होती है अनुवर्त काय क्रिया और दुष्प्रयुक्त काय क्रिया ।

जो क्रिया माद्य कर्मों से नहीं दृष्टे हुए मिथ्या दृष्टि और अविरत सम्यग्दृष्टि पुत्रके शरीर से उत्पन्न होकर कर्मवन्त्यका कारण होती है वह ‘अनुवर्त काय क्रिया’ कहलाती है । प्रमत्त संयत पुत्र, अपने शरीरसे इन्द्रियोंकी इष्टानिष्ठ वस्तुकी प्राप्ति और परिहारके लिये जो स्वल्प संयोग और निर्देह होनेसे क्रिया करता है वह क्रिया ‘दुष्प्रयुक्त काय क्रिया’ कहल्यती है । अथवा मोक्ष मार्गके प्रति दुर्वावस्थित प्रमत्त संयत पुत्र, अशुभ मानसिक संकल्पके साथ जो शरीरसे क्रिया करता है वह ‘दुष्प्रयुक्त काय क्रिया’ है ‘आधिकारिणी क्रिया’ दो तरहकी है (१) ‘संयोगजनाधिकारिणी’ (२) निर्वर्त्तनाधिकारिणी’ तलवारमें उसके मूठ जोड़नेकी क्रियाको ‘संयोगजनाधिकारिणी’ कहते हैं । तलवार तथा उसके मूठको बनानेकी क्रियाको ‘निर्वर्त्तनाधिकारिणी क्रिया’ कहते हैं ।

जो क्रिया किसी पर द्वेष करके की जाती है उसे ‘प्राद्वेषिकी’ कहते हैं । यह भी दो तरहकी होती है । (१) जीव प्राद्वेषिकी और (२) अजीव प्राद्वेषिकी । किसी जीव पर द्वेष करके जो क्रिया की जाती है वह ‘जीव प्राद्वेषिकी’ है और जो अजीव पर द्वेष करके की जाती है वह ‘अजीव प्राद्वेषिकी’ है ।

किसीको ताबन आदिके द्वारा परित्याग देनेको ‘पारित्यागनिकी’ क्रिया कहते हैं । यह दो तरहकी है ‘स्वहस्त पारित्यागनिकी’ और ‘परहस्त पारित्यागनिकी’ अपने हस्तसे किसीको त्याग देना

‘स्वहन्त पारितापनिकी’ किया है और दूसरेके हन्तने पारिताप दिवाना “परहन्त पारितापनिकी” किया है ।

किमी जीवका घात करना “प्रागानिपातिकी” किया है । यह भी द्विविध होता है । (१) स्वहन्त प्रागानिपातिकी और (२) परहन्तप्रागानिपातिकी । अपन हाथसे प्राणियोंका घात करना ‘स्वहन्त प्रागानिपातिकी’ है और दूसरेके हाथसे प्राणोंका घात करना ‘परहन्तप्रागानिपातिकी’ किया है ।

यह हागाङ्गके उक्त मूठ पाठका टीकानुसार अर्थ है ।

इसमें कायिकी आदि पाच क्रियाओंका जो स्वरूप बतलाया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि किसी प्राणीकी रक्षा करनेके लिये जो शीतल लेइया प्रकट की जाती है उसमें ये क्रियाएँ नहीं लगती किन्तु उष्ण लेइयाका प्रयोग करके किसी जीवकी हिंसा करनेमें लगती हैं । किसी जीवको घात करना प्रागानिपातिकी किया है यह क्रिया किसी जीव की रक्षा करनेमें कैसे लग सकती है ? क्योंकि जीवोंकी रक्षा करना उनका घात करना नहीं है । किसी जीवको ताड़न आदि करनेसे “पारितापनिकी” क्रिया लगती है परन्तु जो किसीका ताड़न आदि नहीं करता है बल्कि उसकी रक्षा करता है उस रक्षक पुरुषको पारितापनिकी क्रिया किस प्रकार लग सकती है ? क्योंकि रक्षा करना पारिताप देना नहीं है ।

किसी जीवपर द्वेष करनेसे प्राद्वेषिकी क्रियाका लगना बतलाया है अतः जो मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करता है उसको प्राद्वेषिकी क्रिया कैसे लग सकती है ? क्योंकि मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करना उस पर द्वेष करना नहीं है । तलवार आदि घातक पदार्थों के बनाने और उनमें मूठ आदि जोड़नेसे ‘आधिकरणिकी क्रियाका लगना कहा है । जो पुरुष किसी मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करता है वह तलवार आदि घातक पदार्थों का निर्माण, या बनमें मूठ आदि नहीं जोड़ रहा है फिर उसको ‘आधिकरणिकी क्रिया’ कैसे लग सकती है ? मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करना शरीरका दुष्प्रयोग नहीं किन्तु सुप्रयोग करना है अतः जो मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करता है उसे कायिकी क्रिया भी नहीं लग सकती । इस लिये भगवान् महावीर स्वामीने शीतल लेइया प्रकट करके जो गोशालरुकी प्राणरक्षा की थी उसमें भगवान् को क्रिया लगनेकी बात मिथ्या है । स्वयं भ्रम विध्वंसनकारने भी पृष्ठ १८१ पर लिखा है, —

“अथ अठे वैक्रिय समुद्रघात कर्ने पुद्गल काढे ते पुद्गल स जेतल क्षेत्रमें प्राण मूठ जीव सत्त्वनी घात हुये ते जाय शब्दमे ओल खाओ छै । ते पुद्गल यी विराधना हुये विणसू उत्कृष्ट पाच क्रिया कही इम वैक्रिय छविफोड्या पाच क्रिया कही । हिये तेमू

लेख्या फोड़े ते पाठ लिखिए छै” इसके आगे लिखते हैं कि “अथ इहा वैक्रिय समुद्रघात करिता पाच क्रिया कही तिमहिज ते जू समुद्रघात करिता पाच क्रिया जाणनी”

यह लिख कर जीतमलजीने जीव विराधना होनेसे उत्कृष्ट पाच क्रिया लगाना स्वीकार किया है परन्तु गोशालकृकी प्राण रक्षा करनेके लिये जो भगवान् ने शीतललेख्या प्रकट की थी उसमें कौन सी जीव विराधना हुई जिससे भगवान् को पाच क्रिया लगेगी ? यह बुद्धिमानोंको विचार लेना चाहिये । शीतल लेख्यासे किसी भी जीवकी विराधना नहीं होती बल्कि जीवोंको सुख शान्ति होती है फिर शीतल लेख्यामें उक्त पाच क्रियाओंके लगानेकी बात बिल्कुल मिथ्या है ।

पन्नागणा पद ३२ में तेजके समुद्रघात होनेसे पाच क्रियाओंका लगाना कहा है परन्तु उग्न तेजो लेख्याके प्रयोगमें ही तेजका समुद्रघात होता है शीतल लेख्याके प्रयोगमें नहीं अतः शीतल लेख्याके प्रयोगमें तेजके समुद्रघातका नाम लेकर उसमें उत्कृष्ट पाच क्रियाओंके लगानेकी स्थापना करना मिथ्या है ।

(बोल ३ समाप्त)

(प्रेरक)

शीतल लेख्या किसे कहते हैं यह सप्रमाण बतलाइये ।

(प्ररूपक)

“अगण्य कारुण्यवशादनुप्राह्यं प्राप्ति तेजो लेख्या प्रशमन प्रत्यल शीतल तेजो विशेष विमोचन सामर्थ्ये ।”

(प्रवचन सारोद्धार)

अतिगम्य दयालुताके कारण दया करने योग्य पुरुषके प्रति तेजो लेख्याको शान्त करनेमें समर्थ शीतल तेजो विशेषके छोड़नेकी शक्तिका नाम ‘तेजो लेख्या’ है । यह शीतल लेख्याका स्वरूप प्रवचन सारोद्धारमें बतलाया है । इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जहा उग्न तेजो लेख्या जलानेका काम करती है वहा शीतल लेख्या शान्तिका कार्य करती है । उग्न तेजो लेख्या जीव हिंसाके लिये चलाई जाती है और शीतल लेख्या जीव रक्षाके लिये चलाई जाती है । जैसे धूप और छाया, परस्पर एक दूसरेसे विरुद्ध गुण वाले हैं वसी तरह ये दोनों लेख्यायें परस्पर विरुद्ध गुण वाली हैं । अतः उग्न तेजो लेख्याके छोड़नेसे जीवोंकी विराधना होती है और जीव विराधना होनेसे उग्न तेजो लेख्यामें उत्कृष्ट पाच क्रिया लगती हैं परन्तु शीतल तेजो लेख्यासे किसी जीवकी विराधना नहीं होती बल्कि उससे जीवकी रक्षा होती है इसलिये जीव विराधनासे उत्पन्न होने वाली पूर्वोक्त क्रियाएँ

शीतल लेण्यामें नहीं लगती । अतः शीतल लेण्याके द्वारा भगवान्ने गोशालककी प्राण रक्षा की थी उसमें भगवानको उत्कृष्ट पाप क्रिया लगानेकी बात मिथ्या समझनी चाहिये ।

(बोल ४ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसन कर भ्रम विध्वंसन पृष्ठ ११८ पर लिखते हैं—

“अने जो लब्धि फोडी गोशालाने बचाया धर्म हुए तो केवल ज्ञान अपना पड़े गोशाल दोय साधा बाल्या त्याने क्यूं न बचायो । जो गोशालाने बचाया धर्म छै तो ते साधाने बचाया घगा धर्म हुवे । ठिबारे कोई कहे भगवान केवली था सो दोय साधार आयुषो आयो जाण्यो तिणसू न बचाया इमकहे तेहनो उत्तर जो भगवान केवल ज्ञानी आयुषो आयो जाण्यो तिणसू न बचाया तो और गोतमादिक छद्मस्थ साधु लब्धि धारी घणाइ हुन्ता त्वाने आयुषो आयारी खर नही त्या साधाने लब्धि फोडीने क्यूं न बचाया ।

(भ्र० पृ० १८९)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

केवल ज्ञान होने पर भगवान महावीर स्वामीने सुनश्चर और सर्वानुभूतिको नहीं बचाया था इस लिये मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करनेमें पाप बनाना मन्द बुद्धिका कार्य है । मूल पाठ तथा टीकामें कहीं भी नहीं कहा है कि भगवान महावीर स्वामीने मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करनेमें पाप जान कर सुनश्चर और सर्वानुभूतिको नहीं बचाया था बल्कि टीकाकारने यह साफ साफ लिख दिया है कि गोशालकके द्वारा सुनश्चर और सर्वानुभूतिका मरना अवश्यम्भावी था इस लिये भगवानने उनकी रक्षा नहीं की । वह टीका यह है—

“अवश्यम्भावि भावत्वा द्वेत्यवसेयम्”

अर्थात् गोशालकके द्वारा सुनश्चर और सर्वानुभूतिका मरना अवश्य होनहार था इस लिये भगवान उनकी रक्षा नहीं कर सके । यदि रक्षा करनेमें पाप होता तो टीकाकार यह स्पष्ट लिख देते कि जीवरक्षामें पाप होना देख कर भगवानने सुनश्चर और सर्वानुभूतिकी रक्षा नहीं की परन्तु टीकाकारने ऐसा नहीं कह कर सुनश्चर और सर्वानुभूतिको नहीं बचानेका कारण अवश्य होनहार बतलाया है अतः गोशालक को प्राणरक्षा करने से भगवानको पाप लगानेकी प्ररूपणा मिथ्या है ।

भ्रमविध्वसनकार मरते जीवकी रक्षा करनेमें पाप कहते हैं परन्तु किसी साधुको विहार करानेमें पाप नहीं कहते ऐसी दशमें भगवान् महावीर स्वामीने सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको वहासे विहार क्यों नहीं करा दिया ? क्योंकि केवल ज्ञानी होनेके कारण उन को यह ज्ञान तो अवश्य था कि गोशालक, सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको जलावेगा । ऐसी खबर रहने पर भी भगवान्ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको जो वहासे अन्यत्र विहार नहीं कराया इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि भगवान्को यह भी ज्ञात था कि सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिका गोशालककी क्रोधाग्निसे जल कर मरना अवश्य भावी भाव है । इसीसे भगवान्ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूति की रक्षा नहीं की थी, रक्षा करनेमें पाप होना जानकर नहीं ।

शास्त्रमें कहा है कि तीर्थ करों में ऐसा अतिशय होता है जिस से उनके निवास स्थानसे १५ योजन तक किसी प्रकारका उपद्रव नहीं होता । सभी प्राणी परस्पर वैर भावको छोड़ कर मित्र मित्रकी तरह रहते हैं । ऐसा विलक्षण भगवान्का अतिशय होते हुए भी गोशालकने भगवान् महावीर स्वामीके सम्मुख ही सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको जला दिया यह होनहारका ही प्रभाव था । अन्यथा भगवान्के अतिशयसे ही यह बात नहीं हो सकती थी । जो अवश्य होनहार था उसे भगवान् किस प्रकार मिटा सकते थे ? गोशालककी क्रोधाग्निसे सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिका जलना अवश्य होनहार जान कर भगवान्ने उनकी रक्षा के लिये कुछ प्रयत्न नहीं किया था मरते जीवकी रक्षामें पाप होना जानकर नहीं । अतः सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको नहीं बचानेका उदाहरण देकर जीवरक्षा करनेमें पाप बतलाना उक्त टीका तथा प्रश्न व्याकरणादि सूत्रों से विरुद्ध समझना चाहिये ।

भ्रमविध्वसनकार कहते हैं कि “केवल ज्ञानी होनेके कारण यद्यपि भगवान् सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिका आयुपूर्ण होना जानते थे तथापि गोतमादि छद्मस्थ मुनियोंको इस बातका ज्ञान न था । यदि रक्षा करनेमें धर्म था तो उन लोगोंने सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिकी रक्षा क्यों नहीं की ? इससे जाना जाता है कि जीवरक्षा करनेमें धर्म नहीं है” परन्तु भ्रमविध्वसनकारकी यह बात भी अज्ञानसे खाली नहीं है क्योंकि चौदह पूर्व धारी साधु छद्मस्थ होते हुए भी उपयोग लगाकर आयुपूर्ण होना जान सकते हैं । धर्मघोष मुनिने छद्मस्थ हो कर भी उपयोग लगा कर धर्मरुचि मुनिका सम्पूर्ण वृत्तांत जान लिया था और उनकी आत्माको सर्वार्थ सिद्धमें देखा था अतः गोतमादि मुनि सुनक्षत्र और सर्वानुभूति का आयु पूर्ण होना नहीं जानते थे यह कहना भी अज्ञानमूलक ही है ।

(बोल ५ वां समाप्त)

(श्रेक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १८९ पर भगवती सूत्रकी टीका लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ दीकामे पिण इम करो ते गोशालानो रक्षग भगवन्ते कियो ते सराग पणो करी अने सुनअन सर्वाभूतिनो रक्षग न करस्ये ते वीनराग पणो करो एतो गोशालाने बचायो ते सराग पणो फखो पिण धर्म न कखो उ सराग पणाना अशुद्ध कार्य्यमे धर्म किम कहिए" (अ० पृ० १८९।१९०)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सरागपनेके कार्य्यमें धर्म नहीं होता यह भ्रमविध्वसनकारका कथन अज्ञान से परिपूर्ण है। अपने धर्म, धर्माचार्य्य और दया आदि उत्तम गुणोंमें राग रखना भी सरागनाका ही कार्य्य है परन्तु इससे पाप होना शास्त्रमें नहीं कहा है बल्कि शास्त्रमें इसकी प्रशंसा की है। शास्त्रमें ये वाक्य मिलते हैं—

"धम्मायरियापेमाणुरायरत्ता" "अट्टिमिज्जा पेमाणुरायरत्ता" "वीनधम्मा-
नुरायरत्ता" इनके क्रमशः अर्थ ये हैं—

अपने धर्माचार्य्यमें प्रेमानुरागसे रक्त। हठी और मज्जाओंमें प्रेम और अनुराग से रगे हुए। धर्मके तीन अनुरागसे रगे हुए।

ये बातें शास्त्रमें प्रशंसाके लिये कही गई हैं परन्तु धर्माचार्य्यमें प्रेमानुराग रखना, अपने धर्ममें तीन अनुराग रखना और हठी तथा मज्जाओंमें आचार्य्यके प्रति प्रेमानुरागसे रक्त होना सरागनाके ही कार्य्य हैं इसलिये भ्रमविध्वसनकार के हिसाबसे इन कार्य्योंमें भी पाप ही होना चाहिये क्योंकि ये सरागनाके ही कार्य्य हैं। शास्त्रकार ने तो इन कार्य्योंको पाप नहीं किन्तु धर्म जान कर इनको प्रशंसा की है अतः सरागनाके सभी कार्य्यों में पाप बनाना अज्ञानका परिणाम है।

शास्त्रमें हिंसा, झूठ, चोरी और व्रभ्रिचार आदिमें राग रखना घुरा है पाप है परन्तु धर्म, धर्माचार्य्य, अहिंसा, सत्य, तप, संयम और जीव दया आदिमें राग रखना धर्म है पाप नहीं है।

भिक्षुयश रमायन नामक ग्रन्थमें जीतमलजीने लिखा है कि—“रुड चित्त मेया रहा, वगपट् सत वदीत हो। जान जीव छगि जाणियो, परम मादो मादी पीति हो।”

भ्रमविध्वसनकार मरते जीवकी रक्षा करनेमें पाप कहते हैं परन्तु किसी साधुको विहार करानेमें पाप नहीं कहते ऐसी दशामें भगवान् महावीर स्वामीने सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको वहासे विहार क्यों नहीं करा दिया ? क्योंकि केवल ज्ञानी होनेके कारण उन को यह ज्ञान तो अवश्य था कि गोशालरू, सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको जलावेगा । ऐसी खबर रहने पर भी भगवान्ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको जो वहासे अन्यत्र विहार नहीं कराया इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि भगवान्को यह भी ज्ञात था कि सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिका गोशालरूकी क्रोधाग्निसे जल कर मरना अवश्य भावी भाव है । इसीसे भगवान्ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूति की रक्षा नहीं की थी, रक्षा करनेमें पाप होना जानकर नहीं ।

शास्त्रमें कहा है कि तीर्थ करों में^१ ऐसा अतिगय होता है जिस से उनके निवास स्थानसे १५ योजन तक किसी प्रकारका उपद्रव नहीं होता । सभी प्राणी परस्पर वैर भावको छोड़ कर मित्र मित्रकी तरह रहते हैं । ऐसा विलक्षण भगवान्का अतिशय होते हुए भी गोशालरूने भगवान् महावीर स्वामीके सम्मुख ही सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको जला दिया यह होनहारका ही प्रभाव था । अन्यथा भगवान्के अतिशयसे ही यह बात नहीं हो सकती थी । जो अवश्य होनहार था उसे भगवान् किस प्रकार मिटा सकते थे ? गोशालरूकी क्रोधाग्निसे सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिका जलना अवश्य होनहार जान कर भगवान्ने उनकी रक्षा के लिये कुछ प्रयत्न नहीं किया था मरते जीवकी रक्षामें पाप होना जानकर नहीं । अतः सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको नहीं बचानेका उदाहरण देकर जीवरक्षा करनेमें पाप बतलाना उक्त टीका तथा प्रदत्त व्याकरणादि सूत्रों से विरुद्ध समझना चाहिये ।

भ्रमविध्वसनकार कहते हैं कि “केवल ज्ञानी होनेके कारण यद्यपि भगवान् सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिका आयुपूर्ण होना जानते थे तथापि गोतमादि छद्मस्थ मुनियोंको इस बातका ज्ञान न था । यदि रक्षा करनेमें धर्म था तो उन लोगोंने सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिकी रक्षा क्यों नहीं की ? इससे जाना जाता है कि जीवरक्षा करनेमें धर्म नहीं है” परन्तु भ्रमविध्वसनकारकी यह बात भी अज्ञानसे खाली नहीं है क्योंकि चौदह पूर्व धारी साधु छद्मस्थ होते हुए भी उपयोग लगाकर आयुपूर्ण होना जान सकते हैं । धर्मघोष मुनिने छद्मस्थ हो कर भी उपयोग लगा कर धर्मरुचि मुनिका सम्पूर्ण वृत्ताव जान लिया था और उनकी आत्माको सर्वार्थ सिद्धमें देखा था अतः गोतमादि मुनि सुनक्षत्र और सर्वानुभूति का आयु पूर्ण होना नहीं जानते थे यह कहना भी अज्ञानमूलक ही है ।

(बोल ५ वां समाप्त)

न सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिकी रक्षा नहीं करने का सिद्धातभूत कारण बतलाते हुए “अवश्यमाविभावत्वाम्” यह लिखा है । यदि जीवरक्षा करनेमें पाप होता तो टीकाकार ऐसा क्यों लिखत वह साफ साफ लिख देते कि जीवरक्षा करनेमें पाप था इसलिये भगवान् ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिकी रक्षा नहीं की । परन्तु टीकाकारने यह नहीं लिख कर सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिका मरना अवश्य होनहार बतलाया है, इससे यही बात सिद्ध होती है कि गोशालककी क्रोधाग्निसे सुनक्षत्र और सर्वानुभूति का मरण अवश्य होनहार जान कर भगवान् ने उन की रक्षा नहीं की थी । अतः उक्त भगवनी की टीका का नाम लेकर मरते जीव की रक्षा करने में पाप बताना अज्ञानमूलक है ।

(चोल छद्वा समाप्त)

(प्रेरक)

कोई कोई कहते हैं कि जैसे पानीके द्वारा आग बुझानेसे हिंसादि रूप आरम्भ होता है उसी तरह शीतल लेइयाके द्वारा तेजो लेइयाको बुझानेमें भी आरम्भ दोष होता है इस लिये शीतल लेइयाके द्वारा भगवान् ने जो तेजो लेइयाको शान्त करके गोशालककी प्राण रक्षा की थी इसमें उनको आरम्भ दोष लगा था ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

शीतल लेइयाके द्वारा तेजो लेइयाके शान्त करनेमें आरम्भ दोष बतलाना शास्त्र नहीं जाननेका फल है । भगवती शतक ७ उद्देशा १० के मूल पाठमें उष्ण तेजो लेइयाके पुद्गलोंको अचित्त कहा है । वह पाठ यह है—

“कपरेण भन्ते ! अचिन्तावि पोगला व भासन्ति जाव पभासन्ति ? कालो दाई ! कुद्धस्स अणगारस्स तेयलेस्सा निसद्धास-
माणो दूरंगता दूरं निवत्ताइ देसंगता देसं निवत्ताइ जहि जहि चणं सा
निवत्ताइ सहि सहि चणं ते अचिन्तावि पोगला व भासन्ति जाव
पभासन्ति ।

(भगवती शतक ७ उ० १०)

अर्थ —

(प्रदन) हे भगवन् ! कौनसे अचित्त पुद्गल प्रकाश करते हैं ?

इस पद्यमे जीतमलजी कहते हैं कि छ साधुओंका जन्म भर भीषणजीमें पाम प्रेम था । क्या यह सरागताका काय्ये नहीं है ? यदि है तो जीतमलजी और उनके अनुयायी इमे पाप क्यों नहीं मानते ? यदि अपने धर्माचार्य्य और धर्ममें राग रखना सरागताका काय्ये होने पर भी पाप नहीं है तो फिर जीवदयामे राग रखना पापका काय्ये कैसे हो सकता है ? । अतः सरागताके सभी काय्यों को पाप धतला कर भगवान् महावीर स्वामीने दयाके प्रेमसे जो ग गालककी प्राणरक्षा की थी उसमें पाप बडाना नितान्त मिथ्या समझना चाहिये ।

भगवती सूत्रकी जिस टीकाको लिख कर जीतमलजीने भ्रम फैलाया है उसे लिख कर उसका अर्थ किया जाता है जिससे जनताका भ्रम दूर हो जाय ।

“इहच यद् गोशालकस्य संरक्षणं भगवता कृतं तत्सरागत्येन दयैकरसत्वाद्भगवत् । यच्च सुनक्षत्रं सर्वानुभूतिं मुनिषु गवयोर्न करिष्यति तद्वीतरागत्येन लब्धयुक्तं जीवकृत्वा दृश्यं भावि भाव त्वाद्देत्यवसेयम्” (भग० टीका)

अर्थ —

यहा भगवान् ने जो गोशालककी प्राणरक्षा की थी इसका कारण यह है कि सराग सयमी होनेके कारण भगवान् बडे भारी दयाके प्रेमी थे । सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिकी रक्षा जो नहीं करेंगे इसका कारण वीतराग होनेसे लब्धिका प्रयोग न करना, और गोशालकके द्वारा उनके मरणका अवश्य होनहार होना समझना चाहिये । यह उक्त टीकाका अन्तरार्थ है ।

इसी टीकाका नाम लेकर जीतमलजी जीवरक्षामे पाप धतलाते हैं परन्तु इस टीका मे जीवरक्षा करनेसे पाप होना नहीं कहा है । यहा लिखा है कि—“भगवान् ने दयाम परमानुराग होनेके कारण गोशालकी रक्षा की थी” । दयामें अनुराग रखना धर्म है पाप नहीं है इसलिये गोशालकी प्राणरक्षा करनेसे भगवान् को धर्म हुआ पाप नहीं हुआ ।

सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिकी रक्षा नहीं करनेका कारण भी टीकाकारने जीवरक्षामे करनेमें पाप होना नहीं कहा है किन्तु उस समय वीतराग होनेके कारण भगवान् लब्धिका प्रयोग नहीं करना, और अवश्य होनहार कारण बतलाया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि जीवरक्षामें पाप जानकर भगवान् ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिकी रक्षाका प्रयत्न नहीं छोडा था किन्तु वीतराग होने के कारण वह लब्धिका का प्रयोग नहीं करते थे । यद्यपि लब्धिका प्रयोग किये बिना भी वहासे सुनक्षत्र और सर्वानुभूति को विहार आदि कराकर भगवान् उनकी रक्षा कर सकते थे तथापि यह बात अवश्य होने वाली थी इसलिये भगवान् ने उनकी रक्षाके लिये प्रयत्न नहीं किया । अतएव टीकाकार

इस टीकाका नाम लेकर शीतल लेख्याका प्रयोग करनेमें प्रमाद सेवन बतलाना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये ।

(बोल ८ वां)

वास्तवमें भीषणजी और जीतमलजीका लब्धिकी चर्चा करना व्यर्थ है । लब्धि का प्रयोग न करके चाहे दूसरे उपायसे भी जीव रक्षा की जाय तो भी ये लोग उसमें पाप ही कहते हैं । किसी मरते प्राणी पर दया लाकर उसकी रक्षा करनेको ये लोग मोह अनुकम्पा, सावध अनुकम्पा और एकान्त पाप कहते हैं । भगवान महावीर स्वामी लब्धि का प्रयोग न करके यदि उपदेश द्वारा भी गौशालकी प्राण रक्षा करते तो भी इनके मतानुसार भगवानको एकान्त पाप ही होता । भीषणजीने लिखा है कि जीवरक्षा करनेके अभिप्रायसे उपदेश देना जैन धर्मका सिद्धान्त नहीं है यह अन्य तीर्थीयोंका सिद्धान्त है' जैसे कि—“वेई एक अज्ञानी इमि कहे, छ कायारा काजे हो देवा धर्म उपदेश । एकर जीवने समझाविया, मिट जावे हो घणा जीवारा क्लेश । छ कायरे घरे शान्ति हुवे, एखा भापे हो अन्य तीर्थी धमे । त्या भेद नपायो जिन धर्मरो, ततो भूल्या हो उदय जाया अशुभ कर्म । (शि० हि० शि० ढाल ५)

अर्थात् कई अज्ञानी कहते हैं कि छ कायके जीवोंके घरमें शान्ति होनेके लिये वे धर्मका उपदेश करते हैं । वे कहते हैं कि “एक जीवको समझा देनेसे बहुत जीवोंका क्लेश मिट जाता है’ परन्तु छ कायके घरोंमें शान्ति होनेके लिये उपदेश देना जैन धर्मका सिद्धान्त नहीं है । यह अन्य तीर्थी धर्मका सिद्धान्त है अत वे भूले हुए हैं और उनको अशुभ कर्मका उदय हुआ है ।

इस ढालमें माफ साफ भीषणजीने मरते जीवकी रक्षाके लिये उपदेश देना जैन धर्मसे विरुद्ध बतलाया है और अ० पृ० १२० पर जीतमलजीने लिखा है—

“श्री तीर्थंकर देव पोताना कम खपावा तथा अनेराने तारिवाने अर्थे उपदेश देवे इम कए पिंग जीव घचावा उपदेश देवे इम कह्यो नहीं”

यह लिख कर जीतमलजीने जीव रक्षाके लिये उपदेश देना जैन धर्मसे विरुद्ध बतलाया है ऐसी दशामें इन लोगोंका लब्धिकी चर्चा करना व्यर्थ है जब कि उपदेश द्वारा भी जीव रक्षा करना इनके मतमें पाप है तब फिर दूसरे उपायोंसे तो कहना ही क्या है वह तो अवश्य ही एकान्त पाप है । शीतल लेख्याके प्रयोग करनेमें जो इन्होंने उत्कृष्ट पाच क्रियाका छाना बतलाया है वह केवल मूढ़ लोगोंको बढ़ाने मानके लिये है ।

(उत्तर) हे कालोदायिन् ! ओषित हुए अनगारसे फे की हुई तेजो ऐश्या, दूर तक फे की हुई दूर और निकटमें फेंकी हुई निकटमें जाकर पड़ती है । जहा जहा घट तेजो ऐश्या पड़ती है वहां वहा उसके अचित्त पुद्गल प्रकाश करते हैं ।

यहा भगवतीके मूल पाठमे तेजो ऐश्याके पुद्गलोंको अचित्त कहा है इस लिये अग्निके सचित्त पुद्गलोका दृष्टान्त देकर शीतल ऐश्याके द्वाग इन अचित्त पुद्गलोंको शान्त करनेमे आरम्भ दोष बतलाना शास्त्र नहीं जाननेका फल समझना चाहिये ।

(बोल ७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वसन कार भ्रम विध्वसन पृष्ठ १७८ के ऊपर भगवती शतक २० उ० ९ की टीका लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ टीकामें हम कह्यो एलब्धिफोडेते प्रमादनो सेनबो ते आलोया विना चारि-
वनी आराधना न थी ते माटे विराधक कह्यो । इहा पिण लब्धिफोड्या रो प्रायश्चित्त
कह्यो । इहा पिण लब्धि फोड्या धर्म न कह्यो । ठाम ठाम लब्धि फोडनी सूत्रमें बर्जी छै
तो भगवन्त छट्टे गुण ठाणे थका तेजू लब्धि फोडनीने गोशालाने बचायो तिणमें धर्म किम
कहिये ।

(भ० पृ० १८७)

इमका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

भगवती शतक २० उद्देशा ९ की टीकामे जघाचरण और विद्याचरण लब्धिके
विषयमें विचार किया गया है दूसरी लब्धिके विषयमे नहीं । वहा जघाचरण और विद्या-
चरण लब्धिका प्रयोग करना प्रमादका सेवन कहा है शीतल ऐश्याका प्रयोग करना प्रमाद
का सेवन नहीं कहा है । तथापि यदि कोई दुराग्रह वग सभी लब्धियोंका प्रयोग करना
प्रमादका ही सेवन करना बतलावे तो उसे कहना चाहिये कि—शास्त्रमे ज्ञान लब्धि,
दर्शन लब्धि, चरित्र लब्धि, क्षीर, मधु, सर्पिरासत्र लब्धि भी कह्यो गई हैं इनका प्रयोग
करना भी तुम प्रमादका सेवन क्यों नहीं मानते ? यदि कह्यो कि इनका प्रयोग करना
प्रमादका सेवन करना नहीं है किन्तु गुग है तो उसी तरह शीतल ऐश्याका प्रयोग करना
भी गुग ही है प्रमादका सेवन करना नहीं है । भगवती सूत्रकी उक्त टीकामे जघाचरण
और विद्याचरण लब्धिका प्रयोग करना ही प्रमादका सेवन करना कहा है शीतल ऐश्या
लब्धि, ज्ञान, दर्शन, चारित्र लब्धिका प्रयोग करना प्रमादका सेवन नहीं कहा है अतः

इस टीकाका नाम लेकर शीतल लेख्याका प्रयोग करनेमें प्रमाद सेवन बतलाना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये ।

(बोल ८ वां)

वास्तवमें भीषणजी और जीतमलजीका लब्धिकी चर्चा करना व्यर्थ है । लब्धि का प्रयोग न करके चाहे दूसरे उपायमें भी जीव रक्षा की जाय तो भी ये लोग उसमें पाप ही कहते हैं । किसी मरते प्राणी पर दृष्ट लाकर उसकी रक्षा करनेको ये लोग मोह अनुकम्पा, सावय अनुकम्पा और एकान्त पाप कहते हैं । भगवान महावीर स्वामी लब्धि का प्रयोग न करके यदि उपदेश द्वारा भी गोशालकी प्राण रक्षा करते तो भी इतने मतानुसार भगवानको एकान्त पाप ही होता । भीषणजीने लिखा है कि जीवरक्षा करनेके अभिप्रायसे उपदेश देना जैन धर्मका सिद्धान्त नहीं है यह अन्य तीर्थीयोंका सिद्धान्त है जैसे कि—“केई णरु अज्ञानी इमि कहे, छ कायारा काजे हो देवा धर्म उपदेश । एकरु जीवने समझाविया, मिट जावे हो घणा जीवारा कलेश । छ कायरे घरे शान्ति हुवे, एहवा भाये हो अन्य तीर्थी धर्म । त्या भेइ नपायो जिन धर्मरो, तैतो भूल्या हो उदय जाया अशुभ कर्म । (शि० द्वि० शि० ढाल ५)

अर्थात् कई अज्ञानी कहते हैं कि छ कायके जीवके घरमें शान्ति होनेके लिये वे धर्मका उपदेश करते हैं । वे कहते हैं कि “एक जीवको समझा देनेसे बहुत जीवोंका कलेश मिट जाता है” परन्तु छ कायके घरोंमें शान्ति होनेके लिये उपदेश देना जैन धर्मका सिद्धान्त नहीं है । यह अन्य तीर्थी धर्मका सिद्धान्त है अत वे भूले हुए हैं और उनको अशुभ कर्मका उदय हुआ है ।

इस ढालमें साफ साफ भीषणजीने मरते जीवकी रक्षाके लिये उपदेश देना जैन धर्मसे विरुद्ध बतलाया है और भ० पृ० १२० पर जीतमलजीने लिखा है—

“श्री तीर्थंकर देव पोताना कम रापाना तथा अनेराने सारिवाने अर्थ उपदेश देवे हम क्यू पिण जीव बचाना उपदेश देवे हम कह्यो नहीं”

यह लिख कर जीतमलजीने जीव रक्षाके लिये उपदेश देना जैन धर्मसे विरुद्ध बतलाया है ऐसी दशामें इन लोगोंका लब्धिकी चर्चा करना व्यर्थ है जब कि उपदेश द्वारा भी जीव रक्षा करना इनके मतमें पाप है तब फिर दूसरे उपायोंसे तो कलेश ही क्या है वह तो अवश्य ही एकान्त पाप है । शीतल लेख्याके प्रयोग करनेमें जो इन्होंने बतलाने का प्रयत्न किया है वह केवल मूढ़ लोगोंको बहकाने मात्रके लिये है ।

शीतल लेड्याके प्रयोग करनेमें उत्कृष्ट पाच क्रिया नहीं लगती है यह इस प्रकारके
 विचारके साथ बताया जा चुका है अतः शीतल लेड्याका प्रयोग करके मग्ने गीरही
 रखा करनेमें पाच क्रिया लगनेका दोष बनलाना मिथ्या दृष्टियोंका कार्य समझना
 चाहिये ।

(इति लब्धधिकारः)



(अथ प्रायश्चित्ताद्यधिकारः)

(प्रेरक)

मरते जीवकी रक्षा करनेका समर्थन करने वाले मुनियोंका कहना है कि भगवान महावीर स्वामीको यदि गोशालककी रक्षा करनेमें पाप लगा होता तो उस पापकी निवृत्ति के लिये भगवान प्रायश्चित्त भी करते परन्तु इसके लिये भगवानका प्रायश्चित्त करना शास्त्रमें नहीं कहा है अतः शीतल लेइयाकी प्रकट करके गोशालककी रक्षा करनेमें भगवान पर पापका आरोप करना मिथ्या है । इस कथनका खण्डन करनेके लिये जीतमलजी लिखते हैं—

“अथ ईहा सीहो अनगार ध्यात ध्याता मनमें मानसिक दुःख अत्यन्त उपनो मालुया कच्छमे जाई मोटे मोटे शब्दे रोयो बाग पाही प्हवो कखो पिण तेहनो प्रायश्चित्त चाल्यो नहीं पिण लियो इज होसी तिम भगवन्त लब्धि कोही गोशालाने बंधायो तेहनी प्रायश्चित्त चाल्यो नहीं पिण लियो इज होसी”

(अ० पृ० १९६)

इसी तरह भ्रम० पृ० २०८ तक अति मुक्त अनगार रहनेमें, घम घोषका शिष्य सुभगल अनगार, और सेलक इन लोगोका उदाहरण देकर जीतमलजीने कहा है कि उक्त साधुओंने जैसे प्रायश्चित्तके योग्य कार्य किये थे परन्तु शास्त्रमें इनका प्रायश्चित्त करना नहीं कहा है वसी तरह भगवान महावीर स्वामीका भी प्रायश्चित्त करना नहीं कहा है परन्तु जैसे उक्त साधुओंने प्रायश्चित्त किया ही होगा वसी तरह भगवानने भी प्रायश्चित्त किया होगा ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

शास्त्रके विधिवादमें जिस कार्यके करनेसे पाप होना कहा है उन्हीके अनुष्ठानसे पाप होता है और उन्हीके लिये प्रायश्चित्त भी कहा गया है परन्तु जिस कार्यके करनेसे स्वकार पाप नहीं बतलाते और प्रायश्चित्तका विधान भी नहीं करते उस कार्यमें पाप होना और उसके लिये प्रायश्चित्तकी कल्पना करना अज्ञानका परिणाम है । शीतल लेइया प्रयोग करनेसे शास्त्रमें कहीं भी पाप होना नहीं कहा है और इसके लिये कहीं प्रायश्चित्तका विधान भी नहीं है ऐसी दशामें शीतल लेइयाका प्रयोग करनेसे भगवानको पाप होने और उस पापकी निवृत्तिके लिये उनके प्रायश्चित्त करनेकी कल्पना करना निमृछ

समझना चाहिए । शीतलश्रेयाको प्रकट करके गोशालाकी प्रागरक्षा करनेसे भगवान्को पाप हुआ ही नहीं धर्म हुआ फिर वह प्रायश्चित्त क्यों करते ? जिस जिसने शास्त्रानुसार प्रायश्चित्तका कार्य किया था उसके प्रायश्चित्त करनेका वर्णन यदि शास्त्रमें नहीं है तो उसकी कल्पना की जा सकती है परन्तु जिसने प्रायश्चित्त का अन्य कार्य ही नहीं किया था उसके प्रायश्चित्त करने की कल्पना तो विलगुल निराधार और उन्मत्त प्रलापकी तरह सर्वथा अनादरणीय है ।

जीतमलजीने भ्रम० पृ० २०८ के अनन्तर जो निय ठाका विचार किया है उसके हिसाबसे भी भगवान् महावीर स्वामी दोषका अप्रतिसेवी ही सिद्ध होते हैं क्योंकि कपाय कुशील निप्र ५ मूल गुण और उत्तर गुणका अप्रतिसेवी होता है और छद्मस्थ तीर्थ का दीक्षा लेनेके बाद कपाय कुशील ही होते हैं अतः भगवान् महावीर स्वामीको दोषका प्रतिसेवी बतलाना मित्या है ।

बोल १ समाप्त

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २१४ पर लिखते हैं—

“एकपाय कुशील नियंठाने अपडिसेवी कह्यो ते अप्रमत्त तुल्य अपडिसेवी जणाय छै । कपाय कुशीलमें गुण ठाणा ५ छै छद्दायी दगमा ताई तिहा मातमें आठम नवमें दगमे गुणठाणे अत्यन्त विशुद्ध निर्मल चारित्र छै । ते अपडिसेवी छै । अने छट्टे गुणठाणे अत्यन्त विशुद्ध निर्मल परिणामनो धनी शुभयोग में प्रवर्त छै ते अपडिसेवी छै”

इत्यादि लिख कर भगवान् महावीर स्वामीको अत्यन्त विशुद्ध निर्मल परिणाम का धनी नहीं मान कर उनको दोषका प्रतिसेवी बतलाते हैं ।

इसका क्या समाधान ?

(प्रलपक)

भ्रमविध्वसनकार अपने इस लेखमें पष्ठ गुण स्थान वाले निर्मल परिणामके धनी को दोषका अप्रतिसेवी बतलाते हैं इसलिये इनके इस लेखसे भी भगवान् महावीर स्वामी दोषके अप्रतिसेवी ही सिद्ध होते हैं क्योंकि आचाराग सूत्रके मूल पाठमें छद्मस्थ-वस्थामें भी भगवान् महावीर स्वामीको अत्यन्त विशुद्ध निर्मल परिणामका धनी कहा है । वह आचारागका पाठ यह है—

“तएणं समणे भगवं महावीरं घोसिट्ठचत्तदेहे अणुत्तरेणं
आलणं अणुत्तरेणं विहारेणं एवं संजमेणं पग्गहेणं संवरेणं तवेणं
वमवेर वासेणं खंतिए मुत्तिए सम्मीहए गुत्तिए तुट्ठीए ठाणं कम्मेणं
सुवरिय फलनिब्बाण मुत्तिमग्गेणं अप्पाणं भावे माणे विहरइ । एवं
विहरमाणस्स जेकेइ उवसग्गा समुपज्जंति दिब्बावा माणुसावा तिरि-
च्छियावा ते सब्बे उवसग्गे समुपन्ने समाणे अणाउले अव्वहिए
अदीण माणसे तिविह मणवयण कायगुत्ते सम्म सइइ खमइ तनि-
क्खइ अहि आरोइ तओणं समणस्स भगवो महावीरस्स एणं विहा-
रेणं विहर माणस्स वारस्स वासा विक्कंता तेरस्स सम्मस्सप वासस्स
परियाये वट्टमाणस्स”

(आचागग श्रु० २ चूलिका ३ भावनाध्ययन)

अथ —

इसके अनन्तर अपने धाराकी समता छोड़ें हुए भगवान् महावीर स्वामी अनुत्तर गाल्य
नकान) से, अनुत्तर विहार से, अनुत्तर संयम से, अनुत्तर प्रज्ञा से, अनुत्तर रात्र से, अनुत्तर
पक्षे, अनुत्तर प्रज्ञाचर्य से, अनुत्तर क्षाति से, अनुत्तर त्याग से, अनुत्तर सामगि से, अनुत्तर गुप्ति
से, अनुत्तर तुष्टि से, अनुत्तर स्थिति से, अनुत्तर गमन से, सम्प्रज्ञा आचरण से, मोक्षरक्षा प्राप्ति
पाने वाले मुक्ति मार्गसे अपनी आत्माको पार्य करके हुए विचरते थे । इस प्रकार विचरते हुए
भगवान्को जो कोई दिग्ग मानुष और तिर्य्यक् सम्प्रज्ञा उन्मत्त होता था उसे अनाल्य
नहीं पकड़ते हुए) और अग्नि मानस होकर सब लेते थे । इस प्रकार विचरते हुए भगवान्
चारह वर्ष व्यतीत हुए पश्चात् तेरहवें वर्षके पदार्थमें विद्यमान होने पर भगवान्को केवल ज्ञान
मग्न हुआ । यह ऊपर लिखे हुए पाठका अर्थ है ।

इस पाठमें भगवान् महावीर स्वामीके संयम, प्रज्ञाचर्य, तप, क्षाति आदि गुण
अनुत्तर यानी सयसे उत्कृष्ट कहे गए हैं इससे सिद्ध होता है कि भगवान् महावीर
स्वामी उच्च श्रेणीके कयाय कुशील निमग्न थे वह दोषके प्रतिसेवी नहीं थे अन्यथा इस
उक्त उनके तप प्रज्ञाचर्य और संयम आदि अनुत्तर कैसे कहे जाते ? अतः भगवान्
महावीर स्वामी पद्य गुण स्थान में अत्यन्त विशिष्ट, निर्मल परिणाम के धनी होने के
कारण दोष के अप्रतिसेवी थे प्रतिसेवी नहीं थे । तथापि गोशालकको रक्षा करनेके कारण

जीतमलजी जो भगवान् को दोषका प्रतिसेवी बतलाते हैं यह इनका जीवरक्षक साथ द्रोह रत्नका फल समझना चाहिये ।

(बोल २ समाप्त)

(प्रेरक)

भगवान् महावीर स्वामीने छद्मस्थावस्थामे कभी भी दोषका प्रतिसेवन नहीं किया था इस विषयमे कोई शास्त्रका प्रमाण बतलाइए ?

(प्ररूपक)

आचाराग सूत्रमे स्पष्ट लिखा है कि भगवान् महावीर स्वामीने छद्मस्थावस्थामे स्वल्प भी पाप और एकवार भी प्रमाद नहीं किया था । वह गाथा यह है —

“णच्चाणं सो महावीरे णोविणं पावणं सयमकासी
अन्नेहिवा कारित्था करंतवि नाणुजाणिस्था”

(आचाराग श्रु० १ अ० ९ उ० ४ गाथा ८)

(टीका)

“किञ्च ज्ञात्वा हेयोपादेयं स महावीर कर्मप्रेरणसहिष्णु नाऽपिच पापकं कम संशय मकार्षीत् । नाप्यन्यैरचीकृत । नचक्रियमाण मपरैरनुज्ञातवान्”

अर्थात् त्यागने और संग्रह करने योग्य वस्तुको जानकर कमकी प्रेरणाको सहित करनेमें समर्थ भगवान् महावीर स्वामीने न तो स्वयं पाप, कर्म किया न दूसरसे कराया और करते हुएको अच्छा जाना । यह उक्त गाथाका टीकानुसार अर्थ है ।

इसमें स्पष्ट लिखा है कि भगवान् महावीर स्वामीने छद्मस्थावस्थामे न स्वयं पाप किया न दूसरसे कराया और न पाप करते हुंएकी अच्छा जाना । अतः गोशालक की प्राणरक्षा करनेसे भगवान् को पाप लगने की प्ररूपणा मिथ्या समझनी चाहिये ।

यदि गोशालककी प्राणरक्षा करना पाप होता तो इस गाथामे यह कैसे कहा जाता कि भगवान् ने छद्मस्थावस्थामें कभी भी पापका सेवन नहीं किया था । तथा आगे चल कर इसी उद्देशकी १५ वीं गाथा में कहा है कि भगवान् महावीर स्वामीने छद्मस्थावस्थामे कभी भी प्रमादका सेवन नहीं किया था । वह गाथा यह है —

“अकसाई विगयगेही य सहस्वेसु अमुच्छि प झाई ।

छउमत्थोऽवि परक्कम माणो नण्णमायं ससंवि कुब्बोस्था”

(आचाराग श्रु० १ अ० ९ उ० ४ गाथा १५)

(टीका)

“नक्रपायी अक्रपायी तदुदयापादित भ्रूकुट्यादि कार्या भावात् । तथा विगता गृद्धि गार्घ्य यस्यासौ विगत गृद्धिः तथा शब्दरूपादिषु इन्द्रियाद्येषु अमूर्च्छितो ध्यायति मनोज्ञरूपेषु नराग मुपयाति नापीतरेषु द्वेषशमोऽभूत् । तथा छद्मनिष्ठान दशेना वरणीय मोहनीयान्तरायात्मके तिष्ठतीति उच्यते इत्येव भूतोऽपि विविध मनेक प्रकार अनुष्ठाने पराक्रममागो प्रमाद कथायादिक सकृदपि न कृतवानिति”

अर्थ —

जिसमे कपाय नहीं है वह अक्रपायी कहलाता है । भगवान् महावीर स्वामी अक्रपायी थे क्योंकि कपायके उद्देश्यसे उन्होंने किसी पर भी अपनी भ्रूकुटि टेढ़ी नहीं की थी । भगवान् महावीर स्वामी, अनुकूल शब्द आदि विषयोंमें राग और प्रतिकूलमें द्वेष नहीं करते थे । वह शब्दादि विषयोंमें आसक्त नहीं होकर रहते थे । यद्यपि भगवान् छद्मरूप यानी ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मों में स्थित थे तथापि वह विविध प्रकारके शुभ अनुष्ठानमें ही प्रवृत्त रहते थे । उन्होंने एक बार भी कथायादि रूप प्रमादका सेवन नहीं किया था । यह इस गाथाका टीकानुसार अर्थ है ।

इसमें छद्मस्थावस्थामें भगवान् महावीर स्वामीका एक बार भी प्रमादका सेवन करना वर्जित किया है अतः ‘जो लोग गोशालरुकी प्राणरक्षाको प्रमादका सेवन बतलाते हैं वे प्रत्यक्ष उत्सून चाक्री मिथ्यादृष्टि हैं उनके भ्रमजालमें पड़ कर भगवान् महावीर स्वामीको प्रमादका सेवी बतलाना अज्ञान है ।

[बोल ३ समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविचलनकार आचाराग सूत्रको इस गाथाको लिख कर इसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ ईहा गणधरा भगवान् गुण वर्णन कीध त्यागुणाम् अवगुणाने किम कहे गुणोंमें तो गुणाने इज कहे (अ० पृ० २३९) ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

आचाराग सूत्रकी पूर्वोक्त गाथाओंमें भगवान् गुणोंका वर्णन मात्र ही नहीं किन्तु स्वल्प भी पाप करने और एक बार भी प्रमाद सेवन करने रूप दोषका निषेध भी किया है । अतः इन गाथाओंमें बल-भगवान् गुणोंका वर्णन मात्र बतलाना

मिथ्या है । यदि गोशालरुकी प्रागरक्षा करना, प्रमाद सेवन और पापाचरण होता तो इन गाथाओमें भगवान् के पापाचरण और प्रमाद सेवन करने का खण्डन कैसे किया जाता ? अतः गोशालरुकी प्राण रक्षा करनेसे भगवान् को पापी और प्रमादी कहना अज्ञान है । यदि कोई कहे कि ये गाथायें गणधरोकी कही हुई हैं तोर्थ कभी नहीं । इस लिये ये प्रमाण नहीं हो सकतीं तो उसे कहना चाहिये कि गणधरोने तीर्थधरोसे सुन कर ही शास्त्रकी रचना की है । आर्य्य सुधर्मा स्वामीने भगवान् महावीर स्वामीसे जो कुछ सुना था वही इस प्रकरणमें कहा है इस लिये इन गाथाओंको नहीं मानना साक्षात् केवलीके वाक्यका उल्लङ्घन रूप मिथ्यात्वका स्पर्श करना है । आचाराग सूत्रके इसी अध्ययनके आरम्भमें लिखा है—

“सुर्यमे आउस तेग भगवया एवमकसाइ”

अर्थात् हे आयुष्मान् ! भगवान् महावीर स्वामीने ऐसा कहा था यह मेने सुना है तथा इस नवम अध्ययनके आरम्भमें सुधर्मा स्वामीने जब्बू स्वामीसे यह प्रतिज्ञा करत हुए कहा है कि —“अहा सुर्य चइसामि” अर्थात् मैंने जैसा सुना है वैसा ही कहूँगा अतः आर्य्य सुधर्मा स्वामीने भगवान् महावीर स्वामीसे जैसा सुना था वैसा ही इस प्रकरणमें कहा है अपनी ओरसे एक भी बात बनाकर नहीं कही है अतः आचाराग सूत्रके नवम अध्ययनके चौथे उद्देशेकी आठवीं और पन्द्रहवीं गाथामें कही हुई बातको नहीं मानना साक्षात् केवलीके वाक्यको नहीं मानने रूप मिथ्यात्वका स्पर्श समझना चाहिये ।

(बोल ४ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २३२ पर उवाई सूत्रका मूल पाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“जे साधामे गुग हुन्ता ते वराण्या पर इम न जाणि ए जे वीर रा साधुरे क्वेइ आर्त्तध्यान आवे इज नहीं माठा परिणामे क्रोधादिक आवे इज नहीं इम नथी कदाचित् उपयोग चूका दोष लागे पर गुण वर्णनमें अवगुण किम कहे तिम गणधरा भगवान् रा गुण किया तिगमें तो गुग इज वर्णन्या जेउलो पाप न कीयो तेहिज आश्री कसो परगुग मे अगुग किम कहे ।”

(भ्र० पृ० २३२)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

“उवाई सूत्रका मूल पाठ लिखकर इसका समाधान किया जाता है—

“तेषां कालेषां तेषां समएणं समणस्स भगवओ अन्तेवासी वहवे
समणा भगवन्तो अप्पेगइया उग्गपव्वइया भोगपव्वइया राहण्ण णाय
कोव्व खत्तिप पव्वइया मइा जोहा सेणावड पसत्थारो सेट्ठो इव्भा
अण्णेय वहवे एवमाहणो उतम जाति कुल रूव विणर विण्णाण
वण लायण विक्रम पहाण सोमग्ग कंतिजुत्ता बहु धण घाण्णणिचघ
परियालफिडिया णरवइ गुणातिरेका इच्छिपभोगा सुखसंपल्लुलिधा
किपाक फट्ठोपमंच मुणि र विसयसोत्तव जलचुवुअ समाणं कुसग्ग
जलविन्दु चंचल जीवियं च णाउण अद्दुवमिणं रयमिव पट्ठगलग्गं
समुधिणिता ण चइत्ता हिरण्णं जाव पव्वइया अप्पेगइया अद्धमास
परियाया अप्पेगइया मास परियाया एवं दुमास तिमास जाव एक्का-
रस अप्पेगइया अनेक चास परियाया सजमेणं तपसा अप्पाणं भावे-
माणाविहरंति”

(उवाइ सूत्र)

अर्थ —

उस समय भगवान् महावीर स्वामीके पास बहुतसे शिष्य विद्यमान थे । जिनमें कोई तो
एक वराम उत्पन्न, कोई भोग धराज, कोई राजन्य, कोई नाग धराज, कोई कुल धराज, कोई
अग्रिय धराज, कोई चार भद्र, योद्धा, और कोई सेनापति, कोई धर्मशास्त्र पाठी, कोई सैद, कोई
न्य (बड़े धनवान्) इस प्रकार उत्तम जाति, कुल, रूप, विनय, विज्ञान, धर्म, कायव्य, विक्रम,
साधन और कान्तिमें युक्त, धन धान्य परिवार दासी दास आदिके द्वारा गृहधाम कालमें बड़े
धनवान् से भी श्रेष्ठ तथा विभव सुखमें राजाआते भी बड़े बड़े इच्छानुरूप भोग पाने वाले
किसी वाले हुए विषय सुनको विपवृक्षके कटके समान सुरा और कुशक अग्र भागमें छोड़े हुए जल
कुकी तरह जीवनको अति संवर्धन कर अनित्य विषय सुख और धन धान्य आदिको कपटे
धुई धूरिने समान क्षादकर हिरण्य छवर्ण आदिको छोड़ कर प्रव्रजित (साधु) हो गये
इनमें कोई अग्र मासके कोई एक मासके कोई दो मासके कोई तीन मासके यावत् ११ मास
पर्यन्त घाटे थे । कोई अनेक दिनोंके पर्याप्त वाले थे । ये सभी शिष्य संवत् और तपस्यासे
भी आत्मार्थके पवित्र करते हुए विप्ररते थे ।

(यह उवाइ सूत्रके उत्तर मूलका अर्थ है)

इस पाठमें यह नहीं कहा है कि “भगवान् महावीर स्वामीके ये सब शिष्य कभी
प्रमादका सेवन नहीं करते थे । तथा इन लोगोंने कभी पाप नहीं किया था ।” इस

लिये भगवान् महावीर स्वामीके इन शिष्योंमें पाप और प्रमादका होना सम्भव है, परंतु भगवान् महावीर स्वामीमें नहीं क्योंकि भगवान् महावीर स्वामीके विषयमें जो आत्मा रागकी गाथाएं लिखी गई हैं उनमें साफ साफ भगवान् में पाप और प्रमाद का निषेध किया है। अतः उवाई सूत्रके इस पाठसे आचार्यगुरु सूत्रकी पूर्वोक्त गाथाओंकी तुल्यता बता कर भगवान् में बलात्कारसे पाप और प्रमादका स्थापन करना मिथ्या है।

उवाई सूत्रमें यदि यह कहा होता कि “भगवान् महावीर स्वामी के शिष्यों ने कभी भी पाप और प्रमादका सेवन नहीं किया था” तो अवश्य यह बात मानी जाती कि भगवान् के शिष्योंने कभी भी पाप और प्रमाद नहीं किया था परन्तु मूलपाठमें ऐसा नहीं कहा गया है इसलिये भगवान् महावीर स्वामीके शिष्योंमें पाप और प्रमाद होनेका खण्डन नहीं किया जा सकता लेकिन भगवान् महावीर स्वामीके विषयमें तो आचार्यगुरु की उक्त गाथाओंमें साफ साफ लिखा है कि “भगवान् ने छद्मस्थावस्थामें स्वल्प भी पाप और एक बार भी प्रमादका सेवन नहीं किया था।” ऐसी दशामें जो भगवान् महावीर स्वामीमें पाप और प्रमादका स्थापन करता है वह उतसूत्रवादी मिथ्यादृष्टि है।

(बोल ५ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २३३ पर उवाई सूत्रका मूलपाठ लिख का उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ अठे कौणिकने सर्व राजाना गुग सहित कल्यो, माता पितानो विनीत कथो अने निराबलियामें फह्यो, जे कौणिक अणिकने वेडिबन्धन देई पोते राज्य बैठो तो जे अणिकने वेडी बन्धन बाध्यो ते विनीत पणो नहीं ते तो अविनीत पणोइन छे। पण उवाईमें कौणिकना गुग वर्णव्या तिणमे जेतलो विनीतपगो तेहिज वर्णव्यो अविनीत पणो गुग नहीं तेमणी गुग कहिणेंमें तेहनो कथन कियो नहीं तिमगगघरा भगवान् रागुग किया ह्या गुगामें जेतला गुग हुन्ता तेहिज गुग वसणया पर लडि फोडो ते गुग नहीं ते अवगुगरो कथन गुगामें किम करे” (भ० पृ०, २३३)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वसनकारका यह कथन भी अज्ञानसे परिपूर्ण है। उवाई सूत्रके मूलपाठमें कौणिक राजाके चम्पानगरीमें निवास कालका गुग वर्णन किया है। कौणिक राजा चम्पानगरीमें जब रहने लगा था तब वह माता पिताका विनीत हो गया था अतएव वह

पितृ शोकाकुच होकर राजगृह को छोड़ कर चम्पानगरीमें आया था। उस समय उसे माता पिताका विनीत कहना ठीक ही है परन्तु उस पाठमें यह नहीं कहा है कि कौणिक राजाने माता पिताके साथ कभी भी अविनय नहीं किया था। इसलिये उवाह सूत्रके इस पाठसे कौणिकके अविनयी होनेका निषेध नहीं किया जा सकता परन्तु भगवान् महा-वीर स्वामीके विषयमें जो आचाराग सूत्रमें गाथाएं कही गई हैं उनमें साफ साफ भगवान् में पाप और प्रमाद होनेका निषेध किया गया है ऐसी दशमें यह कैसे कहा जा सकता है कि भगवान् में पाप और प्रमाद थे” क्योंकि यह कहना प्रत्यक्ष ही शास्त्रसे विपरीत बोलना है अतः कौणिक वाले पाठके उदाहरणसे भगवान् में पाप और प्रमादका स्थापन करना उत्सुब्रवादियोंका कार्य समझना चाहिये ।

[बोल छट्टा समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २३४ पर उवाह सूत्र प्रश्न २० का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ अठे श्रावकने धर्मरा करणहार कया ते तो स्यू अर्थम न करे फाई । वा गिज्ज, व्यापार, संभाम आदिक अर्थम छै ते अयम ना करणहार छै । पिय ते अवकारे गुण वर्णनमें अवगुण किम कहे” इत्यादि लिख कर आगे लिखते हैं “विम भगवान् रे गुण वर्णनमें लब्धिफोदीने अवगुण ना वर्णन किम करे” (अ० पृ० २३४)

इसका क्या उत्तर ?

(प्रत्युपक)

उवाह सूत्रमें श्रावकोंके सम्बन्धमें जो पाठ आया है उसका उदाहरण दकर भगवान् महावीर स्वामीमें पाप और प्रमादका स्थापन करना मिथ्या है। उवाह सूत्र के श्रावक सम्बन्धी पाठमें साफ साफ लिखा है कि श्रावक अद्वारह पापोंसे देशसे हट हुए और देशसे नहीं हटे हुए होते हैं इसलिये इस पाठसे ही श्रावकोंका देशसे पाप सेवन करना सिद्ध होता है परन्तु भगवान् के विषयमें जो आचारागमें गाथाएं कही हैं उन में स्वल्प भी पाप और एक बार भी प्रमाद सेवन करने का निषेध किया है अतः श्रावक सम्बन्धी पाठके उदाहरणसे भगवान् में पाप और प्रमाद का स्थापन करना अज्ञान है ।

दूसरी बात यह है कि भगवान् महावीर स्वामी दीक्षा लेनेके बाद छद्मस्थदशमें कपायकुशील निमग्न थे। कपाय कुशील निमग्न, मूल गुण और वृत्त गुणमें दोष नहीं

लगाते यह बात शास्त्र प्रसिद्ध है इसलिये भगवान् महावीर स्वामीने जो शीतलदेश्याका प्रयोग करके गोशालेकी प्राणरक्षा की थी उसमें उनको पाप या प्रमाद नहीं हुआ यह बात शास्त्र सम्मत समझनी चाहिये ।

(बोल ७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

कपाय कुशील निम्र थ यदि मूल गुग और उत्तर गुगमें दोष नहीं लगाता तो गोतम स्वामी कपाय कुशील निम्र थ होते हुए भी आनन्दुके घर पर बचन बोलनेमें क्यों स्खलित हुए थे ? अतः जैसे गोतम स्वामी कपाय कुशील निम्र थ होते हुए भी आनन्द के घर पर चूक गये थे उसी तरह भगवान् महावीर स्वामी भी चूक सकते हैं अतः कपाय कुशील निम्र थके न चूकनेकी बात मिथ्या है ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

गोतम स्वामी जिस समय आनन्द भ्रावकके घर बचन बोलनेमें चूक गये थे उस समय उनमें कपाय कुशील नियन्त्रा था ही नहीं तथा चौदह पूर्व और चार ज्ञान भी उस समय गोतम स्वामीमें नहीं थे । अन्यथा चार ज्ञान और चौदह पूर्वके धनी कपाय कुशील निम्रन्ध हो कर गोतम स्वामी कदापि नहीं चूक सकते थे । इस विषयमें बड़ाका मूलपाठ ही प्रमाण है । वह पाठ यह है—

“तएणं से भगवं गोयमे आणंदेणं समणोवासएणं एवं वुत्ते
समाणे संकिए कंखिए विइगिच्छा समापन्ने आनंदस्स अंतिआओ
पडिनिक्खमइ”

अर्था—

अर्थात् आनन्द भ्रावकने गोतम स्वामीसे जब यह केश कि “आप व्यर्थ ही मुझे आलोचना लेनेका उपदेश देते हैं मेरी रायमें आपको ही आलोचना लेनी चाहिये” तब गोतम स्वामी शङ्का, कांक्षा और विचिकित्सासे युक्त होकर आनन्दके घरसे बाहर आये । यह उपर्युक्त गायका मूलार्थ है ।

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि उस समय गोतम स्वामीमें चार ज्ञान और चौदह पूर्व नहीं थे अन्यथा उनको आनन्दके वाक्यसे शङ्का, कांक्षा और विचिकित्सा क्यों उत्पन्न होती ? वह अपने ज्ञानके प्रभावसे यथार्थ बातका निर्णय स्वयं कर सकते थे फिर उन्हें शङ्का, कांक्षा आदि होनेका क्या कारण था ? तथा उस समय उनमें कपाय

गोष्ठ नियम भी नहीं था । अन्यथा वह वचन बोलनेमें क्यों चूक जाते ? अतएव उपासक दशाग सूत्रमें जहां गोतम स्वामीका गुण वर्णन किया है वहां उनको चौदह पूर्व और चार ज्ञानका धनी नहीं कहा है ।

कोई कोई कहते हैं कि “भगवती सूत्र, उपासक दशाग सूत्रसे पहलेका बना है उसमें गोतम स्वामीको चार ज्ञान और चौदह पूर्व का धारक बतला दिया है इसीलिये उपासक दशागमें गोतम स्वामीको चौदह पूर्व और चार ज्ञानका धारक नहीं कहा है क्योंकि ये बात भगवती सूत्रमें कही जा चुकी हैं । जो धाते भगवती सूत्रमें कही जा चुकी हैं वने फिर उपासक दशागमें कहनेकी क्या आवश्यकता है ? ।

उत्तरे कहना चाहिये कि यदि भगवतीमें कहे जानेके कारण गोतम स्वामीके चार ज्ञान और चौदह पूर्वका कथन उपासक दशाग सूत्रमें नहीं किया गया है तो भगवतीसूत्र में जिन जिन गुणोंका वर्णन किया है उन सभी का वर्णन उपासक दशाग सूत्रमें नहीं होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होकर भगवतीमें कहे हुए कई गुणोंका उपासक दशाग सूत्रमें वर्णन किया है और कई गुणोंका नहीं किया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि भगवती सूत्रमें समुच्चय रूपसे सभी गुणोंका वर्णन किया गया है और उपासक दशाग सूत्रमें आनन्दके पास जाते समय गोतम स्वामीमें जितने गुण थे उन्हींका वर्णन है । नहीं तो उपासक दशागमें फिर उन्ही गुणोंके कहनेकी क्या आवश्यकता थी जो भगवती में कहे जा चुके हैं ।

भगवती सूत्रके साथ उपासक दशाग सूत्रके पाठमें केवल इतना ही अन्तर है कि भगवतीमें चार ज्ञान और चौदह पूर्वके साथ अन्य गुणोंका कथन है और उपासक दशागमें अन्य गुणोंका वर्णनके साथ चार ज्ञान और चौदह पूर्वका कथन नहीं है । इसके सिवाय भगवती सूत्र और उपासक दशाग सूत्र के पाठों में कुछ भी अन्तर नहीं है ।

देखिये भगवतीका पाठ यह है —

“तेषां कालेषां तेषां समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अन्तेवासी इन्दभूति नामं अनगारे गोतम गोत्तेणं सत्तुसेहे समव-
उरस्स संहण संहिए वज्जरिस्सह नाराय संबमणे कणक पुलकणिघस
पथ गोरे उग तवे दित्त तवे तत्त तवे महा तवे उराले घोरे घोर गुणे
घोर तवस्सी घोर वंभचेर वासी उच्छृह सरोरे सखित्तत्रिउल्लतेउ-
ल्लेस्से वउहस पूवो वउण्णाणोवगये सव्यक्खर सन्निवाड”

लगाते यह बात शास्त्र प्रसिद्ध है इसलिये भगवान् महावीर स्वामीने जो शीतलदेव्याका प्रयोग करके गोशालेकी प्राणरक्षा की थी उसमें उनको पाप या प्रमाद नहीं हुआ यह बात शास्त्र सम्मत समझनी चाहिये ।

(बोल ७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

कपाय कुशील निग्रन्ध यदि मूल गुग और उत्तर गुगमें दोप नहीं लगाता तो गोतम स्वामी कपाय कुशील निग्रन्ध होते हुए भी आनन्दके घर पर वचन बोलनेमें क्यों स्तब्ध हुये ? अतः जैसे गोतम स्वामी कपाय कुशील निग्रन्ध होते हुए भी आनन्द के घर पर चूक गये थे उसी तरह भगवान् महावीर स्वामी भी चूक सकते हैं अतः कपाय कुशील निग्रन्ध के न चूकनेकी बात मिथ्या है ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

गोतम स्वामी जिस समय आनन्द श्रावकके घर वचन बोलनेमें चूक गये थे उस समय उनमें कपाय कुशील नियण्ठा था ही नहीं तथा चौदह पूर्व और चार ज्ञान भी उस समय गोतम स्वामीमें नहीं थे । अन्यथा चार ज्ञान और चौदह पूर्वके धनी कपाय कुशील निग्रन्ध हो कर गोतम स्वामी कदापि नहीं चूक सकते थे । इस विषयमें बड़ाका मूलपाठ ही प्रमाण है । वह पाठ यह है—

“तएणं से भगवं गोयमे आणदेणं समणोवासएणं एवं बुत्ते
समाणे संखिए कंखिए विहगिच्छा समापन्ने आनंदस्स अंतिआओ
पडिनिक्खमइ”

अर्थ—

अर्थात् आनन्द श्रावकने गोतम स्वामीसे जब यह कंश कि “आप व्यर्थ ही मुझे आलोचना देनेका उपदेश देते हैं मेरी रायमें आपको ही आलोचना लेनी चाहिये” तब गोतम स्वामी शङ्का, काक्षा और विचिकित्सासे युक्त होकर आनन्दके घरसे बाहर आये । यह उपर्युक्त गायिका मूलार्थ है ।

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि उस समय गोतम स्वामीमें चार ज्ञान और चौदह पूर्व नहीं थे अन्यथा उनको आनन्दके वाक्यसे शङ्का, काक्षा और विचिकित्सा क्यों उत्पन्न होती ? वह अपने ज्ञानके प्रभावसे यथार्थ बातका निर्णय स्वयं कर सकते थे फिर उन्हे शङ्का, काक्षा आदि होनेका क्या कारण था ? तथा उस समय उनमें कपाय

उ नियम भी नहीं था । अन्यथा वह वचन बोलनेमें क्यों चूक जाते ? अतएव
सक दशाग सूत्रमें जहां गोतम स्वामीका गुण वर्णन किया है वहां उनको चौदह पूर्व
र चार ज्ञानका धनी नहीं कहा है ।

कोई कोई कहते हैं कि “भगवती सूत्र, उपासक दशाग सूत्रसे पहलेका बना है उस
में गोतम स्वामीको चार ज्ञान और चौदह पूर्व का धारक बनला दिया है इसीलिये उपा-
सक दशागमें गोतम स्वामीको चौदह पूर्व और चार ज्ञानका धारक नहीं कहा है क्योंकि
ये बातें भगवती सूत्रमें कही जा चुकी हैं । जो बातें भगवती सूत्रमें कही जा चुकी हैं
उसे फिर उपासक दशागमें कहनेकी क्या आवश्यकता है ? ।

उनसे कहना चाहिये कि यदि भगवतीमें कहे जानेके कारण गोतम स्वामीके चार
ज्ञान और चौदह पूर्वका कथन उपासक दशाग सूत्रमें नहीं किया गया है तो भगवतीसूत्र
में जिन जिन गुणोंका वर्णन किया है उन सभी का वर्णन उपासक दशाग सूत्रमें नहीं
होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होकर भगवतीमें कहे हुए कई गुणोंका उपासक दशाग
सूत्रमें वर्णन किया है और कई गुणोंका नहीं किया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि
भगवती सूत्रमें समुच्चय रूपसे सभी गुणोंका वर्णन किया गया है और उपासक दशाग
सूत्रमें आनन्दके पास जाते समय गोतम स्वामीमें जितने गुण थे उन्हींका वर्णन है ।
नहीं तो उपासक दशागमें फिर उन्हीं गुणोंके कहनेकी क्या आवश्यकता थी जो भगवती
में कहे जा चुके हैं ।

भगवती सूत्रके साथ उपासक दशाग सूत्रके पाठमें केवल इतना ही अन्तर है कि
भगवतीमें चार ज्ञान और चौदह पूर्वके साथ अन्य गुणोंका कथन है और उपासक दशा-
गमें अन्य गुणोंका वर्णनके साथ चार ज्ञान और चौदह पूर्वका कथन नहीं है । इससे
सिवाय भगवती सूत्र और उपासक दशाग सूत्र के पाठों में कुछ भी अन्तर नहीं है ।

देखिये भगवतीका पाठ यह है —

“तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जे
अन्तेवासी इन्दभूति नामं अनगारे गोतम गोत्तेणं सत्तुसेहे सम्
उरस्स संहण संहिए वज्जरिस्स नाराय सवमणे कणक पुलकि
पह गारे उग तवे दित्त तवे तत्त तवे महा तवे उरालं घोरे घोरे
घोर तवस्सी घोर वमचेर वासी उच्छूह सरोरे सखित्तमिज्ज
स्लेस्से चउदस पूत्री पउण्णाणोवगये सव्वक्खर सन्निपाड”

“तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे
अन्तेवासी इन्दभूइ नामं अणगारे गोयम गोत्तेणं सत्तुसेहे समचउ-
रंससंघाणसंघिए वज्जरिसहनारायसंघमणे कणकपुलकणिघस
पह्य गोरे वग्गतवे दित्ततवे घोर तवे उराले घोर गुणे घोर तवस्सो
घोर वंभचेर वासो उच्छूइ सरीरे संखित्त विउछ तेउलेरसे छट्ठं छ-
ट्ठेणं अणिखित्तेणं तवोपकमेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावे माणे
चिहरइ”

(उपासक दशाग)

इस पाठमें भगवती सूत्रोक्त गौतम स्वामीके “चउइस पूव्वी” “चउणमाणोवराण”
‘सव्ववर सन्निगई’ इन तीन विशेषणोंको जोड़ कर बाकी सभी विशेषण कहे गये
हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि जिस समय गौतम स्वामी आनन्दके घर पर गये थे
उस समय उनमें चौदह पूर्ण और चार ज्ञान नहीं थे। यदि भगवतीमें कहे जानेके कारण
इन तीन विशेषणोंका कथन उपासक दशागके इस पाठमें न माना जाय तो फिर उपा-
सक दशाग सूत्रमें अन्य विशेषणोंका कथन भी नहीं होना चाहिये क्योंकि भगवतीमें ये
सभी कहे जा चुके हैं अतः जिस अवस्थाका गुण वर्णन करनेके लिये उपासक दशागका
पाठ कहा गया है उस समय गौतम स्वामीमें चार ज्ञान और चौदह पूर्ण नहीं थे यही
वात सिद्ध होती है।

जो बातें पूर्वके अङ्गोंमें वर्णन की गई हैं वे सभी उत्तरके अङ्गोंमें समझी जाय
ऐसा कोई नियम नहीं है क्योंकि आचाराग सूत्रके दूसरे श्रुत स्कन्धमें भगवान् महावीर
स्वामीके केवल ज्ञान उत्पन्न होनेका वर्णन किया गया है तथापि भगवती सूत्रके १५ वें
शतकमें प्रसङ्गवश फिर भी भगवान् के छात्रस्थपनेका वर्णन है। भगवती पाचवा अङ्ग है
और आचाराग पहला है। उसी तरह भगवतीमें गौतम स्वामीके चार ज्ञान और चौदह
पूर्वका वर्णन होने पर भी प्रसङ्गवश उपासक दशाग सूत्रमें गौतम स्वामीके चार ज्ञान
और चौदह पूर्ण न होनेके समयकी बात कही गयी है।

यदि भगवतीमें कहे हुए गौतम स्वामीके सभी गुणोंको उपासक दशाग सूत्र
बतलाना होता तो “जाव” शब्दसे भगवतीके पाठका सकोच करके उपासक दशाग सूत्र
में इस तरह कह देते कि “तेणं कालेण तेणं समण्ण समणस्स भगओ महावीरस्स
जेट्ठे अन्तेवासी इन्दभूई नाम अनगारे जाव विहरइ” परन्तु शास्त्रकारको भगवतीमें कहे
हुए सभी विशेषणोंके ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं थी अतएव जाव शब्दसे भगवती

क पाठका यहा सङ्कोच नहीं किया है । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि आनन्द श्रावक को उत्तर देते समय गौतम स्वामी चौदह पूर्व और चार ज्ञानके घनी नहीं थे अतः गौतम स्वामीके दृष्टान्तसे भगवान् महावीर स्वामीको चूका हुआ उताना मिथ्या है ।

(बोल ८ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविश्वसनकार भ्रमविश्वसन पृष्ठ २१३ पर दशवैकालिक सूत्रकी गाथा लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ इहा कश्चो—दृष्टिवादो धर्मी पिण वचनमे रज्ज्वाय जाय तो और साधुने हमनो नहीं । ” दृष्टिवादो जाग चुक तिम मे पिण कपाय कुशील नियठो छै”
(अ० पृ० २१३)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रमविश्वसनकारने दशवैकालिक सूत्रकी गाथाका अशुद्ध अर्थ किया है इसलिये वह गाथा लिखकर उसका शुद्ध अर्थ किया जाना है—

आचार पन्नप्तिधर दिट्ठिवाय महिज्जगं
वायविकखल्लिगं नचा नतं उवहसे सुणी”

(दशवैकालिक अ० ८ गाथा ५०)

(टीका)

‘आचार’ चि सूत्रम् । आचार प्रज्ञप्तिधर मिति आचार धर स्त्रीलिङ्गादीनि जानाति प्रज्ञप्तिधर स्तान्मेव सविशेषाणीत्येव भूत । तथा दृष्टिवाद मधीयान प्रकृति प्रत्यय छोपागम घर्ण विकार काल कागक वेदिन वाग्विस्तलिता ज्ञात्वा विविध मनेके प्रकारे-
द्विद्व मेदादिभि स्तलित विज्ञाय नत माचारादि धर गुणहसेत्तुनि अहोनु खलवाचा-
रादिधरस्यवाचि कौशलमित्येवम् इहच दृष्टिवाद मधीयान मित्युक्त मन इद गम्यते—
नाधीत दृष्टिवाद सस्य ज्ञानाप्रमादातिशयत स्तलनासमकात् । यथेव भूतस्यापि स्तल्लिग भवति नचैनगुणहसे दित्युपदेश ततोऽन्यस्य सुवरा भवतीति नामो हसितव्य इति सूत्रार्थः ।”

अर्थ —

जो स्त्रीलिङ्ग आदिको जानता है उसे आचारधर कहते हैं और जो विविध स्वरो को लिङ्ग आदि जानता है उसे प्रज्ञप्तिधर कहते हैं । जो गुणि, आचारधर और प्रज्ञप्तिधर है तब दृष्टिवादका

अध्ययन कर रहे हैं, प्रकृति, प्रत्यय, छोप, आगम, वर्णविकार, काल और कारकको जानते हैं वह यदि बोलते समय लिङ्ग आदिसे अशुद्ध बोल दें तो उन पर हास्य नहीं करना चाहिये । यह नहीं कहना चाहिये कि अहो ! आचारादि धर मुनिका इस प्रकार वाक्कौशल है ? इस गाथामें “दृष्टिवाद मधीयान” इस वाक्यमें वर्तमान कालका प्रयोग करके यह बतलाया गया है कि जिस मुनिने दृष्टिवादका अध्ययन करना समाप्त नहीं किया है किन्तु दृष्टिवादका अध्ययन अभी कर रहा है उससे यदि वाक् स्खलन हो जाय तो हास्य नहीं करना चाहिये । निम्ने दृष्टिवादको पद कर समाप्त कर दिया है उससे वाक् स्खलन होना असम्भव है । दृष्टिवादको पद कर जिसने समाप्त कर दिया है उसमें ज्ञान और अप्रमादका बहुत ज्यादा सन्नाह होता है अतः वह भूल नहीं कर सकता है । इस पाठमें यह उपदेश किया गया है कि दृष्टिवादका अध्ययन करने वाले मुनिने यदि वाक् स्खलन हो जाय तो हास्य नहीं करना चाहिये । इससे यह भी सिद्ध होता है कि आचार प्रज्ञासि धर मुनिसे जब कि वाक् स्खलन होता है तब फिर दूसरेसे वाक् स्खलन होना तो एक साधारण बात है इसलिये यदि दूसरेसे भी वाक् स्खलन हो जाय तो उस पर हास्य नहीं करना चाहिये ।

यह उक्त गाथाका टीकानुसार अर्थ है ।

यहां “दृष्टिवाद मधीयान” इस वाक्यमें वर्तमान कालका प्रयोग देकर दृष्टिवादको पढ़ते हुए मुनिका वाक् स्खलन होना बतलाया है, जिसने दृष्टिवादको पद कर समाप्त कर दिया है उसका वाक् स्खलन होना नहीं कहा है अतः इस गाथाका नाम लेकर चौदह पूर्वधारीको चूक होनेकी सिद्धि करना मिथ्या है । चौदह पूर्वधारी दृष्टिवादको पढ़ा हुआ होता है अतः वह कदापि चूक नहीं सकता है । किन्तु जो अभी दृष्टिवादको पढ़ रहा है उसीका चूकना इस गाथामें कहा है ।

(बोल ९ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकारका मत है कि कपाय कुशील निग्रन्थमें छ समुदधात और पाच शरीर शास्त्रमे कहे हैं । और वैक्रियलब्धिका प्रयोग करनेवालेको बिना आलोचना लिय मरने पर विराधक कहा है तथा वैक्रियलब्धि और आहारक लब्धिके प्रयोग करनेसे पाच क्रियाका लगना शास्त्रमे कहा है अतः कपाय कुशील निग्रन्थ भी वैक्रिय लब्धिका प्रयोग करता हुआ दोषका प्रतिसेवी होता है इसलिये सभी कपाय कुशीलोको दोष अश्वत्सेवी बताना मिथ्या है ।

इसका क्या समाधान ?

(प्रारम्भ)

कपाय कुशीलमें छ समुद्रघात और पाच शरीर पाये जाते हैं तथापि भगवती शतक २५ उद्देशा ६ में उसे दोषका अप्रतिसेवी कहा है । वह पाठ यह है—

“कपाय कुशीलेण पुच्छा गोपमा ! नो पडिसेवए होज्जा अप-
डिसेवए होज्जा”

(भगवती शतक २५ उ० ६)

प्रश्न —

(प्रश्न) हे भगवन् ! कपाय कुशील दोष का प्रतिसेवी होता है या अप्रतिसेवी होता है ?

(उत्तर) हे गोतम ! कपाय कुशील दोष का अप्रतिसेवी होता है प्रतिसेवी नहीं होता है ।

इस पाठमें कपाय कुशीलको साफ साफ दोषका अप्रतिसेवी बतलाया है इसलिये छ समुद्रघात और पाच शरीरके पाये जाने पर भी कपाय कुशील दोषका अप्रतिसेवी ही होता है प्रतिसेवी नहीं । यदि कोई पूछे कि “कपाय कुशीलमें जन कि छ समुद्रघात और पाच शरीर पाये जाते हैं तब वह दोषका अप्रतिसेवी कैसे हो सकता है ?” तो उसे कहना चाहिये कि दोषका प्रतिसेवन परिणामके अर्थन होता है कार्यके अर्थन नहीं होता । जैसे कि वीतराग साधुके पैरके नीचे आकर यदि कोई जानवर मर जाय तो वीतरागको पैर्यापयिकी (पुण्य वन्) किया लगती है और सरागी साधुके पैरके नीचे आकर कोई जानवर मर जाय तो उसको साम्परायिकी किया लगती है । यद्वा पैरके नीचे आकर जानवरके मरनेमें कोई भेद नहीं है परन्तु परिणाममें भेद होनेसे वीतरागको तो पुण्य-वन्ध और सागको साम्परायिकी किया होती है । वीतरागका परिणाम निर्मल है इसलिये उसके पैरके नीचे आकर जानवरके मरनेसे उसे पुण्यवन्धकी किया होती है और साग उसके पैरके नीचे आकर जानवरके मरनेसे उसे साम्परायिकी किया लगती है उसी तरह कपाय कुशीलका परिणाम निर्मल होता है इसलिये छ समुद्रघात और पाच शरीरके पाये जानेपर भी वह दोषका अप्रतिसेवी ही होता है । बहुतों और प्रतिसेवता कुशील, कपाय कुशीलकी तरह निर्मल परिणाम वाले नहीं होते इस लिये ये दोषके प्रति सेवी होते हैं । यदि छ समुद्रघात और पाच शरीरके पाये जानेमें ही दोषका प्रति सेवी हो जाता तो फिर बहुतों और प्रतिसेवता कुशीलकी तरह कपाय कुशील

को भी शास्त्रकार दोषका प्रतिसेवी बतलाते परन्तु शास्त्रकारने साफ साफ कषाय कुशील को दोषका अप्रतिसेवी बतलाया है इस लिये कषाय कुशीलको दोषका प्रतिसेवी बतलाना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिये ।

[बोल १० वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसन कारका कहना है कि “जैसे भगवती सूत्र शतक १६ उद्देश ६ में संवृत (साधु) को यथार्थ स्वप्न आना कहा है और उसीको आवश्यक सूत्रमें मिथ्या स्वप्न भी आना कहा है इसलिये जैसे संवृत साधु दो तरहके होते हैं एक सच्चा स्वप्न देखनेवाले और एक झूठा स्वप्न देखनेवाले, उसी तरह कषाय कुशील भी दो तरहके होते हैं एक दोषका प्रतिसेवन नहीं करने वाले और दूसरे दोषका प्रतिसेवन करने वाले ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सबुडा साधुका दृष्टान्त देकर कषाय कुशीलको दो तरहका बतलाना अज्ञान है । जिस सबुडा साधुका नाम लेकर भगवती शतक १६ उद्देश ६ में सच्चा स्वप्न देखना कहा है उसी संबुडाका नाम लेकर आवश्यक सूत्रके चौथे अध्ययनमें मिथ्या स्वप्न देखना भी कहा है इस लिये संबुडा साधुका द्विविध होना शास्त्रसे ही सिद्ध होता है परन्तु कषाय कुशीलका द्विविध होना शास्त्रसे नहीं सिद्ध होता क्योंकि जिस कषाय कुशीलका नाम लेकर भगवती शतक २५ उद्देश ६ में दोषका अप्रतिसेवी कहा है फिर उसी कषाय कुशीलका नाम लेकर शास्त्रमें कहीं दोषका प्रतिसेवी नहीं कहा है अतः सबुडाकी तरह कषाय कुशील को दो तरहका बतलाना अप्रामाणिक है ।

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ २१७ पर भगवती शतक ५ उद्देश ४ का मूल पाठ लिख कर उसको समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अत्र इति कथो—अनुत्तर विमानरा देवता उदीर्ण मोह नयी अने क्षीण मोह नयी उपशान्त मोह छै, इम कथो । इहा मोहने उपशमायो कथो । अने उपशान्त मोहतो ११वें गुण ठाणे छै अने देवता तो चौथे गुण ठाणे छै तिरहातो मोहनो उदय छै तेह थी समय समय सात २ कर्म लागे छै । मोहनो उदयतो दृग्मे गुणठाणे साई छै अने इहा तो देवता ने उपशान्त मोह कथो ते उत्कट वेद मोहनो आश्री कथो तिरहा देवताने परिचारणा नयी

ते मति बहुल यद् मोहनी आश्री उपशान्त मोह करो । पिग सखा मोह आश्री उप-
शान्त मोह न यो करो" इत्यादि लिख कर आगे लिखने हैं "तिम कपाय कुशीलने अप-
दितो करो ते पिग विजिष्ट परिणामनायगी आश्री अपदितेरो करो पिग सख कपाय
कुशील चाग्निया अपदितेरो नहीं" (ध्र० पृ० २१७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

अनुत्तर विमानवासी देवताओंके विषयम जो पाठ आया है उसका उदाहरण देकर
कपाय कुशीलने दोषका प्रतिसेरो करना अज्ञात है । अनुत्तर विमानवासी देवता चौथे
पुग स्थानके धनी हैं इसलिये उनमें मोहका पूर्ण उपशम होना असम्भव है अतः उन्हें
उपशान्त मोह कहनेका आशय यही हो सकता है कि उनमें उत्कट वेद मोहनीय का
अभाव है परन्तु कपाय कुशीलक त्रियमें यह उदाहरण नहीं पड़ता क्योंकि कपाय कुशील
को कहीं भी दोषका प्रतिसेरो नहीं कहा है ।

यदि किसी जगह कपाय कुशीलको दोषका प्रतिसेरो कहा होता अथवा किसी
दूसरे प्रमाणसे भी कपाय कुशीलका प्रतिसेरो होगा जल्पा ज्ञाता तो भगवतीके २५ वें
"तक और छठे उद्देशके पाठका यह अभिप्राय माना जा सकता था कि कपाय कुशील
को उच्च कोटिके हैं उनकी अपेक्षासे ही भगवतीमें दोषका अप्रतिसेरो कहा है परन्तु
कपाय कुशीलको दोषका प्रतिसेरो बनानेवाला न कोई मूलपाठ ही कहीं मिलता है और
न किसी दूसरे प्रमाणन ही कपाय कुशीलका प्रतिसेरो होना सिद्ध होता है ऐसी दशामें
अनुत्तर विमानवासी देवताओंके पाठका उदाहरण देकर कपाय कुशीलके सम्बन्धमें आये
हुए पाठका यह अभिप्राय बनलाना कि "जो उच्च श्रेणीके कपाय कुशील हैं उन्हीं को
दोषका अप्रतिसेरो पतलाना इस पाठका आशय है", त्रिलकुल मिथ्या है ।

सभी कपाय कुशील यदि दोषके अप्रतिसेरो नहीं होते तो कदापि भगवती शतक २५
उद्देश ६ में कपाय कुशील मात्रको दोषका अप्रतिसेरो नहीं कहते । अथवा टीकामे तथा
किन्नी दूसरी जगह मूलपाठमें ही इसका सुझावा अवश्य कर देते परन्तु कपाय कुशील
दोषका प्रतिसेरो नहीं होता है इसीलिये शास्त्रकारने सामान्य रूपसे सभी कपाय कुशील
को दोषका अप्रतिसेरो ही कहा है अतः कपाय कुशीलको दोषका प्रतिसेरो पतलाने के
लिये विभिन्न कुतर्कोंका आश्रय लेना दुरापद्धका परिणाम समझना चाहिये ।

[बोल ११ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमनिर्ध्वंसन पृष्ठ १८८ पर ठाणाग सूत्र ठाणा ७ का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ अठे पिण इम बहो सात प्रकारे छद्मस्थ जाणिये अने सात प्रकारे केवली जानिए । केवली तो ए सातुइ दोष न सेवे ते भणी न चूके अने छद्मस्थ सात दोष सेवे छै” (भ० पृ० १८८)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग ठाणा सातके मूलपाठसे भगवान् महावीर स्वामीका दोष सेवन करना नहीं मिद्ध होता है क्योंकि सभी छद्मस्थ दोषके प्रतिसेवी होते ही हैं ऐसा कोई नियम ठाणाङ्ग ठाणा सातमे नहीं कहा है । बल्कि मूलपाठका यही आशय है कि छद्मस्थोंमें सात दोषों का सम्भव होता है केवलियोंमें नहीं । सातवें गुण स्थानसे लेकर बाह्रवें गुण स्थान तक के जीव छद्मस्थ ही होते हैं परन्तु वे दोषोंका सेवन नहीं करते क्योंकि उनका परिणाम घटुव ही निर्मल होता है उसी तरह छद्मा गुण स्थान वाले जो विशिष्ट निर्मल परिणाम धनी होते हैं वे भी दोषके प्रतिसेवी नहीं होते । यह बात भ्रमविध्वसनकारने भी भ० पृ २१४ पर लिखी है जैसे कि —

“अने छठे गुण ठाणे पिण अत्यन्त विशिष्ट निर्मल परिणामनो धगी शुभयोग प्रवर्ते छै”

भगवान् महावीर स्वामी पष्ठ गुण स्थानमे अतिविशिष्ट निर्मल परिणामके धनी । इसलिये वह दोषके प्रतिसेवी नहीं थे । भगवान् महावीर स्वामी छद्मस्थ दशमें भी विशिष्ट निर्मल परिणामके धनी थे यह बात प्रमाणके साथ पहले कही जा चुकी है और आचाराग सूत्रकी गाथाओंको लिख कर यह स्पष्ट सिद्ध कर दिया गया है कि भगवान् महावीर स्वामीने छद्मस्थ दशमे स्वल्प भी पाप और एक बार भी प्रमादका सेवन नहीं किया था अतः ठाणाङ्ग ठाणा सातके मूलपाठका नाम लेकर भगवान्में चूक होनेकी प्ररूपणा मित्या समझनी चाहिये ।

यदि कोई दुरामही सभी छद्मस्थोंमे सात दोषोंका अवश्य सद्भाव बतावे तो उसे कहना चाहिये कि छद्मस्थ तो सातवें गुणस्थान वाले तथा ८।९।१०।११ और बाह्रवें गुण स्थान वाले भी होते हैं फिर तुम उन्हें भी दोषका प्रतिसेवी क्यों नहीं मान लेते ? । यदि सातवें आठवें आदि गुण स्थान वाले अति विशिष्ट निर्मल परिणामके धनी होनेसे दोषका प्रतिसेवी नहीं होते तो उसी तरह पष्ठ गुण स्थान वाला भी अतिविशिष्ट

निर्मल परिणामका धनी दोषका प्रतिसेवी नहीं होता । भगवान् महावीर स्वामी पट्ट गुण स्वामि अति विशिष्ट निर्मल परिणामके धनी थे इसलिये वह दोषका प्रतिसेवी नहीं थे परन्तु गोशालरुकी रक्षा करनेके कारण भगवान् को चूका हुआ बतलाने वाले भ्रान्ति और अनुकम्पाके द्रोही हैं ।

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्र० पृ० ३०० पर लिखते हैं —

“गोशालाने तिल बताई, लेइया सिरसाई, दीक्षा दीधी ए सर्व उपयोग चूकने कार्य किया । जो उपयोग दब अने जाने ए तिल छरोडनाचसी तो तिलबतावताइज कयाने निण उपयोग दिया बिना एककार्य किया छै” (भ्र० पृ० २२२)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवान् महावीर स्वामीने छद्मस्थपनेमे गोशालरुको तिल बताया, दीक्षा दी और लेइया सिरसाई यह सब कार्य यदि भगवान् का चूकना है तो केवल ज्ञान होने पर भगवान् महावीर स्वामीने गोशालरुको मृत्यु बताई, जामालोको दीक्षा दी और काली आदि दश रानियोंको उनके पुत्रोका मरण बताया था यह सब कार्य उनका चूकना क्यों नहीं मान लेने ? क्योंकि इन कार्यो का परिणाम भी बहुत बुरा हुआ था । गोशालरु अपने मरणका समय आया जान कर बहुत भयभीत हुआ था । जामाली कुशिव्य हुआ और काली आदि दश रानिया पुत्र मरण सुन कर भगवान् के समवसरणमे ही श्रुति होकर गिर गयी थी । इसी तरह भगवान् नेमिनाथजीने केवल ज्ञान होने पर केवलसे सोमिल ब्राह्मणका मरण बतलाया था जिसका फल यह हुआ कि सोमिल को शीघ्रगने सारे शहरमे घसीट बाया और घसीटनेकी लकीर जो पृथ्वी पर पड़ी थी उस पर पानी छिटक बाया फिर इस कार्यको भगवान् नेमिनाथजी के चूकने मे क्यों नहीं मान लें ?

यदि कहो कि—केवल ज्ञानी पुरुष, अतीन्द्रियार्थ दर्शी अपरिमित ज्ञानी कल्पा-शील और आगम व्यवहारी होते हैं वह जो करते हैं उसका रहस्य वही जानते हैं इसलिये इन व्यवहारीके कल्पानुसार उनके कार्यको बुरा नहीं कहा जा सकता तो उन्ही तरह छद्मस्थ तीर्थंकर भी आगम व्यवहारी और कल्पातीत होते हैं इसलिये सूत्र व्यवहारीप-पत्रका नाम लेकर उनके कार्यको भी बुरा नहीं कह सकते मग गोशालरुको जिस

घटाने, दीक्षा देने आदि कार्य्यों को भगवान्‌के चूकनेमे प्रमाण देना अविवेकका परिणाम जानना चाहिये ।

[बोल १३ वां]

(प्रेरक)

छद्मस्थ तीर्थंकर आगम व्यवहारी और कल्पातीत होते हैं इस मे क्या प्रमाण है ?

(प्ररूपक)

छद्मस्थ तीर्थंकर आगम व्यवहारी और कल्पातीत होते हैं इस विषयमें भावती शतक २५ उद्देशा ६ का मूलपाठ प्रमाण है । वह पाठ यह है—

“कपाय कुशीले पुच्छा गोयमा ! जिण कप्पे वा होज्जा, थेर कप्पे वा होज्जा कप्पातीते वा होज्जा”

(भग० श० २५ उ० ६)

अर्थ —

(प्रश्न) हे भगवन् ! कपाय कुशील निग्रन्थमें कितने कल्प होते हैं ?

(उत्तर) हे गोतम ! कपाय कुशील निग्रन्थ जिन कल्पी भी होते हैं स्थविर कल्पी भी होते हैं और कल्पातीत भी होते हैं ।

यह उक्त गाथाका अर्थ है ।

इस पाठमें कपाय कुशीलमे तीन कल्प कहे हैं—जिन कल्प, स्थविर कल्प और कल्पातीत । इनमे कल्पातीत कपाय कुशील निग्रन्था, केवल छद्मस्थ तीर्थंकरमे ही होता है दूसरेमे नहीं यह टीकाकारने लिखा है वद् टीका यह है —

“कल्पातीतेवा कपाय कुशीलो भवेत् । कल्पातीतस्य छद्मस्थ तीर्थंकरस्य सकपायस्मात् ।”

अर्थात् कपाय कुशील निग्रन्थ, कल्पातीत भी होता है क्योंकि छद्मस्थ तीर्थंकर कपाय कुशील होते हैं और वह कल्पातीत हैं ।

उक्त पाठ और उसकी उक्त टीकामें छद्मस्थ तीर्थंकरको कल्पातीत कहा है । कल्पातीत वह है जो जिन कल्प और स्थविर कल्पका उल्लंघन किया हुआ है । भगवतीरा टीकामें लिखा हुआ है कि “कप्पा तीतेति जिन ‘कल्प स्थविरकल्पाभ्यामन्यत्र’ अर्थात् जिन कल्प और स्थविर कल्पसे भिन्नको कल्पातीत कहते हैं । कल्पम् अतीता कल्पातीता” इस व्युत्पत्तिसे, जो कल्पका उल्लंघन किया हुआ है यानी जिस पर शास्त्रीय मर्यादाका कोई अधिकार नहीं है वह कल्पातीत है । शास्त्रमे प्रधान रूपसे दो ही कल्प

कल्प हैं । जिन कल्प और स्थविर कल्प । शेष सभी कल्प इनमें ही अन्तर्भूत हैं इस
 लिये जिन कल्पी और स्थविर कल्पी ही शास्त्रीय मर्यादाके अधिकारी होते हैं, जो कल्प
 को कल्पन किया हुआ है वह नहीं होता । भगवान् महावीर स्वामी दीक्षा लेनेके बाद
 हा कल्पातीत हो गये थे इस लिये जैसे केवल ज्ञान होने पर कल्पातीत और आगम
 व्यवहारी होनेसे उनके कार्यको शास्त्रीय कल्पानुसार दोषमें नहीं कह सकते हैं उसी तरह
 एक उद्गमस्थपनेके कार्यको भी दोषमें नहीं कह सकते । जैसे केवल ज्ञान होनेपर जा-
 माली आदिको दीक्षा देने आदि कार्य भगवान् ने किये थे और वे कार्य उनके दोषमें
 नहीं थे उसी तरह उनके छद्मस्थपनेमें गोशालको दीक्षा देने तिल बनाने आदि कार्य भी
 दोष या चूस्नेमें नहीं थे । अतः गोशालको तिल बनाने दीक्षा देने आदि कार्य को
 भगवान् के चूस्नेम प्रमाण देना अज्ञान है ।

बोला १४ समाप्त

(प्रेरक)

भगवान् महावीर स्वामी छद्मस्थपनेमें आगम व्यवहारी और कल्पातीत थे इस
 लिये सूत्र व्यवहारीके कल्पानुसार उनके कार्यको दोषमें नहीं कहा जा सकता यह ज्ञात
 हुआ, अब व्यवहारके भेद बतलाइये ?

(प्रत्युक्त)

भगवती व्यवहार सूत्र और ठाणाङ्ग सूत्रमें व्यवहारका भेद बतलानेके लिये यह
 शत आया है—

“कह विहेणं भन्ते ! व्यवहारे पन्नत्ते ? नायमा ! पचविहे वव-
 हारे पन्नत्ते तंजहा आगमे, सुण आणा, धारणा, जीए । जहासे तत्थ
 आगमेसिया आगमेणं ववहारे पट्ठवेज्जा णोयसे तत्थ आगमेसिया
 जहा से तत्थ सुए सिया सुएणं ववहार पट्ठवेज्जा । णोवासे तत्थ
 सुएसिया जहा से तत्थ आणासिया आणाण ववहारं पट्ठवेज्जा ।
 णोयसे तत्थ आणासिया जहा से तत्थ धारणासिया धारणाएण वव-
 हारं पट्ठवेज्जा । णोयमे तत्थ धारणासिया जहा से तत्थ जीएसिया
 जीएणं ववहारे पट्ठवेज्जा”

(भा० १० ८ व्यवहार ३० १० ठाणाङ्ग ठाणा ५)

अर्थ —

(प्रश्न) हे भगवन् ! व्यवहार कै प्रकारका होता है ?

(उत्तर) हे गोत्रम ! व्यवहार पाच प्रकारका होता है ।

(१) आगम व्यवहार (२) श्रुत व्यवहार (३) आज्ञा व्यवहार (४) धारणा व्यवहार (५) जित व्यवहार । जहा केवल आदि छ आगमोंमेंसे कोई आगम विद्यमान हो वहा प्रायश्चित्तादि व्यवस्था आगमसे दी जाती है श्रुत आदिसे नहीं । जहा आगम न हो वहा श्रुत व्यवहारसे व्यवस्था देनी चाहिये आज्ञा आदिसे नहीं । जहा श्रुत न हो वहा आज्ञासे, जहा आज्ञा न हो वहा धारणासे, जहां धारणा न हो वहा जितसे व्यवस्था देनी चाहिये परन्तु आज्ञाके होने पर धारणासे और धारणाके होने पर जितसे व्यवस्था नहीं देनी चाहिये । यह उक्त पाठका अर्थ है ।

इस पाठमें व्यवहारके आगम आदि छ भेद बतला कर पूर्व पूर्वके सद्भावमें उक्त उत्तरसे व्यवस्था देनेका निषेध किया है इसी तरह आगमामे भी केवल ज्ञानके रहने पर शेष पाच आगमोंसे और मन पर्य्यवके रहते शेष चारसे एव अवधिके रहने पर शेष तीन से, चौदह पूर्वके रहते शेष दोसे और दश पूर्वके रहने पर शेष नव पूर्वसे और नव पूर्वके रहने पर श्रुत आदिसे व्यवस्था देनेका निषेध किया है अतः छद्मस्थतीर्थकरमें आगम व्यवहारके होनेसे श्रुतादि व्यवहारानुसार उनमें दोषकी स्थापना नहीं की जा सकती । भगवान् महावीर स्वामी दीक्षा लेनेके बाद ही मन पर्य्यव ज्ञानके धनी हो गये थे इस लिये उनको श्रुतादि व्यवहारोंसे आचरण करनेकी कोई आवश्यकता न थी उनके सभी व्यवहार आगम व्यवहारके अनुकूल ही होते थे अतः उनके कर्त्तव्यको श्रुतादि व्यवहारके अनुसार समालोचना करना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये ।

भ्रम विध्वंसन कारणे भी अपने प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध नामक ग्रन्थमें आगम व्यवहारके रहने पर श्रुतादि व्यवहारोंसे कर्त्तव्य न होनेका बरलेख किया है ।

(प्रश्न)

दशवर्ष पठे भगवन् भगवो व्यवहार उद्देशा १० कछो तो धनो नवमासे ११ अंग भण्यो किम् ?

(उत्तर)

वीरनी आज्ञाई दोष नहीं ते ठाम आगम व्यवहार प्रवर्ततो सूत्र व्यवहारो काम नहीं । व्यवहार उद्देशे १० तथा ठाणाइ ठागा ५ कछो जिवारे आगम व्यवहार नै तिवार आगम व्यवहार थापवो अने आगम व्यवहार न नै तिवारे सूत्र व्यवहार थापवो हम कछो”

ऊपर लिखे हुए जीतमलजीके टेरामे आगम व्यवहारक होनेपर सूत्र व्यवहारका उपयोग नहीं किया जाना साफ साफ लिखा है और महावीर स्वामीके समयमे आगम व्यवहारका ही उपयोग होना भी लिखा है तथापि 'सूत्र व्यवहारानुसार भगवानमें दोष कायम करना इनका अपने कथनमे ही विरुद्ध समझना चाहिये ।

बोल १५ समाप्त

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ २२४ पर भगवती शतक १५ वें की टीका लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ टीकामें पिण कह्यो ए अयोग्यने भगवान अंगीकार कियो ते अक्षीण राग-
पने करी तेहना परिचय करी स्नेह अनुकम्पाना सद्भावथी अने छद्मस्थ छैं ते माटे आगा-
मिया कालाना दोषना अजाण थकी अंगीकार कीधो न्ह्यो राग परिचय स्नेह अनुकम्पा
कही त स्नेह अनुकम्पा कह्यो अने भावे मोह अनुकम्पा कह्यो जो एकार्य करवायोग्य
इह तो इम क्याने कहिता”
(भ्र० पृ० २२४)

इसका क्या समाधान ?

(भरूपक)

भगवती सूत्र शतक १५ वें की टीकासे महावीर स्वामीका चूकना नहीं सिद्ध होता क्योंकि वहा टीकाकारने लिखा है कि “अवश्यभावविभावत्वाच्चेतस्यार्थस्येति विभावनीयम्” अर्थात् भगवानसे गोशालकका स्वीकार किया जाना अवश्य होनहार था इस लिये भगवानने उसे स्वीकार किया । यह लिखकर टीकाकारने भगवानको चूक जाने का स्पष्ट रूपसे निषेध किया है तथापि इस टीकाक आश्रयसे भगवानको चूकनेकी सिद्धि करना अज्ञान है ।

यदि कोई कहे कि इस टीकामें गोशालकको स्वीकार करनेके दो कारण और भी बतलाये हैं । पहले तो गोशालकके ऊपर स्नेहके साथ अनुकम्पा करना कारण कहा है और साधुका किसी पर स्नेह करना गुण नहीं किन्तु दोष है तो उसे कहना चाहिये कि अनुकम्पाके ऊपर तथा अपने धर्म, धर्माचार्य और अपने सद्गुरुमें भाइयोंपर स्नेह करना बुरा नहीं किन्तु गुण है । शास्त्रमे चोरी जारी हिंसा और झूठ आदिमे स्नेह करना ही बुरा कहा है गुणके साथ स्नेह करना बुरा नहीं कहा है अतः गोशालकके ऊपर जो भगवानने स्नेहयुक्त अनुकम्पा की थी उसे स वय कहना अज्ञानका परिणाम है ।

यदि कोई कहे कि गोशालक अयोग्य व्यक्ति था उसपर स्नेह करना अवश्य बुरा था” तो इसका उत्तर देते हुए टीकाकार लिखते हैं कि “छद्मस्थवयानाऽगम दोषाज्ज-
था” तो इसका उत्तर देते हुए टीकाकार लिखते हैं कि “छद्मस्थवयानाऽगम दोषाज्ज-

गमान्" अर्थात् जिस समय भगवानने गोशालकको स्वीकार किया था उस समय गोशालक अयोग्य नहीं था किन्तु पीछे अयोग्य हुआ इस बातकी खबर भगवानको नहीं थी क्योंकि भगवान छद्मस्थ होनेके कारण भाभी दोषको नहीं जानते थे ।

यह लिखकर टीकाकार भगवानके चूकनेका स्पष्ट रूपसे निवेदन कर रहे हैं । क्योंकि भविष्य कालका दोष नहीं जानने वाला कोई पुरुष वर्तमान कालमें किसीको अयोग्य नहीं जान कर यदि उसपर स्नेहके साथ अनुकम्पा करे तो इसमें उमका क्या दोष है ? अब भविष्य कालके दोषको नहीं जान कर भगवानने गोशालकको स्वीकार किया था यह भगवानका चूकना नहीं किन्तु दयालुता है । इसके आगे टीकाकारने भगवानके दोषका खण्डन करनेके लिये तीसरा हेतु अवश्य होनहार बतलाया है जो पहले लिख दिया गया है । यह तीसरा हेतु इस लिये दिया गया है कि पहलेके दो हेतुओंमें अरुचि है । पहले हेतुमें अरुचि यह है कि "गोशालक अयोग्य था उसपर भगवानने स्नेह क्यों किया ?" इस अरुचिके कारण पहला हेतुको छोड़ कर टीकाकार दूसरा हेतु बतलाते हैं कि गोशालकके भविष्यमें अयोग्य होनेका भगवानको ज्ञान नहीं था क्योंकि वह छद्मस्थ थे इस लिये भगवानने गोशालकको स्वीकार किया । इस हेतुमें भी यह अरुचि आती है कि भगवान छद्मस्थ होकर भी भविष्यकी बात जान सकते थे जैसे कि उन्होंने गोशालकको बतलाया था कि इस तिलमें इतने दाने होंगे इत्यादि । अतः टीकाकारने पूर्व के दोनों हेतुओंसे सन्तुष्ट न होकर तीसरा हेतु दिया है और तीसरा हेतु देकर यह स्पष्ट कर दिया है कि गोशालकको भगवानके द्वारा स्वीकार किया जाना अवश्य होनहार था इस लिये इसमें भगवानका कुछ भी दोष नहीं है । आगम व्यवहारी पुरुष भाभी बातको अपने ज्ञान द्वारा जान कर उसका अनुष्ठान करते हैं इसमें उनका कुछ दोष नहीं होता जैसे कि केवल ज्ञान होनेपर भाभीको जानकर ही भगवानने जामालीको दीक्षा दी थी उसी तरह गोशालकके विषयमें भी समझना चाहिये । अतः भगवती शतक १५ की टीका

नोट—भगवती शतक १५ की टीकामें भगवानके दोषका खण्डन किया है चूक जाना नहीं बतलाया है अन्यथा टीकाकार गोशालकको स्वीकार करना अवश्यम्भावी मान क्यों बतलाते । पहलेके दो हेतुओंसे भी यही बात कही है उनसे भी दोषका खण्डन ही किया गया है समर्थन नहीं । क्योंकि एक ही विषयमें टीकाकार दो राय नहीं दे सकते यदि दो राय दें तो स्थाणुर्वा पुरुषोवा की तरह उनकी बात संशयात्मक होनेसे प्रमाण नहीं हो सकती ।

का नाम लेकर भगवानको चूक जानेकी कल्पना करना निर्मूल तथा निराधार सम-
झना चाहिये ।

[बोल १६ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसन कार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २२४ पर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ९ की टीकामें
लिखी हुई गाथाको लिख कर उसकी साक्षी देते हुए लिखते हैं—

“तथा छद्मस्थ तीर्थकर दीक्षा लेते जिन दिन साथे कोई दीक्षा लेते तैसी टीका छे-
पिण वठापडे कबल ज्ञान ऊपना पहिला औरने दीक्षा दवे नहीं ठाणाङ्ग ठाणा ९ अर्थमें
यही गाथा कही छे ।
(भ० पृ० २२४)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ९ के टब्बा अर्थमें लिखी हुई गाथाका नाम लेकर भगवानको
चूक जानेकी प्ररूपणा मिय्या है । प्रथम तो वह गाथा कहीं मूलपाठ या किसी प्रमाणिक
टीकामें नहीं पायी जाती इस लिये वह गाथा प्रमाण नहीं मानी जा सकती । दूसरी बात
यह है कि उस गाथामें “नय सोमवर्गं दिक्खति” यह लिखा है अर्थात् “छद्मस्थ तीर्थकर
किस्य वर्गको दीक्षा नहीं देते ।” यहा शिष्य वर्गको दीक्षा देनेका निषेध किया है किसी
एक शिष्यको दीक्षा देनेका निषेध नहीं है अतः इस गाथासे भी एक व्यक्ति (गोशालक)
को दीक्षा देनेमें भगवानका चूकना नहीं सिद्ध हो सकता । अतः किसी अज्ञात व्यक्तिकी
कनार्थ हुई इस गाथाका नाम लेकर भगवानके चूक जानेका समर्थन करना अज्ञात है ।

वास्तवमें छद्मस्थ तीर्थकर, वीतराग तीर्थकरके समान ही कल्पातीत होते हैं इस
लिये उनके कार्यको शास्त्रीय कल्पानुसार दोष नहीं कहा जा सकता क्योंकि शास्त्रीय
कल्प कल्पस्थित साधुओं पर ही लगता है कल्पातीत पर नहीं । कल्पातीत साधु अपने
ज्ञानमें जैसा देखते हैं वैसा ही करते हैं, यह उनका दोष नहीं किन्तु गुण है । ठाणाङ्ग
ठाणा ९ के टब्बा अर्थमें लिखी हुई गाथा, तीर्थ करोंका कल्प नहीं बतलाती है कि “अमुक
अमुक कार्य तीर्थ करको कल्पना है और अमुक अमुक नहीं” क्योंकि कल्पातीतका कोई
कल्प नहीं होता । तीर्थ कर लोग छद्मस्थ अवस्थामें प्रायः जो काय्य करते हैं उसका
वर्णनमात्र इस गाथासे किया है अतः इस गाथाका नाम लेकर तीर्थ करमें कल्प कायम
करके उन्हें चूकनेकी कल्पना करना मिय्या है ।

(बोल १७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २३५ पर लिखते हैं—

“अने कई एक पाखण्डी कहे गोतमने भगवान् कह्यो हे गोतम ! बारह वर्ष ते पक्षमे मोने किञ्चिन्मात्र पाप लाग्यो नहीं ते झूठरा बोलनहार छै” (भ० पृ० २५५)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

बारह वर्ष और तेरह पञ्चमे दोष नहीं लगनेकी बात भगवान्ने सुधर्मा स्वामी कही थी और सुधर्मा स्वामीने यह बात भगवान्से सुन कर जम्बू स्वामीसे आचाराग कही है । आचाराग सूत्रके प्रथम श्रुत स्कन्धके नवम अध्ययनमें पहले पहल सुधर्मा स्वामी ने कहा है—

“अहा सुय वइस्सामि” अर्थात् जैसा मैंने सुना था वैसा ही कहूंगा । इससे ज्ञात होता है कि सुधर्मा स्वामीने भगवान् महावीर स्वामीके मुँहसे उनके छद्मस्थावस्याक वृत्तान्त सुन कर उसका वर्णन आचाराग सूत्रमें जम्बू स्वामीसे किया है । अतएव आचारागके आरम्भमें ही यह लिखा है कि “सुयमे आउस । तेण भगवैया एवमक्काय” अर्थात् हे आयुष्मन् ! भगवान् महावीर स्वामीने ऐसा कहा था यह मैंने सुना है । इसमें स्पष्ट सिद्ध होता है कि सुधर्मा स्वामीने भगवान् महावीर स्वामीसे सुनी हुई बातोंका ही आचारागमें जम्बू स्वामीसे वर्णन किया है । अतः सुधर्मा स्वामीकी आचारागमें कही हुई सब बातें भगवान्की ही कही हुई समझनी चाहिये । उन बातोंको न मानना सुधर्मा स्वामीकी ही नहीं किन्तु साक्षात् वीथंकरकी बातको न मानना है । आचाराग सूत्रमें सुधर्मा स्वामीने जम्बू स्वामीसे कहा है कि—

“एएहिं सुणी सयणेहिं समणे असिय तेरस वासे । राहं दि यंपि जयमाणे अप्पमत्ते समाहि ए झोह”

(आचाराग श्रु० १ अ० ९ उ० २)

अर्थात् मुनि भगवान् महावीर स्वामी इन स्थानोंपर निवास करते रात में स्वप्नके अनुष्ठानमें प्रवृत्त रहते थे और प्रमाद रहित होकर धर्म करते थे ।

इस पाठमें तेरहवें वर्ष पर्यान्त भगवान्को प्रमाद रहित तथा आगे चलकर एक बार भी प्रमाद करनेका निषेध किया है

“अकसाई विगयगेही सदरुवेसु अ

न पमायं सहं वि कुञ्चीत्था”

इस गायामें दृष्टस्थपनेमें भगवान्‌के एक बार भी प्रमाद सेवन करनेका निषेध किया है और यह बात साक्षात् महावीर स्वामीसे सुनकर ही सुधर्मा स्वामीने जम्बू स्वामीसे कही थी इस लिये इस बातको न मानकर भगवान्‌में प्रमाद सेवन करनेका दोष लगाना केवलीके वाक्यको न मानने रूप मिथ्यात्वका स्पर्श करना है परन्तु दीर्घ ससारी जीव केवलीक वाक्यका तिरस्कार करनेमें शंका नहीं करते । आचार्याग मूत्रके प्रमाणसे ज्ञात कि भगवान्‌के न चूकनेकी बात स्पष्ट सिद्ध होती है तब इसपर पर्दा डालनेके लिये श्रीत्रिमलजीने अपने मनसे गड़ कर यह बतलाया है कि 'गोतम स्वामीसे भगवान्‌ने १२ वर्ष और तेरह पञ्च तक पाप नहीं लगनेकी बात नहीं कही है ।'

अस्तु, भगवान्‌ने गोतम स्वामीसे नहीं कही परन्तु सुधर्मा स्वामीसे तो कही है केरतुम इसे क्यों नहीं मानने ? बात तो सचो ही है । सही बातको छिपानेके लिये अपने मनमें उसमें एक मिथ्या बात लगा देना कहाका पाण्डित्य है ?

(बोल १८ समाप्त)

(प्रेरक)

भगवान्‌की दृष्टस्थपनेमें वह स्वप्न आये थे उस समय अन्तर्मुहूर्त तक भगवान्‌को निद्रा आई थी । निद्रा लेना प्रमादका सेवन करना है फिर आचाराग सूत्रकी गायामें यह क्यों कहा गया कि भगवान्‌ने दृष्टस्थपनेमें एक बार भी प्रमादका सेवन नहीं किया था ?

(प्रत्युपक)

भगवान्‌ महावीर स्वामीकी वह स्वप्न आये थे उस समय अन्तर्मुहूर्त तक उन्हें निद्रा भी आई थी पर वह निद्रा द्रव्य निद्रा थी भाव निद्रा नहीं । मिथ्यात्व और अज्ञान को शास्त्रमें भाव निद्रा कहा है । केवल सोने मात्रको नहीं केवल सोना तो द्रव्य निद्रा है उसे शास्त्रीय विद्यानानुसार लेता हुआ माधु दोषका सेवन करने वाला नहीं होता । यह बात भ्रमविध्वंसनकारको भी मान्य है उन्होंने लिखा है कि "तिद्धा भाव निद्राथी तो पाप लागे छे अन द्रव्य निद्राथी तो जीव देने छै" (भ०पृ० ४०९)

अतः भगवान्‌की द्रव्य निद्रा लेनेसे प्रमादका सेवन करने वाला नहीं कहा जा सकता है । अतः आचाराग मूत्रकी पूर्वोक्त गायामें जो भगवान्‌की एक बार भी प्रमाद सेवन नहीं करनेका कथन है वह अक्षरशः यथार्थ है उसे नङ्गमान कर भगवान्‌के चूक जानेका या प्रमाद सेवन करनेका दुराग्रह करना भिन्न ।

(प्रेरक)

भ्रम विध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २३५ पर लिखते हैं—

“अने कई एक पाखण्डी कहे गोतमने, भगवान् कह्यो हे गोतम । बारह वर्ष तेरह पक्षमें मोने किञ्चिन्मात्र पाप लाग्यो नहीं ते झूठरा बोलनहार छै” (भ० पृ० २५५)

इसका क्या समाधान ?

(प्रत्यक्ष)

बारह वर्ष और तेरह पक्षमें दोष नहीं लगनेकी बात भगवान्ने सुधर्मा स्वामीसे कही थी और सुधर्मा स्वामीने यह बात भगवान्से सुन कर जम्बू स्वामीसे आचारागमें कही है । आचाराग सूत्रके प्रथम श्रुत स्कन्धके नवम अध्ययनमें पहले पहल सुधर्मा स्वामी ने कहा है—

“बहा सुय वइस्सामि” अर्थात् जैसा मैंने सुना था वैसा ही कहूंगा । इससे ज्ञात होता है कि सुधर्मा स्वामीने भगवान् महावीर स्वामीके मुखसे उनके छद्मस्थावस्याका वृत्तान्त सुन कर उसका वर्णन आचाराग सूत्रमें जम्बू स्वामीसे किया है । अतएव आचारागके आरम्भमें ही यह लिखा है कि “सुयंमे आउस । तेण भगवया एवमकलाय” अर्थात् हे आयुष्मन् । भगवान् महावीर स्वामीने ऐसा कहा था यह मैंने सुना है । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सुधर्मा स्वामीने भगवान् महावीर स्वामीसे सुनी हुई बातोंका ही आचारागमें जम्बू स्वामीसे वर्णन किया है । अतः सुधर्मा स्वामीकी आचारागमें कही हुई सब बातें भगवान्की ही कही हुई समझनी चाहिये । उन बातोंको न मानना सुधर्मा स्वामीकी ही नहीं किन्तु साक्षात् तीर्थ करकी बातको न मानना है । आचाराग सूत्रमें सुधर्मा स्वामीने जम्बू स्वामीसे कहा है कि—

“एएहिं मुणी सयणेहिं समणे असिय तेरस वासे । राईदि यंपि जयमाणे अप्पमत्ते समाहिए झाइ”

(आचाराग श्रु० १ अ० ९ उ० २ गाथा ४)

अर्थात् मुनि भगवान् महावीर स्वामी इन स्थानोंपर निवास करते हुए तेरहवें वर्ष पर्यन्त रात दिन सयमके अनुष्ठानमें प्रवृत्त रहते थे और प्रमाद रहित होकर धर्म ध्यान या शुकल ध्यान करते थे ।

इस पाठमें तेरहवें वर्ष पर्यन्त भगवान्को प्रमाद रहित होकर रहना लिखा है । तथा आगे चलकर एक बार भी प्रमाद करनेका निषेध किया है । यह गाथा यह है—

“अकसाई विगयगेही सहस्वेसु अमूच्छिए झाई । छउमत्थोवि

न पमायं सहंवि कुब्बीत्था”

इस गाथामें छद्मस्थपनेमें भगवान्‌के एक बार भी प्रमाद सेवन करनेका निषेध था है और यह बात साक्षात् महावीर स्वामीसे सुनकर ही सुधर्मा स्वामीने जम्बू भोसे कही थी इस लिये इस बातको न मानकर भगवानमें प्रमाद सेवन करनेका दोष गला केवलिके वाक्यको न मानने रूप मिथ्यात्वका स्पर्श करना है परन्तु दीर्घ ससारी व केवलिके वाक्यका तिरस्कार करनेमें शका नहीं करते । आचाराग सूत्रके प्रमाणसे कि भगवान्‌के न चूकनेकी बात स्पष्ट सिद्ध होती है तब इसपर पर्दा डालनेके लिये उमलजीने अपने मनसे गढ़ कर यह बतलाया है कि 'गोतम स्वामीसे भगवानने । धरे और तेरह पक्ष तक पाप नहीं लगनेकी बात नहीं कही है ।'

अस्तु, भगवानने गोतम स्वामीसे नहीं कही परन्तु सुधर्मा स्वामीसे तो कही है । तुम इसे क्यों नहीं मानते ? बात तो सही ही है । मन्त्री बातको छिपावके लिये ने मनसे उसमें एक मिथ्या बात लगा देना कदाका पाण्डित्य है ?

(बोल १८ समाप्त)

प्रेरक)

भगवान्‌को छद्मस्थपनेमें दश स्वप्न आये थे उस समय अन्तर्मुहूर्त्त तक भगवान्‌को निद्रा आई थी । निद्रा लेना प्रमादका सेवन करना है फिर आचाराग सूत्रकी धामें यह क्यों कहा गया कि भगवानने छद्मस्थपनेमें एक बार भी प्रमादका सेवन किया था ?

प्रत्येक)

भगवान्‌ महावीर स्वामीको दश स्वप्न आये थे उस समय अन्तर्मुहूर्त्त तक उन्हें भी आई थी पर वह निद्रा द्रव्य निद्रा थी भाव निद्रा नहीं । मिथ्यात्व और अज्ञान शास्त्रमें भाव निद्रा कहा है । केवल सोने मात्रको नहीं केवल सोना तो द्रव्य निद्रा में शास्त्रीय विधानानुसार लेना हुआ साधु दोषका सेवन करने वाला नहीं होता । बात भ्रमविज्यसनकारको भी मान्य है उन्होंने लिखा है कि "तिहा भाव निद्राभी पाप लागे छै अने द्रव्य निद्राभी तो जीव दन छै" (भ्र०पृ० ४०९)

अतः भगवान्‌को द्रव्य निद्रा लेनेसे प्रमादका सेवन करने वाला नहीं कहा जा ता है । अतः आचाराग सूत्रकी पूर्वोक्त गाथामें जो भगवान्‌को एक बार भी प्रमाद न नहीं करनेका कथन है वह अक्षरशः यथार्थ है उसे न मान कर भगवान्‌के श्रूत का या प्रमाद सेवन करनेका दुराग्रह करना मिथ्या दृष्टिकोण का कार्य है ।

(अथ लेश्याधिकारः)

(प्रेरक)

लेश्या किसे कहते हैं ?

(प्ररूपक)

लिङ्ग्यते श्लिङ्ग्यते कर्मणा सह आत्मा अनयेति लेश्या । कृष्णादिद्रव्य साचिन्व्या-
दात्मनः परिणाम विशेषे । “कृष्णादिद्रव्य साचिन्व्यात्परिणामोय आत्मन । स्फटिकस्यैव
तत्राद्य लेश्या शब्द प्रयुज्यते” ॥१॥

अर्थात् जिसके द्वारा आत्माका कर्मके साथ सम्बन्ध होता है उसे लेश्या कहते
हैं । अथवा कृष्णादि द्रव्यके ससर्गसे स्फटिक मणिकी तरह जो आत्माका परिणाम
विशेष होता है उसे लेश्या कहते हैं । वह लेश्या दो प्रकारकी होती है एक द्रव्य लेश्या
और दूसरी भाव लेश्या । भाव लेश्या मुख्य रूपसे द्रव्यके ससर्गसे पैदा होने वाला
आत्माका परिणाम है और द्रव्य लेश्या मुख्य रूपसे पुद्गलका परिणाम (पर्याय) है ।

(प्रेरक)

सयमधारी साधुओमे कितनी लेश्याये होती हैं ।

(प्ररूपक)

सयमधारी साधुओंमें तेज पद्म और शुक्ल ये तीन भाव लेश्याये होती हैं, कृष्ण
नील और कापोत भाव लेश्याये नहीं होती । भगवती शतक १ उद्देशा १ मे यह लिखा
है इस लिये वहाका पाठ टीकाके साथ लिखा जाता है ।

“सलेशसा जहा ओहिया किणहलेसस्स नीललेसस्स काउलेसस्स
जहा ओहिया जीवा णवरं पमत्ता पमत्ता न भाणियन्वा । तेउलेसस्स
पल्ललेसस्स सुक्कलेसस्स जहा ओहिया जीवा णवरं सिद्धान
भाणियन्वा । ”

(म० श० १ उ० १)

(टीका)

“लेस्साण भन्ते ! जीवा किं आयारंभे” इत्यादि तदेव सर्वं नवरं जीवस्थान
सलेश्या इतिवाच्यम् इत्ययमेको वण्डक । कृष्णादिलेश्या सेवान् तद्वन्ते कट्टवन्ते

सन् तत्र “कण्डलेस्सस्” इत्यादि कृष्णलेश्यस्य नीललेश्यस्य कापोत लेश्यस्यच जीव-
राशेरङ्गको यथोधिकजीवदण्डकन्तथाऽध्येतव्यः । प्रमत्ता प्रमत्त विज्ञेय वज्र्य कृष्णादि-
शुद्धि अपास्त भावलेश्यासु सयनत्थनास्ति यच्चोच्यते पुन्र पडिवन्ताओ पुण अनेरिणउ
लेस्साए” त्ति तद्द्रव्य लेश्या प्रतीत्येतिमतव्यम् । ततस्तासु प्रमत्ताद्यभाव । तत्रसूत्रो-
च्चारण मेवम् । “कण्डलेस्साण भन्ते । जीवा किं आयारभा पगरभा तदुभयारभा
अगारभा ? । गोयमा ! आयारभावि जावगो अगारभा, संकेणद्वेण भन्त । एव वुच्चइ ?
गोयमा । अविरय पडुच्च” एव नील कापोतलेश्या दण्डकावपीति । तथा तजोलेश्या द्वे
जीवराशेरङ्गका यथोधिक जीवास्तथा वाच्य नवर तेषु सिद्धान्ताच्या सिद्धानामले-
श्यत्वात् तच्चैव “तेउलेस्साण भन्ते । जीवा किं आयारभा ४ गोयमा ! अत्येगइया
आयारभावि जावगो अनारभा । अत्येगइया नोमायारभा जाव अगारभा । संकेण-
द्वेण भन्ते । एव वुच्चइ ? गोयमा ! दुविहा तेउलेस्सा पन्नत्ता सजयाए असजयाए”

इस टीकाके अनुसार मूल पाठका अर्थ यह है—

अर्थात् जीव दो प्रकारका होता है एक सलेश्य और दूसरा अलेश्य । सलेश्य
जीवोंका वर्णन सामान्य जीवोंका वर्णनके समान जानना चाहिये । कृष्ण, नील और
कापोत लेश्या वाले जीवोंका वर्णन भी समुच्चय जीवोंका वर्णनके समान ही जानना
चाहिये परन्तु इनमें प्रमादी और अप्रमादी ये दो भेद नहीं होते क्योंकि कृष्ण नील
और कापोत भाव लेश्याओंमें सयनपना (साधुपना) नहीं होता । कहीं कहीं साधुओं
में छ लेश्याओंका भी उल्लेख है वह द्रव्यलेश्याकी अपेक्षासे समझना चाहिये भावलेश्याकी
अपेक्षासे नहीं अतः कृष्ण नील और कापोत इन तीन भाव लेश्याओंमें प्रमत्त और अप्र-
मत्त रूप दो भेद नहीं कहने चाहिये । कृष्णादि लेश्याओंमें सूत्रका उच्चारण इस प्रकार
करना चाहिये । “कण्डलेस्साण भन्ते । जीवा” इत्यादि ।

अर्थात् हे भगवन् ! कृष्ण लेश्यावाले जीव आत्मारभी परारभी और तदुभया-
रभी होते हैं या अनारभी होते हैं ?

(उत्तर) हे गौतम ! कृष्णलेश्या वाले जीव आत्मारभी परारभी और तदुभया-
रभी होते हैं अनारभी नहीं होते ।

(प्रश्न) हे भगवन् ! कृष्णलेश्या वाले जीव अनारभी नहीं होते किन्तु आत्मा-
रभी परारभी और तदुभयारभी होते हैं इसका क्या कारण है ?

(उत्तर) हे गौतम ! कृष्णलेश्या वाले जीव, अप्रवृत्ती अपेक्षासे आत्मारभी परा-
रभी और तदुभयारभी होते हैं अनारभी नहीं होते । इसी तरह नील और कापोतलेश्या
वाले जीवोंको भी समझना चाहिये ।

तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या वाले जीवोंको समुच्चय जीवोंके समान ही समझना चाहिये परन्तु इनमें सिद्ध जीवोंको न कहना चाहिये क्योंकि सिद्ध जीवोंमें कोई लेश्या नहीं होती ।

तेजोलेख्याके विषयमें सूत्रका पाठ इस प्रकार है —

“तेजोलेखाणं भन्ते ! जीवा किं आचारं भावि जाव अणारं भा ? गोयमा ! अत्येगह्या आचारं भावि जाव णो अणारं भा अत्येगह्या णो आचारं भा जाव अणारं भा । सेकेणट्ठेणं भन्ते ! एवं वुच्चह ! गायमा ! वुचिहा तेजोलेखा पण्णत्ता संजयाए असंजयाए”

(भा० सू०)

अर्थ —

हे भगवन् ! तेजोलेख्या वाले जीव, आत्मारभी परारभी और तदुभयारभी होते हैं या अनारभी होते हैं ?

(उ०) हे गोतम ! तेजोलेख्या वाले कोई कोई जीव, आत्मारभी परारभी और तदुभयारभी होते हैं अनारभी नहीं होते और कोई कोई अनारभी होते हैं आत्मारभी परारभी और तदुभयारभी नहीं होते ।

हे भगवन् ! तेजोलेख्या वाले जीवों में यह दो भेद क्यों होते हैं ?

हे गोतम ! तेजोलेख्यावाले जीव दो तरहके होते हैं एक सयत और दूसरे असयत । सयत भी दो प्रकार के होते हैं प्रमादी और अप्रमादी । अप्रमादी आत्मारभी परारभी और तदुभयारभी नहीं होते अनारभी होते हैं परन्तु प्रमादी अशुभ योगी साधु, अशुभ योग की अपेक्षा से आत्मारभी परारभी और तदुभयारभी होते हैं अनारभी नहीं होते ।

यह भगवन् की मूलपाठ और टीकाका अर्थ है ।

इस पाठमें कहा है कि कृष्ण नील और कापोत लेश्या वाले जीवोंको अधिक दण्डरुके जीवोंके समान ही समझना चाहिये परन्तु विशेष इतना है कि कृष्ण नील और कापोत लेश्याओंमें प्रमादी और अप्रमादी ये दो भेद नहीं होते ।

इस मूलपाठकी वातका अभिप्राय बतलाते हुए टीकाकारने लिखा है कि—

“कृष्णादिपुहि अप्रशस्त्रभाव लेश्यासु सयतत्त्व नास्ति”

अर्थात् कृष्ण, नील और कापोत, इन भाव लेश्याओंमें साधुपन नहीं होता इसलिये कृष्णादि तीन अप्रशस्त्र भाव लेश्याओं में प्रमादी और अप्रमादी, ये दो भेद वर्जित किये गये हैं ।

यह टीकाकारने मूलपाठका आशय बतलाते हुए साधुओंमें कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेख्याओंका साफ साफ निषेध किया है इसलिये साधुओंमें तेज पद्म और और शुक्ल, ये तीन भाव लेख्या ही होती हैं कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेख्या नहीं अतः साधुओंमें कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेख्याओंका सङ्घटन बनाना उक्त मूलपाठ और टीकासे विरुद्ध समझना चाहिये ।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २४२ पर लिखते हैं—

“अथ अठे ओधिक पाठ कह्यो—तिणमें सयतिरा मेद प्रमादी अप्रमादी किया ।

अने कृष्ण नील कापोत लेख्याने ओधिकनो पाठ कह्यो तिम कहियो पिण एतलो विशेष सयतिरा प्रमादी अप्रमादी ए दो मेद न करवा ते किम् प्रमत्तमें कृष्णादिक तीन लेख्या हुवे अने अप्रमत्तमें न हुवे ते भाटे दो मेद बज्या” (भ० पृ० २४२)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवतीजीके उक्त मूल पाठमें “पमत्ता पमत्तान नभाणियव्वा” यह जो वाक्य आया है उसका टीकानुसार यही अर्थ है कि कृष्ण नील और कापोत, इन तीन भाव लेख्याओंमें प्रमादी और अप्रमादी दोनों ही प्रकारके साधु नहीं होते किन्तु साधुने भिन्न जीव इनमें होते हैं । अतः कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेख्याओंमें प्रमादी साधुका सङ्घटन बनाना मिथ्या है ।

यदि शास्त्रकारको उक्त तीन भाव लेख्याओंमें केवल अप्रमादीको ही वर्जित करना इष्ट होता तो वह “पमत्ता पमत्ता नभाणियव्वा” ऐसा नहीं लिख कर “अपमत्ता नभाणियव्वा” यही लिख देते । इस प्रकार लिखनेसे कृष्णादि तीन भाव लेख्याओं में प्रमादीका होना और अप्रमादीका न होना साफ साफ मालूम हो जाता परन्तु शास्त्रकार ने ऐसा नहीं लिख कर “पमत्ता पमत्ता नभाणियव्वा” यह लिखा है इसका तात्पर्य यही है कि कृष्णादि तीन भाव लेख्याओंमें प्रमादी और अप्रमादी दोनों ही प्रकारके सयत्त नहीं होते और टीकाकारने भी मूल पाठका यही अर्थ स्पष्टरूपमें बतलाया है तथा इस पाठका टब्बा अर्थ भी कृष्णादि तीन भाव लेख्याओंमें प्रमादी और अप्रमादी दोनों प्रकार के सयत्तोंका निषेध करता है वह टब्बा अर्थ यह है—

“एतलो विशेष प्रमत्त अप्रमत्त वर्जित कहियो । कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेख्याने बिषे संयत्तपणो न थी”

इस टब्बा अर्थमें साफ साफ लिखा है कि कृष्णादि तीन अप्रगन्त भाव लेश्याओं में साधुपना नहीं होना इसलिये इन लेश्याओंमें प्रमादी और अप्रमादी दोनों प्रकार के सयत वर्जित किये गये हैं तथापि उक्त मूलपाठ, उसकी टीका तथा टब्बा अर्थ, इन तीनों को नहीं मान कर कृष्णादिक तीन भाव लेश्याओंमें साधुपनाका स्थापन करना, मिथ्या-त्वका परिणाम है ।

जिस प्रकार भगवतीके उक्त मूलपाठ, उसकी टीका और टब्बा अर्थमें कृष्णादि तीन भाव लेश्याओंमें प्रमादी और अप्रमादी दोनों ही प्रकारके साधुओंको वर्जित किया है उसी तरह भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा २ में कृष्णादि तीन भाव लेश्याओं में सराग, वीतराग, प्रमादी और अप्रमादी इन चारों प्रकारके साधुओंको वर्जित किया है । यह पाठ यह है —

“सलेस्साणं भन्ते ! नेरइया सव्वे समाहोरगा ? ओहियाणं सलेस्साणं सुक्कलेस्साणं एएसिणं तिन्नं तिण्हं एक्को गमो कण्हलेस्साणं नील लेस्साणं वि एक्को गमो । नवरं वेदणाए मायी मिच्छ दिट्ठी उववन्नगाय अमायिसम्मदिट्ठी उववन्नगाय भाणियव्वा मणुसा किरियासु सराग वीयरगपमत्ता पमत्ता न भाणियव्वा । काउलेस्साणवि एतेव गमो नवरं नेरइए जहा ओहिए दण्डए तहा भाणियव्वा । तेउलेस्सा पद्मलेस्सा जस्स अत्थि जहा ओहिओ दण्डओ तहा भाणियव्वा नवरं मणुसा सराग वीयरगा नभाणियव्वा”

(भ० श० १ उ० २)

अर्थ —

(प्रश्न) हे भगवन् ! सलेशी सभी नारकि जीवोंका क्या एक समान ही बाहर है ?

(उत्तर) ओषिक सलेशी और शुक्लेशी इन तीनोंके लिये एक समान ही पाठ कहना चाहिये । एव कृष्णलेशी और नीललेशी जीवोंके लिये भी एक समान ही पाठ कहना चाहिये परन्तु वेदनाके विषयमें विशेष यह है कि— मायी मिथ्या दृष्टि मद्भरन वेदना वाले होते हैं और अमायी सम्पददृष्टि अल्पवेदना वाले होते हैं मनुष्यपदमें किया सूत्रके अन्दर यद्यपि ओषिक दण्डकमें सरागो वीतरागी प्रमादी और अप्रमादी कहे हुए हैं तथापि कृष्ण और नील लेश्याके दण्डकमें इन्हें नहीं कहना चाहिये । कापोत लेश्याके दण्डकको भी नील लेश्याके दण्डकके समान ही कहना चाहिये परन्तु इसमें विशेष यही है कि कापोत लेश्या वाले नारकि जीवोंको ओषिक दण्डकके समान कहना चाहिये । तेजोलेश्या और पद्म लेश्या वाले जीवोंको ओषिक दण्डककी तरह कहना

अग्नि के एक इतना विरोध है कि इनमें सरागी और धीतरागी न कहने चाहिये । यह एक मूल सत्य है ।

इसमें कृष्ण, नील और कापोत लेश्याओंमें सरागी धीतरागी प्रमादी और अप्रमादी चारों प्रकारके संयत (साधु) वर्जित किये गये हैं इस लिये कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याएँ साधुओंमें नहीं होतीं यह स्पष्ट सिद्ध होना है अतः जो लोग सत्यविषयमें कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंका स्थापन करते हैं उन्हें उत्सुनवादी जानना चाहिये ।

(बोल २ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रम विध्वसन पृष्ठ २४६ पर इसी पाठको लिप्य कर इसकी स्थापना करते हुए लिखते हैं—

“सरागी धीतरागी प्रमादी अप्रमादी भेद कृष्ण नील सयति मनुष्यरा न हुवे तिरागी अने अप्रमादीमें कृष्ण नील लेश्या न हुवे ते माटे दो दो भेद न हुवे । सरागीमें ते कृष्ण नील लेश्या हुये पर धीतरागीमें न हुवे ते माटे सयतिरा दो भेद सरागी धीतरागी न करवा । अने प्रमादीमें तो कृष्ण नील लेश्या हुये पर अप्रमादीमें न हुवे ते माटे सरागी दो भेद प्रमादी अप्रमादी न करवा । इण न्याय कृष्ण नील लेशी सयतिरा सरागी धीतरागी प्रमादी अप्रमादी भेद करवा वज्या पर सयति वज्यों नहीं सयतिमें कृष्ण नील लेश्या छै । अने सयतिमें कृष्णादिक न हुवे तो हमि कहिता ‘संजया न भाणियन्वा’ इत्यादि ।

इसका क्या समाधान ?

(प्रत्यक्ष)

कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें सयति पुरुष नहीं होते क्योंकि अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें सयम नहीं होता इस लिये भगवतीके एक पाठमें कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें सरागी, धीतरागी, प्रमादी और अप्रमादी इन चारों प्रकारके संयतियोंका होना निषेध किया है, केवल सयतियोंके भेदका ही निषेध नहीं किया है वहाके पाठका भाव यह नहीं है कि प्रमादी और सरागीमें कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याएँ पायी जाती हैं और अप्रमादी तथा धीतरागीमें नहीं पायी जाती क्योंकि इसी मूल पाठमें आगे चलकर कहा है कि “तेज पक्का लेश्याओंमें सरागी और धीतरागी दोनों ही प्रकारके साधु नहीं होते” इसका तात्पर्य यही है कि सरागी

और वीतरागी इन दोनों प्रकारके साधुओंमें तेज पद्म लेश्यायें नहीं होतीं, यह नहीं कि सरागीमें तेज पद्म लेश्या पाई जाती है और वीतरागीमें नहीं पाई जाती क्योंकि नवम और दशम गुण स्थान वाले जीव भी सरागी ही होते हैं परन्तु उनमें तेज यें नहीं होतीं एकमात्र शुक्ल लेश्या ही होती है अतः जैसे तेजो लेश्या और पद्म लेश्यामें सरागी और वीतरागी इन दोनों प्रकारके ही साधुओंका होना निषेध किया है उसी तरह कृष्णादिक लेश्याओमें सरागी वीतरागी प्रमादी और अप्रमादी इन चारों प्रकारके लोके होनेका ही निषेध है । केवल भेद मात्र करनेका निषेध नहीं है । यदि कोई दुराग्रही यह नहीं मानकर सरागी और प्रमादीमें कृष्णादिक तीन भाव लेश्याओंका सद्भाव कहे तो उसे कहना चाहिये कि तुम सरागीमें तेज पद्म लेश्याका होना क्यों नहीं मानते ? यदि वह सरागीमें तेज पद्म लेश्याका होना स्वीकार कर ले तो फिर उसे अष्टम नवम और दशम गुण स्थान वाले साधुओंमें भी तेज और पद्म लेश्याका सद्भाव मानना पड़ेगा क्योंकि ये भी सरागी हैं परन्तु यह बात शास्त्र विरुद्ध है अष्टमादि गुण स्थानोंमें एक मात्र शुक्ल लेश्या ही शास्त्र सम्मत है तेज पद्म लेश्या नहीं । अतः जैसे तेज पद्म लेश्या में सरागी और वीतरागीका भेद करना ही वर्जित नहीं किन्तु सरागी और वीतरागी दोनों प्रकारके साधुओंका होनेका निषेध है उसी तरह कृष्णादिक अप्रशस्त भाव लेश्याओं में सरागी और वीतरागी प्रमादी और अप्रमादी इन चार प्रकारके साधुओंका होनेका ही निषेध है केवल इनके भेद मात्रका निषेध नहीं है ।

यदि कोई कहे कि तेजो लेश्या और पद्म लेश्यामें सरागी और वीतरागी दोनों ही प्रकारके साधुओंका निषेध है तो फिर सयमी पुरुषों में तेजो लेश्या और पद्म लेश्या नहीं होनी चाहिये तो इसका उत्तर यह है कि उक्त भगवतीजीके मूल पाठोंमें प्रमादी अप्रमादी सरागी और वीतरागी ये चार प्रकारके संयमी कहे गये हैं उनमें पञ्च गुण स्थान वाले प्रमादी, सप्तम गुण स्थान वाले अप्रमादी और अष्टमसे दशम गुण स्थान पर्यन्त तक सरागी और एकादशादि गुण स्थान वाले वीतरागी माने गये हैं इस लिये षष्ठ और सप्तम गुण स्थान वाले सयतियोंमें तेज पद्म लेश्याके होनेका निषेध नहीं है क्योंकि यहा सरागी शब्दसे अष्टमादि गुण स्थान वाले सयति ही गृहीत होते हैं षष्ठ और सप्तम गुण स्थान वाले नहीं उनको तो प्रमादी और अप्रमादी कह कर बतलाया है इस लिये षष्ठ और सप्तम गुण स्थान वाले सयतियोंमें तेजो लेश्या और पद्म लेश्याके होनेका निषेध नहीं किया जा सकता । जो लोग कृष्ण नील लेश्या वाले भगवतीजीके पूर्व लिखित पाठ में, कृष्णादिक तीन भाव लेश्याओंमें केवल प्रमादी अप्रमादी सरागी और वीतरागीका भेद होनेका ही निषेध मानते हैं उनके मतमें तेज पद्म लेश्यामें भी सरागी और वीतरागी

रागी भेदको ही वर्जित कहना चाहिये परन्तु सरागी साधुके अन्दर तेजो लेश्या और पद्म लेश्याक होनेका नहीं ऐसी दशामे जैसे वे लोग कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें प्रमादी और सरागीका सङ्गाव मानते हैं उसी तरह तेजो लेश्या और पद्म लेश्यामें अष्टमादि गुण स्थानवाले सरागियोंको भी क्यों नहीं मान लेते ? अतः जैसे अष्टमादि गुण स्थान वाले संयतियोंमे वे तेजो पद्म लेश्या नहीं मानत उन्नी तरह संयतियोंमें कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्या भी नहीं माननी चाहिये ।

यदि कोई कहे कि कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याआमे संयति मात्रका निषेध करना इष्ट था तो शास्त्रकारने पदलाघवात् “सजया नभाणियञ्चा” यही क्यों नहीं लिख दिया ? ऐसा लिखनेसे संयति मात्रका, कृष्णादिक अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें स्पर्श निषेध हो जाता और पदका भी लाघव होता तो इसका उत्तर यह है कि शास्त्रकार वैयाकरणोंकी तरह पद लाघवके पक्षपाती नहीं थे जहां केवल “पाणाणुकम्पयाए” इतना कह देनेसे ही काम चल सकता था, वहां उन्होंने “पाणाणुकम्पयाए भूयानुकम्पयाए जीवानुकम्पयाए सत्तानुकम्पयाए” इत्यादि चार पदोंका प्रयोग किया है । उसी तरह यहां भी “सजया नभाणियञ्चा” यह नहीं लिखकर “पमत्तापमत्ता सरागवीयगगा नभाणियञ्चा” यह लिखा है अतः इस पाठका टीका विरुद्ध और सम्प्रदाय विरुद्ध अर्थ करके साधुओंमें कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंका स्थापन करना मिथ्या समझना चाहिये ।

[बोल ३]

(प्रारंभ)

भ्रम विध्वंसनकार पन्नावगा सूत्रका मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“इहा पिण कृष्ण लेणी मनुष्यरा तीन भेद कथा छै संयति असंयति सयत्ता संयति न्याय संयतिमें पिण कृष्णादिक हुवे”

इसका क्या उत्तर ?

(प्रारंभ)

पन्नावगा सूत्रके मूल पाठका नाम लेकर संयतियोंमें कृष्णादिक अप्रशस्त भाव लेश्याओंका न्यापन करना मिथ्या है । भगवती सूत्र अ ग है और पन्नावगा सूत्र उ श ग र न लिखे भगवती सूत्रके विरुद्ध पन्नावगा सूत्रमें संयतियों अन्दर कृष्णादिक तीन अप्रशस्त लेश्याओंका सङ्गाव नहीं कहा जा सकता । अगोंमें कही हुई बातका उपाग

सूत्र समर्थन करते हैं स्पष्ट नही करते । जब कि भगवती सूत्रके मूल पाठमें और एक ही टीकामें संयतियोंमें कृष्णादिक अप्रशस्त भाव लेश्याओंके होनेका निषेध कर दिया है । उसके विरुद्ध पन्नावणा सूत्रमें संयतियोंमें कृष्णादि तीन भाव लेश्याओंका सम्भावना कहा जा सकता है ? उन पाठकोंके हानार्थ पन्नावण सूत्रका वह पाठ लिख कर उनका अर्थ कर दिया जाता है ।

वह पाठ यह है —

“कण्ठलेस्साणं भन्ते ! नेरइया सव्वे समाहारा सभ सरीरा सव्वेवपुच्छा ? गोयमा ! जहा ओहिया णवरं णेरइया वेदणाए मायी मिच्छदिट्ठी उववन्नगाय अमायी सम्मदिट्ठी उववन्न गाय भाणियन्वा सेसंतहेव जहा ओहियाणं असुर कुमारा जाव वाणमंतरा एते जहा ओहिया णवरं मणुस्साणं किरियाहिं विसेसो जाव तत्थणं जेते सम्मदिट्ठी तेतिविहा पन्नत्ता संजया असंजया संजया संजया जहा ओहियाणं”

(पन्नावणासूत्र पद १७)

अर्थ —

(प्रश्न) हे भगवन् ! कृष्णलेश्या वाले नारकी क्या सभी समान आहार वाले और समान शरीर वाले होते हैं ?

(उत्तर) हे गोतम ! जैसा अधिक दण्डकमें कहा गया है वैसा इसमें भी कहना चाहिये सिर्फ इतना विशेष है कि जो मायी मिथ्यादृष्टि भर कर नरकमें उत्पन्न होते हैं वे महात् वेदना वाले होते हैं और जो अमायी सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होते हैं वे अल्प वेदना वाले होते हैं शेष सभी पाते अधिक दण्डकके समान समझनी चाहिये । असुर कुमार और घाण वृक्षरोंको भी अधिक दण्डकके समान ही समझनी चाहिये । मनुष्यों में यह विशेष है—सम्यग्दृष्टि मनुष्य त्रिविध होते हैं— (१) संयत (२) असंयत (३) और सयत्ता संयत । शेष सब अधिक दण्डक के समान समझना चाहिये ।

यह इस पाठका अर्थ है ।

इस पाठमें “जहा ओहियाणं” कह कर अधिक दण्डकके समान ही संयति जीवोका भेद कहा है । अधिक दण्डकमें संयतिके चार भेद कहे गए हैं प्रमादी, अप्रमादी, सगगी और वीतरागी । इन चारों प्रकारके संयतियोंको भगवती सूत्रमें कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें न होना कहा है इसलिये इस पाठमें भी वही बात

समझनी चाहिये । अर्थात् यहाँ भी “जहाँ ओहियाण” कह कर प्रमादी अप्रमादी सरागी और वीतरागी इन चारों प्रकारके साधुओंको कृष्णलेख्यासे अलग किया गया है उनमें कृष्णलेख्याका सद्भाव नहीं कहा है । अन्यथा अप्रमादी और वीतरागीमें भी कृष्णलेख्या माननी पड़ेगी क्योंकि अधिक दण्डकमें समुच्चय लेख्याके अन्दर सयतिके प्रमादी अप्रमादी सरागी और वीतरागी ये चारों ही भेद कहे गये हैं इनमें यदि इस पाठसे कृष्णलेख्याका सद्भाव माना जाय तो प्रमादी और सरागीकी तरह अप्रमादी और वीतरागीमें भी कृष्णलेख्या सिद्ध होगी परन्तु अप्रमादी और वीतरागीमें कृष्णलेख्याका सद्भाव मानना भ्रमविध्वसनकारको भी इष्ट नहीं है अतः पन्नावणा सूत्र के इस पाठमें भी भगवती सूत्र के पूर्वोक्त पाठकी तरह कृष्णलेख्यामें चारों प्रकारके सयतियोंका निषेध ही किया है परन्तु सरागी और प्रमादीको रयापन नहीं किया है । इसलिये इस पाठका नाम लेकर साधुओं में कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेख्याओं का स्थापन करना एकान्त भिन्ना है ।

(बोल ४ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २३८ के ऊपर भगवती सूत्र शतक २५ उद्देश ६ का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—

“अथ अठे तीर्थक्रमे छद्मन्थपणे कपाय कुशील नियठो कही छै तिणसू भगवान्में कपाय कुशील नियठो हुन्तो अने कपाय कुशील नियठे छ लेख्या कही छै” आगे चल कर लिखते हैं “त न्याय भगवान्में छ लेख्या हुवे (अ० पृ० २३८)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती शतक २५ उद्देश ६ में कपाय कुशीलमें समुच्चय छ लेख्या कही है परन्तु वहाँ यह निर्णय नहीं किया है कि इन छ लेख्याओंमें कौन कौन द्रव्य रूप हैं और कौन कौन भाव रूप हैं । अब देखना यह है कि कपाय कुशीलमें जो छ लेख्याएँ कही गयी हैं वे द्रव्य रूप हैं या भाव रूप हैं ?

इसका निर्णय भगवती शतक १ उद्देश १ के मूलपाठ और दोकी टीकामें टीकाकारने कर दिया है वहाँ टीकाकारने कहा है कि—“कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेख्याओंमें साधुपना नहीं होता इसलिये इन लेख्याओंमें साधुको वर्जित किया है अहाँ कहीं

संयतिओमें कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याका कथन है वहा द्रव्यलेश्याकी अपेक्षासे समझना चाहिये भावलेश्याकी अपेक्षासे नहीं ।”

यह टीका मूलपाठके साथ पहले लिखी जा चुकी है टीकाकारकी इस उक्तिसे ओर वहाके मूलपाठसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि भगवती सूत्र शतक २५ उद्देशा ६ के मूलपाठमें कपाय कुशीलमें छ द्रव्यलेश्या कही गई है भाव लेश्या नहीं अतः भगवती सूत्र शतक २५ उद्देशा ६ के मूलपाठका नाम लेकर कपाय कुशील में कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओका स्थापन करना एकान्त मिथ्या है ।

(बोल ५ वां समाप्त)

(प्रेरक)

कपाय कुशील निग्रथ मूल गुण और उत्तर गुणमें दोष नहीं लगाता है इसमें क्या प्रमाण है ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक २५ उद्देशा ६ के मूलपाठमें कपाय कुशीलको दोषका अप्रतिसेवी कहा है वह पाठ यह है—

“कसाय कुशीले पुच्छा गोयमा ! नोपडिसेवए होज्जा एवं निर्य-
डेऽवि चउसेऽवि”

(भग० श० २५ । ७० ६)

अर्थ —

हे भगवन् ! कपाय कुशील दोष का प्रतिसेवी होता है या नहीं ?

(उत्तर) हे गोतम ! कपाय कुशील मूल गुण और उत्तर गुणमें दोष नहीं लगाता इसी तरह निग्रथ और स्नातक को भी समझना चाहिये ।

यह उक्त गाथाका अर्थ है ।

इस पाठमें स्नातक और निग्रन्थको तरह कपाय कुशीलको दोषका अप्रतिसेवी कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि कपाय कुशील निग्रथमें कृष्णादिक तीन भाव लेश्याएँ नहीं होतीं क्यों कि जिसमें कृष्णादि तीन भाव लेश्या होती हैं वह अवश्य ही दोषका सेवन करता है कपाय कुशील दोषका सेवन नहीं करता इसलिये उसमें कृष्णादि तीन भाव लेश्याएँ नहीं होतीं अतः कपाय कुशीलमें कृष्णादिक तीन भाव लेश्याओंका स्थापन करना भगवती सूत्रके मूलपाठसे विरुद्ध समझना चाहिये ।

बोल छठा समाप्त

क)
कृष्णलेख्याका क्या लक्षण है और वह सयति पुरुषोंमें क्यों नहीं होती यह सप्र
बतलाइये ?

प्ररूपक)
उत्तराध्ययन सूत्रमें कृष्ण लेख्याका लक्षण जिस प्रकार बतलाया है वह पाठ

यह है—
“पंचासवप्पमत्तो तीहिं अगुत्तो छसु अविरयोप । तीव्यारंभ
परिणयो खुदो सहसिओनरो । निद्व घस परिणामो निसंसो अजि
इन्दिओ । एय जोग समाउत्तो कणहलेत्सां तु परिणमे ।”
(उत्तराध्ययन अ० ३४ गाथा ३१ । २२)

टीका)

पञ्चाश्रवा हिमादय तौ प्रमत्त प्रमादवान् पञ्चाश्रव प्रमत्त पाठान्तरत पञ्चा-
श्रव प्रवृत्तो वाज्ज स्त्रिमि प्रस्तावान्मनोवाक्कायै रगुत्तोऽनियन्त्रितो मनोगुप्स्यादि रहित
इत्यर्थ तथा पट्सु पृथिवीकायाविषु अविरत अनिष्टतस्तदुपमर्दकत्वादेरितिगम्यते ।
अर्धवागीजामोऽपिस्याद्वत्माह तीव्रा उत्कटा स्वरूपतोऽध्यवसायतोवा आरम्भं सव-
मावय व्यापारास्तत्परिणत तत्प्रवृत्त्या तदात्मता गत तथा क्षुद्र सर्वस्यैवाहित्वेपी का-
र्षण्य युक्तोवा सहसा अपर्या लोच्य गुण दोषान् प्रवतत इति साहसिक बौध्यादि
छदिति योऽर्थ नर उपलक्षणत्वा त्स्त्र्यादिर्वा “निद्व घस” चि अत्यन्त भैहिकामुत्ति-
गपायशकाविक्रलोऽत्यन्त जन्तुवाधानपेशोवापरिणामोऽध्यवसायोवा यस्यसतया । नृ-
संसो निद्व शो जीवान् विहिसन् मनागपि नगकने निसंसोवा पर प्रशसा रहित
अतिनेन्द्रिय अनिगृहीतेन्द्रिय । अन्येतु पूर्व पूर्वसूत्रोत्तरार्थस्थाने इदमभिधीयते तच्चे
हेति उपसंहारमाह एतेच अनतरोक्ता योगाश्च मनोवाक्काय युक्त अन्वित्र जनयोग समानुष
प्रमत्तत्वादय स्तौ समिति भृश माडिति अभिग्राह्या युक्त अन्वित्र जनयोग समानुष
कृष्णलेख्यातु अवधारणे कृष्ण लेख्या मेवपरिणमेत् तद् द्रव्यमाचित्येन तथाविर द्रव्य
संपर्कात् स्फुटिक वत्तदु पर जनान् तद् पतामजेत् उक्त हि “कृष्णादि द्रव्यमारिभ्य
परिणामोय आत्मन स्फुटिकस्येव तत्रायं लेख्या शब्द प्रयुज्यते”

अर्थात् हिंसा आदि पाच आसत्रोंमें प्रमत्त यात्री मग्न रहने बाला या प्रवृत्त
बाला अनएव मन वचन और कायामे अगुन अर्थात् मनोयुनि आदि तीन गुनि
रहित तथा पृथिवी आदि छ कायके जीवोंके उपमद से नहीं हटा हुआ स्वरूप

अध्यवसायसे तीव्र यानी उत्कट सावय व्यापारमे प्रवृत्त होकर तत्स्वरूपताको प्राप्त, क्षुद्र सभीका अहित करने वाला अथवा कृपणतासे युक्त विना विचारे चोरी आदि बुरे कामों में झटपट प्रवृत्त हो जाने वाला इस लोक और परलोकके णिगडनेकी थोड़ी भी शंका नहीं रखने वाला प्राणियोंकी हिंसादि रूप बाधासे अत्यन्त निरपेक्ष परिणाम वाला, जीवहिंसा करनेमें थोड़ी भी शंका नहीं रखने वाला अथवा दूसरेकी प्रशंसासे रहित अजितेन्द्रिय और पूर्वोक्त पचाश्रय प्रमत्तत्व आदि योगोंसे अत्यन्त युक्त पुरुष कृष्ण देश्याके परिणामी होते हैं जैसे कृगादि द्रव्यके संसर्गसे स्फटिक मणि तद्रूप (कृष्ण रूप) हो जाता है उसी तरह उक्त जीव भी कृष्ण देश्याका परिणामी होता है कहा भी है कृष्णादि द्रव्यके संसर्गसे स्फटिककी तरह जो आत्माका कृगादिरूप परिणाम होता है उसीमें देश्या शब्दका प्रयोग होता है । यह उक्त गाथाओंका टीकानुसार अर्थ है ।

इन गाथाओंमें जो कृष्ण देश्याके लक्षण कहे गये हैं उनमेंसे एक भी साधुओंमें नहीं पाया जाता । कृष्ण देशी जीव, हिंसा आदि पाच आस्रवोंमें प्रमत्त (मग्न) या प्रवृत्त रहने वाला कहा गया है परन्तु साधु आस्रवोंमें मग्न नहीं रहता किन्तु वह पाच आस्रवका त्यागी होता है इस लिये साधुओंमें कृष्ण देश्याका लक्षण नहीं घटता । यदि कोई कहे कि “प्रमादी साधु आरंभी कहा गया है और आरम्भ करना आस्रवका सेवन करना है इस लिये यह लक्षण प्रमादी साधुमें घटता है” तो उसे कहना चाहिये कि इस गाथामें सामान्य आरम्भी पुरुषका ग्रहण नहीं होता किन्तु विशिष्ट रूपसे जो हिंसा आदि आस्रवोंमें प्रवृत्त रहता है उसीका ग्रहण है अतएव इस गाथामें कहा है कि तीव्रारम्भ परिणयो” इसका अर्थ टीकाकारने यह किया है—

“अयं च अतीव्रारंभोऽपि स्यादत आह तीव्रा उत्कटा स्वरूपतोऽध्यवसायतोऽहं आरम्भा सर्वसावय व्यापारास्तत्परिणत. तत्प्रवृत्त्या तदात्मतागत.”

अर्थात् सामान्य आरम्भ करने वाला पुरुष भी पाच आस्रवोंमें प्रवृत्त, और मन वचन कायमें अग्रग्न तथा छ कायके उपमर्दसे अविरत कहा जा सकता है परन्तु उसका ग्रहण वर्जित करनेके लिये इस गाथामें “तीव्रारम्भ परिणयो” ऐसा पद दिया गया है इसलिये जिसका आरम्भ, स्वरूप और अध्यवसाय इन दोनोंसे उत्कट है और जो हमेशा पाच आस्रवोंमें प्रवृत्त होकर तत्स्वरूप हो गया है उसीका इस गाथामें ग्रहण है और वही कृष्णदेश्याका परिणामी है । जो कभी कभी सामान्य रूपसे मंद आरम्भ करता है वह कृष्णदेश्या का परिणामी नहीं है । षष्ठ गुण स्थान वाला प्रमादी साधु यदा कदाचित् प्रमादवश आरम्भ करता है परन्तु उसका आरम्भ तीव्र नहीं होता अतः वह कृष्णदेश्या

का परिणामी नहीं है । जो मनो गुप्ति आदि तीन गुप्तिर्योंसे रहित है उसे यहा कृष्ण-
लेख्याका परिणामी कहा है साधु मनोगुप्ति आदिसे युक्त होता है इसलिये वह कृष्णलेख्या
का परिणामी नहीं हो सकता ।

अजितेन्द्रिय और चोरी आदिमे प्रवृत्त रहना यहा कृष्णलेख्याका लक्षण कहा है
परन्तु साधु जितेन्द्रिय और चोरी आदि दुष्कर्मसे निवृत्त रहते हैं अतः इस पाठमें कहा
हुआ कृष्णलेख्याका लक्षण साधुमें एक भी नहीं मिलना अतः सत्यति पुरुषोंमें और विशेष
कर कषाय कुशील में कृष्णलेख्या का सम्भाव कायम करना अज्ञानका परिणाम सम-
झना चाहिये ।

[बोल ७ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २३८ पर लिखने हैं—

“इत्तराध्ययन अध्ययन ३४ गाथा २१ पञ्चासवप्पमत्ता इतिवचनात् पञ्चासवमे
प्रवर्ते ते कृष्णलेख्याना लक्षण कहा अने भगवान् शीतल तेजो लेख्या लब्धिबोही तिहा
कृष्णली पाच क्रिया कह्यो ते माटे ए कृष्णलेख्याना वंश जाणवो”

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

इत्तराध्ययन अ० ३४ गाथा २१ में पाच आस्रवमें प्रवृत्त रहना कृष्णलेख्या का
लक्षण कहा है परन्तु जो पुरुष सामान्य रूपसे कभी कभी प्रमाद वश मद आरम्भ करता
है वह भी पाच आस्रवमे प्रवृत्त कहा जा सकता है अतः उसमें भी कृष्णलेख्याका लक्षण न
छा जाय इसलिये उक्त गाथामें “तीव्रारम्भ परिणयो” यह कृष्णलेख्या पुरुषका विशेषग
गाया है । इस विशेषगको छया कर जो पुरुष पाच आस्रवमें तीव्र रूपसे प्रवृत्त रहता
जो तीव्र आरम्भ करता है उसीको कृष्णलेख्याका परिणामी कहा है जो तीव्र आरम्भ
ही करता उसको नहीं अतएव इस विशेषग का सार्थक्य बतलाने हुए टीकाकार ने
कहा है कि—“अयचा तीव्रारम्भोऽपिस्यादतआह”

अर्थात् पाच आस्रवमें प्रवृत्त होना, मन वचन कायसे गुप्त नहीं रहना, और
येही काय आदिका उपमद करना, ये सब सामान्य आरम्भ करने वाले पुरुषमें भी हो
सकते हैं परन्तु सामान्य आरम्भ करने वाले कृष्णलेख्याके परिणामी नहीं होने इसलिये
“तीव्रारम्भ परिणयो” यह कृष्णलेख्याका विशेषग छाया है । इसलिये जो कृष्णलेख्याका
आरम्भ करता है वही कृष्णलेख्याका परिणामी है सामान्य आरम्भ करनेवाला नहीं ।

जो पुरुष सामान्य आरम्भ करने वाला है वह चाहे गृहस्थ हो तो भी उसमें कृष्णलेश्या का परिणाम नहीं कहा जा सकता फिर साधु तो गृहस्थकी अपेक्षा बहुत ही शुद्ध परिणामी होता है उसमें भाव रूप कृष्णलेश्याका सद्भाव तो सुतरा असम्भव है ।

इस गाथामें बताये हुए कृष्णलेश्याके लक्षण जब कि सामान्य साधुओंमें भी नहीं पाये जाते तब फिर भगवान् महावीर स्वामीके विषयमें तो कहना ही क्या है । वह तो अनुत्तर चारित्र्यी मूलगुण और उत्तर गुणमें दोष नहीं लगाने वाले कयाय कुशील थे उनमें भाव रूप कृष्णलेश्याका सद्भाव कैसे हो सकता है ?

अत उत्तराध्ययन सूत्रके इस गाथाका पहिला चरण लिख कर भगवान् महावीर स्वामी ने कृष्णलेश्या का लक्षण धटाना मूर्ख जनताको धोखा देना है ।

इस गाथाके बाद नीललेश्याका लक्षण बतानेके लिये उत्तराध्ययन सूत्रमें यह गाथा कही है —

“इस्सा अमरिस अतवो अविज्ज माया अहीरिया”

अर्थात् ईर्ष्या यानी दम्भरेके गुणको नहीं सहना, अमर्ष यानी अत्यन्त आग्रह करना, तप नहीं करना, कुशास्त्ररूप अविज्ञा, माया करना, और निर्लज्जता, ये नीललेश्या के लक्षण हैं ।

इस गाथामें माया करना नील लेश्याका लक्षण कहा है और दशमगुण स्थान पर्यन्त माया होती है । भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा २ के मूलपाठमें अप्रमादी साधुको माया प्रत्यया क्रिया कही गई है वह पाठ यह है—

“तत्थणं जेतो अप्पमत्त संजया तेसिणं एगा माया वत्तिया कि रिया कज्जड”

अर्थात् अप्रमादी साधुमें एक माया प्रत्यया क्रिया होती है ।

यहां अप्रमादी साधुमें माया प्रत्यया क्रियाका होना लिखा है और माया करना नील लेश्याका लक्षण कहा है फिर अप्रमादी साधुमें जीतमलज्जीके मतानुयायी नीललेश्या क्यों नहीं मानते ? यदि कहो कि “उत्तराध्ययन सूत्रकी उक्त गाथामें विशिष्ट मायाका ग्रहण होता है सामान्य का नहीं इसलिये विशिष्ट माया करना नील लेश्याका लक्षण है सामान्य माया करना नहीं । अप्रमादी साधुमें विशिष्ट माया नहीं होती इसलिये उसमें नीललेश्या नहीं है” तो उसी तरह विशिष्ट रूपसे आरम्भ करना कृष्णलेश्याका लक्षण है सामान्य आरम्भ करना नहीं इसलिये सयत्तियोंमें भाव रूप कृष्ण लेश्या नहीं होती क्यों कि वे विशिष्ट रूपसे आरम्भ नहीं करते हैं ।

यदि कोई सामान्य आरम्भको कृष्णलेश्याका लक्षण मान कर सयतियोंमें कृष्ण-
लेश्याका स्थापन कर तो फिर सामान्य मायाको नील लेश्याका लक्षण मान कर अप-
रि साधुमें नील लेश्या भी उसे माननी पड़ेगी परन्तु यदि सामान्य माया नील लेश्या
का लक्षण नहीं है तो उसी तरह सामान्य आरम्भ करना भी कृष्ण लेश्या का लक्षण
नहीं है अतः साधुओंमें भाव रूप कृष्ण लेश्या का स्थापन करना अज्ञान मूलक सम-
झना चाहिये ।

शीतल लेश्याके द्वारा जो भगवान् ने गोशालक की प्रागरक्षा की थी उससे भग-
वान् को पाच किया लगानेकी कल्पना करना भी मिथ्या है क्योंकि शीतल लेश्याके प्रयोग
करनेमें उत्कृष्ट पाच किया नहीं होता यह विस्तार के साथ लब्धि प्रकरणमें कहा जा
सुका है अतः लब्धि का नाम लेकर भगवान् में कृष्ण लेश्याका अंश कायम करना एकांत
मिथ्या है ।

यदि कोई कहे कि “कृष्ण लेश्या हुये बिना लब्धिका प्रयोग नहीं किया जाता इस
लिये भगवान् में कृष्ण लेश्या अवश्य थी” तो उसे कहना चाहिये कि पुत्रक निग्रन्थ,
जिस समय पुलाक लब्धिका प्रयोग करता है उसी समय उसमें पुलाक नियन्त्रा माना
गया है । जीनमलजीने भी भिक्षुयश रसायनमें लिखा है कि—

“पुलाक निर्यतो पीठाण ए लब्धिफोड्या कथौ जिण जाणए । स्थिति अन्त-
र्धूर्त थायर लब्धिनी स्थितितो अधिकायए ।

विरद उत्कृष्ट असंखेज्ज वामए पठे सो अवश्य प्रकटे विमासण । यामे चारित्र
गुण स्वीकारए तिणसु वन्दन जोग विचारए”

परन्तु पुलाक निग्रन्थमें तीन विशुद्ध भाव लेश्या ही कही गई हैं कृष्णलेश्या नहीं
या घटुश और प्रतिसेवना कुशील मूल गुण और उत्तर गुण में दोष लगाते हैं परन्तु
नमें लेश्या विशुद्ध ही कही गयी हैं इसलिये कृष्णलेश्याके हुए बिना लब्धिका प्रयोग
ही होता यह कथन अज्ञान मूलक है ।

[बोल ८ वां समाप्त]

(प्रेरक)

पुलाक, घटुश और प्रतिसेवना कुशीलमें तीन विशुद्ध भावलेश्या ही होती हैं इस
का प्रमाण है ?

(प्रत्युत्तर)

भगवती सूत्र शतक २५ उद्देशा ६ का मूल पाठ इसमें प्रमाण है। वह पाठ यह है —

“पुलाएणं भन्ते ! किं सलेस्सो होज्जा अलेस्से होज्जा ? गो-
यमा ! सलेस्से होज्जा णो अलेस्से होज्जा । जह सलेस्सो होज्जा
सेणं भन्ते ! कतिमुलेस्सासु होज्जा ? गोयमा ! तीसु विसुद्ध लेस्सासु
होज्जा तंजहा—तेउलेस्साए पम्हलेस्साए सुक्कलेस्साए, एवं वड-
सेवि एवं पणिसेवणा कुसोलेवि”

(भगवती श० २५ उ० ६)

अर्थ —

(प्रश्न) हे भगवन् ! पुलाक निग्रन्थ, सलेशो होता है या अलेशो होता है ?

(उत्तर) हे गोतम ! पुलाक निग्रन्थ सलेशो होता है अलेशो नहीं होता ।

(प्रश्न) हे भगवन् ! यदि सलेशो होता है तो यह कितनी लेख्याओंमें होता है ?

(उत्तर) हे गोतम ! तीन विशुद्ध लेख्याओं में होता है तेजो लेख्या में, पद्म लेख्या में, और शुक्ल लेख्या में । इसी तरह वकुश और प्रतिसेवनाकुशील तीन विशुद्ध लेख्याओं में भी होते हैं ।

यहां पुलाक वकुश और प्रतिसेवना कुशीलमें तीन विशुद्ध भाव लेख्याये कही गयी हैं कृष्णादि अप्रशस्त भाव लेख्या नहीं तथापि पुलाक निग्रन्थ लब्धिका प्रयोग करता है और वकुश तथा प्रतिसेवना कुशील मूल गुण और उत्तर गुण में दोष लगाते हैं इसलिये कृष्ण लेख्या के बिना लब्धिका प्रयोग नहीं होता यह कहना शास्त्र नहीं जानने का फल है ।

(प्रेरक)

पुलाक वकुश और प्रतिसेवनाकुशील दोषके प्रतिसेवी होते हैं इसमें क्या प्रमाण है ?

पुलाक वकुश और प्रतिसेवना कुशील दोषके प्रतिसेवी होते हैं इस विषयमें भगवती शतक २५ उद्देशा ६ का मूलपाठ प्रमाण है वह पाठ यह है —

“पुलाएणं भन्ते ! किं पडिसेवएहोज्जा अपडिसेवएहोज्जा ?
पडिसेवए होज्जा नो अपडिमेवए होज्जा । जइपडिसेवए होज्जा किं
मूल गुण पडिसेवए होज्जा उत्तर गुण पडिसेवए होज्जा ? गोयमा !
मूल गुण पडिसेवए होज्जा उत्तर गुण पडिसेवए होज्जा । मूल गुण

पडिसेवमाणे पञ्चण्हं अणासवाणं अण्णयर पडिसेवएज्जा उत्तर गुण
पडिसेवमाणे दसविहस्स पञ्चखाणस्स अण्णयरं पडिसेवेज्जा । वउ-
सेणं पुच्छा ? पडिसेवए होज्जाणो अपडिसेवए होज्जा । जह पडिसे-
वए होज्जा किं मूल गुण पडिसेवए होज्जा उत्तर गुण पडिसेवए
होज्जा । गोयमा ! नो मूलगुण पडिसेवए होज्जा उत्तरगुण पडि-
सेवए होज्जा उत्तरगुण पडिसेवमाणे दसविहस्स पञ्चखाणस्स
अण्णयरं पडिसेवेज्जा । पडिसेवणा कुशीलं जहा पुलाए”

(भग० श० २५ उ० ६)

अर्थ—

हे भगवन् ! पुलाक निग्रय प्रतिसेवी होता है या अप्रतिसेवी होता है ।

(उत्तर) हे गोतम ! प्रतिसेवी होता है अप्रतिसेवी नहीं होता ।

(प्रश्न) यदि प्रतिसेवी होता है तो क्या यह मूल गुणका प्रतिसेवी होता है या उत्तर गुणका प्रतिसेवी होता है ?

(उत्तर) हे गोतम ! मूल गुण और उत्तर गुण दोनोंका ही प्रतिसेवी होता है जन यह गुणका प्रतिसेवी होता है तब पञ्च महाप्रतोंमेंसे किसी एककी विराधना करता है और जब उत्तर गुणका प्रतिसेवी होता है तब दश विध प्रत्याघ्यानोमेंसे किसी एककी विराधना करता है ।

(प्रश्न) हे भगवन् ! वज्जु निग्रय प्रतिसेवी होता है या अप्रतिसेवी होता है ?

(उत्तर) हे गोतम ! प्रतिसेवी होता है अप्रतिसेवी नहीं होता ।

(प्रश्न) हे भगवन् ! यह मूल गुणका प्रतिसेवी होता है या उत्तर गुणका प्रतिसेवी होता है ?

(उत्तर) हे गोतम ! वज्जु निग्रय मूल गुण का नहीं उत्तर गुण का प्रतिसेवी होता है । जब यह उत्तर गुणका प्रतिसेवी होता है तब दशविध प्रत्याघ्यानोमेंसे किसी एककी विराधना करता है । प्रतिसेवना कुशील, पुलाककी तरह मूल गुण और उत्तर गुण दोनोंका प्रतिसेवी होता है ।

यहा पुलाक और प्रतिसेवना कुशीलको मूलगुण और उत्तर गुण दोनोंका प्रतिसेवी कहा है तथा वज्जुको उत्तर गुणका प्रतिसेवी कहा है तथापि इनमें तीन विग्रह मान लेश्या ही पाई जाती हैं इस लिये छद्मादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याके बिना दोष सेवा नहीं होता यह कहना अज्ञानका परिणाम है ।

(बोल ९ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वसनकार भ्रम विध्वसन पृष्ठ २१२ पर भगवती शतक २५ उद्देश ६ का मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“कपाय कुशील छाडि ए छ ठीकाने आवतो कह्यो । कपाय कुशीलने दोष लागे इज नहीं तो सयमा सयममे किम आवे एतो साधुपणो भागि आवकथयो तेतो मोटो दोष छै । एतो साम्प्रत दोष लागे तिवारे साधुरो आवक हुवे छै । दोष लागा विना तो साधुरो आवक हुवे नहीं । जे कपाय नियठे तो साधु हुन्तो पछे साधु पणो पल्यो नहीं तिवारे आवकरा व्रत आदरी आनक थयो जे साधुरो आवक थयो यह निश्चय दोष लायो”

इसका क्या समाधान ?

(भ० पृ० २१२)

(प्ररूपक)

जैसे कपाय कुशील, कपाय कुशीलपनाको छोडकर संयमासयममे जाता है उसी तरह निग्रथ भी निग्रथपनाको छोड कर असयममे जाता है । यदि कपाय कुशील, कपाय कुशीलपना छोडकर सयमा संयममें जानेसे दोषका प्रतिसेवी होता है तो फिर निग्रथ भी निग्रथपना छोड कर असयममें जानेसे दोषका प्रतिसेवी क्यों नहीं होता । भ्रमविध्वसनकार भी निग्रथको दोषका प्रतिसेवी नहीं मानते ऐसी दृष्टिसे कपाय कुशीलको प्रतिसेवी मानना उनका अयुक्त है ।

वास्तवमें दोषका प्रतिसेवी वही कहा गया है जो मूलगुण और उत्तर गुणमें दोष लगाता है । जो मूल गुण और उत्तर गुणमें दोष नहीं लगाता है वह दोषका प्रतिसेवी नहीं कहा गया है । कपाय कुशील और निग्रथ मूल गुण और उत्तर गुणमें दोष नहीं लगाते हैं इस लिये वे दोषके प्रतिसेवी नहीं हैं । यदि गिरनेसे दोषका प्रतिसेवी माना जाय तो फिर निग्रथको भी प्रतिसेवी ही मानना पड़ेगा क्योंकि निग्रथ भी असंयममें जाता है अतः गिरनेसे कोई दोषका प्रतिसेवी नहीं माना जाता किन्तु मूलगुण और उत्तर गुणमें दोष लगानेसे माना जाता है अतः जैसे निग्रथ गिरकर असयममें जानेपर भी दोषका प्रतिसेवी नहीं है उसी तरह कपाय कुशील गिर कर सयमा सयममें जाने पर भी दोषका प्रतिसेवी नहीं है ।

यदि कोई नठे कि कपाय कुशील शास्त्रमें विराधकभी कहा गया है फिर वह दोष का प्रतिसेवी क्यों नहीं ? तो इसका उत्तर यह है कि कपाय कुशीलकी तरह निग्रथ भी विराधक कहा गया है फिर निग्रथको भी दोषका प्रतिसेवी क्यों नहीं मानते ?

भगवती शतक २५ उद्देश ६ में निग्रथको विराधक कहा है वह पाठ यह है —

“कषाय कुशीले पुच्छा ? गोयमा ! अविराहणं पडुच्च इन्द-
ताएवा उववज्जेज्जा जाव अहमिन्दताए उववज्जेज्जा । विराहणं
पडुच्च अन्नपरेसु उववज्जेज्जा नियंठे पुच्छा ? गोयमा ! अविराहणं
पडुच्च णोइन्दताए उववज्जेज्जा जावणो लोम पालताए उववज्जेज्जा
अहमिन्दताए उववज्जेज्जा, विराहणं पडुच्च अण्णधरेसु उववज्जे-
ज्जा”

(भगवती शतक २५ उ० ६)

प्रश्न—

हे भगवन् ! कषाय कुशीलके विषयमें प्रश्न है ?

(उत्तर) हे गोतम ! अविराधक कषाय कुशील इन्द्रसे लेकर थायत् अहमिन्द्रमें
लम्ब होता है और विराधक कषाय कुशील सुवनपत्त्यादिकोंमें जाता है ।

(प्रश्न) निम थके विषयमें प्रश्न है ?

(उत्तर) अविराधक निम थ इन्द्रादिकोंमें तथा लोकपालादिकोंमें उत्पन्न गर्हीं होता
किन्तु वह अहमिन्द्र होता है और विराधक निम थ सुवनपत्त्यादिकोंमें जाता है ।

यह कषाय कुशीलकी तरह निम थको भी विराधक कहा है अतः विराधक दोनो
थोड़े कषाय कुशील दोषका प्रतिसेवी हो तो फिर निम थको भी दोषका प्रतिसेवी कहना
होगा क्योंकि इस पाठमें निम थको भी विराधक कहा है । इस लिये जैसे विराधक दोनो
पर भी निम थ दोषका प्रतिसेवी नहीं होता वसी तरह कषाय कुशील भी दोषका प्रति-
सेवी नहीं होता । अतः विराधक तथा विराधके नाम लेकर कषाय कुशीलको दोषका प्रति-
सेवी बनाना अज्ञान है ।

(बोल १० वां समाप्त)

(प्रेरक)

अम विज्वंसनकार अम विज्वंसन श्रुत २३० पर थायवयक गुणका भाग ७५५
लिखने हैं —

“अथ इहा विम छ लेश्या करी । जो अग्रुम लेश्यां नर्क मो म पादवधू
करो । तथा पदिकमामि चर्चदि श्राणेणं अट्टं श्राणेणं अट्टं श्राणेणं श्राणेणं
सुक्केणं श्राणेणं” इहा साधुमें थाय वयात कथा । निम नार्क श्राणेणं मो निम कथा
नील, कापोन लेश्या विम माय”
(२१५ पृ० ५३५)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

आवश्यक सूत्रका नाम लेकर साधुओंमें कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव देख्याका स्थापन करना और साधुमें द्रुध्यान बतलाना अयुक्त है । रुद्रध्यान वालेकी शास्त्रमे नरक गति कही है और हिंसा आदि अति क्रूर कर्मोंके आचरण करनेके लिये दृढ निश्चय करनेका नाम रुद्रध्यान है । ठाणाङ्ग सूत्रकी टीकामे लिखा है कि—

“ध्यान दृढोऽध्यवसाय । हिंसायति क्रौर्यानुगत रुद्रम्”

अर्थात् हिंसा आदि अति क्रूर कर्मोंके आचरण करनेका जो दृढ निश्चय है वह रुद्रध्यान है । यह चतुर्विध होता है (१) हिंसानुबन्धी (२) मृपानुबन्धी (३) स्तेनानुबन्धी (४) संरक्षणानुबन्धी ।

ये चारो प्रकारके ध्यान अति क्रूर कर्मियोंके होते हैं साधुके नहीं होते क्योंकि साधु अति क्रूर कर्मों नहीं है ।

आवश्यक सूत्रमे ‘पडिकमामि चउहिं क्षार्णेहिं’ यह पाठ आया है इससे साधुओं में रुद्रध्यान नहीं सिद्ध हो सकता क्योंकि आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यानमें अविश्वास होनेसे जो साधुको अतिचार आता है उसकी निवृत्तिके लिये उक्त पाठका उच्चारण करके साधु प्रतिक्रमण करता है इन चारों ध्यानोके साधुमें होनेसे नहीं अतएव इन पाठका अभिप्राय बतलाते हुए टीकाकारने लिखा है—

“प्रतिक्रमामि चतुर्भिर्ध्याने कण भूतै रश्रद्धेयादिना प्रकारेण योऽतिचार कृतः”

अर्थात् शास्त्रोक्त चार ध्यानोमें अविश्वास होनेसे जो अतिचार किया है उससे मैं निवृत्त होता हूँ यह साधु प्रतिज्ञा करता है ।

यहा टीकाकारने शास्त्रोक्त चार ध्यानोमें अविश्वास रखनेसे होने वाले अतिचारकी निवृत्तिके लिये प्रतिक्रमण करना कहा है इन ध्यानोके साधुओंमें होनेसे नहीं । अत आवश्यक सूत्रका नाम लेकर साधुमे रुद्रध्यानका स्थापन करना मिथ्या है । जिस प्रकार साधुमें रुद्रध्यान नहीं होता उसी तरह उसमें कृष्णादि अप्रशस्त भाव देख्या भी नहीं होती तथापि यदि कोई दुर्गमही प्रतिक्रमण सूत्रकी टीकाको न मान कर साधुमें रौद्र ध्यानका स्थापन करे तो उसे कहना चाहिये कि शास्त्रमें प्रमादी साधुको ही प्रतिक्रमण करनेकी आवश्यकता बतलाई है और प्रतिक्रमण सूत्रमे रुद्र ध्यानकी तरह शुक्ल ध्यानका भी प्रतिक्रमण कहा है फिर तुम प्रमादी साधुमें शुक्ल ध्यानका सद्भाव क्या नहीं मानते ? अत जैसे प्रमादी साधुमे शुक्ल ध्यान न होने पर भी उसमे होनेसे जो अतिचार आता है उसकी निवृत्तिके लिये प्रमादी साधु प्रतिक्रमण

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

आवश्यक सूत्रका नाम लेकर साधुओंमें कृपादिक तीन अप्रशस्त भाव देश्याका स्थापन करना और साधुमें रुद्रध्यान बतलाना अयुक्त है । रुद्रध्यान वालेकी शास्त्रमे नरक गति कही है और हिंसा आदि अति क्रूर कर्मोंके आचरण करनेके लिये दृढ निश्चय करनेका नाम रुद्रध्यान है । ठाणाद्ग सूत्रकी टीकामें लिखा है कि—

“ध्यानं दृढोऽप्यनसाय । हिंसायति क्रौर्यानुगत रुद्रम्”

अर्थात् हिंसा आदि अति क्रूर कर्मोंके आचरण करनेका जो दृढ निश्चय है वह रुद्रध्यान है । यह चतुर्विध होता है (१) हिंसानुबन्धी (२) मृषानुबन्धी (३) स्तेनानुबन्धी (४) संरक्षणानुबन्धी ।

ये चारो प्रकारके ध्यान अति क्रूर कर्मियोंके होते हैं साधुके नहीं होते क्योंकि साधु अति क्रूर कर्मों नहीं है ।

आवश्यक सूत्रमें ‘पट्टिकामामि चउहिं क्षाणोहिं’ यह पाठ आया है इससे में रुद्रध्यान नहीं सिद्ध हो सकता क्योंकि आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यानमें श्वास होनेसे जो साधुको अतिचार आता है उसकी निवृत्तिके लिये उक्त रण करके साधु प्रतिक्रमण करता है इन चारो ध्यानोंके साधुमें होनेसे नहीं पाठका अभिप्राय बतलाते हुए टीकाकारने लिखा है—

“प्रतिक्रमामि चतुर्भिर्ध्यानैः करण भूतै रश्रद्धेयादिना मरारः”

अर्थात् शास्त्रोक्त चार ध्यानोंमें अविश्वास होनेसे जो - में निवृत्त होता है यह साधु प्रतिज्ञा करता है ।

यहां टीकाकारने शान्त्रोक्त चार ध्यानोंमें अविश्वास चारकी निवृत्तिके लिये प्रतिक्रमण करना कहा है इन ध्यानोंके अतः आवश्यक सूत्रका नाम लेकर साधुमें रुद्रध्यानका प्रकार साधुमें रुद्रध्यान नहीं होता उसी तरह उसमे नहीं होती तथापि यदि कोई दुराग्रही प्रतिक्रमण सूत्रकी रौद्र ध्यानका स्थापन करे तो उसे कहना चाहिये कि क्रमण करनेकी आवश्यकता बतलाई है और प्रतिक्रमण ध्यानका भी प्रतिक्रमण कहा है फिर तुम प्रमादी साधुमें नहीं मानते ? अतः जैसे प्रमादी साधुमें शुक्ल ध्यान न होनेसे जो अतिचार आता है उसकी निवृत्तिके लिये ममः

तब रुद्रध्यानमें अविश्वास होनेके कारण जो अतिचार आता है उसकी निवृत्तिके लिये प्रतिक्रमण करता है रुद्रध्यानके साधुमें होनेसे नहीं ।

प्रतिक्रमण सुरुमें जैसे चार ध्यानोंके प्रतिक्रमणके विषयमें पाठ आया है उमी तब मिथ्या दर्शन शल्य के प्रतिक्रमण के विषय में भी पाठ आया है । वह पाठ यह है—

“पडिक्कामानि तीहिं सल्लेहिं मायासल्लेणं नीयाणसल्लेणं मिच्छा-
दसण सल्लेणं”

अर्थ —

साधु कहता है कि मैं माया शल्य, निगान शल्य और मिथ्या दर्शन शल्य इन तीनोंसे निवृत्त होता हूँ ।

यह इस पाठका अर्थ है ।

यहां साधुको मिथ्यादर्शन शल्यसे भी प्रतिक्रमण करना कहा है परन्तु साधुमें मिथ्या दर्शन शल्यका सद्भाव नहीं है उसी तरह रुद्र ध्यान भी साधुमें नहीं होता तथापि उसमें अविश्वास होनेके कारण प्रतिक्रमण करना कहा है । यदि साधुमें रुद्र ध्यान होनेसे वह प्रतिक्रमण करता है तो फिर साधुमें मिथ्या दर्शन शल्य होने से उसका प्रतिक्रमण करना मानना चाहिये । परन्तु साधुमें मिथ्यादर्शन नहीं होता उसी तरह वसमें रुद्र ध्यान भी नहीं होता, किन्तु उनमें अविश्वास होनेके कारण साधु प्रतिक्रमण करता है ।

(बोल ११ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्यसतकार भ्रमविध्यसत पृष्ठ २४० पर पन्तावणा सूत्र पद १७ का मूलपाठ लेख कर उसकी मलय गिरि की टीकाकी साथी देकर साधुओंमें दृष्टादिक तीन अग्र-
स्त भाव लेख्याका स्थापन करते हैं । (भ० पृ० २४० य० सू० १७)

इसका क्या समाधान ?

(प्रत्यक्ष)

मलय गिरि टीकामें मन पर्यवृत्तानियोंमें दृष्टालेख्या धतलाई गयी है परन्तु वह टीका भगवती शतक १ उद्देश २ के मूलपाठ और उसकी टीकासे विरुद्ध है अतः वह मान्य नहीं मानी जा सकती है । भगवती शतक १ उद्देश २ का मूलपाठ और उसकी

टीका पहले लिख दी गयी है । वहा साफ साफ लिखा है कि—प्रमादी अप्रमादी सरागी और धीतरागी ये चारो प्रकारके संयति कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्यामे नहीं होते । टीकाकारने कहा है कि—

“कृष्णादिषुहि अप्रशस्त भाव लेश्यासु संयतत्वं नास्ति”

अर्थात् कृष्णादिक अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें संयम नहीं होता । अतः कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें संयम मानना उक्त टीका और भगवती शतक १ उद्देश २ के मूलपाठसे विरुद्ध है ।

यह स्मरण रखनेकी बात है कि कोई भी टीका स्वतः प्रमाण नहीं होती । टीका की प्रमाणता मूलपाठके आधीन है अतः जो टीका मूल पाठसे प्रतिकूल है वह कदापि प्रमाण नहीं है । मलयगिरि टीका भगवतीके उक्त मूलपाठ और उसकी प्राचीन टीकासे विरुद्ध है इसलिये वह प्रमाण नहीं मानी जा सकती ।

भ्रमविध्वंसनकारने पन्नावणा सूत्रका जो मूलपाठ लिखा है उसमें भी यह नहीं कहा है कि मन पर्यव ज्ञानियोंमें भाव कृष्ण लेश्या पाई जाती है वहा सामान्य रूपसे कृष्ण लेश्याका होना लिखा है अतः वह कृष्ण लेश्या द्रव्यरूप है, भाव रूप नहीं क्योंकि भगवतीके मूलपाठमे साफ साफ संयतियोंमें कृष्णादि तीन भाव लेश्याओंका निषेध किया है उससे विरुद्ध पन्नावणा सूत्रमे संयति पुरुषोंमें भाव कृष्ण लेश्याका स्थापन कैसे किया जा सकता है ? भगवती सूत्र अङ्ग है और पन्नावणा उपाग है । अङ्गमे कही हुई बात का उपाङ्ग सूत्रमें समर्थन किया जाता है खण्डन नहीं किया जाता । अतः पन्नावणा सूत्र की साक्षी से संयतियो मे भाव कृष्ण लेश्या का स्थापन करना अज्ञान मूलक है ।

(बोल १२ वां समाप्त)

लेश्या प्रकरणका सार यह है—

कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंमे साधुता नहीं होती । तेज पद्म और शुक्ल रूप भाव लेश्याओंमे ही साधुता होती है । इन विशुद्ध भाव लेश्याओंसे युक्त जो साधु, सदादिकी रक्षाके लिये वैक्रीय लब्धिका प्रयोग करता है उसे शास्त्रकारने भावि-तात्मा अनगार कहा है ।

भगवती शतक ३ उद्देश ५ में मूलपाठ आया है—

“सेजहा नामए केह पुरिसे असिचम्म पायं गाहाए गच्छजा
एवामेव अणगारेवि भावियणा असिचम्मपायंहृत्थकिवगणं

अप्पाणेणं उड्डं वेहासं उप्पएज्जा ? हंता ! उप्पएज्जा”

(भ० ग० ३ उ० ५)

अर्थ —

(प्रश्न) हे भगवन् ! जैसे कोई पुरुष खड्ग और चर्मको धारण करके चलता है उसी तरह भावितात्मा अनगार संघ आदिका कार्याक लिये अस्ति चर्मको धारण करके ऊपर आकाशमें चल सकता है ?

(उत्तर) हां ! गोतम ! चल सकता है ।

यह उपर्युक्त पाठका मूलार्थ है ।

इस पाठमें सघ सादिका कार्याके लिये अस्ति और चर्मको धारण करके ऊपर आकाशमें चलने वाले साधुको भावितात्मा अनगार कहा है इससे सिद्ध होता है कि मूल गुण और उत्तर गुणमें दोष लगाने पर भी साधुओंमें स्वयम्के श्रेष्ठ गुण मौजूद रहते हैं इसलिये वनमें विशुद्ध भाव लेख्या ही होती हैं अप्रशस्त भाव लेख्या नहीं होती अन्यथा अस्ति चर्म धारी होकर आकाशमें चलने वाले साधुको इस पाठमें भावितात्मा नहीं कहते । जिसमें शुद्ध भाव लेख्या होती है वही भावितात्मा हो सकता है अशुद्ध भाव लेख्या वाला नहीं अतः साधुओं में अप्रशस्त भाव लेख्याओं का स्थापन करना मिथ्या है ।

जीतमलजीने भिक्खुयश रसायन नामक ग्रन्थमें लिखा है कि—

“मूलगुणने उत्तर गुण माहिए दोष लगाने ते दु ख दायए पडिसेवणा कुशील पिछाणए । जघन्य दो सौ कोडते जाणए नहीं विरह ए थी ओठा नहीं ए । एपिण छट्ठे गुणठाणे कहिवायए यामे चारित्र गुण स्वीकार ए । तिणसू वन्दवा जोग विचार ए । ”

इस पद्यों में जीतमलजी ने कहा है कि प्रतिसेवना कुशील यद्यपि मूलगुण और उत्तर गुणमें दोष लगाना है तथापि उसमें छठा गुण स्थान और चारित्रके श्रेष्ठ गुण मौजूद हैं अतः वह वन्दनीय समझा जाता है ।

इन्के मतानुयायियोंसे पूटना चाहिये कि मूलगुण और उत्तर गुणमें दोष लगाने वाले साधुओंमें जनकि चारित्रके श्रेष्ठ गुण मौजूद रहते हैं तब फिर वनमें अप्रशस्त कृष्णादिक भाव लेख्या कैसे हो सकती है ? क्योंकि कृष्णादिक अप्रशस्त भाव लेख्याओंमें दिक भाव लेख्या कैसे हो सकती है ? क्योंकि कृष्णादिक अप्रशस्त भाव लेख्याओंमें चारित्रके श्रेष्ठ गुण कदापि नहीं विद्यमान रह सकते । अतः चारित्रके श्रेष्ठ गुण, और अशुभ भाव लेख्याओंका सद्भाव, इन दोनों परस्पर विरुद्ध धानोंको एक व्यक्तिमें स्वीकार करना अज्ञान मूलक समझना चाहिये ।

तेज पद्म और शुक्ल लेश्याओमें भी दोषका प्रतिसेवन होता है इस लिये दोषके प्रतिसेवनका नाम लेकर साधुओंमें कृष्णादिक अप्रगस्त भाव लेश्याओंका स्थापन नहीं किया जा सकता । वैमानिक देवताओंमें तेज पद्म और शुक्ल लेश्या ही मानी गई हैं परन्तु वैमानिक देवता आत्मारभी परारभी और तदुभयारभी होते हैं । इस प्रकार जब कि आत्मारभी परार भी और तदुभयारभी वैमानिक देवताओंमें विशुद्ध तीन भाव लेश्या ही मानी गई हैं तब महाव्रतके पालने वाले मुनियोंमें दोष लगानेपर भी प्रगस्त तीन भाव लेश्याओंके होनेमें क्या सदेह है ?

अब इन लेश्याओंका स्वरूप समझानेके लिये आवश्यक सूत्रकी टीकामें दिये हुए दृष्टान्त बताये जाते हैं—

“जहजम्बूतरु रेगो सुपक्वफल भरिय नमिय सालगगो ।

दिट्ठो छहिं पुरिसेहिं तेविंतो जम्बु भक्खेमो ।

किंहु पुणतेवेत्तेको आरुहयाणाण जीव संदेहो ।

तो छिंदि ऊण मूले पाडे मुंताहे भक्खेमो ।

वित्तिआह एदहेणं किं छिण्णेणं तरुण अम्हंति ।

साहा महल्ल छिंदह तेदयो वेत्ती प्रसाहाओ ।

गोच्छे चउत्थ ओऊण पञ्चमो वेगेण्हह फलाहं ।

छट्ठोवेत्ति पडिया एएच्चिय खाह वेतुं जे ।

दिट्ठं तस्सो वणयो जोवेत्ति तरुवि छिन्नमूलाओ ।

सोवट्ठ किण्हाए साल महल्लाउ नीलाओ ।

एवह पसाहा काऊ गोच्छा तेऊ फलाय पम्हाए ।

पडियाए शुक्कलेस्सा अहवा अन्न मुदाहरणं ।”

अर्थ —

पके हुए सुन्दर फलोंके भारसे नम्र शाखा वाले किसी एक जामुनके वृक्षको छ पुरुषोंने देखा । वे सभी कहने लगे कि हम लोग इस जामुनके फलको खाय । उनमेंसे किसी एकने जामुनके फलको पानेका उपाय बतलाते हुए कहा कि वृक्षके ऊपर चढ़नेमें गिरनेका भय है इस लिये इस वृक्षको जड़से काटकर हम लोग इसके फलोंको खाय । दूसरने कहा कि इतने बड़े वृक्षको काटनेसे क्या प्रयोजन है इसकी शाखाको काट कर हम लोग जामुन खा लें । तीसरेने कहा कि शाखाओंको काटना भी ठीक नहीं है किन्तु

की प्रशस्तीओंको काट कर हम लोग इसके फल खाय । चौथेने कहा कि हम लोग इसका गुच्छोंको तोड़ लेवें प्रशस्तीओंको काटनेकी क्या आवश्यकता है । पाचवेने कहा कि हम लोग इसके फल तोड़ लेवें गुच्छोंको तोड़नेकी क्या आवश्यकता है । छठेने कहा कि गिरे हुए फलोंको ही खा लेवें फलोंको तोड़नेका कुछ भी प्रयोजन नहीं है । यह एक दृष्टान्त है । इसमें पहला पुरुष जो वृक्षको जड़से काटनेकी सलाह देता है वह वृक्ष लेख्याक परिणाममें विद्यमान है । जो बड़ी शाखाओंको काटनेकी राय देता है वह दूसरा पुरुष नील लेखी है । प्रशस्तीओंको काटनेकी राय देता हुआ तीसरा पुरुष कापोत लेखी है । गुच्छोंको तोड़नेकी राय देने वाला चौथा पुरुष तेजो लेख्या वाला है । फलोंको तोड़ने की राय देने वाला पाचवा पुरुष पद्म लेख्या वाला है । गिरे हुए फलोंके लेनेकी राय देने वाला छठा पुरुष शुक्ल लेख्या वाला है । यह ऊपर लिखी हुई गाथाओंका अर्थ है । इसमें कहा है कि जो गुच्छा तोड़नेकी राय देता है वह तेजो लेख्या वाला है और जो फल तोड़नेकी राय देता है वह पद्म लेखी है, जो गिरे हुए फलोंके खानेकी राय देता है वह शुक्ल लेखी है । यद्यपि ये तीनों पुरुष आरम्भ दोपसे रहित नहीं हैं, तथापि ये पहले दूसरे और तीसरे पुरुषकी अपेक्षा बहुत ही अल्पाभी हैं अतः ये क्रमशः तेजो लेख्या, पद्म लेख्या और शुक्ल लेख्याके स्वामी कहे गए हैं । इसी तरह मूल गुण और उत्तर गुण में दोष लगाने वाले माधु यद्यपि आरम्भ दोपसे मुक्त नहीं हैं तथापि वे अत्रितियोंकी अपेक्षा बहुत ही उत्तम निर्मल चारित्र्यी हैं इस लिये इनकी लेख्या विशुद्ध है । जो पुरुष अल्प फलकी प्राप्तिके लिये महान् आरम्भ करता है जैसे जामुनके फलोंको पानेके लिये पढ़ने उठने जड़ काटनेकी और दूसरेने शाखा काटनेकी और तीसरेने प्रशस्ती काटनेकी राय दी थी उसी तरह वह पुरुष भी कृष्णनील और कापोतलेख्या वाला है परन्तु जो अल्प फल पानेके लिये महान् आरम्भ नहीं करता वह कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाग लेख्या वाला नहीं है । साधु जन आरम्भ त्यागी पञ्चमहाव्रतधारी और विवेकी होते हैं वे अल्प फलकी प्राप्तिके लिये कदापि महान् आरम्भ नहीं करते अतः उनमें कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाग लेख्यार्थ नहीं होती ।

ऊपर उनाये हुए दृष्टान्तका भाव यह नहीं समझना चाहिये कि तेज पद्म और शुक्ल लेख्या वाले सभी जीव आरम्भ ही होते हैं । जो मुनि उत्कृष्ट परिणामने घनी होते हैं वे विडगुल आरम्भके त्यागी होते हैं । शुक्ल लेख्या वाले पुरुष वीरगात्री भी होते हैं वरुण दृष्टान्तमें जघन्य श्रेणीके तेज पद्म और शुक्ल लेख्या वाले कहे गये हैं इसलिये हम दृष्टान्तसे सभी तेज पद्म और शुक्ल लेख्या वालोंको आरम्भ ही नहीं समझना चाहिये ।

ऊपर बताया हुआ ऐश्याका दृष्टान्त तरह पंथी साधु चित्रके साथ दिखलाकर लोगोको इसका परिचय कराते हैं परन्तु जब साधुओके ऐश्याका प्रसंग आता है तब वे इस दृष्टान्तके भावको क्षण भूल जाते हैं और साधुओमे यथा कथं चित् कृपादिक तीन अप्रशस्त भाव ऐश्याओका स्थापन करने लग जाते हैं यहा तक कि वे पचमहाव्रतधारी साधुओंको आसन्नोका सेवन करने वाला भी कह डालते हैं । इसी तरह मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करनेमे, दुखी जीव पर दया करके उसको दान देनेमे बुरी ऐश्याका स्थापन करके उसे एकान्तपाप कहते हैं । बुद्धिमानोको सोचकर देखना चाहिये कि जब फल तोड़नेके परिणाम भी भली और बुरी दोनों ही ऐश्याओमें होते हैं तब मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करने और दुखी जीव पर दया छाकर उसे दान देनेमें बुरी ऐश्या कैसे हो सकती है ? ।

(बोल १३ समाप्त)

इति ऐश्याप्रकरणम् ।



(अथ वैयावृत्याधिकारः)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २५१ के ऊपर उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १२ की ३२ वीं गाथा लिखकर उसकी सहायतासे मुनिके व्यावचकी सावध सिद्ध करने की चेष्टा करते हुए लिखते हैं—

“अथ इहा हरिवंशी मुनि कथो—पूर्व हिवाढा अने आतामिये काले म्हागे तो किञ्चिद्देष नहीं । अने जे यक्षे व्यावचकीयी ते माटे ए निम्र बालकाने हण्या छै । एपो-गनी आशका मेढवा अर्थे कथो । जे छात्राने हण्याते यक्ष व्यावचकरी पिण म्हागे द्वेष न थी । ए छात्राने हण्या ते पञ्चपात रूप व्यावच कही छै । आत्मा बाहिरे छै ते माटे सावय छै”

(अ० पृ० २५१)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररुपक)

(प्रत्यक्ष)

यशने मुनिका उद्योग मिटानेके लिये जो ब्राह्मण कुमारोंका ताड़न किया था उस ताड़नको मुनिका व्यावच धतलाकर मुनिके व्यावचको सावध धतलाना मिथ्या है। क्योंकि मुनिका व्यावच करना न्याया है और ब्राह्मण कुमारोंको ताड़न करना न्याया है मारना और व्यावच करना दोनों एक नहीं हैं। अतएव इसी उत्तराध्ययन सूत्रमें जहां यशने ब्राह्मण कुमारोंका निवारण करना आरम्भ किया है वहां यह गाथा पढ़ी है कि “इतिस्तवेयावडियदुयाय जक्ता कुमारे प्रणिवारयन्ति” अर्थात् यक्ष अधिक व्यावच करनेके लिये ब्राह्मण कुमारोंका निवारण करने लगे।

यहाँ ऋषिका व्यावचके निमित्त ब्राह्मण कुमारोंका ताडन किया जाता कहा है।
यहाँ मुनिका व्यावच नहीं कहा । इस लिये व्यावच और ताडनका भिन्न भिन्न
होना स्पष्ट सिद्ध होता है । जैसे देवताओंने भगवान् महावीर स्वामीका वन्दनके निमित्त
महा वैक्रिय समुद्रघात किया है वहाँ “वन्दन वक्तियाप” यह पाठ आया है । उसी तरह
यहाँ भी यज्ञ लोग जब ब्राह्मण कुमारोंको वारण करने लगे हैं वहाँ ‘वैयावडियट्टयाप’ यह
पाठ आया है । जैसे वदुनार्थ किया जाने वाला वैक्रिय समुद्रघात वन्दन स्वरूप नहीं है
किन्तु वन्दनसे भिन्न है । उसी तरह व्यावचार्य किया जानेवाला ब्राह्मण कुमारोंका ताडन

व्याजसे भिन्न है व्यावच स्वरूप नहीं है । अतः जैसे वैक्रिय समुद्रधातके साज्य होनेपर भी भगवान्‌का बन्दन मात्र नहीं है उसी तरह ब्राह्मण कुमारोंके ताड़नके साव्य होने पर भी मुनिका व्यावच साव्य नहीं है । इस लिये उरागज्ययन सूत्रकी उक्त गाथाका नाम लेकर मुनिके व्याजचको साव्य कायम करना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये । इस नियमका विशेष विचार अनुकम्पाधिकारके ३७ में बोलमें किया गया है इसलिये यह सक्षेपसे लिखा गया है ।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २५२ के ऊपर राजप्रभीय सूत्र का मूल पाठ लिख कर उसकी सहायतासे वीतराग की भक्ति को साव्य सिद्ध करने की चेष्टा करते हुए लिखते हैं—

“इहा सूर्याभ नाटकने भक्ति कही छै । ते भक्ति साव्य छै । ते माटे भक्तिनी भगवन्ते आदा न दीधी”

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

राजप्रभीय सूत्रके मूलपाठके आश्रयसे भक्तिको साव्य कायम करना अज्ञान है । उक्त सूत्रके मूल पाठमें भक्तिको नाटक स्वरूप नहीं कहा है किन्तु नाटकसे भक्तिको भिन्न बतलाया है वहाका पाठ यह है—

“त इच्छामिणं देवाणुप्पियाणं भत्ति पुब्बगं गोयमातियाणं सम
णाणं निग्गंयाणं दिव्वं देविहिं दिव्वं देव जुहं दिव्वं देवाणुभागं
वत्तीसत्तिवद्धं नटविहिं उवदंसित्तए”

(राजप्रभीय सूत्र)

अर्थ —

हे भगवन् ! मैं आप की भक्ति पूर्वक देव्य-देव ऋद्धि, दिव्य देव श्रुति, दिव्य देव प्रभाव, और घत्तीस प्रकार की नाटक विधि गोतमादि श्रमण नियन्त्रियों को दिव्यलाना चाहता हूँ ।

यह उपर्युक्त गाथाका अर्थ है ।

यह सूर्याभने भगवान्की भक्तिपूर्वक नाटक करनेकी आज्ञा मांगी है परन्तु उस न नाटकही हो भगवत्भक्तिस्वरूप नहीं बतलाया है क्योंकि इस पाठमें “भक्ति पुत्र” ऐसा पाठ आया है “भक्ति रूप” ऐसा पाठ नहीं है । इसलिये नाटकही हो भक्ति कायम करना सिखा है ।

वीतरागमें परमातुराग रखनेका नाम वीतरागकी भक्ति है और शरीर वेप भूषा और भाषा आदिके द्वारा किसी उत्तम पुरुषकी अवस्थाका अनुकरण करना नाटक है । इसलिये नाटक दूसरी चीज है और भक्ति दूसरी चीज है । इन दोनों को एक कायम करना अज्ञान है । यह विषय अनुकम्पाधिकारके ३५ वें बोलमें स्पष्ट कर दिया गया है विषय जिज्ञासुओंको वहाँ देख लेना चाहिये ।

(बोल २ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २५४ के ऊपर साधुके सिखाये दूसरे जीवकी माता उत्पन्न करनेसे एकान्त पापकी मिट्टि करनेके लिये लिखते हैं—

“कोई कहे सर्वजीवाने साता उपजाया तीर्थ कर गोत्र यधे, इस कहं ते पिण झूठ छ । सूत्रमें तो सर्व जीवारी नाम चारयो नहीं”

इसके अनन्तर ज्ञाता सूत्रका मूलपाठ और उसकी टीका लिख कर उसकी समा-लोचना करते हुए लिखते हैं—

“इहा टीकामे पिण गुर्वादिक साधु इन कथा । पिण गृहस्थ न कथा । गृहस्थनी व्यावच करे तेतो अट्टाइममो अगाचार छै । पिण आहामे नहीं ।” इत्यादि

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ज्ञातासूत्रके मूलपाठमें तीर्थकर नाम गोत्र बाधनेके २० काण्ड बतलाये हैं । उनमें समाधि (चित्तमें ज्ञान्ति) उत्पन्न करना भी तीर्थकर गोत्र बाधनेका कारण कहा है । वह समाधि जिसकी उत्पन्न करनी चाहिये ऐसा कोई वास करके पुरान विशेष वश नहीं कहा गया है ऐसी दशामें केवल साधुके चित्तमें ज्ञान्ति उत्पन्न करना ही तीर्थकर गोत्र बाधनका कारण होता है इतर प्राणियोंको ज्ञान्ति देना तीर्थकर गोत्र बन्धन कारण नहीं होता ऐसी कल्पना अप्रामाणिक और मूलपाठसे विरुद्ध है ।

इस पाठकी टीकासे भी यह कल्पना नहीं की जा सकती इसलिये वहाँकी टीका यह है—

“समाधौ च गुर्वादीना कार्यकरण द्वारेण चित्तस्वास्थ्योत्पादने सति निर्वर्तितवान्”

अर्थात् गुरु आदिका कार्य्य करके उनके चित्तमे शान्ति उत्पन्न करनेसे तीर्थकर गोत्र बंधता है ।

यहा गुरु आदिकसे साधु का ही ग्रहण उतलाना अज्ञान है क्योंकि माता पिता ज्येष्ठ बन्धु और चाचा आदि भी गुरु कहलाते हैं । फिर गुरु शब्दसे उनका ग्रहण नहीं होकर एरुमात्र साधु का ही ग्रहण क्यों होगा ? इसमे “आदि” शब्द भी आया है । उस आदि शब्दसे गुरुजनसे भिन्न दूसरे लोग यदि नहीं लिये जाये गे तो फिर आदि शब्द का प्रयोजन ही क्या होगा ? अतः इस टीकाके गुरु शब्दसे साधुके समान ही माता पिता ज्येष्ठ बन्धु आदि गुरु जन भी गृहीत हुए हैं, और आदि शब्दसे जो लोग गुरु जनसे भिन्न हैं उनका भी ग्रहण किया गया है । अतः इस टीकाका मनमाना अर्थ करके साधुसे इतरको साता उत्पन्न करनेसे धर्मपुण्यका निषेध करना मिथ्या है । इस टीकासे साधुसे इतरको शान्ति देना भी तीर्थकर गोत्र बन्धका कारण सिद्ध होता है । अतः भ्रमविध्वसनकारका साधुसे इतरको साता देनेमे पाप कहना अज्ञान है ।

इसी तरह गृहस्थका व्यावच करनेको जो अठार्हमवा अनाचार कहा है उसका दाखला देकर साधुसे इतरको साता देनेमे पाप कहना भी मिथ्या है । गृहस्थका व्यावच करना साधुके लिये अनाचार कहा है परन्तु गृहस्थके लिये गृहस्थ का व्यावच करना अनाचार नहीं कहा है । अतएव उर्वाई सूत्रमे माता पिताके श्रुश्रूषक पुत्रको स्वर्गगामी कहा है । यदि साधुसे इतरको शान्ति देना (व्यावच करना) गृहस्थके लिये भी अनाचार होता तो माता पिताकी सेवा करनेसे उर्वाई सूत्र मे स्वर्ग जाना कैसे कहा जाता । अतः ज्ञाता सूत्रका नाम लेकर साधुसे इतरको समाधि उत्पन्न करनेसे धर्मपुण्य नहीं मानना उरसूत्रभाषियोका कार्य्य समझना चाहिये ।

[बोल ३ समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २५६ के ऊपर सुयगडाग श्रुत० १ अ० ३ उ० ४ की छठी और सातवीं गाथाओं को लिख कर उनकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ इहा कथो—साता दिया साता हुवे इम कहे ते आर्य्यमार्गे थी मळो कथो । समाधिमार्गे थी न्यारो न्हो । जिणधर्मरी हीलणारो करणहार, अण्ण सुख अण्णे घणा सुखारो हारणहार, ” अमत्थ पदे अण्णजणवे करी मोक्ष नहीं । रोइनाणिया

हना करके शास्त्रकार उपदेश देते हैं कि हे भाइयो ! 'एतसे हा एहा मिलता है' इस मिथ्या सिद्धान्तका आश्रय लेकर सम्प्रसारण दर्शन और चरित्र रूप मोक्ष धर्मका उपदेशक जनागमको आप मोहवादा छोड़ रहे हो । तुम तुच्छ विषय एतए लोभमें पड़कर वास्तविक एतए मोक्षको मत ग्राह्य मानो आहार आदि पानसे कामकी वृद्धि होती है और कामवासनाके प्रवर्ध होनेपर चित्तमें अन्ति नहीं मिट सकती । इस प्रकार चित्तमें समाधि उत्पन्न होना एकान्त अमम्भव है । अतः श्रमका आश्रय लेकर तुम अपनेको पारय कर रहे हो । जैसे कोई बणिक् पुत्र दूरसे छोड़ा जाए हुए जाता था उसे शस्त्रमें चादी मिली पर उसने सोचा कि मैं दूरमें इस छोड़को लिये आया हूँ इसी छोड़कर चादी बस है । इसी प्रकार शस्त्रमें उसने मोना भी नहीं लिया । पीछे अपने स्थानपर पहुँचनेपर उसको सोना पाया, जो अपेक्षा छोड़का बहुत कम मूल्य मिला तो वह पछि-छाने लगा था उन्हीं तरह अन्तमें तुम्हें भी पछिताना पड़ेगा ।

यहां जो लोग विषय सुखसे मोक्ष मिलनेका सिद्धान्त मानकर जैनान्द्र प्रवचन का त्याग करते हैं उनका सिद्धान्त स्पष्टकर करके लिये कहा है कि "विषय सुख भोगने से मोक्षको प्राप्तिकी आशा रखना मिथ्या है । विषय सुख को छोड़ कर जैन मार्गसे गमन करना ही मोक्षका साधन है" । परन्तु किमीको साता दया मारय है या किसीको साता देनेसे धर्म या पुण्य नहीं होता यह बात यहाँ नहीं फही है । इस लिये इन गाथाओं का नाम लेकर दूसरेको साता देनेसे पाप कहना मिथ्यावादियोंका काव्य समझना चाहिये ।

यदि कोई इन गाथाओंका यही तात्पर्य बतावे कि दूसरको साता देनेसे लोह बणिक्की तरह पश्चात्ताप करना पड़ता है अथवा आर्य्य मार्गसे दूर रहता है तो फिर किमी साधुको साता देना भी उसके हिसाबसे पाप ही ठहरेगा । यदि कहो कि "साधु से इतरको साता देनेसे पश्चात्ताप करना इस गाथाका कहा है इस लिये साधुको साता देना दुरा नहीं है" तो यह मिथ्या है उक्त गाथाओंमें तथा उनकी टीकामें यह नहीं कहा है कि "साधुसे इतरको साता देने वाला लोह बणिक्की तरह पश्चात्ताप करता है" किन्तु साधु अथवा गृहस्थ जो कोई ऐसा मानता है कि विषय सुखके सेवन करनेसे मोक्ष मिलता है उस अयम श्रद्धा वालेको लोह बणिक्की तरह पश्चात्तापना भारी बतलाया है परन्तु अनुकम्पा करके किमी दीन दीन दुखीके दुख मिटाने वालेकी बहा जिक्र भी नहीं है । अतः उक्त गाथाका नाम लेकर दीन दीन दुखी जीव पर दया करके उन्हें साता देने वालेको एकान्त पापी कहना अज्ञान समझना चाहिये ।

बोल ४ समाप्त

शासन प्रतिपादितो मोक्षमार्गस्त ये परिहरन्ति तथाच परम समार्थि ज्ञान दशन चारित्रात्मक येत्यजन्ति तेऽज्ञा ससारान्त वर्तिन मदा भवति । एन मार्ग्य मार्ग जैनेन्द्र प्रवचन सम्यग्दशन ज्ञान चारित्र मोक्ष मार्गे प्रतिपादक “सुप्त सुखेनैव विद्यते” इत्यादि मोहेन मोहिता अवमन्यमाना परिहरन्त अत्पेन दैपयिकेण सुप्तेन मा बहु परमार्थ सुप्ता मोक्ष सुरा मोक्षा एव दुष्पथ विव्रसथ । तथाहि मनोज्ञाहारादिना कामोद्रेक । तदुद्रेकाच्च चित्ता स्यास्थ न पुन समाधिरिति । अपिच एतस्यासत्त्वज्ञानभुपगमस्यामोक्षेऽपरित्यागं सति “अयोहारिव जूगह” अत्मान यूय कर्द्वं यथ केवल यथासौ अयसो—लोहस्था-हर्ता अपान्तराले रूप्यादि लाभे सत्यपि दूरमानीत मिति कृत्वा नोज्झितवान् पश्चात् स्वस्थानावाप्तमरुप लाभे सति जूगितवान् पश्चात्ताप कृतवान् एव भवन्तोऽपि जूगयिष्यन्तीति ।”

अर्थ —

मतान्तरका मण्डन करनेके लिये छट्टी गायार्म अन्य मतावलम्बियोंकी ओरसे पूर्व पक्ष किया गया है । वह इस प्रकार है—मोक्ष प्राप्तिके विषयमें क्षाम्य आदि, तथा केशोलुब्धनमें पोषित कई एक अपने यूय धारे, यह कहते हैं कि उसकी प्राप्ति सुख हीसे होती है । जैसे कि उन लोगोंने अपने मतका पोषण करनेके लिये यह श्लोक बनाया है “सर्गाणि सत्त्वानि” इत्यादि । इसका अर्थ यह है कि सभी जीव उसमें रत हैं और सभी लोग दु उससे उद्भिन्न होते हैं । इस लिये उसकी इच्छा करने वाले पुग्गरो सुख ही देना चाहिये क्योंकि सुख देनेवाला ही सुख पाता है । इन विषयमें ये लोग यह युक्ति देते हैं कि सभी कार्य अपने कारणके अनुरूप ही उत्पन्न होते हैं शालिके बीजसे शालिका ही शकुर उत्पन्न होता है यवका शकुर उत्पन्न नहीं होता इसी तरह इस लोकमें सुग भोगनेसे ही पर लोकमें सुख मिलता है परन्तु केशोलुब्धनादि रूप दुःख भोगनेमें नहीं मिलता । इनके आगममें भी यही कहा है कि साधुको मनोज्ञ आहार खाकर मनोज्ञ शय्याक ऊपर मनोज्ञ गृहमें मनोज्ञ वस्तुका ध्यान करना चाहिये । कोमल शय्यापर शयन करना, प्रसात फालमें दुग्ध आदि पोष्टिक पदार्थ पीना, तथा दिनके मध्य भागमें स्वादिष्ट भोजन आदि खाना, और दोपहरके बाद शर्बत आदि पीना, तथा आधी रातमें दाख शहर आदि मधुर पदार्थ खाना, इन कार्यों में अन्तमें मोक्ष मिलता है यह क्षाम्य पुत्रका विश्वास है । संशेषसे इनका सिद्धान्त यह है कि मनोज्ञ आहार विहारसे चित्तमें समाधि उत्पन्न होती है और चित्तमें समाधि उत्पन्न होनेसे मोक्ष सुख मिलता है । अत सिद्ध हुआ कि उससे ही सुख मिलता है पर केशोलुब्धनादि रूप दुःख भोगनेसे नहीं ।

इस प्रकारका सिद्धान्त रखनेवाले मूढमति क्षाम्य आदि, सभी हेय धर्मासे पृथक् रहने वाले जिन प्रतिपादित आर्य्य धर्मका त्याग करते हैं और ज्ञान दशन तथा चारित्र रूप मोक्ष मार्ग को छोड़ देते हैं ! वे ज्ञान रहित हैं और चिरकाल तक इस ससार चक्रमें घूमते रहते हैं । उनपर

इस प्रकार साधनकार उपदेश देते हैं कि हे भाइयो ! 'उत्तसे हो ए' मिलता है' इस मिथ्या सिद्धान्तका आश्रय लेकर सम्पूर्ण ज्ञान दान और चरित्र रूप मोक्ष धर्मका उपदेशक जनागमको उस मोहवदा छोड़ रहे हो । तुम सुष्ठु विषय एणवे लाभम पड़कर वास्तविक ए' मोक्षको मत छोड़ो मनोन आहार आदि स्थानसे कामकी उद्दिष्ट होती है और कामवासनाके प्रबल होनेपर चित्तम शान्ति नहीं मिल सरती । इस प्रकार चित्तमे समाधि उत्पन्न होना एकान्त अगम्य है । अतः भक्तिकका आश्रय लेकर तुम अपनेको राक्षस कर रहे हो । जैसे कोई चण्डि पूरा दूरसे छोड़ा बिड़ हुए आता था उसे रास्तेमे चादी मिलने पर उमो सोचा कि मैं दूरसे इस लोहको लिये आ रहा हूँ इसे छोड़कर चादी बेचें हूँ । इसी प्रकार रास्तेमे उसने सोना भी नहीं लिया । पीछे अपने स्थानपर पहुँचनेपर उसको सोना पादरको अपेक्षा छोड़कर बहुत कम मूल्य मिला तो वह पछि-दान लगा था उसी तरह अन्तमे तुम्हें भी पछिताता पड़गा ।

यहां जो लोग विषय सुखमे मोक्ष मिलनेका सिद्धान्त मानकर जैनेन्द्र प्रवचन का त्याग करते हैं उनका सिद्धान्त स्पष्ट करनेके लिये कहा है कि "विषय सुख भोगने से मोक्षकी प्राप्ति की आशा रखना मिथ्या है । विषय सुख को छोड़ कर जैन मार्गसे गमन करना ही मोक्षका साधन है" । परन्तु किसीको साता दान साध्य है या जिसको साता दानसे धर्म या पुण्य नहीं होता यह बात यहां नहीं कही है । इस लिये इन गाथाओं का नाम लेकर दूसरेको साता देनेसे पाप कइना मित्रावादियोंका काव्य समझना चाहिये ।

यदि कोई इन गाथाओंका यही तात्पर्य माने कि दूसरको साता देनेसे लोह वणिक्की तरह पश्चात्ताप करना पड़ता है अथवा आर्य मार्गसे दूर रहता है तो फिर किसी साधुको साता देना भी उसके हिसाबसे पाप ही ठहरगा । यदि कहो कि "साधु से इतरको साता देनेसे पश्चात्ताप करना इस गाथामे कहा है इस लिये साधुको साता देना घुटा नहीं है" तो यह मिथ्या है उक्त गाथाओंमें तथा उनकी टीकामे यह नहीं कहा है कि "साधुसे इतरको साता देने वाला लोह वणिक्की तरह पश्चात्ताप करता है" किन्तु साधु अथवा गृहस्थ जो कोई ऐसा मानता है कि विषय सुखके सेवन करनेसे मोक्ष मिलता है उस अधम श्रद्धा वालेको लोह वणिक्की तरह पश्चात्तापका भागी बतलाया है परन्तु अनुकम्पा करके किसी हीन दीन दुःखी दुःख मिटाने वालेकी यहां जिक्र भी नहीं है । अतः उक्त गाथाका नाम लेकर हीन दीन दुःखी जीव पर दया कर उन्हें साता देने वालेको एकान्त पापी कहना अज्ञान समझना चाहिये ।

(प्रेरक)

अम विध्वंसनकार अम विध्वंसन पृष्ठ २५७ के ऊपर लिखते हैं—

“दश वैकालिक अध्ययन ३ गृहस्थनी साता पूज्या सोलमो अनाचार लागतो कश्चो । तथा गृहस्थनी व्यावच कीधा अट्ठाईसमो अनाचार कश्चो । तथा निशोध उद्देश १३ गृहस्थनी रक्षा निमित्तो भूति कर्म किया प्रायश्चित्त कश्चो तो गृहस्थनी सातय साता वोळ्या तीर्थद्वार गोत्र किम वधे । (अ० पृ० २५७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

गृहस्थसे साता पूजना तथा उसका व्यावच करना साधुके लिये अनाचार कहा है गृहस्थके लिये अनाचार नहीं कहा है । देखिये दश, वैकालिक सूत्रमें आचारों की गणना करते हुए पहले पहल यह गाथा लिखी है—

“संजमे सुट्टि अप्पाणं विप्पमुक्काणताहणं
तेसिमेयमणा इन्नं निग्गंथाण महेसिणं”

अर्थ —

संयमके अन्दर अपनी आत्माको स्थिर रखने वाले और घाटा तथा अन्तरसे मुक्त हुए अपनी आत्माकी रक्षा करने वाले निग्रथ महर्षियोंके लिये ये बातें अनाचार हैं ।

इस गाथासे स्पष्ट कहा है कि अग्रिम गाथाओमें कहे हुए ५२ अनाचार अमण निग्रन्थोके हैं गृहस्थोके नहीं हैं । इस लिये गृहस्थका साता पूजना और गृहस्थका व्यावच करना दश वैकालिक सूत्रके पाठानुसार गृहस्थके लिये एकान्त पाप नहीं हो सकता । अतः दशवैकालिक सूत्रका नाम लेकर साधुसे इतरकी साता और व्यावचको सावध कायम करना अज्ञान है ।

यदि कोई ऐसी शंका करे कि गृहस्थकी साता पूजने और व्यावच करनेसे जब कि साधुको अनाचारका पाप लगता है तो फिर श्रावकको पाप क्यों नहीं लगेगा ? तो इसका उत्तर यह है कि साधु और श्रावकका कल्प जुदा जुदा है एक नहीं है । इसलिये पूर्वोक्त कार्य साधुके कल्पसे विरुद्ध होनेके कारण साधुके लिये ही अनाचार है गृहस्थ के कल्पसे विरुद्ध नहीं होनेसे गृहस्थके लिये अनाचार नहीं है । जैसे अपने सामौगिक साधुसे इतर प्राणीको उत्सर्ग मार्गसे आहार पानी देना साधुके लिये प्रायश्चित्तका कारण कहा है परन्तु गृहस्थके लिये नहीं । गृहस्थके लिये तो अपने आवृत पशु नौकर आदि को भात पानी नहीं देनेसे उसका पहले प्रतमे अविचार होना कहा है । उसी तरह साधु

क लिये गृहस्थकी साता पूछना और उसका व्यावच करना अनाचार है पर आप्रकृति लिये नहीं। यदि कोई उक्त कार्यको गृहस्थके लिये भी अनाचार कहे तो फिर उक्त दिसावसे अपने आश्रित प्राणीको भात पानी देना भी गृहस्थके लिये प्रायश्चित्तका कारण पहना चाहिये। क्योंकि साधु अपने सामोर्गिक साधुसे इतरको आहार पाना इनसे प्रायश्चित्त ही हो जाता है तो फिर गृहस्थ अपने आश्रित पशु आदिको आहार पानी देनेसे प्रायश्चित्त क्यों नहीं होगा ? पर बात ऐसी नहीं है। गृहस्थ यदि अपने आश्रित पशु आदिको भात पानी न देवे तो प्रायश्चित्त होता है और साधु यदि सामोर्गिक साधुस भिन्नको उत्सर्ग मार्गमें आहार पानी देने से प्रायश्चित्त होता है। अतः साधुके लिये गृहस्थकी साता पूछना और उसका व्यावच करना अनाचार है आप्रकृति लिये नहीं है।

दशैकालिक सूत्रमें उद्दिष्ट भक्त लेना साधुके लिये पहला अनाचार कहा है इस लिये जो साधु उद्दिष्ट भक्त लेना है वह प्रायश्चित्त होता है परन्तु आदिम और अन्तिम तीर्थकरके साधुओंको छोड़ कर दूसरे साधु यदि उद्दिष्ट भक्त लें तो वे पापक भागी नहीं होते क्योंकि उद्दिष्ट भक्त लेना उनके कल्पसे विरुद्ध नहीं है। अतः जैसे उद्दिष्ट भक्त लेना आदिम और अन्तिम तीर्थ करके साधुओंके लिये अनाचार है दूसरे तीर्थकरोंके साधुओंके लिये अनाचार नहीं है उसी तरह गृहस्थकी साता पूछना और उसका व्यावच करना साधुके लिये अनाचार है आप्रकृति लिये अनाचार नहीं है। अतः गृहस्थकी साता पूछने और उसका व्यावच करनेसे गृहस्थको भी अनाचार बतलाना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिये।

२४ वें तीर्थकरके साधु तेदमवें तीर्थ करके साधुको आहार पानी नहीं देते। क्योंकि उनका यह कल्प नहीं है। यदि दे दें तो उनको प्रायश्चित्त आता है। परन्तु गृहस्थ यदि तईसवें तीर्थ करके साधुओंको आहार पानी देवे तो उसको पाप नहीं होता किन्तु धर्म होता है। इस लिये जो कार्य साधुके लिये अनाचार है वह गृहस्थके लिये भी अनाचार ही यह कल्पना मिथ्या समझनी चाहिये।

इसी तरह निशीथ सूत्र उद्देशा १३ का दासला देकर जीवरक्षा करनेमें पाप कहना भी मिथ्या है निशीथ सूत्र उद्देशा १३ के अन्तर किसी प्राणीकी रक्षा करना वर्जित नहीं की है किन्तु भूति कर्म करनेका निषेध किया है। इस लिये साधु भूति कर्म नहीं करते। यदि भूति कर्म करे तो उनको अवश्य प्रायश्चित्त आता है परन्तु अपनी कल्प मर्यादाके अनुसार जीवरक्षा करनेसे पाप नहीं होता। क्योंकि जीवरक्षा करनेका कहीं भी शास्त्रमें निषेध नहीं है। प्रत्युत प्रश्नव्याकरणादि सूत्रोंमें अगह अगह

इसका विधान किया है । अतः निजीय उद्देशा १३ का नाम लेकर जीवरक्षा करनेमें पाप का स्थापन करना पक्रान्त अज्ञान समझना चाहिये । इस विषयका विशेष रूपसे स्पष्टीकरण अनुकम्पाधिकारके २५ वें बोलमें किया गया है । इस लिये यहाँ बहुत संक्षेपसे लिखा गया है ।

[बोल ५ वां समाप्त]

(प्रेरक)

गृहस्थसे सात्ता पूटना और उसका व्यावच करना गृहस्थके लिये अनाचार नहीं है यह ज्ञात हुआ । परन्तु आचरके लिये आचरके व्यावचका नियान कहीं शास्त्रमें किया हो तो उसे बतलाइये ।

(प्ररूपक)

उगई सूत्रके मूलपाठमें आचरके लिये आचरके व्यावचका विधान किया गया है वह पाठ यह है—

“सेकितं वेयावच्चे, दसविहे पन्नत्ते तंजहा—आचारिय वेयावच्चे, उवज्झाय वेयावच्चे, सेह वेयावच्चे, गिलाण वेयावच्चे, तवस्ति वेयावच्चे, धेर वेयावच्चे, साहम्मिय वेयावच्चे, कुल वेयावच्चे, गण वेयावच्चे, संघ वेयावच्चे,”

(उगई सूत्र)

अर्थ —

अर्थात् व्यावच दश प्रकारके कहे हैं ।

आचार्यका व्यावच करना, उपाध्यायका व्यावच करना, नयदीक्षित शिष्यका व्यावच करना, रोगादिसे पीडित हुएका व्यावच करना, तपस्वीका व्यावच करना, स्थविरका व्यावच करना, साधर्मिक का व्यावच करना, गणका व्यावच करना, कुलका व्यावच करना, और संघ का व्यावच करना ।

यह उक्त गाथाका अर्थ है ।

यहाँ दश प्रकारके व्यावचोमें साधर्मिक व्यावच कहा गया है और आचरके आचरका व्यावच किया जाना भी साधर्मिक व्यावच है क्योंकि साधुका साधर्मिक जैसे लिङ्ग और प्रवचन के द्वारा साधु होता है उसी तरह आचर का साधर्मिक प्रवचन के द्वारा आचर भी होता है । व्यवहार सूत्र दूसरे उद्देशे के भाष्य में यह गाथा लिखी हुई है —

“पवयणसंवे गयरो लिङ्गे रयहरण मुहपत्तो”

इसकी टीका यह है—

““पवयण” त्ति प्रवचनत् साधर्मिक सधमध्ये एरुतर अमण अमणी
वक आविकाचेनि । लिगे लिङ्गत साधर्मिक रजोहरण मुहपोत्तिका युक्त ”
नर्य—

अमण, अमणी, आवक और आविका इनमे से कोई भी प्रवचन के द्वारा साधर्मिक होता है और रजोहरण तथा मुम्बयत्त्रिका से युक्त लिङ्ग के द्वारा साधर्मिक होता है ।

यह उपर्युक्त गाथाका टीकानुसार अर्थ है ।

यहां प्रवचनके द्वारा साधु, साध्वी, आवक और आविका इनमेंमें किसी को भी साधर्मिक होना कहा है । इस लिये प्रवचन के द्वारा आवक का साधर्मिक आवक भी कहा है ।

तथा इसी भाष्यके १५ वीं गाथाकी टीकामें टीकाकारने लिग और प्रवचन के साधर्मिका की एक चतुर्भंगी कही है । उस के दूसरे भंगों में आवक को वत-या है ।

वह टीका यह है—

“तथा प्रवचनत् साधर्मिको न पुन लिगे लिङ्गत एष द्वितीय । केत्ते एव भूता
इत्याह—दशभवति सशिखाका अमुण्डित गिरस्का आनका इति गम्यते । आवकाहि
अन प्रतादि प्रतिमा मेदेन एकादशविधा भवन्ति । तत्र दश सपेशा —एकादश—
प्रतिमा प्रतिपन्नम्तु लुब्धिनशिरा अमणभूतो भवति । ततस्तद्व्यवच्छेदाय सशिखाक
वहम् । एतेहि दश सशिखाका आनका प्रवचनत् साधर्मिका भवति तेषा सवान्त-
द्वत्तत्वात् ननु लिङ्गतो रजोहरणादि लिङ्ग रहितत्वात्”

अर्थात् प्रवचनके द्वारा जो साधर्मिक होता है और लिङ्गके द्वारा नहीं होता वह
सरा भागावाला साधर्मिक है । अतः यह धनलाया जाता है कि इस दूसरे भागावाले
साधर्मिक कौन होते हैं ।

जिनके केश मुण्डित नहीं हैं जो शिराधारी हैं ऐसे दश प्रकार के आवक इस
रे भगके स्वामी हैं क्योंकि आवक, दर्शन, प्रतादि, और प्रतिमाके भेदसे एगारह
प्रकार के होते हैं । उनमें दश शिराधारी होते हैं । और एगारहवीं प्रतिमाप्रतिपन्न,
चतुर्गिर और साधुके सदृश होता है । उसकी व्यावृत्तिके लिये इस दूसरे भागा में
शिराधारी आवक कहा गया है । ये दश शिराधारी आवक प्रवचनसे साधर्मिक होने हैं

क्योंकि वे सङ्गके अन्दर मौजूद हैं परन्तु लिङ्गसे साधर्मिक नहीं होते क्योंकि वे रस हरणादि लिङ्गसे युक्त नहीं होते ।

यहा टीकाकारने आवरुको प्रवचनके द्वारा साधर्मिक कह कर उसको साधर्मिकी चौभङ्गीके दूसरे भङ्गमें रक्खा है । इसलिये आवरु भी आवरुका साधर्मिक होता यह बात निर्विवाद सिद्ध है । दश प्रकारके व्यावचोंमें उवाई सूत्रके अन्दर साधर्मिक व्यावच करना भी कहा गया है । इसलिये आवरुसे आवरुका व्यावच किया जाना साधर्मिक व्यावच होने से धर्म का ही हेतु है । उसे पाप कहना अत्रानियोंका कार्य है ।

उक्त दश विध व्यावचोंमें सङ्गका व्यावच भी कहा गया है और सङ्ग नाम साधु साध्वी आवरु और आविकाओं के समूह का । इसलिये सङ्गके अन्तर्भूत होनेसे साधु की तरह आवरु का व्यावच भी सङ्गके व्यावच में गिना जाता है । इसलिये आवरु से आवरु का व्यावच किया जाना भी देशसे सङ्गका व्यावच है । अतः वह धर्म है परन्तु पाप नहीं है ।

यदि कोई कहे कि साधुओं की १२ प्रकार की तपस्याओंके भेदमें व्यावच गया है । इसलिये उवाई सूत्रोक्त दश विध व्यावच साधुओंका ही है परन्तु आवरुका नहीं तो उसे कहना चाहिये कि आवरुओंके लिये तपका विधान कहीं अन्यत्र नहीं करके साधुओंके साथ ही किया गया है । कारण यह है कि तपके विषयमें साधु और आवरुओं का कोई अन्तर नहीं है । इस लिये जैसे बारह प्रकार के तप साधुओं के समान आवरुओं के भी हैं उसी तरह ये दशविध व्यावच साधुओं की तरह आवरुओंके भी हैं ।

इस विषयमें भ्रमविध्वंसनकारका भी कोई मतभेद नहीं हो सकता क्योंकि अन्तः गुरु भीषणजीने लिखा है—

“साधारे वारे भेद तपस्या करता जहा जहा निरवय योग रु धायजी । तहा तहा सवर होय तपस्यारे लारे, तिणसु पुण्य लागवा मिट जायजी । ४७ गाथा

इण तप माहिलो तप आवरु करता । कठे अशुभ योग रु धायजी जब प्रत सकर हुये तपस्यारे लारे लागता पाप मिट जायजी” ४८ गाथा

(नवसङ्गाव पदार्थ निर्णय)

इन पद्योंमें भीषणजीने १२ प्रकारकी तपस्याएँ साधुकी तरह आवरुओं की भी मानी हैं । इस लिये इन तपस्याओं में आया हुआ व्यावच आवरुओं का भी होता है । अतः पूर्वोक्त दश विध व्यावच को आवरुओं के लिये नहीं । वाद समझना चाहिये ।

जब कि दश विषय व्यापक करना आवश्यक का भी फल है तब फिर कोई आवश्यक यदि अपने साधर्मिक आवश्यक का व्यापक करे तो उसमें पाप या प्रायश्चित्त कैसे हो सकता है ? यह बुद्धिमानों को विचारना चाहिये ।

(बोल छट्टा समाप्त)

(प्रत्यक्ष)

ठागाह सूत्र ठागा ५ उद्देश २ के अन्दर आवश्यकों को अवर्ण बोलनेसे दुर्लभ-बोधी और वर्ण बोलनेसे सुलभबोधी होना कहा है । वह पाठ—

“पचहिं ठाणेहि जीवा दुल्लभबोधियत्ताए कम्म पकरेंति ।
तजहा—अरिहंताणं अवन्नं वदमाणे अरिहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स
अवन्नं वदमाणे आयरिय उवज्जायाणं अवन्नं वदमाणे, चाउवण्ण
स्स संघस्स अवन्नं वदमाणे विवक्कनव धम्मचेराणं अवन्नं वदमाणे ।
पंचहिं ठाणेहिं जीवासुल्लभबोधियत्ताए कम्मं पकरेंति अरि-
हंताणं वन्नं वदमाणे जाव विवक्क तव धम्मचेराणं वन्नं वदमाणे”

(ठागाह ठागा ५ उ० २)

अर्थ —

अपान् पाच स्थानार्थ जीव, दुर्लभबोधी होनेका कर्म बाधता है ।

अरिहंतको भक्षण बोलना हुआ, और अरिहंत प्रणीत धर्मको अवर्ण बोलना हुआ, तथा
जावाप्य और उपाध्यायको अवर्ण बोलना हुआ, पूर्ण प्रायश्चित्तक सत्तको अवर्ण बोलना हुआ
और परिष्कट ग्रहणका और

श्रावक यदि किसी श्रावकको अन्नादिके द्वारा धार्मिक सहायता देने रूप व्यावच कर तो उससे पाप बन्ध कैसे हो सकता है ? बल्कि उससे और ज्यादा पुण्य ही होगा अतः श्रावको से किया जाने वाला श्रावक के व्यावच को पाप बतलाना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिये ।

(बोल ७ वां समाप्त)

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक ३ उद्देशा पहलेमें कहा है कि सनत्कुमार देवेन्द्र श्रावकोंके हित, सुख, पथ्य यावत् नि श्रेयसकी इच्छा करनेसे भव सिद्धिसे लेकर यावत् चरम शरीरी हो गये हैं । वह पाठ यह है—

“सणं कुमारे देविंदे देवराया बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं
बहूणं सावणाणं बहूणं साविणाणं हियकामए सुह कामए पथ्य का
मए अणुकम्पिए निस्सेयसिए हियसुहनिस्सेयसकामए से तेणह्वेणं
गोयमा ? सणं कुमारेणं भव सिद्धिए णो अचरिमे”

(भगवती शतक ३ उ० १)

अर्थ —

भगवान् महावीर स्वामी कहते हैं कि हे गोतम ! सनत्कुमार देवेन्द्र देवराज बहुत से साधु, साध्वी श्रावक और आश्रितोंके हित, सुख, पथ्य, अनुकम्पा, और मोक्षकी कामना करते हैं । इसलिये वह भवसिद्धिसे लेकर यावत् चरम है ।

यहां श्रावक और आश्रितोंके हित, सुख, पथ्य आदिकी इच्छा करने मात्रसे सनत्कुमार देवेन्द्रको भवसिद्धिसे लेकर यावत् चरम शरीरी तक हो जाना कहा है ऐसी दशामें यदि कोई साक्षात् श्रावक और आश्रितोंको हित, सुख और पथ्यका सम्पादन करके उसके धर्ममें सहायता पहुंचाने रूप व्यावच करे तो उसे पाप कैसे हो सकता है ? बल्कि उसको और ज्यादा धर्म ही होगा । अतः श्रावकोसे किया जाने वाला श्रावक के व्यावचको सावय कायम करना अज्ञान समझना चाहिये ।

[बोल ८ वां समाप्त]

नोट—इस पाठकी टीकामें हित, सुख और पथ्य शब्दका क्रमशः सुख, साधक वस्तु, तथा सुख और दुःखसे त्राण (रक्षा) रूप अर्थ किया है । वह टीका दानाधि कार के ७७ वें धोखेमें इस पाठके साथ छिपी गयी है । जिज्ञासुओं को उसे वहीं देख लेना चाहिये ।

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २६२ के ऊपर भीषणजीके वार्तिकका दासला देत हुए लिखने हैं कि—

“ते कहे छै । पडिमाधारी साधु अग्नि माहि बलनाने बाहो पकडिने बाहिर काटे । अथवा सिद्धादिक पकडताने झाल राखे । तथा हर कोई साधु साध्वी जिन कल्पी स्थविर कल्पी, त्याने बाहि पकडिने बाहरे काटे इत्यादि कार्य्य करीने साता उपजाने । अथवा जीवा बचाये । अथवा ऊचायो पडताने झाल बचाये । अथवा आसड पडताने झाल बचावे अथवा ऊचायो पडताने बैठो फर तिण गृहस्थने अरिहत भगवतरी पिण आझा नहीं । अनता साधु साध्वी गये काल हुआ त्यारी पिण आझा नहीं । जिण साधुर बचायो तिणरी पिण आझा नहीं । इत्यादि (भ० २६०)

इनके कहनेका तात्पर्य्य यह है कि मरणान्त कष्टकी अवस्थामे भी यदि कोई गृहस्थ, साधुकी रक्षा कर देवे तो उसे एकांत पाप होता है ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

मरणान्त कष्टमें पड़े हुए साधुकी रक्षा करनेसे गृहस्थ को एकान्त पाप फटना भास्त्र विरट है क्योंकि गृहस्थकल्प सूत्रके मूलपाठमे स्थविर कल्पी साधु या साध्वीको सर्प काटने पर गृहस्थसे झाडा दिलानेकी वीतरागने आझा दी है । अत मरणान्त कष्ट से साधुकी रक्षा करना आझा बाहर तथा एकांतपाप नहीं है यह पाठ यह है—

“निर्गन्धं चणं राओवा वियालेवा दीहपोढे लूसेज्जा इत्थी पुरि-
सस्स पमज्जेज्जा पुरिसोवा इत्थिए पमज्जेज्जा । एवं से चिट्ठति परि-
हारंच नो पाउणति एसकप्पे थोर कप्पियाणं एव से नो कप्पति एवं
से नो चिट्ठति परिहारंच पाउणति एसकप्पे जिण कप्पियाण”

(गृहस्थकल्प सूत्र)

(इसकी व्याख्या)

“सम्प्रति सूत्र व्याख्या क्रियते—निर्गन्धं च शङ्खान्निर्गन्धो च गत्रोवा विपाज्जेवा दीर्घं पृष्ठं सर्पो लपयेत् दशेत् । तत्र स्त्री वा पुत्रस्य हस्तन तं शिषमपमार्जयेत् । पुत्र-
पोवा स्त्रिया हस्तन एव से सम्य स्थविर कल्पिकल्प कल्पन । स्थविरकल्पस्य अपजोद
घट्टत्वात् । एवचासुना प्रकार पापवादमासेयमास्य से तस्य विप्रति पन्थाय न
स्थविर कल्पान परिभक्षयति येन छेदादय प्रायश्चित्त विरोधा स्तर न मति । परिगन्धं

(उत्तर)—आचाराग श्रुत० २ अ० ३ उ० २ कश्चो विहार करता मार्ग माई बीज हरी पानी माठी होय तो छने रास्ते ते मार्गे जावणो नहीं । इण न्याय रस्तो न होय तो ते मार्गो दोष नहीं । ऊ ची भूमि, खाई, गड्ढने मार्गे छते रस्ते न जावणो रस्तो और न होय तो जावणो” ।

इत्यादि जीतमलजीके लेखसे भी यह सिद्ध होता है कि दूसरा रास्ता नहीं होने पर साधु गर्त आदि वाले मार्गसे जाते हैं और वहां वे कागवज पथिकके हाथकी सहायता भी आचाराग सूत्रोक्त विधिके अनुसार लेते हैं । ऐसा करनेसे स्थविर कल्पों साधु का कृप भङ्ग नहीं होता क्योंकि यह कार्य जिन आश्रमों में है । तथा उक्त मार्ग के अन्दर मुसीबतमें पड़े हुए साधुको जो पथिक अपने हाथकी सहायता देकर उनकी प्राण-रक्षा करता है वह भी आश्रानुसार ही कार्य करता है आश्रमसे बाहर या एकांतपापका कार्य नहीं करता । अतः आश्रममें जलते हुए साधुकी बाह पकड़ कर बाहर निकालने वाले गृहस्थ को पाप कैसे हो सकता है ? यह बुद्धिमानोंको विचारना चाहिये ।

यदि मरणान्त कष्ट उपस्थित होने पर भी गृहस्थ से शारीरिक सहायता लेना स्थविर कल्पों साधुका कृप नहीं होता और उस हालतमें भी स्थविर कल्पोंको शारीरिक सहायता देना गृहस्थके लिये वर्जित होता तो आचाराग सूत्रके इस पाठमें पथिक के हाथ की सहायता लेकर साधुको कठिन मार्गसे पार करने का विधान कैसे किया जाता ? तथा घृह्णकल्प सूत्रमें सर्पका जहर उतारनेके लिये साधु साध्वी को गृहस्थ से झाडा लगवाने का विधान क्यों किया जाता ? अतः साधु के लिये गृहस्थ से शारीरिक सहायता लेने को हर एक अवस्था में एकान्त निषेध करना शास्त्रविरुद्ध समझना चाहिये ।

(बोल ९ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २६१ के ऊपर भीषणजीके वार्तिकों का उल्लेख करते हुए लिखते हैं—

“बली कोई एक इसडी कहे छै । सुमद्रासनी साधुरो आप माहि थी फाटो काट्यो तिणमे धर्म कहे छै ।”

इसके आगे २६७ पृष्ठमें अपनी ओरसे लिखते हैं कि “केतला एक जिन आश्रम अज्ञान छै । ते साधु अग्नि माहि बलतानी कोई गृहस्थी बाह पकड़नी बाहिरे काटे तथा साधुरी फासी कोई काटे तिणमें धर्म कहे छै” इत्यादि । इनके कहनेका तात्पर्य

यह है कि सुमद्रा सतीने जिन कल्पी मुनिकी आरसे तिनका निकाला था, इससे उसको पाप हुआ तथा किसी दुष्टके द्वारा साधुके गलेमें लगाई हुई फासीको यदि कोई दयालु गृहस्थ काट देवे, तथा आगमें जलते हुए साधुको कोई दयावान गृहस्थ बाह पकड़ कर बाहर निकाल दे तो उसको एकान्त पाप होता है ।

इसका क्या समाधान ?

(प्रश्नक)

सुमद्रा सतीने जिन कल्पी मुनिकी आरसे तिनका निकाला था इस कायसे सुमद्राजीको पाप बतलाना भीषणजीका अज्ञान है तथा साधुके गलेकी फासी काटने और आगमें जलते हुए साधुको बाह पकड़कर बाहर निकालनेसे दयालु गृहस्थको पाप बतलाना जीवमल्लजीका भी अज्ञान है । भगवनी सूत्र शतक १६ उद्देश ३ के अन्दर साधुकी नासिकामें छटकते हुए अर्शका छेदन करने वाले वैश्यको शुभ किया (पुण्यवन्ध) कहा है । वह पाठ यह है —

“अणगारस्सणं भन्ते ? भाविअप्पणो छट्ठं छट्ठेणं अणिविस्स-
णं जाव आयावेमाणस्स तस्सणं पुरच्छिमेणं अबद्ध दिवसं णो
अप्पह हत्थंवा पायंवा उरुंवा आउंटावेत्तएवा पसारत्तएवा पच्च-
छिमेणं अबद्ध दिवसं कप्पह हत्थंवा पायंवा जावउरुंवा आउंटा
एवा पसारत्तएवा” तस्स प अंसिआओ लंपह तंचेव पिज्जे
दक्खु णसिपाडेह । पाडेहत्ता अंसिआओ छिदेज्जा सेणूणंभन्ते ?
छिन्देज्जा तरस्स किरिया कज्जह । जस्सछिन्दह णोतस्स किरिया
ज्जह णणत्थेगेणं धम्मं तराएणं ? हन्त । गोयमा । जेछिन्दह जाव
धम्मंतराएणं सेवं भन्ते भन्तेति”

(भ० श० १६ उ० ३)

अर्थ—

हे भगवन् ! निरन्तर घेले घेले खप करता हुआ यावत् आतापना होता हुआ भाषिता-
अणगराका दिनके पूर्वार्ध भागमें अपने हाथ, पाव, ऊरु आदि अङ्गोंको पसारना और संकोच
ना, नहीं करवता । तथा दिनके उत्तरार्धमें उक्त अङ्गोंको पसारना और संकोच करना करवता
उक्त साधुकी नासिकामें छटकते हुए अर्शको यदि कोई वैश्य साधुको नीचे बालकर काटे तो
वैश्यको किया लगती है परन्तु साधुको एक धर्मान्तरायके सिखाय और किया नहीं लगती क्या
यह सत्य है ?

हा गोतम ! सत्य है । छेदन करने वाले वैद्यको ही क्रिया लगती है और उक्त साधुको एक धर्मान्तरायसे भिन्न दूसरी क्रिया नहीं लगती यह बात यथाय है ।

यहा भगवतीजीक मूल पाठमे साधुकी नासिकामें छटके हुए अर्शके छेद न करने से वैद्यको क्रिया लगना बतलाया है क्रियायें दो प्रकार की ठाणाङ्ग सूत्रमें कही गई हैं शुभ और अशुभ परन्तु इस मूल पाठमे शुभ अथवा अशुभ किसी एक क्रियाका नाम न लेकर समुच्चय रूपसे कहा है कि साधुकी नासिकामे छटके हुए अर्शके छेदन करने वाले वैद्यको क्रिया लगती है । इसका खुलासा करते हुए टीकाकार बतलाते हैं कि साधु की नासिकामें छटके हुए अर्शको जो वैद्य धर्म बुद्धिसे छेदन करता है उसको तो शुभ क्रिया (पुण्यकी क्रिया) लगती है और जो लोभ आदिसे छेदन करता है उसको अशुभ क्रिया (पाप) होती है । वह टीका यह है—

“तच्चानगर कृत कायोत्सर्गं लम्पमानार्शसमद्राक्षीत् । ततश्चार्शसाछेदनार्थमनगर भूत्या पातयति । नापातितस्यार्शश्छेदं कर्तुं शक्यत इति । तस्य वैद्यस्य क्रिया व्यापार रूपा सा च शुभा धर्म बुद्ध्या छिन्दानस्य । लोभादिनात्वं शुभा क्रिया तस्य भवति । तस्य-साधोरर्शं सिद्धियन्ते नो तस्य क्रिया भवति निर्व्यापारत्वात् । किं सर्वथा क्रियाया अभावो नैव मित्याह नन्नत्येत्यादि । न इति योऽय निषेध सोऽन्यत्र कस्माद्धर्मान्तरायाद् धर्मान्तराय लक्षणा क्रिया तस्याऽपि भवतीति भाव । धर्मान्तरायश्च शुभध्यानविच्छेदा दर्शश्छेदानुमोदनाद्वा इति”

अर्थात् कायोत्सर्ग किये हुए अनगरकी नासिकामे छटकते हुए अर्शको देनकर उसका छेदन करनेके लिये कोई वैद्य साधुको नीचे डाले (क्योंकि नीचे डाले बिना अर्श का छेदन नहीं किया जा सकता) और नीचे डालकर धर्म बुद्धिसे साधुका अर्श छेदन करे तो उस वैद्यकी क्रिया शुभ समझनी चाहिये । अर्थात् उसको शुभ क्रिया (पुण्यकी क्रिया) लगती है । तथा वह यदि लोभ आदिके द्वारा अर्शका छेदन करे तो उसको अशुभ क्रिया लगती है परन्तु जिसका अर्श काटा जाता है उस मुनिको एक धर्मान्तराय के सिवाय दूसरी क्रिया नहीं लगती क्योंकि वह मुनि व्यापार रहित है और वह धर्मान्तराय रूप क्रिया भी मुनिके शुभ ध्यानके विच्छेद होनेसे और अर्श छेदनके अनुमोदन करनेसे लगती है अन्यथा नहीं ।

यहा टीकाकार भगवतीके उक्त पाठ का अभिप्राय बतलाते हुए लिखते हैं कि जो वैद्य धर्म बुद्धिसे साधुका अर्श छेदन करता है उसको शुभ क्रिया यानी पुण्यकी क्रिया लगती है तब फिर सुभद्रा सतीने धर्म बुद्धिसे जो जिन कल्पी मुनिकी आँखसे तिनका निकाळा था उसमे सुभद्रा सतीको पाप कैसे हो सकता है ? तथा आगमें जलते हुए

साधुकी बांह पकड़कर धर्म बुद्धिसे याहर करने वाले दयालु गृहस्थको तथा साधुकी गले की फासी काटने वाले धार्मिक दयालु पुरुषको पाप कैसे हो सकता है यह बुद्धिमानोंको मेवना चाहिये । यदि इन कार्य्यों में पाप होता तो फिर धर्म बुद्धिसे साधुका अर्ग काटने वाले वैश्यको भगवती सूत्रके उक्त पाठमें तथा उसकी टीकामें शुभ क्रिया (पुण्य कर्म) होना क्यों कहा जाता ? अतः भगवनोंके पूर्वोक्त पाठ और उसकी टीकासे स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधुके गलेकी फासी काटना तथा आगमें जलने हुए साधुकी बांह पकड़कर उसको बाहर निकालना, मरणान्त कष्टमें पड़े हुए साधुकी शारीरिक सहायता देना तथा करना, धार्मिक गृहस्थोंके लिये पापका कार्य्य नहीं है किन्तु धर्मका कार्य्य है । अतः औषगजीने, सुभद्रा सतीको जिन कल्पी मुनिकी आरासे तिनका निकालनेसे जो फाँसी कहा है तथा जीतमलजीने जो साधुके गलेकी फासी काटने वाले और आगमें पड़े हुए साधुको बाहर निकालने वाले दयालु गृहस्थोंको पाप कर्म करने वाला बतलाया है वह इन लोगोंकी प्ररूपगा नितान्त शास्त्र विरुद्ध समझनी चाहिये ।

(बोल १० वां)

(अंक)

आपने भगवती सूत्रके मूलपाठ और उसकी टीकासे यह सिद्ध कर दिया कि वेध साधुकी नासिकामें छटके हुए अर्गको धर्म बुद्धिसे काटता है उसको शुभ क्रिया कहते हैं परन्तु अम विध्वंसनकार अमजिघ्रसन पृष्ठ २७० के ऊपर निशीथ सूत्र वदे शा ३१ का मूल पाठ छिप कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ इहा कश्चो—साधु अन्य तीर्थों तथा गृहस्थ पासे अर्श छेदने तथा कोई साधुकी अर्श छेदवाने अनुमोदे तो मासिक प्रायश्चित्त आने । अर्श छेदण्या पुण्यनी होवे तो ए अर्श छेदन बालाने अनुमोदे तो दण्ड क्यूँ कहा ? पुण्यरी करणी तो निरवय करणी अनुमोद्या तो दण्ड आवे नहीं । दण्ड तो पापरी करणी अनुमोद्या भीज आवे” इत्यादि ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

निशीथ सूत्रको उक्त पाठ देकर इसका समाधान किया जाता है । वह पाठ है—

“जे भिक्खू अण्ण वत्थिएणवा गारत्थिएणवा अप्पाणो
कपमि गढंवा पलियंवा अरियंवा असियंवा भगदलंवा अण्णपरं-

णवा तिक्खेण सत्थजाएणवा आच्छिंदेइ विच्छिंदेइ आच्छिंदंत
विच्छिंदंतंवा साइज्जइ”

(निशीथ १५ उ० बोल ३१)

अथ —

जो कोई साधु अन्य यूथिकसे अथवा गृहस्थसे अपने शरीरके गंडमालादिक, मेढ़, फोड़ अशा मगन्दर, इनको किसी सीधण दत्त जातिसे छेदने तथा निशेष रूपसे छेदावे अथवा इन छेदन कराने वाले साधुकी अनुमोदना करे तो उसको प्रायश्चित्त आता है ।

यहां निशीथ सूत्रके मूल पाठमें अन्य यूथिक और गृहस्थके द्वारा अर्श छेद कराने वाले और उसका अनुमोदन करने वाले साधुको प्रायश्चित्त आना कहा है । लिये कोई साधु यदि गृहस्थसे अर्शका छेदन करावे तथा छेदन कराते हुए साधुको भल जाने तो उसको प्रायश्चित्त आता है परन्तु धर्म बुद्धिसे उक्त साधुका अर्श छेदन कराने वाले गृहस्थको प्रायश्चित्त आना इस पाठमें नहीं कहा है क्योंकि भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा ३ के मूल पाठमें और उसकी टीकामें जब कि धर्म बुद्धिसे साधुका अर्श काटने वाले गृहस्थको शुभ क्रिया कही है तब उसके विरुद्ध यहां उक्त गृहस्थको पाप कैसे कह जा सकता है । यद्यपि भ्रम निध्वसनकार इस विषयमें यह तर्क करते हैं कि “साधुका अर्श काटने वाले गृहस्थको यदि पुण्यकी क्रिया होती है तो फिर उसका अनुमोदन करने से साधुको प्रायश्चित्त कैसे आता है” परन्तु उनका यह तर्क भी अज्ञान सूचक है । उक्त निशीथके मूलपाठमें अर्श छेदन करने वाले गृहस्थके कार्योंका अनुमोदन करनेसे साधुको प्रायश्चित्त आना नहीं कहा है किन्तु गृहस्थके द्वारा अर्श छेदन कराते हुए साधुके कार्योंका अनुमोदन करनेसे प्रायश्चित्त आना कहा है । इसलिये अनुमोदनका नाम लेकर धर्म बुद्धिसे साधुका अर्श छेदन करने वाले गृहस्थको पापकी स्थापना करना मित्या है ।

यदि कोई ठहरे “कि गृहस्थसे अर्श काटने वाले साधुको यदि पाप लगता है तो साधुका अर्श काटने वाले गृहस्थको पुण्य कैसे होगा ? तो इसका उत्तर यह है कि जैसे गृहस्थके द्वारा सत्कार सम्मान और पूजा प्रतिष्ठा की इच्छा रखना उत्तराज्ययन सूत्रके अन्दर साधु को वर्जित की गयी है परन्तु श्रावक यदि साधुकी पूजा प्रतिष्ठा बन्दना सत्कार करे तो उसका निषेध नहीं है किन्तु वह धर्म का कार्य है । उसी तरह साधु यदि गृहस्थसे अर्शछेदन करावे अथवा कराते हुए साधुको अच्छा जान तो उसको प्रायश्चित्त आता है परन्तु धर्म बुद्धिसे साधुका अर्श काटने वाले गृहस्थ को पापश्चित्त नहीं आता ।

उत्तराध्ययन सूत्रकी मूलगाथा यह है—

“नोसक्रिय मिच्छई नपूजं नोविय वंदणगं कुओ पसंसं”

(उत्तरा० अ० १५)

अर्थ,—

“साधु अपनी पूजा और स्तुति की इच्छा नहीं करे तथा वन्दन और प्रशंसा की चाहना भी न करे।”

परन्तु श्रावक लोग साधुकी पूजा स्तुति वन्दन और प्रशंसा करते हैं और वक्तव्यों से श्रावकोंको पाप नहीं होता किन्तु धर्म होता है। उसी तरह साधु यदि किसी गृहस्थसे अर्श कटवाना चाहे तो उसको पाप हो सकता है परन्तु अर्श काटनेवाले गृहस्थको पाप नहीं हो सकता है बल्कि धर्म बुद्धिसे काटने पर धर्म ही होता है। तथापि साधु, गृहस्थसे अर्श कटवाना नहीं चाहते, यह देख कर साधुके अर्श काटनेसे गृहस्थको पाप होता यदि कोई हठी फट्टे तो फिर साधुकी वन्दना पूजा स्तुति सम्मान करनेवाले श्रावकको भी उसके हिसानसे पाप ही होना चाहिये क्योंकि साधु गृहस्थसे पूजा प्रतिष्ठा वन्दना नमस्कार आदिकी भी चाहना नहीं रखता। अतः निशीथ सूत्रका मनना तात्पर्य बतला कर धर्म बुद्धिसे साधुका अर्श काटने वाले वैद्यको पाप होने की थापना करना एकमात्र अज्ञान का परिणाम समझना चाहिये।

[बोल ११ वां समाप्त]

(प्रेरक)

अमविध्वस्तकार भ्रम० पृ० २७० के ऊपर आचाराग सूत्र अध्ययन १३ श्रुत० के का मूलपाठ लाव कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—

“अथ ईहा कहो जे साधुर प्रण ते गुमडो फुणमी आदिक तेहने कोई पर अनेरो म्य शम्भेकरी छेदे तो तेहने मनकरी अनुमोदे नहीं। अने वचन करी तथा काया ई कराये नहीं। जे कार्य साधु मन करी अनुमोदना इन करे ते कार्य करणवाला धर्म किम हुवे। इत्यादि।

इसका क्या समाधान ?

(प्रत्युपक)

जैसे उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १५ की गायमें अपनी पूजा प्रतिष्ठा, स्तुति सम्मान की चाहना करना साधुके लिये वर्जित की है परन्तु गृहस्थ यदि साधुकी पूजा

प्रतिष्ठा आदि करे तो उसको पाप नहीं कहा है । उसी तरह आचाराग सूत्रके इस पाठ में भी गृहस्थके द्वारा अपने फोड़े आदिको छेदन करानेकी इच्छा करना साधुको वर्जित की गयी है परन्तु गृहस्थको साधुके फोड़े आदिका छेदन करना वर्जित नहीं है । इस लिये धर्म बुद्धिसे गृहस्थ यदि साधुका व्रणको फाटे तो उसको एकान्त पाप नहीं हो सकता क्योंकि जैसे साधु गृहस्थके द्वारा अपनी पूजा प्रतिष्ठा कराने की इच्छा नहीं करता पर गृहस्थ साधुकी पूजा प्रतिष्ठा करता है और उस गृहस्थको उस कार्यसे पाप नहीं होता धर्म होता है उसी तरह साधु, गृहस्थसे अपने फोड़े आदिका छेदन कराना नहीं चाहता यदि चाहे तो पाप होगा परन्तु गृहस्थ यदि धर्म बुद्धिसे साधुका व्रण छेदन करे तो उसको एकान्त पाप नहीं हो सकता ।

देखिये आचाराग सूत्रका वह पाठ यह है—

“सिया से परे कार्यसि वर्ण अण्णपरेण सत्थ जाएणं आच्छिं-
देज्जया विच्छिं देज्जवा णो तं सातिए णो तं णियमे”

(आचाराग अ० १५ श्रु० २)

अर्थ—

जयोंत कदाचित् साधुके शरीरमें व्रण उत्पन्न हुआ देख कर गृहस्थ यदि उसका छेदन करे तो साधु उसकी इच्छा न करे । और छेदन न कराये ।

यहा साधुको गृहस्थसे फोड़े आदिके छेदन करानेकी इच्छा करना वर्जित की गई है । परन्तु गृहस्थको साधुका व्रण छेदन करना वर्जित नहीं किया है इसलिये इस पाठ का नाम लेकर साधुका अर्श छेदन करने वाले गृहस्थको एकान्त रूपसे पापी कहना मिथ्या समझना चाहिये ।

(बोल १२ वां समाप्त)

(इति वैवाच्य प्रकरण समाप्तम्)



अथ विनयाधिकारः ।



(रक)

विनय किसे कहते हैं । और उसके भेद कितने होते हैं ।

प्रश्नक)

“विनीयते कर्मानेनेति विनय । गुरुश्रूपा विनय नीचैर्घृत्यनुत्सेके”
 अर्थात् जिससे कर्मग्रन्थ निवृत्त होता है उसे विनय कहते हैं । तथा गुरुजन की
 श्रूपा करनेका नाम विनय है । एवं नम्रताको भी विनय कहते हैं ।
 यह सात प्रकार का होता है । इस विषयमें भगवती आदि सूत्रोंमें यह पाठ
 मिला है ।

“सत्तविहे विणए पणत्ते तंजहा—
 णोण विणए, दसण विणए, चारित्त विणए, मण विणए, वत्ति
 विणए, काय विणए, लोमोवयार विणए”
 (ठागाज्ज ठागा ७—अगत्ती शतक १५ उ० ७)

अर्थः—

अथवा विनय सात प्रकारके होते हैं ।

(१) ज्ञान विनय, (२) दर्शन विनय, (३) चारित्र विनय, (४) मनो विनय,
 (५) वचन विनय, (६) काय विनय, (७) लोकोपचार विनय ।

इनमें दर्शन विनयके विषयमें टीकाकारने यह लिखा है कि—

“दर्शनं सम्यक्त्व तदेव विनयो दर्शनं विनय । दर्शनस्यैवा तदव्यतिरेकादर्शनं
 गुणाधिकानां श्रूपाऽनासातनारूपो विनयो दर्शनं विनय । उक्तम्—“सुस्तुसणा अणा-
 यणा य विणमोउ दसणे दुविहो दसण गुणाहिणसु कज्ज सुस्तुसणा विणमो ।
 हारा वसुद्धाणे सम्मानासण अभिगहो वहय । आसणमणुप्पयाण कीवस्मं अज्जलि
 होम । इत्तस्सगु गच्छंया ठियस्सतह पज्जुवासणा भणिया । गच्छंयाणुवयण पत्तो
 स्सुगा विणमो”

अर्थात् दर्शन नाम सम्यक्त्वका है और तद्रूप जो विनय है उसे दर्शन विनय
 कहते हैं । अथवा गुण और गुणीके अभेदसे दर्शनरूप अधिक गुण वाले पुरुषकी श्रूपा
 करना, तथा उनको असातना नहीं देना दर्शन विनय कहलाता है । कहा भी है—

दर्शन विनयके दो भेद होते हैं । शुश्रूषा विनय, और असातना विनय ।

दर्शनरूप अधिक गुण वाले पुरुषों की शुश्रूषा विनय करना चाहिये । शुश्रूषा विनय ये हैं—

सत्कार करना, सम्मुख खड़ा होना, सम्मान करना, सम्मुख जाना, आसन देना, वन्दन करना, हाथ जोड़ना, आते हुए गुरुजनके सामने जाना, बैठे हुए की सेवा करना और आते हुएके पोछे जाना । यह शुश्रूषा विनय कहलाता है ।

इसी तरह भगवती शतक १४ उद्देश ३ के मूलपाठमें शुश्रूषा विनयके भेद बतलाये हैं वह पाठ यह है ।

“सत्कारेड्वा सम्माणेड्वा कीकम्मेड्वा अभ्युद्वाणेड्वा अञ्जलि-
प्पगहेड्वा । आसणाभिगगहेड्वा असणाणुप्पदाणेड्वा इंतस्स पज्जु-
गच्छणया ठियस्स पज्जुवासणया गच्छंतस्सपडिसंहाणत्ता”

(भ० श० १४ उ० ३)

(इस पाठकी टीका)

सत्कारो विनयाहंपु वंदनादिना आदर करणम् प्रवर वस्त्रादि दानञ्च “सत्कारो पवरवत्थादिहिं” इति वचनात् । सम्मानस्तथाविधप्रतिपत्तिकरणम् (कृतिकर्म वन्दन कार्य्य करणञ्च । अभ्युत्थान गौरवाहं दर्शने विष्टरत्यागः । अञ्जलिप्रग्रह अञ्जलि करणम् । आसनाभिग्रह तिष्ठत एव गौरव्यस्यासनानयनपूर्वकं सुपविशतेति भगनम् । गौरव्यमाश्रित्यासनस्य स्थानातरसंचारणम् । आगच्छतो गौरव्यस्याभिमुखगमनं तिष्ठतो गौरव्यस्यसेवेति । गच्छतोऽनुगमनमिति ।

अर्थ —

विनय करने योग्य पुरुषका वन्दन आदिके द्वारा आदर करना और उसको उत्तमोत्तम वस्त्रादिका प्रदान करना सत्कार विनय कहलाता है ।

श्रेष्ठ पुरुषको स्वरूपानुरूप गौरव देना सम्मान विनय है ।

श्रेष्ठ पुरुष को वन्दन करना और उसका कार्य्य करना कृति कर्म कहलाता है ।

गौरव के योग्य पुरुष को देख कर आसन छोड़ खड़ा हो जाना अभ्युत्थान विनय है ।

गौरव के योग्य पुरुष को हाथ जोड़ना “अञ्जलि प्रग्रह” कहलाता है ।

रखे हुए गौरव योग्य पुरुषको आसन देकर बैठनेके लिये कहना आसनाभिग्रह कहलाता है । गौरव योग्य पुरुषके आसनको उसकी इच्छानुसार दूसरी जगह रखना

सोसनातुप्रदान कहलाना है। इसी तरह आते हुए गौरव योग्य पुरुषके-सम्मुख जाना और बैठे हुए की सेवा करना, और जाने हुएके पीछे जाना ये सब शुश्रूषा विनय कहलाते हैं। यह टीकाका अर्थ है —

दर्शन विनयके अधिकारी सम्यग्दृष्टि, साधु और श्रावक सभी लोग होते हैं। सम्यग्दृष्टि अपनेसे अधिक गुण वाले सम्यग्दृष्टिकी और श्रावक अपनेसे अधिक गुण वाले श्रावककी, तथा ये सभी लोग सम्यग्दृष्टि साधुकी तथा कनिष्ठ साधु अपनेसे अधिक गुण वाले साधुकी जो शुश्रूषा करते हैं वह उनका दर्शन विनय समझा जाता है। यह दर्शन विनय निर्जराके भेदमे गिना गया है। इस लिये दर्शन विनय करना निर्जराका हेतु समझना चाहिये।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

अपनेसे अधिक गुण वाले श्रावकका दर्शन विनय करना श्रावकके लिये निर्जरा का हेतु आप बतलाते हैं पर किसी श्रावकने किसी श्रावकका दर्शन विनय किया हो या उदाहरण कोई मूलपाठसे बतलाइये !

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक ११ उद्देशा १० के मूल पाठमें श्रावकोंका श्रावकसे विनय करनेको स्पष्ट कथन है। वह पाठ यह है—

“तएणं ते समणो वासगा समणस्स भगवओ महावीरस्स मंतिआओ एयमट्ठं सोवाणिसम्म समणं भगवं महावीर दंदंति ण-
मंति वन्दित्ता जेणेव इसिभद्वपुत्ते समणोवासए तेणेव उवाग-
उत्तं नि उवागच्छइत्ता इसिभद्वपुत्त समणोवासयं वंदंति णमंस्संति
एयमट्ठं विणएणं भुज्जो भुज्जो खामेंति”

(भ० श० ११ उ० १२)

अर्थ —

इसके अनन्तर ये श्रावक भ्रमग भगवान् महावीर स्वामीम इस बातको ध्यान कर भ्रमग भगवान् महावीर स्वामीको घन्टना नमस्कार करके अपिमद पुत्र श्रावकके पास गये वहाँ जाकर अपिमद पुत्र श्रावकको घन्टना नमस्कार करके उनकी सच्ची बात नहीं मानने रूप अपराधके लिये विनयके साथ बार बार क्षमा प्रार्थना की।

इस पाठमें आवर्कोंका आवरुसे विनय किया जाना स्पष्ट कहा गया है इस लिये अपनेसे उत्कृष्ट गुण वाले आवर्कोंका विनय करना आवरुके लिये निर्जराका हेतु समझना चाहिये ।

इसी तरह भगवतीसुत्र श्लोक १२ उद्देशा १ के मूलपाठमें उपला आवरुकासे पोखलि आवरुका दर्शन विनय किये जानेका उल्लेख है । वह पाठ यह है—

“तएणं साउपला समणोवासिधा पोखलिं समणोवासणं
एज्जमाणं पासइ पासइत्ता इद्वुत्ता आसणाओ अब्भुद्वहत्ता सत्तद्वपया-
हिं अणुगच्छइ अणुगच्छइत्ता पोखलिं समणोवासणं वंदइणमंसइ
णमंसइत्ता आसणेणं उवनिमंसइत्ता एवं वयासी”

(भ० श० १२ उ० १)

अर्थ :—

उपला नामक आवरुकासे पोखलि नामक धम्मोपासकको आते हुए देखा कर इष्टाए हो अपने आसन से उठ कर सात भाग पैर तक उनके सामने जाकर उक्त आवरुको घन्दना नमस्कार फाके आसन पर बैठनेकी प्रार्थना करके इस प्रकार कहा ।

इसी तरह पोखली आवरुके शस्त्र आवरुको घन्दना नमस्कार किया था । वह पाठ यह है—

“तएणं से पोखली समणोवासए जेणेव पोसइसालाए जेणेव
संखे समणोवासए तेणेव उवागच्छइत्ता गमणा गमणाए पडिकमइत्ता
संखां समणोवासणं वन्दइ नमंसइत्ता एवं वयासी”

(भ० श० १२ उ० १)

अर्थ —

इसके अनन्तर पुष्कली आवरुके पौषघ शालामें शस्त्र आवरुके पास जाकर इष्टार्पणिक प्रतिक्रमण करके शस्त्र आवरुको घन्दना नमस्कार करके इस प्रकार कहा ।

इस पाठमें भी पुष्कली आवरुसे शस्त्र आवरुके घन्दन नमस्कार करनेका स्पष्ट उल्लेख किया है । यह सब आवरुके प्रति आवरुके शुश्रूषा विनयका उदाहरण समझना चाहिये ।

[बोल २ समाप्त]

(प्रेरक)

आपने शास्त्रके प्रमाणसे यह सिद्ध कर दिया कि अपनेमें अधिक गुण वाले आचर्योंको आचर लोग चन्दन नमस्कार आदि करते हैं, और यह उनका आचर्यके प्रति श्रद्धा विनय है अतः यह निर्माणा हेतु है परन्तु जीतमलजी और भीषणजी एक मात्र साधुजी श्रद्धा विनयको, निर्माणा हेतु प्रयत्न है आचर्यके श्रद्धा विनयको निर्माणा हेतु नहीं मानते। भीषणजीने स्वयं चित्त डालते कहा है "दर्शन विनयरा दोय भेद छै। श्रद्धासे अगमसाधना तेहजी। श्रद्धा से बड़ा साधुगी करणी ह्याने चन्दन करणी शीश नामजी" (निर्माणा प्रकरण भीषणजीकी काल) तथा जीतमलजीने धर्म ० क २७३ पृष्ठ पर लिखा है कि "येई पापही आचर्यको सावग चित्त दिया धर्म छै छ। विनय मूल पयो नाम हेई आचर्यकी श्रद्धा विनय करयो थाप' इत्यादि (अ पृ० २७३)

इसका क्या समाधान ?

(प्रत्युत्तर)

भीषणजीका और जीतमलजीका आचर्यके प्रति आचर्य श्रद्धा विनयको सावग बनाना शास्त्र विरुद्ध और अग्रगण्य है। हमने इसी पूर्व प्रकरणके बोलमे भगवनी सूत्रकी कई माश्रिया देकर आचर्योंके विनयका प्रमाण बनलाया है। यदि भीषणजी और जीतमलजी के सिद्धान्तानुसार आचर्यके प्रति आचर्यका विनय करना सावग होना तो फिर भगवान् महावीर स्वामीकी मौजूदगीमें उनके समवसरणमें ही आचर्य लोग कपिपद पुत्र आचर्यका विनय क्यों करते ? और उसे भगवान् सावग कहकर क्यों नहीं रोकते ? अतः आचर्यके प्रति आचर्यके विनयको सावग कहना मिथ्या समझना चाहिये।

(प्रेरक)

धर्म विनयसनकार अथ विनयसन पृष्ठ २७६ के ऊपर लिखते हैं—

"सामायक पोषामें सावग रा रया छै। ते सामायक पोषामें आचर्य माहो माही नमस्कार करे नही। ते माटे ये विनय सावग छै। बली पोषलीने उत्पला नमस्कार कियो। ते पिण आवता कियो। अने पोषली जाता चन्दन नमस्कार न कियो। ते धर्म त नमस्कार कीधी हुये नो जाना पिण करवा। बली शरनो विनय पोषली कियो। पिण आवता कियो पिण पाछा आवता विनय कियो चाह्यो न थी। इण न्याय संसार त विनय कियो पिण धर्म हेते न थी। जिन साधुनों विनय करे त आचर्य आवता न कर अने पाछा आवता पिण करे तिन पोषलीनो विनय उत्पला पाछा आवता न

कियो । तथा पोखली पिण शरफनाथी पाछा जाता विनय न कियो । ते माटे संसागनी रीते प विनय कियो उँ ।”

(भ्र० पृ० २७६)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवतीसूत्रके मूलपाठमे यद्यपि पोखलीश्रावकको जाते समय उत्पलाका नमस्कार करना, तथा शरफके पाससे जाते समय शरफको पोखलीका नमस्कार करना लिखा हुआ नहीं है तथापि नहीं लिखनेसे यह नहीं निश्चय किया जा सकता कि उत्पलाने जाते समय पोखली को, और पोखलीने जाते समय शरफको नमस्कार नहीं किये थे, क्योंकि उपासक दशागसूत्रमें गोतमस्वामीको जाते समयमेंही आनन्दश्रावकसे नमस्कार किये जानेका उल्लेख है जाते समय नमस्कार करनेका कथन नहीं चला है तथा रेवती धर्मपत्नी श्राविकाने सीह अनगारको जाते समयमें ही नमस्कार करनेका उल्लेख है जाते समयका उल्लेख नहीं है इस लिये जैसे यह नहीं कहा जा सकता कि आनन्द श्रावकने जाते समय गोतम स्वामीको नमस्कार नहीं किये थे तथा रेवती श्राविकाने जाते समय सीह अनगारको वन्दन नमस्कार नहीं किये थे उसी तरह यह भी नहीं कहा जा सकता कि उत्पलाने जाते समय पोखलीको और पोखलीने विदा होते समय शरफको वन्दन नमस्कार नहीं किये थे । अतः जाते समयके वन्दन नमस्कारका उल्लेख नहीं होनेसे उत्पलाने जाते समयमें पोखलीको और पोखलीने जुदा होते समय शरफको नमस्कार नहीं किये थे यह निश्चय करना भ्रमविध्वसनकारका निर्मूल है ।

जाते समयके वन्दन नमस्कारका उल्लेख नहीं होने पर भी जैसे यह कहा जा सकता है कि आनन्द श्रावकने गोतम स्वामीको और रेवती श्राविकाने सीह अनगारको जाते समय भी वन्दना नमस्कार किये होंगे उसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि उत्पलाने पोखलीको और पोखलीने शरफको जाते समय भी वन्दन नमस्कार किये होंगे । अस्तु—भ्रमविध्वसनकारके अनुयायियोंसे पूजना चाहिये कि उत्पला श्राविकाने जाते समय पोखलीको और पोखलीने शरफके पास जाते समय जो शरफको वन्दना नमस्कार किये थे यह लौकिक रीतिके पालनार्थ किये थे धर्मके निमित्त नहीं इसमें क्या प्रमाण है ? क्योंकि मूल पाठमें जैसे साधुके वन्दन नमस्कारका उल्लेख पाया जाता है उसी तरह पोखली और शरफके भी वन्दना नमस्कारका उल्लेख है वहा यह नहीं कहा है कि साधु वन्दन तो धर्मार्थ है और श्रावककी वन्दना लौकिक रीति पालनार्थ है । ऐसी दशा में तुमने यह निर्णय किस आधार से कर लिया है कि 'उत्पलाने पोखली को और पोखलीने शरफको जो वन्दन नमस्कार किये थे वह लौकिक रीति पालनार्थ किये थे

विनयोधिकार ।

नहीं शास्त्रके अन्दर कहीं भी अपनेसे अधिक गुणवान् आश्रमको वन्दन-तमस्कार
नियेय नहीं है प्रत्युत श्रेष्ठ आश्रमको वन्दन करनेकी शास्त्रमें प्रशंसा की गई है ।
अधिक गुणवान् आश्रम के प्रति आश्रम के विनय को साधय कायम करना
त है ।

यदि सभी शुश्रूषा विनय साधुका ही किया जाना धर्मका हेतु है तो फिर आश्रम
कृतिकर्म, असनानुप्रदान, और आसनाभिग्रह रूप विनय किमत्ता करे ? कृतिकर्मका
कर्म है अपनेसे श्रेष्ठ पुरुषका फार्ग करना परन्तु साधु लोग किमी गृहस्थ से अपना
फार्ग नहीं कराते कि यह विनय आश्रम किस का करे ? यह भ्रमविप्रसङ्गकार के
शिर्यामे पूजना चाहिये ।

अपनेसे श्रेष्ठ पुरुषके आसनको उसकी इच्छानुसार अन्यत्र रखना आसनानुप्र-
दान विनय है और अपनेसे श्रेष्ठ पुरुषको बैठनेके लिये आमन दना आसनाभिग्रह रूप
विनय है परन्तु साधु लोग गृहस्थ से अपना आसन अन्यत्र नहीं रखवाते और गृहस्थ
क दिये हुए आसन पर बैठते भी नहीं हैं । ऐसी दशामें आश्रम इन विनयों का व्यवहार
किसके साथ करे ? यह भी भ्रमविप्रसङ्गकारके अनुयायियोंसे पूजना चाहिये । लापार-
कार उन्हें यह कहना ही होगा कि ये विनय आश्रमकोके साथ ही आश्रम करते हैं परन्तु
साधुके साथ नहीं ।

कदाचिन् कोई यह कहे कि “उक्त सभी शुश्रूषा विनय आश्रमकोके नहीं हैं इसलिये
आश्रम को यदि कृति कर्म, आसनानुप्रदान, तथा आसनाभिग्रह रूप विनय करने का
प्रसङ्ग नहीं आना तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है तो इसका उत्तर यह है कि भग-
वती सूत्र शतक १४ उद्देश ३ में आसनानुप्रदान और आसनाभिग्रह रूप विनयको छोड़
कर शेष सभी विनयोंका सङ्ग्राह तिर्य्यच आश्रमोंमें भी बतलाया है और मनुष्य आश्रमों
में तो सभी विनयोंका सङ्ग्राह कहा है । अतः मनुष्य आश्रमोंमें सभी शुश्रूषा विनयों का
सङ्ग्राह नहीं मानना शास्त्र से विरुद्ध है । आश्रम लोग अपनेसे श्रेष्ठ आश्रम के
जो फार्ग कर देते हैं वह उनकी कृतिकर्म रूप विनय है और उनके आसनको उनके
इच्छानुसार अलग रखना आसनानुप्रदान रूप विनय है और उन्हें बैठनेको आसन देना
आसनाभिग्रह रूप विनय है । यह निर्जराका हेतु है । इसे पाप कहना उक्तसंभारियोंका
पापों समझना चाहिये ।

भगवती सूत्र शतक १४ उद्देश ३ में मनुष्य आश्रमोंमें सभी विनयों का और
तिर्य्यच पञ्चैन्द्रिय आश्रमोंमें आसनानुप्रदान और आसनाभिग्रहको छोड़ कर शेष सभी
विनयोंको सङ्ग्राह बतलाया है वह पाठ यह है—

“अर्त्थिणं भन्ते ? पञ्चिन्द्रिय तिरिक्ख जोणियाणं सक्कारेइवा जाव पडिसंसाहणया ?

हन्ता ! अत्थि णो चेवणं आसणा भिग्गहेइवा आसणाणुप्पदाणे-
इवा । मणुस्साणं जाव वेमाणियाणं जहा असुर कुमाराणं”

(भ० श० १४ उ० ३)

अर्थ —

हे भगवन् तिरिक्ख पञ्चेन्द्रिय आवर्कोंमें सत्कार आदि शुश्रूषा विनयका सन्भाव होता है ?
हा गोतम ! होता है । आमनानुप्रदान और आसनाभिग्रह को छोड़ कर सभी शुश्रूषा
विनय तिरिक्ख पञ्चेन्द्रिय आवर्कोंके भी होते हैं । तथा मनुष्य यावत् वैमानिक देशोंके अह
कुमारकी तरह सभी शुश्रूषा विनय होते हैं ।

इस पाठमें मनुष्य आवर्कोंमें सभी विनयोंका सद्भाव कहा है और तिरिक्ख
पञ्चेन्द्रिय आवर्कोंमें आसनानुप्रदान और आसनाभिग्रहको छोड़ कर शेष सभी विनय
कहे हैं । तिरिक्ख पञ्चेन्द्रिय आवर्क अट्टाई द्वीपसे बाहर भी रहते हैं, जहा साधुओं का
गमनागमन नहीं होता फिर वह शुश्रूषा विनय किसका करते हैं यह भ्रमविध्वसनकार
के मतावलम्बियोंसे पूछना चाहिये । लाचार होकर उन्हें यह मानना ही पड़ेगा कि
अट्टाई द्वीपसे बाहर रहने वाले तिरिक्ख पञ्चेन्द्रिय आवर्क जो अपनेसे श्रेष्ठ आवर्कका
सत्कार सम्मान आदि करते हैं वह उनका शुश्रूषा विनय है । अत आवर्कके प्रति
आवर्कके शुश्रूषा विनयको साव्य कायम करना अज्ञान का परिणाम समझना चाहिये ।

यदि कोई कहे कि “आवर्कको वन्दना नमस्कार करना साव्य नहीं है तो सामा-
यिकके अन्दर बैठा हुआ आवर्क किसी आवर्कको वन्दना नमस्कार क्यों नहीं करता ।”
तो इसका उत्तर यह है कि सामायिकके अन्दर बैठा हुआ आवर्क सामायिक और पोषा
में नहीं बैठे हुए आवर्कसे श्रेष्ठ होता है और श्रेष्ठ अपने से कनिष्ठ को नमस्कार नहीं
करता इसलिये सामायिक और पोषामें बैठा हुआ आवर्क सामायिक और पोषा में नहीं
बैठे हुए आवर्कको वन्दन नमस्कार नहीं करता परन्तु वह उसके वन्दन नमस्कार को
साव्य नहीं समझता । जैसे बड़ा साधु छोटे साधुको वन्दन नमस्कार नहीं करता तथा
जिन कल्पी साधु स्वविर कल्पीको वन्दना नमस्कार नहीं करता एवं पुरुष साधु स्त्री
साध्वीको वन्दना नमस्कार नहीं करता क्योंकि वे उनसे बड़े हैं परन्तु यदि कोई दूसरा

पूर्वोक्त मुनियोंको वन्दन नमस्कार करे तो उसे वे सावय नहीं जानते उसी तरह सामा-
यिक बैठे हुआ आचर्य श्रेष्ठ होनेके कारण दूसरे आचर्यको वन्दन नमस्कार नहीं करता
परन्तु उसके वन्दन नमस्कारको सावय नहीं जानता । अन्यथा बड़ा साधु छोटे साधुको
और भिनकूपी, स्थविर कूपी को पब पुरुष साधु स्त्री साध्वीको वन्दन नमस्कार नहीं
करत इसलिए छोटे साधु तथा स्थविर कूपी साधु और स्त्री साध्वीके वन्दन नमस्कार
को भी सावय मानना पड़ेगा ।

यदि छोटे साधुको और स्थविर कूपी साधुको क्या स्त्री साध्वीको कण्ठ पड़े
साधु तथा जितकूपी साधु और पुरुष साधुसे वन्दन नमस्कार नहीं किये जाने पर भी
उनका वन्दन नमस्कार सावय नहीं है तो उम्मी तरह सामायिक और पोषार्थ बैठे हुए
आचर्यसे आचर्यको वन्दन नमस्कार नहीं किये जाने पर भी आचर्य का वन्दन नम-
स्कार सावय नहीं है । अत आचर्यके वन्दन नमस्कारको सावय बतलाना एकात मिथ्या
समझना चाहिये ।

(बोल ३ समाप्त)

(प्रेरक)

अम्बड सन्यासीके शिष्योंने संधारामहण करते समय अम्बडजीको वन्दन नम-
स्कार किया था । उस वन्दन नमस्कारको सावय सिद्ध करते हुए भ्रमविध्वंसनकार
लिखते हैं कि—

“अथ इहा चेला बडो नमस्कारथावो म्दारा धर्माचार्य्य धर्मोपदेशकने इहा अम्बड
परिब्राजकने नमस्कार थावो पद्वू कछो । अम्बड भ्रमणोपासकने नमस्कार थावो इम
न कछो । ए भ्रमणोपासक पद छाडि परिब्राजक पद ग्रहण करी नमस्कार कीधो ते
माटे परिब्राजकता धर्मनी आचार्य्य अने परिब्राजकता धर्मनी उपदेशक है । तिणने
आगे पिण वन्दना नमस्कार करता हुन्ता । पछे जिन धर्म तिणकने पास्या । पिण आग-
छो गुरुपणो मिट्यो नहीं । ते माटे सन्यासी धर्मरो उपदेशक कछो छै ।”

इत्यादि लिख कर आगे लिखते हैं कि—

आचार्य्यना ३६ गुण कछा छै अने अम्बड में तो ते गुण पावे नहीं आचार्य्य
पद तो पाचपदा माहि छै । अने अम्बड तो पाचपदा माहि नहीं छै । (ध्र० पृ० २७७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

अम्बडजीके शिष्योंने संधारामहण करते समय अरिहत सिद्ध, और महावीर
स्वामीके नमस्कारके साथ ही अम्बडजीको भी नमस्कार किया था उन्होंने अरिहत,

सिद्ध और भगवान् महावीर स्वामीको नमस्कार तो मोक्षार्थ-क्रिया हो और अम्बडजी को नमस्कार मोक्षार्थ नहीं किया हो इसमें कोई प्रमाण नहीं है । उस पंथमें साफ साफ लिखा है कि जिस अम्बडजीसे हम लोगोंने यावज्जीवन के लिये बाहर धर्मको धारण किया है उनको नमस्कार है । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अम्बडजी के शिष्यों ने अम्बडजीको बाहर धर्म धारण कहानेका उपकार मान कर ही वन्दन नमस्कार किया है पर दूसरे किसी कारणसे नहीं । अतः इस दाखले से बाहर धर्म धारण करने वाला अपनेसे श्रेष्ठ श्रावकको वन्दन नमस्कार करना धर्मका कारण सिद्ध होता है सा-ध्व्य सिद्ध नहीं होता वह पाद यह है ।

“अणमणसस अन्ति ए पयमदुः पडिसुणंति । अणमणसस अन्ति ए पडिसुणित्ता । तिदण्डएय जाव एगंते ३ २ गंगं महाणहं ओगाहंति २त्ता वालुआ संधारं संधरंति । वालुयासंधारयं डुरुहि-तिवारत्ता पुरत्ताभिमुहा संपलियं क निसन्ना करयल जाव कट्टु एवं वपासो नमोऽश्रुण अरहं ताणं जाव संपत्ताणं नमोऽश्रुणं अम्बडस्स परिव्वायगस्स अम्हं धम्मायरियस्स धम्मोवदेसगस्स पुब्बिणं अम्हे अम्बडस्स परिव्वायगस्स अन्ति ए धूलग पाणाइवाए पच्चक्खाए जाव जीवाए धूलगे मुसावाए धूलगे अदिण्णादाणे पच्चक्खाए जाव जीवाए सब्बेमेंहुणे पच्चक्खाए जाव जीवाए धूलगे परिगहे पच्चक्खाए”

(७ उवाइ सूत्र प्रश्न ११)

अर्थ—

अम्बडजीके शिष्योंने परस्पर पूर्वोक्त प्रकारकी प्रतिज्ञा करके सन्यासी वैचोचितमण्डप त्रिदण्ड आदिको एकातस्थानमें रख कर गङ्गा नदीके तटपर जाकर वहाँ बालुकाशय सयारा बनाया । उस पर स्थित होकर पूर्व दिशाकी ओर मुख करके पथ्य कासन जमाकर हाथ जोड़ कहने लगे कि—नमस्कार हो अरिहंतको यावत् मोक्षमें पहुँचे हुए सिद्धोंको तथा नमस्कार हो भगवान् महावीर स्वामीको जो मोक्षमें जानेकी इच्छा रखते हैं । हमारे धर्माचार्य धर्मोपदेशक अम्बडजीको नमस्कार हो जिनसे हमने स्थूलहिंसा, स्थूल शृणावाद, स्थूल अदत्ता दान, सब प्रकारका मध्युन और स्थूल परिग्रहको यावज्जीवनके लिये परित्याग किया है ।

यहाँ अम्बडजीके शिष्योंने सधारा ग्रहण करते समय अरिहत, सिद्ध, और भगवान् महावीर स्वामीके समान ही अम्बडजीको भी नमस्कार किया है । यदि अपनेसे श्रेष्ठ श्रावकको नमस्कार करना पाप होता तो वे अम्बडजीको नमस्कार क्यों करते ?

यदि को कि "अरिहत, सिद्ध और भगवान् महावीर स्वामीको नमस्कार तो उन्होंने मोक्षार्थ किया और अम्बडजीको छोके रीतिके अनुसार किया" तो इसमें कोई प्रमाण नहीं है बल्कि अरिह त सिद्ध और महावीर स्वामीके साथ ही अम्बडजीका पाठ आनेसे उनका नमस्कार भी मोक्षार्थ ही सिद्ध होता है लौकिक रीतिके पालनार्थ नहीं ।

तथा अम्बडजीके शिष्य उसे समय सधारा पर बैठे हुए थे वहाँ लौकिक रीतिके पालनका प्रमाण नहीं था । उस समय छोकोचर रीतिके पालनका प्रमाण था तदनुसार ही उन्होंने अरिहत सिद्ध और भगवान् महावीरको तथा अम्बडजीको भी नमस्कार किया था । अतः अरिहत आदिके नमस्कारको धर्मका अंग मानना और अम्बडजीके नमस्कारको धर्मसे बाहर कायम करना अज्ञान है ।

इस पाठमें अम्बडजीके लिये परित्राजक पदका प्रयोग देख कर संन्यास धर्मके नातेसे अम्बडजीको नमस्कार करनेकी कल्पना करना भी मिथ्या है क्योंकि इस पाठमें साफ साफ शिष्योंने कहा है कि जिनके पास हमने स्थूल प्राणातिपात यावत् स्थूल परिग्रहका प्रत्याख्यान किया था उन अम्बडजीको नमस्कार है । यदि संन्यास धर्म के सम्बन्धसे शिष्योंने नमस्कार किया होता तो यहां वे प्राणातिपात आदिके प्रत्याख्यान का उपकार क्यों बैठेलाते बल्कि यह कहते कि जिस अम्बडजीसे हमने संन्यास धर्म ग्रहण किया था उनको मेरा नमस्कार हो । यहां मूल पाठमें साफ साफ बारह प्रतः धारण करनेका उपकार मान कर ही अम्बडजीको शिष्योंके द्वारा नमस्कार किये जानेका कथन है परन्तु संन्यास धर्मका उपदेशक गुरु मानकर अम्बडजीको नमस्कार करनेका कथन नहीं है । अतः इस पाठमें अम्बडजीके लिये परित्राजक पदका प्रयोग देख कर संन्यासे धर्मके सम्बन्धानुसार उनके शिष्योंका नमस्कार बतलाना अज्ञान है ।

यदि कोई कहे कि "अम्बडजीके शिष्योंने संन्यास धर्मके सम्बन्धानुसार यदि अम्बडजीको नमस्कार नहीं किया था तो यहाँ मूल पाठमें उन्होंने अम्बडजीके लिये भ्रमणोपासक ऐसा विशेषण क्यों नहीं लगाया ?" तो इसका उत्तर यह है कि "जिन" धर्म का महत्त्व प्रकट करनेके लिये शास्त्रमें जगह जगह अम्बडजीके लिये "भ्रमणोपासक" यह विशेषण नहीं लगाकर परित्राजक यह विशेषण ही लगाया है तदनुसार यहां भी भ्रमणोपासक ऐसा नहीं कह कर परित्राजक ही कहा है क्योंकि इस विशेषणसे शीघ्र ही यह बात बुद्धिगोचर हो जाती है कि संन्यास धर्मकी अपेक्षासे भ्रमणोपासकोंका धर्म भी श्रेष्ठ है अतएव अम्बडजीने संन्यास धर्मका परित्याग करके आवक धर्मको स्वी-कार किया था अन्यथा शास्त्रमें जो अम्बडजीके लिये परित्राजक पद दिया है वह सर्वथा असंगत ठहरेगा क्योंकि जिस समय अम्बडजीके शिष्योंने सधारा पर बैठ कर अम्बड

जीको परिब्राजक कहा है उस समय अम्बडजीने परिब्राजक कर्मको छोड़ दिया था, वे परिब्राजक धर्मका आचरण उस समय नहीं करते थे फिर उन्हें परिब्राजक ऐसा विशेषण लगा कर कहनेका कोई दूसरा कारण नहीं है। जैसे कोई गृहस्थ गृहस्थाश्रमको छोड़ कर साधु हो जाता है तो उसे साधु हो जानेपर गृहस्थ ऐसा विशेषण लगाकर नहीं कहते क्योंकि उस समय उसने गृहस्थाश्रमको छोड़कर साधुता ग्रहण कर ली है। उसी तरह अम्बडजी सन्यास धर्मको छोड़कर उस समय श्रमणोपासक हो गये थे फिर उस समय उन्हें परिब्राजक ऐसा विशेषण लगा कर बतलाना उचित नहीं हो सकता। अतः यह मानना होगा कि जिन धर्मके पूर्वोक्त महत्त्वको प्रकट करनेके लिये ही मूलपाठमें अम्बडजीको श्रमणोपासक नहीं कह कर परिब्राजक कह कर बतलाया है। अतः अम्बडजीके लिये परिब्राजक पदका प्रयोग होनेसे परिब्राजक धर्मके सम्बन्धसे अम्बडजीको नमस्कार करनेकी प्रवृत्ति मिथ्या समझनी चाहिये।

जिस समय भावक धर्मानुसार अम्बडजीके शिष्य सधारा ग्रहण कर रहे थे उस समय कुपावचनिक धर्मका उपकार मानकर कुपावचनिक धर्माचार्योंको वे किस प्रकार नमस्कार कर सकते थे यह बुद्धिमानोंको विचारना चाहिये क्योंकि इस कार्यमें वही वन्दनीय पूजनीय हो सकता है जो इसका समर्थन करता हो परन्तु सधारा ग्रहण करनेको दुग बतलाने वाला कुपावचनिक धर्माचार्य सधारा ग्रहण करने वालोंको वन्दनीय और नमस्कार करने योग्य नहीं हो सकता है। इस लिये अम्बडजीके शिष्योंने बागह व्रत ग्रहण करानेका उपकार मान कर ही अम्बडजी को वन्दन नमस्कार किया था परिब्राजक धर्मका उपकार मानकर नहीं।

तथा जिसमें ३६ गुण विद्यमान हों वही धर्माचार्य होता है यह कोई नियम नहीं है क्योंकि ठाणाग सूत्रके अन्दर कई आचार्य ऐसे भी कहे हैं जिनमें ३६ गुण नहीं पाये जाते तथापि शास्त्र उन्हें धर्माचार्य बतलाता है।

वह पाठ यह है—

“पब्बायणायरिये नाम मेगे नो उवट्ठावणायरिए उवट्ठावणा-
यरिए नाम मेगे नो पब्बायणायरिए । एगे पब्बायणायरिएवि उवट्ठा-
वणायरिए वि । एगे नोपब्बायणायरिए नो उवट्ठावणायरिए धम्मा-
यरिए”

“वत्तारि आयरिया पन्नत्ता तंजहा—उद्दे सनायरिए नाम मेगे
नो वायणायरिए धम्मा यरिए । वत्तारि अन्तेवासी पं० तं० पब्बाय-

णान्तेवासी नाम भोगो उक्तावन्तान्तेवासी धम्मन्तेवासी । वनारि
अन्तेवासी पं० नं० उद्देशान्तेवासी धम्मन्तेवासी नाम भोगे नो
वायणान्तेवासी धम्मन्तेवासी”

(अनंताश्रमः पृष्ठ ३)

अर्थ—

आचार्य चार प्रकारके होते हैं । जो दीक्षा देने हैं पान्थ छेदोपस्थान चारित्र देते हैं । व प्रमादनाश्रम कहलते हैं जो छेदोपस्थान चारित्र देने हैं व इन्हें यही देने हैं
उपस्थापनाचार्य कहलते हैं जो दीक्षा तथा छेदोपस्थान चारित्र दोनों देते हैं वे
उभवाचार्य कहलते हैं । उक्त जो दीक्षा छेदोपस्थान चारित्र नहीं देते किन्तु धर्मादेश
मात्र देते हैं वे धर्माचार्य कहलते हैं ।

और दूसरी सगुण आचार्य चार प्रकारके होते हैं । जो अर्द्धो पढ़ने योग्य बता देते
हैं पान्थ पढ़ाते नहीं हैं वह उद्देशवाचार्य कहलते हैं जो अर्द्धो पढ़नेके योग्य नहीं बताते
पान्थ अर्द्धो पढ़ाते हैं वे वाचवाचार्य कहलते हैं । जो पूर्णक दोनो ही कार्य करते हैं वह
उभवाचार्य कहलते हैं । जो न अर्द्धो पढ़ने योग्य बताते हैं और न अर्द्धो पढ़ाते ही हैं
किन्तु धर्मका उद्देश देते हैं वे धर्माचार्य कहलते हैं ।

इसी प्रकार सिन्धुके भी चार भेद करे हैं । जो एक आचार्यसे दीक्षा ग्रहण करता
है पर उन्हींसे छेदोपस्थान चारित्र नहीं ग्रहण करता वह प्रमादनान्तेवासी कहलाता है । जो छेदो
पस्थापन चारित्रका ग्रहण किसी एकसे करता है पान्थ दीक्षा ग्रहण नहीं करता वह उपस्थापना
न्तेवासी कहलाता है जो दोनों ही एक आचार्यसे ग्रहण करता है वह उसका उभवान्तेवासी
कहलाता है । जो न तो किसी एक आचार्यसे दीक्षा ग्रहण करता है और न छेदोपस्थान चारित्र
ग्रहण करता है किन्तु धर्मादेश मात्र लेता है वह उसका धर्मान्तेवासी कहलाता है ।

और भी शिष्य चार प्रकारके होते हैं । जो जिससे अर्द्धो पढ़नेकी योग्यता प्राप्त
करता है पान्थ अर्द्धो पढ़ता नहीं वह उसका उद्देशान्तेवासी कहलाता है जो
जिससे अर्द्धो पढ़ता है पर उन्हींसे पढ़नेकी योग्यता दूसरेसे प्राप्त किया होता है वह उसका
वाचनान्तेवासी कहलाता है । जो दोनों ही कार्य एक ही आचार्यसे करता है वह उसका उभ
वान्तेवासी कहलाता है । जो जिससे न तो अर्द्धो पढ़नेकी योग्यता ही प्राप्त करता है और न
अर्द्धो पढ़ता ही है किन्तु धर्मादेश मात्र लेता है वह उसका धर्मान्तेवासी कहलाता है ।

यहां ठाणादिक मूल पाठमें जो न मो दीक्षा देता है और न छेदोपस्थान
चारित्र देता है तथा जो न तो अर्द्धो पढ़ने योग्य ही बनाता है और न अर्द्धो को
पढ़ाता ही है ।
है उसे धर्माचार्य कहा है । इसलिये जो

कोई मनुष्य धर्मोपदेश करता है वह धर्माचार्य होता है अतएव इस प्राटकी टीकामें लिखा है कि

“आचार्य्य सूत्र चतुर्थ भगो यो न प्रत्राजनया नचोत्थापनयाचार्य्य सक इत्याह धर्माचार्य्य इति प्रतिबोधक इत्यर्थ आहच धम्मो जेणुवद्धो सो धम्म गुरु तिदीव समणोवा कोवि तिहि संपउत्तो दोहिवि एक्केप्फणेगेव”

अर्थात् आचार्य्य सूत्रके चतुर्थमङ्गमें जो न दीक्षा देता है और न उद्घोषस्थापन चारित्र ही देता है वह कौन है ? तो इसका उत्तर यह है कि वह धर्मका प्रतिबोध देने वाला पुरुष है । कहा भी है जिसने धर्मका उपदेश दिया है वह चाहे गृहस्थ हो या श्रमण हो वह धर्माचार्य्य कहलाता है । इनमें कोई तो दीक्षा, उद्घोषस्थापन चारित्र और धर्म इन तीनोंके आचार्य्य होते हैं और कोई दो के आचार्य्य होते हैं और कोई एक के आचार्य्य होते हैं ।

यहा टीकाकारने उक्त गाथा लिख कर स्पष्ट बतला दिया है कि जो धर्मोपदेश देता है वह चाहे श्रमण हो या गृहस्थ हो धर्माचार्य्य कहलाता है अम्बडजीने अपने शिष्योंको बारह व्रत रूप धर्मका उपदेश दिया था फिर वह उनके धर्माचार्य्य क्यों नहीं हो सक्ते ? अतएव मूलपाठमें अम्बडजीके शिष्योंने अम्बडजीको धर्माचार्य्य बतला कर उनसे बारह व्रत धारण करनेकी बात कही है इसलिये यह नि संदेह सिद्ध होता है कि अम्बडजीके शिष्योंने उन्हें लोकोत्तर धर्मका आचार्य्य समझ कर ही नमस्कार किया था सन्यास धर्मका उपदेशक ममज्ञ कर नहीं ।

बारह व्रत धारी श्रावक कुपवाचनिक धर्माचार्य्यको राजाभियोगादि छ कारणों के बिना वन्दन नमस्कार नहीं करते जैसे कि शकृदाल पुत्र पहले गोशालकका शिष्य था पश्चान् महावीर स्वामीसे बारह व्रत धारण करनेपर उसने गोशालकको वन्दन नमस्कार नहीं किया था क्योंकि ऐसा करनेसे उसके समक्षितमें अतिचार आता । उसी तरह अम्बडजीके शिष्योंने भी अम्बडजीको कुपवाचनिक धर्माचार्य्य समझ कर वन्दन नहीं किया था क्योंकि ऐसा करनेसे उनके समक्षितमें अतिचार आता किन्तु उन्हें बारह व्रत रूप धर्मका उपदेशक जान कर नमस्कार किया था । अतः अम्बडजीके शिष्यों ने अम्बडजीको कुपवाचनिक धर्माचार्य्यके समन्वसे नमस्कार करनेकी प्रेरणा करके अपनेसे अधिक गुणवान् श्रावकको नमस्कार करनेमें पाप बतलाता अज्ञानियोंका कार्य्य समझना चाहिये ।

[बोल ४ समाप्त]

(प्रत्ययः)

ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ५ के अन्दर पाच कारणोंसे जीवको सुखमवोधी होना कहा है। वह पाठ यह है—

“पंचदिं ठाणेहिं जीवा सुलभ बोधियत्ताए कम्मं पकरेंति ।
तज्झा अरिहंतारणं वन्नं वदमाणे जाय विवक्खववंमचेराणं देवाणं
वन्न वदमाणे”

(ટાળાગ ટાળા ૫, હદેશા ૨)

ॐ —

अप्राप्त प्राप्त कारणोंसे जीव सुखमयोधी होनेके कर्म करते हैं। जैसे कि—भरि तो को कष्ट, बहिष्कृत, अपमानों आदि के देवों को धर्म (प्रार्थना) को करनेसे।

ब्रह्मा जिनके ब्रह्मचर्या और तप परिपक्व हो गये हैं ऐसे देवोंके गुणानुवाद करने से भी सुखभवोधी होना कदा है परन्तु वे देवता मायु नहीं हैं फिर उनकी प्रशंसा करनेसे भी सुखभवोधी कर्म क्यों बाधता है ? इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधुसे इतर का विनय करना भी एकान्त पाप नहीं है किन्तु सम्यग्दृष्टि पुरुषके प्रति विनय करना सुख भवोधी होनेका कारण है । इस प्रकार जब कि सम्यग्दृष्टि पुरुषके गुणानुवाद करनेसे भी सुखभवोधी हो जाता है तब फिर उसकी सेवा भक्ति और वन्दन नमस्कार आदि शुश्रूषा विनय करनेसे पाप कैसे हो सकता है ? इससे तो और अधिक धर्म ही होगा ।

जिस समय तीर्थंकर जन्मधारण करते हैं उस समय वह साधु नहीं होते तथापि इन्द्रादि देवता उनको अपनेसे अधिक सम्मत्त्व आदि गुणोंसे युक्त जान कर भक्तिपूर्वक वन्दना और स्तुति करते हैं परन्तु भ्रमविध्वंसनकारके दिसावसे यह वन्दना सावध रहनी है क्योंकि वह साधुसे इतरकी की जाती है लेकिन शास्त्र ऐसा नहीं कहता वह तो इस वन्दनाको कल्याणका कारण बतलाता है तथा दिक्कुमारियोंने भी अपनेसे सम्मत्त्व आदि गुणोंमें श्रेष्ठ जान कर जन्मते तीर्थंकर और उनकी माताको वन्दना नमस्कार और गुणप्राम किया है। इस दासलेसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अपनेसे सम्मत्त्व आदि गुणोंमें श्रेष्ठ पुरुषको वन्दन नमस्कार करना धर्मका ही कारण होता है भ्रमविध्वंसनकार के कथनानुसार एकान्त पाप नहीं होता अन्यथा इन्द्रादि देवता जन्मते तीर्थंकर की, और दिक्कुमारी गण तीर्थंकर की वन्दना और स्तुति क्यों करते हैं ? अतः साधुसे इतर अपनेसे श्रेष्ठ सम्मत्त्वपुत्र पुरुषके प्रति शुश्रूषा वित्त कर देनेमें पाप बतलाना अज्ञानिर्याका कार्य समझना चाहिये

दिकुमारियो ने तीर्थकर और उनकी माता का गुण ग्राम किया था वह यह है—

“जेणेव भगवं तित्थयेरं तित्थयेर माया य तेणेव उवागच्छं
२ ता भगवं तित्थयेरं तित्थयेर मायेरं च तिवखुत्तो आयाहिणं पय
हिणं करेतित्ता पत्तेयं करयल परिग्गहियं सिरलावत्तं मत्थए अंजलि
कहु एवं वपासो णमोऽत्युते रयण कुच्छि धारिके जगप्पईव दीवि
सव्व जग मंगलस्स चक्खुणो अमुत्तस्स सव्वजगजीव वच्छलस्स
हियकारग मग्गदेसिय पाणिद्धि विभुय भुस्स जिण्णस्स णाणिस्स नाय
गस्स बुद्दस्स बोद्दगस्स सव्व लोण नाहस्स निम्ममस्स पवरकुलसमु
वभवस्स जाईए खत्तिपस्स जंसि लोणु त्तमस्स जणणी धण्णासि त
पुण्णासि कयत्थासि अम्हेणं देवाणुप्पिए अद्देलोगवत्थव्वाओ अद्द
दिसा कुमारी महत्तरिआओ भगवओ तित्थयेरस्स जम्मण महिमं
करिस्सामो तण्णं तुम्हेहिं न भीद्दव्वं”

(श्री जम्बूद्वीप पन्नत्ति)

अर्थ —

दिकुमारियो ने भगवान् तीर्थकर और उनकी माताके पास आकर तीन बार परिक्रमा कर शिरपर अजलि बाध कर कहा कि—हे रत्नकुक्षिधारिके ! तुम्हारे लिये मेरा नमस्कार है । मैं देखि । संसार की सम्पूर्ण वस्तुओं की दोषकी तरह प्रकाशित करने वाले तीर्थकर देवकी तुम उत्पन्न करनेवाली हो जो जगत्के सम्पूर्ण पदार्थों का यथायथ स्वरूप दिखलाने वाले नेत्रके समान हैं जिनकी घाणी सब प्राणियोंका उपकार करने वाली सम्यग्ज्ञान, ध्यान, और चारित्र्य का उपदेश देने वाली, सब व्यापक तथा सबके हृदयमें प्रवेश करनेवाली है । जो तीर्थकर देव राग द्वेषको जीतनेवाले उत्कृष्ट ज्ञानके स्वामी नायक और बुद्ध यामी सब पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले हैं जो सब प्राणियों के हृदयमें बोधि बोध के स्थापक और सबकी रक्षा करन वाले और सबके बोधक हैं जो भगवत्पराहित उत्तमकुलमें जन्मे हुए धृष्टिप वंश धर हैं । ऐसे तीर्थकर देवकी तू जगन्नी है इसलिये हे देवि ! तू धन्य है पुण्यवती है और कृतार्थ है । हे देवि ! हम लोग अधोलाकर्म निघास करनेवाली दिकुमारिका हैं हम तीर्थकर देवके जन्मकी महिमा करेंगी अतः आप किसी प्रकारका भय न करें ।

यहां दिकुमारियों द्वारा तीर्थकर और उनकी माताको वन्दना नमस्कार किया जाना तथा उनका गुणग्राम किया जाना कहा है । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि

से अधिक गुणवान् सम्यग्दृष्टिको वन्दना नमस्कार करना तथा उसका गुणानुवाद करना धर्म है पाप नहीं है तथापि भ्रमविध्वंसनकार अपनेसे श्रेष्ठ सम्यग्दृष्टिके गुणानुवादको तो धर्म और वन्दना नमस्कार को पाप बतलाते हैं यह इनका व्यामोह है। ज्ञान कि अपने से अधिक सम्यग्दृष्टिके गुणप्राप्त करनेमें धर्म होता है तब फिर वन्दना नमस्कार करने से पाप कैसे हो सकता है ? यह विचारना चाहिये। अन. अपनेसे श्रेष्ठ सम्यग्दृष्टि पुरुष की वन्दना नमस्कार को पाप कायम करना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये।

[बोल ५ वां समाप्त]

(प्रेरक)

जन्मते तीर्थं करको इन्द्रने, तथा जन्मते तीर्थं कर और उनकी माता को विष्णुमारियोने वन्दन नमस्कार और गुणप्राप्त किये थे इस दाखलासे यद्यपि अपने से श्रेष्ठ सम्यग्दृष्टि पुरुषका वन्दन नमस्कार करना तथा उनका गुणप्राप्त करना धर्म सिद्ध होता है तथापि भ्रमविध्वंसनकार इस बातको मिथ्या सिद्ध करनेके लिये भ्रम० पृ० २८४ के ऊपर जम्बूद्वीप पत्रति का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—

“अथ इहा कश्चो तीर्थं कर जन्म्या ते द्रव्य तीर्थं करने इन्द्र नमोऽस्थुण गुणे नमस्कार करे ते पिण इन्द्रनी रीति हुन्ती ते साचये पिण धर्म जाने नहीं। तीण ज्ञान सद्भि इन्द्र एकावतारीने पिण पर पुष्टे जनम्या छता द्रव्य तीर्थं कर नो विनय करे नमोऽस्थुण गुणे ते लौकिक संसारनी रीति साचये पिण मोक्ष देते नहीं।” (भ्र० पृ० २८४)

इसका क्या समाधान ?

(प्रत्युपक)

जन्मते तीर्थं करको वन्दना नमस्कार, इन्द्र धर्म जान कर नहीं करते इसमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि कदो कि मूलपाठमें “जीय मेयं” ऐसा पाठ आया है और इस पाठका अर्थ यह है कि इन्द्र जन्मते समय तीर्थं करको वन्दना नमस्कार करना अपना पुराना आचार बतलाता है अर्थात् पुराने इन्द्रने पुराने तीर्थं करको वन्दन नमस्कार किया है इसलिये वर्तमान इन्द्र भी वर्तमान तीर्थं करको वन्दना नमस्कार करके पुरातन रीतिका पालन करता है पर इस कार्यको वह धर्म समझ कर नहीं करता तो यह मिथ्या है क्योंकि केवल-ज्ञान उत्पन्न होने पर जहा देवतामोने तीर्थं कर को वन्दना नमस्कार किया है वहा भी “जीय मेयं देवा” यही पाठ आया है। ‘अर्थात् दे देवताओं। तीर्थं करोंको वन्दन नमस्कार करना पुनः पुराना आचार है।’ फिर तो भ्रम-विध्वंसनकारके हिसाबसे केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर भी तीर्थं करको वन्दना नमस्कार

करना धर्म नहीं होना चाहिये क्योंकि उस समय भी पुराने आचारके अनुसार ही वन्दन नमस्कार करना कहा है परन्तु यदि केवल ज्ञान होने पर तीर्थंकरको वन्दना नमस्कार करना पुराने रिवाजके अनुसार किये जाने पर भी पाप नहीं है किन्तु धर्म है तो उसी तरह जन्मते तीर्थंकर को पुराने रिवाजके अनुसार कियो जाने वाला इन्द्रको वन्दन नमस्कार भी पाप नहीं है किन्तु धर्म है ।

जैसे जन्मते समय इन्द्रादि देव भगवान्की जन्म महिमा करनेके लिये आते हैं उसी तरह केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर भी केवल ज्ञानकी महिमा करनेके लिये भगवान्के पास वे आते हैं । शास्त्र के अन्दर जन्म महिमाके पाठोंका संकोच करके पाचों कल्याणोंका पाठ आया है अब सभी पाठोंमें जन्म महिमाके पाठके समान ही “जिय मेर्य” यह पाठ समझना चाहिये । तथा लोकान्तिक देवता जहां तीर्थंकर को प्रतिबोध देनेके लिये आते हैं वहां भी पूर्ण पाठका सङ्कोच करके “जिय मेर्य” यह पाठ आया है । इस लिये जो लोग “जिय मेर्य” ऐसा पाठ आनेसे जन्मते तीर्थंकर को इन्द्र का वन्दन नमस्कार किया जाना पाप बतलाते हैं उनके हिसाबसे पाचों कल्याणोंके समय जो देवता भगवान्को वन्दन नमस्कार करते हैं उन सभीको पाप ही कहना चाहिये तथा लोकान्तिक देवता पुराने रिवाजके अनुसार जो तीर्थंकर देवको प्रतिबोध देते हैं वह भी पाप ही कहना चाहिये । जहां लोकान्तिक देवता तीर्थंकरको प्रतिबोध देनेके लिये आये हैं वहांका पाठ यह है—

“तत्तेणं तेसि लोगंतियाणं देवाणं पत्तेयं २ आसणाहं चलंति ।
तद्देवजाव अरहं ताणं निक्खममाणं संवोहणं करंसेंएत्ति तंगच्छामोणं
अम्हेज्जि मल्लिस्स अरहतो संवोहणं करेमिस्ति कहु एवं संपेहंति २
उत्तर पुरच्छिमं दिसिभायं वेउब्बिय समुग्घाएणं समोहणंति २ संखि-
ज्जाहं जोयणाह एवं जहा जंभगा जाव जेणेव मिहिला रायहाणी
जेणेव कुम्भगस्स रण्णो भवणे जेणेव मल्ली अरहा तेणेव उवाग-
च्छंति २ अंतलिक्खपडिवन्नां सत्तिखिणिआहं जाववत्थातिं एवं
रपरिहिया करंयल ताहिं इट्ठा एवं वयासी बुज्झाहिं भगवं लोण
नाहा पवत्तेहिं धम्मतित्थं जीवाणं हिय सुख निस्सेयसकरं भविस्स-
तोत्ति कहु दोषं पि तच्चं पि एवं वयंति २ मल्लि अरहं वदति नमं-
सीति २ जामेव दिसं पाउमुया तामेव दिसिं पडि गया ।”

इस पाठम जाय शब्दसे जिस पूरे पाठका संकोच किया गया है । यह पाठ यह है—

“तएणं लोगंतिया देवता आसणाहं चलिताहं पासंति पासंतित्ता ओहिं पाउजंति २ मल्लिं अरहं ओहिणा आभोएंति २ । इमेया-
खे अज्जत्थिए जाय समुत्पज्जित्था एव खलु जम्मू द्वीवे दीवे भारए
वासे मिथिलाए कुम्भगस्स मल्लो अरहा निवखमिस्सामोत्ति मन्
पहारेंति तंजीयमेयं तीथ पच्छुपन्न मणागयाणं लोगंतियाणं”

इस पाठमें “जीयमेयं” यह वाक्य आया है और पूरे लिखित पाठमें जाय शब्द
उसी पाठका संकोच किया है । इस लिये उस पाठमें भी “जीय मेय” इस वाक्यका
समावेश है । ऐसी दशामे लोकान्तिक देवताओंने जित आचारके अनुसार जो महिलाय
गोत्रों प्रतिबोध दिया है उसे भी भ्रम० कारके हिसाबसे सावध ही कहना चाहिये । यदि
“जीयमेय” इस पाठके होनेपर भी प्रतिबोध देना सावध नहीं है तो जित आचारके
अनुसार जन्मने तीर्थकरको इन्द्रका वन्दन नमस्कार भी सावध नहीं है । अथ उक्त पाठ
का पाठकाके ध्यानार्थ कर्था किया जाता है—

अर्थ —

इसके अनुसार लोकान्तिक देवताओंके प्रत्येक आसन डोलने लगे । यह देखकर दक्ष-
गणोंने अवधि गानका प्रयोग करके भरिह व महिलायत्रीको समझा । पश्चात् उनके मनमें यह
विशय उत्पन्न हुआ कि जम्मू द्वीपके भारतवर्षमें मिथिला नगरीके राजा कुम्भकी पुत्री भगवान्
महिलायत्री कीड़ा छेनेका विचार कर रहे हैं । अतः भूत भविष्यत और वर्तमान कालका हमारा
जित आचार है कि तीर्थकरोंके पाम आका हम उनको प्रतिबोध देते हैं । इस आचारके अनुसार
भगवान् महिलायत्रीके पाम भी जाना चाहिये । यह सोचकर लोकान्तिक देवताओंने ईशान कोण
में जाकर वैश्विय समुत्प्राप्त किया । और सत्प्राप्त योगनमः दण्ड निकाल कर उत्तर वैश्विय शरीर
बनाया । उसे बनाकर ये देवता जम्मूके देवोंकी तरह मिथिला नगरीके कुम्भक राजाके मकानपर
भगवान् महिलायत्रीके पास आये । वहाँ आकाशमें स्थित घुघूस बनाते हुए उत्तम वस्त्र पहने हुये
हाथ जोड़कर सधुर धवनोंसे कहने लगे कि हे भगवान् । हे लोकनाय । प्रतिबोध प्राप्त करो और
धर्म तीर्थकी प्रवृत्ति करो जिसमें जीवोंको हित छल और निःश्रेयसकी प्राप्ति हो । इसी प्रकार दो
तान बार कहकर और वन्दना नमस्कार करके लोकान्तिक देवता जहाँसे आये थे वहाँ वापस
चले गये ।

यहाँ भी जित आचारके अनुसार ही लोकान्तिक देवताओंका महिलायत्री भग-
वान्को प्रतिबोध देना कहा है । फिर इसे भी भ्रमविश्वसनकारको सावध ही समझना
चाहिये ।

यदि कहो कि भगवान्‌के जन्म समयमे देवता लोग बहुतसा आरभ समारभ भी करते हैं वह जैसे सावद्य है उसी तरह उस समयका वन्दन नमस्कार भी सावद्य है तो फिर केवल ज्ञान होने पर भी भगवान्‌को वन्दना नमस्कारार्थ देवता लोग आते हैं औ आरंभ समारभ करते हैं फिर उस आरभ समारंभकी तरह उस समयका वन्दना नमस्कार सावद्य क्यों नहीं माना जाता ? अतः जैसे केवल ज्ञान होने पर देवता लोगोके गमना गमन आदि रूप क्रियाके सावद्य होने पर भी भगवान्‌का वन्दना नमस्कार सावद्य नहीं होता उसी तरह जन्मोत्सवमें भी आरभ समारंभके सावद्य होने पर भी भगवान्‌को वन्दन नमस्कार करना सावद्य नहीं होता किन्तु धर्म होता है इस प्रकार शास्त्रीय प्रमाणसे अपनेसे अधिक गुणवान्‌ सम्यग्दृष्टि का शुश्रूषा विनय करना धर्म सिद्ध होता है पाप नहीं। अतः साधुके सिवाय दूसरोके विनयको सावद्य कहना एकान्त मिथ्य समझना चाहिये।

बोला ६ समाप्त

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २८१ के ऊपर लिखते हैं कि “इहाँ चक्र उपनो सुण्यो तिहा भरतजी इसो विनय कीधो पछे चक्र कने आवी पूजा कीधी। ते ससाररी रीते पिण धर्म हेते नहीं। तिम अम्बडने चेला पिण आपरो निज गुरु जाण गुरुनी रीति साचवी पिण धर्म न जाण्यो” इत्यादि। (भ्र० पृ० २८१)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भरतने जो चक्रकी पूजा की थी उसका दृष्टान्त अम्बडजीके साथ देना अज्ञान है क्योंकि चक्र तो प्रत्यक्ष ही स्थावर एकेन्द्रिय और मिथ्यात्वी है। उसकी पूजा करना मिथ्यात्वीकी पूजा करना है जो सम्यग्दृष्टिके लिये धर्मका कारण नहीं है अपितु उसके व्रतका अतिचार है। परन्तु अम्बडजी वारह व्रत धारी आनक और सम्यग्दृष्टि थे। उनको वन्दना नमस्कार करना सम्यग्दृष्टिको वन्दना नमस्कार करना है। अतः वह चक्र पूजाकी तरह लौकिक रीतिके पालनाथ नहीं है किन्तु धर्मार्थ है। अतः चक्र पूजाका दृष्टान्त देकर अम्बडजीके वन्दन नमस्कारको सावद्य बतलाना अज्ञान है।

(प्रेरक)

आवककी सेवा भक्ति करनेसे क्या फल मिलता है। यह सप्रमाण बतलाइये ?

(प्रारम्भक)

भगवती सूत्र श्लोक २ उद्देशा ५ में श्रावककी सेवा भक्ति करनेका शास्त्र श्रवणसे उक्त मोक्ष पर्यन्त फल बतलाया है । वह पाठ यह है—

“तद्वा रूपेण भन्ते । समणवा माह्नवा पञ्जुवासमाणस्स किं फला पञ्जुपासणा ? गोयमा ! सवणफला सेण भन्ते । सवणे कं फले । पाणफले, सेणं भन्ते । पाणे किंफले विण्णाणफले । सेणं ल्ते विण्णाणे किं फले पच्चक्खाण फले । सेणं भन्ते । पच्चक्खाणे कि फले, संजम फले । सेणं भन्ते । संजमे कि फले, अणहणय फले । एवं अणहणय तव फले तवे वोदारण फले वोदारणे अकिरियाफले । सेणं भन्ते । अकिरिया किं फला सिद्धिपल्लवसाणफला पण्णत्ता गोयमा !”

(अ० श० २ उ० ५)

अर्थ —

हे भगवन् तथा रूपके भ्रमण और माह्नकी सेवा करनेसे क्या फल होता है ? (उत्तर) गोयम ! शास्त्रका (धर्मेका) श्रवण फल होता है । (प्रश्न) हे भगवन् ! शास्त्रके श्रवणसे क्या फल होता है । (उत्तर) हे गोतम ! शास्त्रीय सिद्धांतका ज्ञान प्राप्त होता है । (प्रश्न) ज्ञानसे क्या फल मिलता है ? (उत्तर) ज्ञानसे त्यागने योग्य और स्वीकार करी योग्य वस्तुका विक (विज्ञान) फल प्राप्त होता है । (प्रश्न) विज्ञानका क्या फल होता है ? (उत्तर) ज्ञानमें पापोंका प्रत्याख्यान होता है । (प्रश्न) पापोंके प्रत्याख्यानसे क्या फल होता है ? (उत्तर) पापोंके प्रत्याख्यान करनेसे संयमकी प्राप्ति होती है । (प्रश्न) संयमका क्या फल होता है ? (उत्तर) संयमसे आश्रयका निरोध होता है । (प्रश्न) आश्रय निरोधसे क्या फल होता है ? (उत्तर) आश्रयके निरोधसे तप रूप फल होता है । (प्रश्न) तपसे क्या फल मिलता है ? (उत्तर) तपसे कर्मों की निवृत्ति होती है । (प्रश्न) निर्वाणका क्या फल है ? उत्तर) निर्वाण योगोंका निरोध होता है । (प्रश्न) योग निरोधका क्या फल है ? (उत्तर) योग निरोधसे फलोंका अन्त स्वरूप मोक्ष प्राप्त होता है ।

इस पाठमें तथा रूपके भ्रमण और माह्नकी सेवा भक्ति करनेसे धर्म श्रवणसे मोक्ष पर्यन्त फल मिलना कहा है और इस पाठकी टीकामें स्पष्ट लिखा है कि गोयम नाम साधुका और माह्न नाम श्रावकका है । वह टीका यह है “भ्रमण साधुर्मा-
श्रावक” । अतः इस पाठसे

इस पाठमे श्रावकको धर्माख्यायी कहकर बतलाया है । धर्माख्यायी उसे कहते हैं जो धर्मका उपदेश देता है जैसे कि इस शब्दका अर्थ टीकाकारने इस प्रकार किया है ।

धर्म माग्याति भव्याना प्रतिपादयति इति धर्माख्यायी”

अर्थात् भव्य लोगोंके समक्ष जो धर्मका प्रतिपादन करता है वह धर्माख्यायी कहा जाता है । इस प्रकार इस पाठसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रावक भी धर्मका उपदेश करता है अतः परतीर्थी धर्मोपदेशक की तरह स्वतीर्थी धर्मोपदेशक भी दो तरहके होते हैं अतः भगवतीके उक्त पाठमें भी श्रमण शब्दका साधु और माहन शब्दका श्रावक अर्थ समझना चाहिये परन्तु दोनोंका एक साधु ही अर्थ नहीं । अतः माहन शब्दका साधु ही अर्थ करना हठवादियोंका काम समझना चाहिये ।

[बोल ८ वां समाप्त]

(प्रेरक)

किसी श्रावकने धर्मोपदेश देकर यदि किसीको धार्मिक बनाया हो तो बतलाइये ।

(प्ररूपक)

प्रथम तो अम्बडजीने ही अपने ५०० शिष्योंको उपदेश देकर बारह व्रत धारण कराये थे यह बात सुद्ध भ्रमविध्वसनकारने भी लिखी है । दूसरी बात यह है कि सुबुद्धि प्रधानने जित शत्रु राजाको धर्मोपदेश देकर बारह व्रतधारी श्रावक बनाया था । वह पाठ यह है—

“तत्तेणं सुबुद्धी जितसत्तुस्स विचित्तं केवलपन्नत्तं चावज्जामं धम्मं परिकहेह । तमाइक्खति जहाजोवा बुज्झंति जाव पंच अणुव्वयातिं । तत्तेणं जित सत्तु सुबुद्धिस्स अंतिए धम्मं सोच्चाणिसम्म हह सुबुद्धिं अमच्चं एवं वपासो—सद्धहामिणं देवाणुप्पिया ! णिगंथं पावयणं ३ जाव से गहेयं तुब्भे वयह । त इच्छामिणं तव अ पंचाणुव्वहय सत्तसिक्खावहयं जाव उवसंपज्जित्ताणं अहा सुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिवधं करेह । तएणं से द्विस्स अमच्चस्स अंतिए पंचाणुव्वहयं जाव दुवालसविहं पडिवज्जह । तत्तेणं जित सत्तु समणोवासए पडिलभमाणे विहरह”

(ज्ञावा

अर्थ —

इसके अनन्तर छत्रुदि प्रघातने जित क्षत्रु राजासे केवलसे कहा हुआ चार महाव्रत वाला विचित्र धर्म कहा और इस प्रकार राजाको समझाया जिससे जीव प्रतिघोष प्राप्त करके आराधक बन जाते हैं। तथा पाच अनुव्रत रूप श्रावक धामका भी समिस्तर उपदेश किया। इसके अनन्तर जित क्षत्रु राजाने छत्रुदि प्रधानसे कहा कि हे देवानुप्रिय । मैं निर्पक्ष प्रवचनमें श्रद्धा धारण करता हूँ और तुम्हारे उपदेशानुसार श्रावकोंके वारह व्रतोंको तुमसे ग्रहण कर रहना चाहता हूँ। यह छन कर छत्रुदि प्रधानने कहा कि हे देवानुप्रिय । उसके साथ यह कार्य करो विलम्ब करनेकी आवश्यकता नहीं है। तदनन्तर जित क्षत्रु राजाने छत्रुदि प्रधानसे वारह प्रकारके श्रावकोंके व्रत ग्रहण किये और वह श्रमणोपासक होकर जीव तथा अजीवको जानकर यावत् साधुओंको दान देता हुआ विचरने लगा।

यहां छत्रुदि प्रधानके उपदेशसे जित क्षत्रु राजाका वारह व्रत धारण करना स्पष्ट रूपसे कहा गया है। यह श्रावकोंके धर्मापदेशक होनेका मूल सूत्रोक्त उदाहरण है। इस लिये स्वतीर्थी धर्मापदेशक भी साधु और श्रावक दोनों ही होते हैं तथापि भ्रमविश्वसनकार जो स्वतीर्थी धर्मापदेशक एक साधुको ही बतलाते हैं श्रावकोंको निषेध करते हैं यह इनका अज्ञान समझना चाहिये अतः भगवती सूत्र शतक २ उ० ५ के मूलपाठमें जो श्रमण और माह्नकी सेवा भक्ति करनेसे शास्त्र श्रमणमें लेकर मोक्ष पर्यन्त फल मिलना कहा है उसके अनुसार श्रावककी सेवा भक्ति भी मोक्ष फल देने वाली सिद्ध होती है इसीलिये श्रावककी सेवा भक्तिको एकान्त पाप कहना मिथ्या समझना चाहिये।

(बोल ९ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविश्वसनकार भ्रमविश्वसन पृष्ठ २९६ के ऊपर लिखते हैं कि “अने किण्हीक ठामे टीकामें माहणना अर्थ प्रथम तो साधु इज कियो। अने बीजो अर्थ अथवा श्रावक इस कियो छै। पिण मूल अर्थ तो श्रमण माह्न नो साधु इज कियो”

इसका समाधान ?

इस पाठमे श्रावकको धर्माख्यायी कहकर बतलाया है । धर्माख्यायी उसे कहते हैं जो धर्मका उपदेश देता है जैसे कि इस शब्दका अर्थ टीकाकारने इस प्रकार किया है ।

धर्मं मारयाति भव्यानां प्रतिपादयति इति धर्माख्यायी”

अर्थात् भव्य लोगोंके समक्ष जो धर्मका प्रतिपादन करता है वह धर्माख्यायी कहा जाता है । इस प्रकार इस पाठसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रावक भी धर्मका उपदेश करता है अतः परतीर्थी धर्मोपदेशककी तरह स्वतीर्थी धर्मोपदेशक भी दो तरहके होते हैं अतः भगवतीके उक्त पाठमे भी श्रमण शब्दका साधु और माहान शब्दका श्रावक अर्थ समझना चाहिये परन्तु दोनोंका एक साधु ही अर्थ नहीं । अतः माहान शब्दका साधु ही अर्थ करना हठवादियोंका काम समझना चाहिये ।

[बोल ८ वां समाप्त]

(प्रेरक)

किसी श्रावकने धर्मोपदेश देकर यदि किसीको धार्मिक बनाया हो तो बतलाइये ।

(प्ररूपक)

प्रथम तो अम्बडजीने ही अपने ५०० शिष्योंको उपदेश देकर बारह व्रत धारण कराये थे यह बात सुद्ध भ्रमविध्वसनकारने भी लिखी है । दूसरी बात यह है कि सुबुद्धि प्रधानने जित शत्रु राजाको धर्मोपदेश देकर बारह व्रतधारी श्रावक बनाया था । वह पाठ यह है—

“तत्तेणं सुबुद्धी जितसत्तुस्स विचित्रं केवलपन्नत्तं चाडज्जामं धम्मं परिकहेह । तमाइक्खति जहाजोवा बुद्धंति जाव पच्च अणुव्वयातिं । तत्तेणं जित सत्तु सुबुद्धिस्स अंतिए धम्मं सोच्चाणिसम्म हट्ठ सुबुद्धिं अमच्चं एवं वयासो—सद्धामिणं देवाणुप्पिया ! णिग्गंथं पावयणं ३ जाव से गहेयं तुम्हे वयह । त इच्छामिणं तव अंतिए पंचाणुव्वहयं सत्तसिक्खावहयं जाव उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए । अहा सुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिवंधं करेह । तएणं से जितसत्तू सुबुद्धिस्स अमच्चस्स अंतिए पंचाणुव्वहयं जाव दुवालसविहं सावयधम्मं पडिवज्जह । तत्तेणं जित सत्तू समणोवासए अभिगयजीवा जीवे जाव पडिलभमाणे विहरह”

(ज्ञाता अध्ययन १२)

अर्थ —

इसके अनन्तर सुबुद्धि प्रधानने जित शत्रु राजासे बंधलिसे कहा हुआ चार महाव्रत वाली विविध धर्म कहा और इस प्रकार राजाको समझाया जिससे जीव प्रतिघोष प्राप्त करके आराधक बन जाते हैं। तथा पात्र अनुगत रूप श्रावक धर्मका भी भविस्तर उपदेश किया। इसके अनन्तर जित शत्रु राजाने सुबुद्धि प्रधानसे कहा कि हे देवानुप्रिय ! मैं निर्धन पृथ्वीमें अन्न धारण करता हूँ और तुम्हारे उपदेशानुसार श्रावकोंके बारह व्रतोंको तुमसे ग्रहण कर रहना चाहता हूँ। यह छन कर सुबुद्धि प्रधानने कहा कि हे देवानुप्रिय ! छत्रके साथ यह कार्य करो विलम्ब करनेको आवश्यकता नहीं है। तदनन्तर जित शत्रु राजाने सुबुद्धि प्रधानसे बारह प्रकारके श्रावकोंके व्रत ग्रहण किये और यह श्रमणोपायक होकर जीव तथा भोजीको जानकर पाप साधुओंको दान देता हुआ विचरने लगा।

यहां सुबुद्धि प्रधानके उपदेशसे जित शत्रु राजाका बारह व्रत धारण करना स्पष्ट रूपसे कहा गया है। यह श्रावकोंके धर्मोपदेशक होनेका मूल सूत्रोक्त उदाहरण है। इस लिये स्वर्तीयों धर्मोपदेशक भी साधु और श्रावक दोनों ही होते हैं तथापि भ्रमविध्वसनकार जो स्वर्तीयों धर्मोपदेशक एक साधुको ही बतलाते हैं श्रावकोंको निषेध करते हैं यह इनका अज्ञान समझना चाहिये अतः भगवती सूत्र शतक २ व ५ के मूलपाठमें जो श्रमण और माहनकी सेवा भक्ति करनेसे शास्त्र श्रवणसे लेकर मोक्ष पर्यन्त फल मिलना कहा है उसके अनुसार श्रावककी सेवा भक्ति भी मोक्ष फल देने वाली सिद्ध होती है इसीलिये श्रावककी सेवा भक्तिको एकान्त पाप कट्ना मिथ्या समझना चाहिये।

(बोल ९ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २९६ के ऊपर लिखते हैं कि 'अने किण्-
हीक ठामें टीकामें माहणना अर्थ प्रथम तो साधु इन कियो। अने बीजो अर्ग अथवा
श्रावक इन कियो छे। किण मूल अर्थ तो श्रमण माहन नो साधु इन कियो'

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

टीकाकारने पहले श्रमण और माहन शब्दका साधु ही अर्थ किया है और पीछे
अथवा कह कर श्रावक अर्थ किया है यह ध्यान मिथ्या है भगवती सूत्र शतक १ उद्देश
७वीं टीकामें पहले ही टीकाकारने माहन शब्दका श्रावक अर्थ किया है। वह टीका यह है।
“माहन”—सि माहनेत्तेयमादिसति स्वयं स्थूत्राणानिपात्रादिनिवृत्तमात्र

समाहन ।”

अर्थात् जो पुरुष स्थूल प्राणातिपात आदिसे निवृत्त होकर दूसरेको भी नहीं मारने का उपदेश करता है वह माहन कहलाता है ।

यहा टीकाकारने पहले ही पहल माहन शब्दका आवक अर्थ किया है । दूसरी बात यह है कि इस टीकाके आगे भगवती शनक २ उद्देशा ५ के अन्दर जो टीका आई है उसमें भी पहले पहल माहन शब्दका अर्थ साधु नहीं किया है । देखिये वह टीका यह है ।

“तथा रूप मुचित स्वभाव कश्चन पुरुष श्रमण वा तथोयुक्त मुपलक्षणत्वा दस्योत्तर गुणवन्त मित्यर्थः । माहनंवा स्वयं हनन निवृत्तत्वात्परप्रतिमाहनेतिवादिनम् उपलक्षणत्वा देव मूल गुण युक्त मित्यर्थः । वागब्दौ समुचये । अथवा श्रमण साधुर्माहन आवक ”

अर्थात् जो कोई पुरुष उचित स्वभाव वाला तपस्यासे युक्त यानी उत्तर गुणसे युक्त हो वह श्रमण कहलाता है और जो स्वयं हिंसामे निवृत्त होकर दूसरेको नहीं मारनेका उपदेश देने वाला, यानी मूल गुणसे युक्त हो वह “माहन” कहलाता है । अथवा श्रमण नाम साधुका और माहन नाम आवकका है ।

यहा टीकाकारने पहले पहल श्रमण शब्दका “उत्तर गुण युक्त” और माहन शब्दका “मूलगुण युक्त” अर्थ किया है । मूल गुण और उत्तर गुण साधु और आवक दोनों के होते हैं केवल साधुके ही नहीं इस लिये पहले अर्थमें श्रमण और माहन शब्दसे मूल गुण और उत्तर गुणसे युक्त साधु और आवक दोनों ही का ग्रहण होता है केवल साधुका ही नहीं । दूसरे अर्थमें तो टीकाकारने साफ साफ खोलकर लिख दिया है कि “श्रमण नाम साधुका और माहन नाम आवकका है ।” अतः उक्त टीकाका नाम लेकर माहन शब्दका आवक अर्थ होनेमे टीकाकारकी अरुचि बताना अज्ञानका परिणाम है ।

(बोल १० वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २८७ के ऊपर भगवती सूत्र शतक १५ वें का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—

“अथ अठे सुनक्षत्र सर्वानुभूति मुनि गोशालने कथ्यो । हे गोशाला । जे तथारूप श्रमण माहन कने एक वचन सीखे तेहने पिण वादे नमस्कार करे कल्याणिक मागलिक देवयं खेइय जाणीने घणी सेवा करे । इहा श्रमण माहन कने सीखे तेहने बन्दना नमस्कार करणी कही । पिण श्रमणोपासकने सीखे तेहने बन्दना नमस्कार करणी इम न कथ्यो । श्रमण माहननी सेवा कही पिण श्रमणोपासकरी सेवा न कही । एतो प्रत्यक्ष

आवकने टाल दियो । अने श्रमण माहन्ने वदना नमस्कार कण्ठो कह्यो ते माटे आवक ने नमस्कार करे ते कार्य्य आत्ता बाहिरे छै । (भ० पृ० २८७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक १५ वें के मूलपाठका प्रमाण लेकर यह कहना कि “आवकसे मीने, पर उसको वदना नमस्कार नहीं कर” एकान्त मिथ्या है । उक्त पाठमें साधु और आवक इन दोनोंसे सीखना, और दोनोंको ही वदना नमस्कार करना कहा है । आवकको नमस्कार करनेका निषेध नहीं किया है । इस पाठमें भगवती शतक २ उद्देश ५ के पाठके समान ही श्रमण और माहन्नेसे सीखना तथा उनको वदना नमस्कार करना कहा है । इसलिये यहाँ भी पूर्ववत् ही श्रमण शब्दका साधु और माहन्ने शब्दका आवक अर्थ है । भगवतीके इस पाठसे यह स्पष्ट सिद्ध होना है कि साधु और आवक इन दोनों ही से सीखे और दोनों ही को वदना नमस्कार करे तथा यह बात साधारण मनुष्य भी समझ सकता है कि जिन आवकसे सीखना मना नहीं है तब फिर उसको वदना नमस्कार करना मना कैसे हो सकता है ? परन्तु भ्रमविध्यसनकार जो आवकसे सीखने का निषेध न करते हुए भी उसको वदना नमस्कार करनेका निषेध करते हैं यह एकमात्र जनका हठराव और जनतामें हठप्रताका प्रचार करना है क्योंकि आवक से सीख का उपसे अपना कार्य्य तो रूग लेना पर उसको वदना नमस्कार नहीं करना इससे घट कर हठप्रता और क्या हो सकती है ? । अत आवकसे धर्म सीख कर भी उसको वदना नमस्कार नहीं करनेकी प्ररूपणा एकांत मिथ्या और शास्त्र विरुद्ध है ।

यदि कोई कहे कि “इस पाठमें श्रमण माहन्नेका विशेषण “वत्थ्याण मगल देवय इय” यह आया है । और यह विशेषण आवक आदि किसी दूसरेमें न आकर एकमात्र साधु और तीर्थकरोंमें ही आता है इसलिये यहाँ माहन्ने शब्दका आवक अर्थ नहीं है । साधु ही है तो यह मिथ्या है । उवाँई सूत्रके मूलपाठमें पूर्ण भद्र नामक यक्षों में भी “कट्याण मगल देवय चेश्य” ये विशेषण आये हैं । वह पाठ यह है—

“बहुजणस्स आहुरस्स आहुरिज्जे पाहुरिज्जे अचण्डिज्जे वद-
ज्जे नमंसणिज्जे पूयणिज्जे सक्कारणिज्जे सम्माणणिज्जे कट्ठाण-
लं देवय चेश्य विणएण पज्जुवासणिज्जे”

(उवाँई सूत्र)

यह पाठ पूर्ण भद्र नामक यज्ञके लिये आया है। इसमें पूर्ण भद्र नामक यज्ञके लिये “कल्याण मङ्गल देवयं चेद्भ्यः” यह विशेषण आया है। इसलिये ये विशेषण साधु और तीर्थंकरोंके लिये ही आते हैं यह नियम नहीं है इसलिये इन विशेषणोंका नाम ले कर भगवतीके १५ वें शतकके मूलपाठमें माह्न शब्दका आवक अर्थ होनेका निषेध करना अज्ञानमूलक समझना चाहिये।

(बोल ११ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार उत्तराध्ययन सूत्रकी बहुतसी गाथाओं को लिख कर उन की साक्षीसे माह्न शब्दका एक मात्र साधु ही अर्थ होना बतलाते हैं आवक नहीं।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन सूत्रकी गाथाओंमें जो “माह्न” या ब्राह्मणका लक्षण लिखा है वह लक्षण केवल साधुमें ही मिलता हो आवकमें न मिले यह बात नहीं है। जैसे कि उत्तराध्ययन सूत्रमें माह्न (ब्राह्मण) का लक्षण यह लिखा है—

“समयाए समणो होई । वंभचेरेण वंभणो ।

नाणेणय मुणि होई । तवेण होई तावसो”

(उत्तराध्ययन सूत्र)

अर्थ —

अर्थात् सब जीवोंमें समता रखनेसे भ्रमण होता है और ब्रह्मचर्य्य धारण करनेसे ब्राह्मण (माह्न) होता है। तथा ज्ञानसे मुनि और तपस्या करनेसे तापस होता है।

यहां ब्रह्मचर्य्य धारण करनेसे ब्राह्मण (माह्न) होना कहा है और आवक भी ब्रह्मचर्य्य धारण करते हैं जैसे कि अम्बडजी और उनके शिष्य, आवक हो कर भी पूर्ण ब्रह्मचारी थे। तथा दूसरे आवक भी देशसे ब्रह्मचर्य्य ब्रह्मको धारण करते हैं इस लिये इस गाथामें कहा हुआ माह्न (ब्राह्मण) का लक्षण आवकमें भी मौजूद है। अत उत्तराध्ययन सूत्रकी गाथाओंका दाखला देकर एकमात्र साधुको ही माह्न कहना और आवकको माह्न होनेका निषेध करना अज्ञान समझना चाहिये।

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २७७ के ऊपर लिखते हैं कि—

“इम जो धर्माचार्य्य हुवे सो पुत्रकने पिता आवकरा व्रतधारे तो तिणरे लेखे पुत्रने धर्माचार्य्य कही जौ इम हिज स्त्री कने भर्तार आवकना व्रत धारे तो तिणरे लेखे

स्त्रीने पिण धर्माचार्य कही जौ । तथा सामू बहूकने वन आदरे तथा सेठ गुमास्ताकने वन आदरे तो तिणने पिण धर्माचार्य कहिजौ" अने जिणपासे धर्म सीखा तिणने वदना करणी कहे तिणरे ऐसी पाछे कहा ते सबने वन्दना नमस्कार करणी" (भ्र० पृ० २७७)

इसका क्या समाधान ?

(प्रत्यक्ष)

ठागाह सूत्रके उद्धृ ठाणमे कहा है कि पुत्र, कारणवश साध्वीसे दीक्षा ग्रहण कर सकना है पर वह दीक्षा ग्रहण करके साध्वीको वन्दन नमस्कार नहीं करता क्योंकि साध्वीको वन्दन नमस्कार करना साधुके कल्पसे विरुद्ध है उसी तरह पिता पुत्र से श्वश्रू पुत्रवधू से, और सेठ गुमास्तासे धर्मोपदेश ले सकते हैं पर लोक विरुद्ध होनेसे पिता पुत्रको श्वश्रू पुत्र वधूको और सेठ गुमास्ताको वन्दन नमस्कार नहीं करते किंतु जिस धर्मोपदेशक श्रावकको वन्दन नमस्कार करनेसे कोई लोकाचारका विरोध नहीं होता उसको वन्दन नमस्कार करनेमे कोई दोष नहीं है किंतु धर्म है अत धर्मोपदेशक पुत्र, वधू, और गुमास्ताको पिता, श्वश्रू, और सेठ नमस्कार नहीं करते यह दृष्टान्त देकर सभी धर्मोपदेशक श्रावकको वन्दन नमस्कार करनेका निषेध करना मित्या समझना चाहिये ।

(बोल १२ वां समाप्त)

(इति विनयाधिकार)



अथ पुण्याधिकारः ।

—०-०—

(प्ररक)

पुण्य किमे कहते ह, ओर उसके किनने भेद है ।

(प्ररूपक)

“पुनाति पवित्री कगेत्यत्मान मिति पुण्यम् ।

अर्थात् जो आत्माको पवित्र करता है उसे पुण्य कहते हैं । वह नव प्रकारका कहा । जैसे कि ठाणाङ्ग सूत्रके नवम ठाणामे यह पाठ आया है—

“नवविहे पुण्णे पन्नत्ते तंजहा—अन्न पुण्णे, पाण पुण्णे, वत्थ पुण्णे, लेण पुण्णे, सयण पुण्णे, मण पुण्णे, वय पुण्णे, काय पुण्णे, नमोक्कार पुण्णे”

(ठाणाङ्ग ठाणा सूत्र)

अर्थ —

पुण्य नौ प्रकारका होता है । जैसे कि—

अन्न दान देना, जल दान देना, वस्त्र देना, मर्दान देना, शय्या आसनादि देना, गुणो पुरुषो में मन को तुष्ट रखना, यक्षम ने प्रशंसा करना, शरीर से उन की सेवा करना, और श्रेष्ठ जनको नमस्कार करना ।

इस पाठका अर्थ करते हुए टीकाकार तथा ट्य्याकारने लिखा है कि पात्रको अन्नादि दान देनेसे तीर्थंकर नाम गोत्रादि विशिष्ट पुण्य प्रकृति धधती है और साधुसे इतरको दान देनेसे दूसरी पुण्य प्रकृति धधती है इसलिये साधु और उससे इतर पुरुषको दान आदि देनेसे उक्त नव प्रकारका पुण्य होना समझना चाहिये ।

इन पुण्योंके फल ४२ प्रकारके होते हैं । वे भी कार्य और कारण के अमेद से पुण्य ही कहलाते हैं । इस प्रकार पुण्य नाम शुभ करणी का भी है और पुण्य-कर्मा का भी है ।

(प्रेरक)

पुण्य आदरने योग्य है अथवा त्यागने योग्य है ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्रके प्रथम ठाणेकी टीकामे पुण्यके दो भेद किये हैं । एक पुण्यानुवधी पुण्य, और दूसरा पापानुवन्धी पुण्य । उनमे पुण्यानुवन्धी पुण्य नौ माधन दशामे आदरने योग्य है और पापानुवन्धी पुण्य त्यागने योग्य है ।

(प्रेरक)

पुण्यानुबन्धी पुण्य किसे कहते हैं और उसकी उत्पत्ति कैसे होती है ?

(प्ररूपक)

‘रोहाद्रोहान्तर कश्चिन् शोभनादधिकं नग याति यद्वन् मुधमण तद्वदेव मवाङ्गवम्’

(श्लोक हरिभद्रसुरिद्वत्)

अर्था —

जैसे कोई मनुष्य सुन्दर मकानसे निकल कर उससे भी अधिक सुन्दर दूसरे मकानमें जाना है उसी तरह जिस पुण्यके द्वारा जीव, मनुष्यादि उत्तम योनियोंको छोड़ कर उससे भी उत्तम द्वादि योनियोंमें जाता है उसे पुण्यानुबन्धी पुण्य कहते हैं । इस ग्यानुबन्धी पुण्यका कारण हरिभद्र सुरिने इस प्रकार बयलाया है ।

“दया भूतेषु वैराग्य विधिवद्गुरु पूजनम् ।

विशुद्धा शील धृतिश्च पुण्य पुण्यानुबन्ध्यम्”

अर्थात् सन प्राणियोंके ऊपर दया (अनुकम्पा) रक्षणा, वैराग्य, और विधिवन् गुरु पूजन, तथा अतिचार रहित अहिंसा आदि धर्मोका पालन करना, ये सब पुण्यानुबन्धी पुण्यके कारण होते हैं ।

• आगे चल कर हरि भद्र सुरिने यह भी लिखा है कि मोक्षार्थियोंको पुण्यानुबन्धी पुण्यका आदर करना चाहिये । जैसे कि—

“शुभानुबन्ध्यत पुण्य कर्त्तव्य सर्वथा नरै यः प्रभावादपानित्यो आनन्त सर्वसम्पदः”

अर्थात् मनुष्योंको पुण्यानुबन्धी पुण्यका आदर करना चाहिये । क्योंकि इसके प्रभावसे अविनाश्वर सन्न सम्पत्तिया प्राप्त होती हैं ।

इसमें पुण्यानुबन्धी पुण्यको आदरणीय कहा है । अत मोक्षार्थी पुरुष भी इसका आदर करते हैं ।

[बोल १ समाप्त]

(प्रेरक)

मोक्षार्थियोंको पुण्यका फल आदरणीय है या नहीं ?

(प्ररूपक)

साधन दृष्टामे मोक्षार्थियोंको भी पुण्य फल आदरणीय है । शास्त्रमें मोक्ष प्राप्तिके लिए मुख्य कारण कहे हैं । जैसे कि—

“वत्तारि परमंगाणि दुल्लभाणीह जन्तुणो
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमंमिय वीरियं”

(उत्तरा० अ० ३)

अर्थ .—

चार घट्टु मुक्तिके परम साधन, और जांचके लिए दुर्लभ हैं। मनुष्य, योनिमें जन्म लेना, धर्म श्रवण करना, धार्मिक श्रद्धा, और संयमके अन्दर सामर्थ्य विशेष ।

यहां मनुष्य जन्मको मोक्ष प्राप्तिका परम साधन कहा है और वह मनुष्य जन्म पुण्य का ही फल है। इस लिये पुण्य फल मोक्षार्थियोंको भी साधन दशामे आदरणीय है। अतः जो लोग पुण्य और उसका फलको एकान्त त्यागने योग्य बनलाते हैं वन्द्य मिथ्यावादी जानना चाहिये ।

(प्रेरक)

पुण्य आदरणीय है यह बात कहा कही है—

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन अध्ययन १३ गाथा २१ में पुण्यको आदरणीय बतलाया है। वह गाथा यह है—

“इह जीविए राय असासयम्मि घणियां तु पुण्णाइ’ अकुब्ब-
माणे । से सोयइ मच्चु मुहो वणीए धम्मं अकाऊण परम्मिलोके”

(उत्तरा० अ० १३ गाथा २१)

अर्थ —

चित्त मुनि कहते हैं कि हे ब्रह्मक्षत्र । अज्ञादवत अर्थात् अनित्य मनुष्यकी आयु पाकर जो पुण्य अतिदाय पुण्यका उपार्जन नहीं करता वह मृत्युमुखमें प्रवेश करके धर्माचरण नहीं करने का कारण परलोकमें पश्चात्ताप करता है ।

यहां चित्त मुनिने ब्रह्मक्षत्रसे मनुष्यकी आयु पाकर पुण्योपाजन करनेकी आवश्यकता बतलाई है। अतः साधन दशामे मोक्षार्थियोंको भी पुण्य आदरणीय सिद्ध होता है ।

(बोल २ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३०० के ऊपर इस गाथाको लिखकर इसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ इहा तो बहो है राजन् । अशाश्वत जीवितव्यने विषे गाढा पुण्यना हेतु अनुष्ठान शुभ करणी न करे ते भरणान्तने विषे पञ्चात्ताप करे । इहा पुण्य शब्दे पुण्य नो हेतु शुभ अनुष्ठानने कहो” इत्यादि ।

इनके कहनेका तात्पर्य यह है कि इस गायामे पुण्यको आदरणीय नहीं कहा है । मोक्षार्थियोंको पुण्य आदरणीय नहीं है ।

इसका क्या समाधान ?

(प्रत्यक्ष)

पुण्यके हेतुभूत शुभ अनुष्ठान का आदरणीय होना भ्रमविध्वसन कार स्वयं फल करते है और शास्त्रके अन्दर शुभ अनुष्ठान, और पुण्य फल इन दोनोंको पुण्य कहकर बतलाया है । इस लिये मोक्षार्थियोंको पुण्य आदरणीय नहीं है यह कहना भ्रम-विध्वसनकारका अपने कथनसे ही विरुद्ध है । यदि वह कहें कि हम पुण्यफलकी अपेक्षा से पुण्यको अनादरणीय कहते हैं परन्तु शुभ अनुष्ठान की अपेक्षासे पुण्यको अनादरणीय नहीं कहते तो इसका उत्तर यह है कि पुण्य फलकी अपेक्षासे भी पुण्यको अनादरणीय कहना भ्रमविध्वसनकारका अज्ञान है क्योंकि उत्तराध्ययन सूत्रके १३ वें अध्ययनके २१ वीं गाथामें मनुष्य जन्मको दुर्लभ कह कर मोक्षार्थियोंको भी आदरणीय बतलाया है । तथा उत्तराध्ययन सूत्रके २३ वें अध्ययनमें संसार सागरसे पार होने वाले प्राणियोंके लिये मनुष्य शरीरको नौकाकी तरह आदरणीय बतलाया है । यह पाठ यह है—

“शरीर माहुनावत्ति जीवोउच्चह नाविओ संसारो अन्नवो उत्तो जं तरंति महेसिणो”

(३० अ० २३ गाथा)

अर्थात् मनुष्य शरीर नौका है जीव उस नावको दलाने वाला नाविक है और वह संसार सागरसे पार करने वाला है । इसे महर्षि लोग पार करते हैं ।

इसमें मनुष्य शरीरको नौकाका दृष्टान्त देकर संसार सागरसे पार जाने वाले पुण्याक लिये इसकी परम आवश्यकता बतलाई है । मनुष्य शरीर पुण्यका ही फल है । अतः स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधन दशामें पुण्य फल भी मोक्षार्थियोंको आदरणीय है । भगवान् महावीर स्वामीने मनुष्य जन्म मिलना दुर्लभ बतलाते हुए यह कहा है कि—

“दुल्लहे खल्ल माणुसे भवे विर काले णवि सब्बपाणिणं”

(७० अ० १०)

“चत्तारि परमंगाणि दुल्लभाणीह जन्तुणो
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमंमिय वीरियं”

(उत्तरा० अ० ३)

अर्थ —

चार वस्तु मुक्तिके परम साधन, और जीवोंके लिए दुर्लभ हैं। मनुष्य, योनिमें जन्म लेना, धर्म धरण करना, धार्मिक श्रद्धा, और संयमके अन्दर सामर्थ्य विशेष ।

यहां मनुष्य जन्मको मोक्ष प्राप्तिका परम साधन कहा है और वह मनुष्य जन्म पुण्य का ही फल है। इस लिये पुण्य फल मोक्षार्थियोंको भी साधन दशमे आदरणीय है। अतः जो लोग पुण्य और उसके फलको एकान्त त्यागने योग्य बतलाते हैं उन्हें मिथ्यावादी जानना चाहिये ।

(प्रेरक)

पुण्य आदरणीय है यह बात कहा कही है—

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन अध्ययन १३ गाथा २१ में पुण्यको आदरणीय बतलाया है। वह गाथा यह है—

“इह जीविण्णं राय असासयम्मि धणियं तु पुण्णाहं अकुब्ब-
माणे । से सोयहं मच्चु सुहो वणीण्णं धम्मं अकाऊण परम्मिलोके”

(उत्तरा० अ० १३ गाथा २१)

अर्थ —

चित्त मुनि कहते हैं कि हे ब्रह्मवृत्त । असासयत्त अर्थात् अनित्य मनुष्यकी आयु पाकर जो पुण्य अतिशय पुण्यका उपार्जन नहीं करता वह मृत्युमुखमें प्रवेश करके धर्माचरण नहीं करने के कारण परलोकमें पश्चात्ताप करता है ।

यहां चित्त मुनिने ब्रह्मवृत्तसे मनुष्यकी आयु पाकर पुण्योपार्जन करनेकी आवश्यकता बतलाई है। अतः साधन दशमे मोक्षार्थियोंको भी पुण्य आदरणीय सिद्ध होता है ।

(बोल २ समाप्त)

(प्रेरक)

अम विध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३०० के ऊपर इस गाथाको लिखकर इसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“तहारूपस्त समणस्सवा माहणस्सवा अंतिए एगमपि आरिय
धम्मिणं सुवयणं सोचाणिसम्म तओ भवइ संवेगजायसइहे तिव्व-
प्पमाणुरागरत्ते । सेणं जीवे धम्मकामए पुण्णकामए सग्गकामए
मोक्खकामए धम्मकंखिए पुण्णकंखिए सग्गमोक्खकंखिए धम्मपि-
पासिए पुण्णसग्गमोक्ख पिपासिए तच्चित्ते तम्मणे तल्लेस्से तदज्झ-
वसिए तत्तिव्वज्जवसाणे तदट्ठोवउत्ते तदप्पियकरणे तव्भावणाभाविए
एणंसिणं अंतरंसिफालं करे० देवलो० उव० सेतेणट्ठेणं गोयमा ?”

(भ० ज० १ उ० ७)

(टीका)

श्रमणस्य साधो वाशब्दो देवलोकोत्पादहेतुत्वं प्रति श्रमणमाहनवचनयो
स्तुत्यत्वं प्रकाशनार्थं । “माहण” चि माहन इत्येव मादितति स्वयं रयूळ प्राणातिपातादि
निवृत्तत्वाय समाहन । अथवा ब्राह्मणो ब्रह्मचर्य्यस्य देशतः सद्भावात् । ब्राह्मणो दश
विरत तस्यवा अतिके समीपे एकमप्यास्ता तावदनेकम् आर्य्यम् आगच्छात पाप कर्म-
इत्यार्य्यम् अथएव धार्मिकम् इति । तदनन्तरमेव “सवेगजाय सद्धिसि संवेगन भय
मयेन जाता अद्वा अद्धानं धर्मादिपुयस्य न तथा । “दीव्व धम्माणुगग रत्ति” चि तीस्रो
यो धर्मानुरागो धर्मं बहुमान स्तेन-रत्तइव य सतथा । “धम्मकामए” चि धर्मं श्रुत
वागिन्न लयग पुण्य वत्फळ भूतं शुभ कर्म इति”

अर्थ—

हे गौतम । तथा रूपके श्रमण और माहन के पास एक भो आर्य्य धर्म सम्प-
न्नी सुवचनके सुननेसे जीवकी उसके वाइ ही भव भय होनेमें धर्ममें अद्वा उपपन्न होती
है । और वह तीस्र धर्मानुरागसे रक्त सा हो जाता है । तथा वह जीव, धम्मकामी, पुण्य
कामी, स्वर्गकामी, मोक्षकामी, धर्मकामी, पुण्य —नी, स्वर्गप्राप्ति, मोक्षप्राप्ति, धर्म

अर्थात् हे गोतम ! चिरकालके अनन्तर भी मनुष्य जन्म मिलना प्राणियोंके लिये दुर्लभ है ।

ठाणाङ्ग सूत्रके तीसरे ठाणेमें भी मनुष्य जन्मको देव वाञ्छनीय कहा है । वह पाठ यह है—

“ततो ठाणाङ्गं देवेपोहेज्जा । तं० माणुसभवं, आरिये खेत्ते जम्मं, सुकुलपचायाति”

(ठाणाङ्ग ठाणा ३)

अर्थात् देवता भी तीन बातोंको अभिलाषा करते हैं । मनुष्य योनिमें जन्म पाना, आप्य क्षेत्रमें जन्म पाना, और अच्छे कुलमें जन्म लेना ।

यहां मनुष्य जन्मको देव वाञ्छनीय कहा है । तथा उत्तराध्ययनके १०वें यनमें साक्षात् भगवान् महावीर स्वामीने मनुष्य जन्मको दुर्लभ बतलाया है जन्म पुण्यका ही फल है । इस लिये पुण्य फलको एकान्त त्यागने अज्ञान समझना चाहिये ।

(बोल ३ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २१९ के ऊपर ७ के मूलपाठको लिए कर उसकी समालोचना करते हुए

“य इहा नरक जाय ते जीवने अर्थनो राज्यनो मो तीर्थकरे क्हो पिण अर्थ, भोग, राज्य, कामनी वाछा करे ते भोग, राज्य, कामनी वाछा करे ते आक्षामे नहीं । जिम अर्थ सरावे नहीं तिम पुण्यनी वाछाने स्वर्गनी वाछाने पिण सरावे कामए” ए पाठ कहा माटे पुण्यनी वाछाने सराई कहे तो वाञ्छक क्हो ते पिण स्वर्गनी वाञ्छा सराई क्हणी ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा ७ के मूलपाठका नाम बतलाना मिथ्या है । वहां पाठका अमिप्राय, पाठ और टीका है । वह पाठ यह है—

“तद्गुरुवत्स समणस्सवा माहणस्सवा अंतिए एगमपि आरिय धम्मियं सुवयणं सोच्चाणिसम्म तओ भवइ सवेगजायसद्धे तिव्व-
धम्माणुरागरत्ते । सेणं जीवे धम्मकामए पुण्णकामए सग्गकामए
मोक्खकामए धम्मकंखिए पुण्णकंखिए सग्गमोक्खकंखिए धम्मपि-
पासिए पुण्णसग्गमोक्ख पिपासिए तच्चित्ते तम्मणे तल्लेस्से तदज्झ-
वसिए तत्तिव्वज्झवसाणे तदद्दोवउत्ते तदप्पियकरणे तव्भावणाभाविण
एयंसिणं अंतरंसिकालं करे० देवलो० उव० सेतेणट्ठेणं गोयमा ?”

(भ० श० १ उ० ७)

(टीका)

श्रमणस्य साधो वाशब्दो देवलोकोत्पादहेतुत्वं प्रति श्रमणमाह्नवचनयो
स्तुल्यत्वं प्रकाशनार्थं । “माहण” ति माह्न इत्येव मादिशति स्वयं स्थूल प्राणातिपातादि
निवृत्तत्वाय समाह्न । अथवा ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यस्य देशतः सद्भावात् । ब्राह्मणो देश
विरतः तस्यैवातिके समीपे एकमप्यास्ता तावदनेकम् आर्य्यम् आराशात् पाप कर्म-
इत्यार्य्यम् अतएव धार्मिकम् इति । तदनन्तरमेव “सवेगजाय सद्धित्ति सवेगेन भय
मयेन जाता अद्दा अद्दान धर्मादिपुयस्य स तथा । “तीव्व धम्माणुराग रत्ति” ति तीव्रो
यो धर्मानुरागो धर्म बहुमान स्तेन रत्तइव य स तथा । “धम्मकामए” ति धर्मं श्रुत
चारित्र्य लक्षणं पुण्यं तत्फलं मूलं शुभं कर्म इति”

अर्थ —

हे गौतम ! तथा रूपके श्रमण और माह्न के पास एक मो आर्य्य धर्म सम्य-
न्धी सुवचनके सुननेसे जीवको उसके बाद ही भव भय होनेसे धर्ममे अद्दा उत्पन्न होती
है । और वह तीव्र धर्मानुरागसे रक्त हो जाता है । तथा वह जीव, धर्मकामी, पुण्य
कामी, स्वर्गकामी, मोक्षकामी, धर्मकाक्षी, पुण्य काक्षी, स्वर्गकाक्षी, मोक्षकाक्षी, धर्म
पिपासित, तथा उनमें चित्त, लेइया, अध्यवसाय, और तीव्र अध्यवसाय (प्रयत्न विशेष)
वाला होता है । एवं उक्त धर्मादि अर्थों में उपयोग रगता हुआ तथा रन्धीमें अपने
इन्द्रियोको अर्पण किया हुआ और उनकी भावनासे भावित (वासित) होता हुआ यदि
उसी फालमें मरणको प्राप्त होता है तो वह देवलोकमें उत्पन्न होता है ।

यहां तथा रूपके श्रमण और माह्नसे आर्य्य धर्म सम्य-
सुननेसे जीवको वैराग्य, धर्मप्रेम तथा धर्म पुण्य स्वर्ग और
क्षोभ स्वर्ग प्राप्त करना बतलाया है । यह बतलाकर अपने

गी. सुवचन

वाक्यके श्रवण करनेसे ही जीवको पुण्य कामना होना यहा कहा है । वह पुण्य कामना यदि बुरी है तब तो तथा रूपके श्रमण माह्नसे सुवाक्य सुनना भी बुरा ही कहना होगा क्योंकि उसीके सुननेसे जीवको पुण्य कामनाका होना इस पाठमें कहा है । यदि तथा रूपके श्रमण माह्नसे आर्य्य धर्म सम्बन्धी सुवाक्य सुनना बुरा नहीं है तब फिर उस वाक्यके सुननेसे उत्पन्न होने वाली पुण्य भावना या पुण्य कामना भी बुरी नहीं हो सकती है । तथा पुण्य शब्दका अर्थ करते हुए टीकाकार लिखते हैं—

“धर्मा श्रुत चारित्र्य लक्षण पुण्यं तत्फलभूतं शुभ कर्म”

अर्थात् श्रुत और चारित्र्यको धर्म कहते हैं और उस श्रुत चारित्र्य रूप धर्मका जो शुभ कर्म रूप फल है वह पुण्य कहलाता है । उस पुण्यको जो बुरा बतलाता है उसके हिसाबसे तो श्रुत और चारित्र्य रूप धर्म भी बुरा ही ठहरता है क्योंकि श्रुत और चारित्र्य लक्षण धर्मका ही फल यहा पुण्य कहा है । वह पुण्य यदि त्याज्य होगा तो फिर उसका कारण श्रुत चारित्र्य रूप तथा उसका भी कारण श्रमण माह्नसे सुवाक्य सुनना त्याज्य ही ठहरेंगे । अतः इस पाठका नाम लेकर पुण्यको त्याज्य कायम करना मिथ्या है ।

यदि कहो कि इस पाठमें तो आर्य्य धर्म सम्बन्धी सुवाक्य सुननेसे स्वर्गकामना होना भी लिखी है वह स्वर्ग कामना जैसे अच्छी नहीं कही जा सकती उसी तरह पुण्य कामना भी अच्छी नहीं कही जा सकती है तो यह भी मिथ्या है क्योंकि जो स्वर्ग कामना मोक्षकी प्रतिबन्धिका नहीं है किन्तु उसमें सहायता पहुचाने वाली है उसीका यहा कथन है । जो मोक्षको रोक्ती है उसका नहीं । पहले पहल इस पाठमें श्रमण माह्नके सुवाक्य सुननेसे जीवको वैराग्य उत्पन्न होना कहा है । तदनन्तर स्वर्ग कामना लिखी है । वह स्वर्ग कामना मोक्षको सहायता देने वाली ही यहा समझनी चाहिये उसमें विघ्न डालने वाली नहीं क्योंकि जिसको ससागसे वैराग्य हो जाता है वह जीव मोक्ष प्राप्तिके बाधक वस्तुकी अभिलाषा नहीं करता किन्तु उसके अनुकूल वस्तुकी ही इच्छा करता है । इसलिये इस पाठमें जो स्वर्ग कामना कही है वह भी मोक्षके अनुकूल होनेसे अच्छी ही है बुरी नहीं है । अतः उसका दृष्टान्त देकर पुण्य कामनाको बुरी बतलाना मिथ्या है । वास्तव में तथा रूपके श्रमण माह्नसे आर्य्य धर्म सम्बन्धी सुवाक्य सुननेसे जो वैराग्य उत्पन्न होकर जीवके हृदयमें धर्म कामना पुण्य कामना स्वर्ग कामना और मोक्ष कामना होती हैं ये सभी अच्छी हैं । इनमें एक भी बुरी नहीं है ।

यहा टीकाकारने लिखा है कि श्रमण और माह्न इन दोनों शब्दोंके बाद जो मूल पाठमें वा शब्द दिया है वह विकल्पका बोधक नहीं है किन्तु श्रमणसे सुवाक्य सुना जाय अथवा माह्नसे सुवाक्य सुना जाय दोनोंसे एक समान ही स्वर्ग प्राप्ति होती

है यह तुल्यता घनलानेके लिये यहा वा शब्द दिया गया है। श्रमण नाम साधुका है। और स्थूल प्रागादिपानसे सिद्ध होकर जो दूसरेको नहीं मारनेका उपदेश करता है वह मादन कहलाता है। अथवा ब्राह्मणका नाम मादन है। क्योंकि उसमें वंश विरति होती है और जिसमें देश विरति होती है वही यहा ब्राह्मण समझा जाता है। शेष टीका का अर्थ मूल पाठके अर्थमें मिलाकर दे दिया गया है।

यहा जो टीकाकार यह लिखते हैं कि इस पाठमे श्रमण मादन शब्दके साथ वा शब्द जोड़नेका यह भाव है कि चाहे श्रमणसे आर्य्य धर्म सम्पन्नी सुवास्य सुना जाय चाहे मादनसे सुना जाय दोनोंसे एक समान ही स्वर्ग प्राप्ति होती है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रमण दूसरा है और मादन दूसरा है। इस लिये श्रमण मादन इन दोनोंका एक साधु ही अर्थ बतलाना भी मिथ्या समझना चाहिये।

इति पुण्याधिकारः ।



अथ आश्रवाधिकारः ।

(प्रेरक)

आश्रव किसे कहते हैं, वह जीव है या अजीव है ?

(प्ररूपक)

आत्म रूपी तालाबमें कर्म रूपी जल जिसके द्वारा प्रवेश करता है उसे आश्रव कहते हैं । आश्रव, जीव भी है और अजीव भी है । ठाणाङ्ग सूत्रकी टीकामें टीकाकारने आश्रवका लक्षण और भेद बतलाते हुए यह लिखा है —

“आश्रवन्ति प्रविशन्ति येन कर्माण्यात्मनीत्यामाश्रव कर्मबन्ध हेतु रिति-
भाव । सचेन्द्रिय कपाया व्रत क्रिया योग रूप क्रमेण पंच चतु पंच पञ्चविंशति त्रिभेद
उक्तञ्च “इन्द्रिय कसाय अवयव किरिया पण चउर पंच पणुवीसा जोगा सीन्नेव भवे
आसव मेमाओ वयाला” इति तदेवमय द्विचत्वारिंशद्विधोऽश्रवा द्विविधो द्रव्य भाव
भेदात् । तत्र द्रव्याश्रवो यज्जलान्तर्गत नवादौ तथा विधच्छिद्रैर्जल प्रवेशनम् भावाश्रवस्तु
यज्जीव नावीन्द्रियादिच्छिद्रत कर्म जल सचय इति सचाश्रव सामान्यादेक एव”

यह ठाणाङ्ग सूत्रके “एगे आसने” इस पाठकी टीका है । इसका अर्थ यह है—

जिसके द्वारा आत्मामें कर्म प्रवेश करता है उसे “आश्रव” कहते हैं जो कर्मबन्ध का हेतु है वह आश्रव है । पाच इन्द्रिय, चार कपाय, पाच अव्रत, पचीस क्रिया, तीन योग, ये वेयालीस आश्रवके भेद हैं । ये वेयालीस आश्रव, भाव आश्रव कहलाते हैं इनसे अलग द्रव्याश्रव भी होता है । छिद्रोंके द्वारा नाव आदिमें जलका प्रवेश होना द्रव्य आश्रव है । पूर्वोक्त ४२ वस्तुओंके द्वारा जीव रूपी नौकामें कर्म रूपी जलका प्रवेश होना भाव आश्रव है ।

यहां टीकाकारने भाव आश्रवके वेयालीस भेद बतलाये हैं इनमें पचीस प्रकारकी क्रिया भी शामिल हैं । ये क्रियाएँ केवल जीवकी ही नहीं किन्तु अजीवकी भी बतलाई गई हैं इस लिये आश्रव अजीव भी है ।

उक्त टीकामें इन्द्रियोको आश्रव बतलाया है । इन्द्रिया दो तरहकी हैं द्रव्य इन्द्रिय और भाव इन्द्रिय, द्रव्य इन्द्रिय अजीव हैं और भाव इन्द्रिय जीव हैं । इस लिये

भाव इन्द्रिय स्वरूप आश्रव भी जीव हैं । इस प्रकार आश्रव अजीव और जीव दोनों ही प्रकारका है ।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

ठाणाङ्ग की उक्त टीकामे आश्रवका भेद बतलाते हुए पचीस क्रियाओंको आश्रव का भेद बतलाया है ये क्रियाएँ कौनसी हैं और ये अजीवकी क्रिया क्यों मानी जाती हैं ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्रके दूसरे ठाणेमे क्रियाके दो भेद बतलाते हुए कहा है कि क्रिया द्विविध होती है एक जीवकी क्रिया और दूसरी अजीवकी क्रिया । वह पाठ यह है—

“दो किरिआओ पन्नत्ताओ तंजहा—जीव किरियाचेव अजीव किरियाचेव”

(ठाणाङ्ग ठाणा २)

“तत्र जीवस्य क्रिया व्यापारो जीव क्रिया, तथा अजीवस्य पुद्गल समुदायस्य परस्पररूपतया परिणमन सा अजीव क्रियेति”
अर्थ —

क्रिया दो प्रकारकी है । जीवकी और अजीवकी, जीवक व्यापारको जीव क्रिया कहते हैं और पुद्गल समूहके कर्म रूपसे परिणाम होनेको अजीव क्रिया कहते हैं ।

अजीव क्रिया दो तरहकी होती है एक ऐर्यापधिकी और दूसरी साम्परायिकी, ऐर्यापधिकी का कोई अवान्तर भेद नहीं होता परन्तु साम्परायिकी क्रियाके चौबीस भेद होते हैं । चौबीस प्रकारकी साम्परायिकी क्रिया और एक ऐर्यापधिकी ये २५ क्रियाएँ अजीवकी कही गई हैं । ठाणाङ्ग ठाणा ५ मे क्रियाका भेद बतलानेके लिये यह पाठ आया है —

“पंच किरियाओ पन्नत्ताओ तंजहा—कायिया, अहिकरणिआ, आओसिया, परितावणिआ, पाणातिवायकिरिया । पच किरिआओ पन्नत्ताओ तंजहा—आरभिया, परिग्गहिआ, मायावत्तिआ, अपच-वत्तिआ, मिच्छादंसणवत्तिआ, पचकिरिआओ पन्नत्ताओ तंजहा—दिट्ठिया, पुट्ठिया, पाहोचिया, सामन्तोवणिआ, साएत्थिया ।

यहा शास्त्रकार और टोकाकारने ऐर्यायिकी और साम्परायिकी दोनों ही क्रियाओंको अजीव की क्रिया कहा है इसलिये आश्रयको एकान्त जीव बनलाना मिथ्या है क्योंकि उक्त २५ क्रियाएँ अजीव आश्रय हैं ।

भगवती सूत्र शतक १७ उद्देशा दूसरेमें भगवान् महाश्री स्वामीने अन्य यूथिकों का मत खण्डन करते हुए प्राणाति पातादि ९६ बोलोंको और जीवको एक होना बतलाया है वह पाठ—

“अण्ण उत्थिआणं भन्ते । एव माइक्खांति जाव परूवेति एवं खलु पाणाइवाए सुसावाए जाव मिच्छा दंसण सल्ले वट्टमाणस्स अण्णे जीवे अण्णे जीवा या । पाणाइवाय—वेरमणे जाव परिगह वेरमणे कोह विवेगे जाव मिच्छा दंसण सल्ल विवेगे वट्टमाणस्स अण्णे जीवे अण्णे जोवाया । उप्पत्तियाए जाव परिणामियाए वट्टमाणस्स अण्णे जीवे अण्णे जीवाया दुग्गहे ईहा अवाए वट्टमाणस्स जाव जीवाया उट्ठाणे जाव परक्खमे वट्टमाणस्स जाव जोवाया णेरइयत्ते तिरिक्ख मणुस्स देवत्ते वट्टमाणस्स जाव जोवाया णाणावरणिज्जे जाव अंतराए वट्टमाणस्स जाव जीवाया एवं कण्हलेस्सा ए जाव सुक्खेस्साए समदिट्ठि ए ३ एवं चक्खु दंसणे ४ आभिणिबोहिण्णणे ५ मइ अण्णणे आहार सण्णाण ४ एवं आरोलिय सरीरे ५ एवं मण जोए ३ सगारो वयोगे अणागारोवयोगे वट्टमाणस्स अण्णे जीवे अण्णे जोवाया से कह्केयं भन्ते ! एवं गोपमा ! जण्णंते अण्ण उत्थिया एव माइक्खांति जाव मिच्छते एव माहंसु अह पुण गोपमा ! एव माइक्खामि जाव परूवेमि एवं पाणाइवाए जाव मिच्छा दंसण सल्ले वट्टमाणस्स सचेव जीवे सचेव जीवाया जाव अणागारो वयोगे वट्टमाणस्स सचेव जीवे सचेव जीवाया”

(भगवती शतक १७ उद्देशा २)

अर्थ —

(प्रश्न) हे भगवन् ! अन्य यूथिक कहते हैं कि “प्राणातिपात और श्वावाद्दे लेकर मिथ्यादर्शन शाल्य पर्यंत अठारह बोलोंमें बतमान रहने वाले देहधारीका जीव दूसरा है और ये बोल दूसरे हैं तथा प्राणातिपातसे लेकर मिथ्या दर्शन शाल्य पर्यंत अठारह पापोंके विरमणर्म धर्म

मान देहधारीका जीव दूसरा है और ये बोल दूसरे हैं । चार प्रकारकी बुद्धि, अवग्रहात्मिक चार मति ज्ञान, उत्पानात्मिक वीर्यों के भेद, नरक आदि चार गति, ज्ञानावरणीयादि आठ कर्म, कृष्णादि ४ वक्ष्यार्ण, चक्षुर्ज्ञानादि चार दर्शन, अभिनिरोधिक आदि पाच ज्ञान, मति आदि तीन अज्ञान आहारादिक चार सत्तायें, शोदाय्य आदि ६ परीर, मन आदि तीन योग, सागर और अनागर दो प्रकारक उपयोग, इन सब मोलोंमें वर्तमान राधादे देहधारीका जीव दूसरा है और ये बोल दूसरे हैं । ह भगवन् ! आप इन्ने कैसा समझते हैं ?

(उत्तर) है गोतम । अन्य युधिष्ठिरा यद कथन मिथ्या है उक्त ९६ बोल और जीवात्मा एक ॥ है परन्तु एकान्त भिन्न भिन्न नहीं हैं ।

यह भगवनीके उक्त पाठका अर्थ है ।

यहा भगवानने पूर्वोक्त ९६ बोलोंको जीव कहा है और ९६ बोलों में मनोयो-गादि आश्रव भी हैं इसलिये आश्रव कथचित् जीव भी है और पूर्ण वर्णन की हुई क्रिया क हिसाबसे कथचित् अजीव भी है अत आश्रवको एकान्त जीव मानना शाल्विरुद्ध समझना चाहिये ।

(बोल २ रा)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार और उनके गुरु भीषणजीने पुण्य, पाप और वन्धको एकाव रूपी और अजीव, तथा आश्रवको एकान्त अरूपी और जीव कहा है । भीषणजीने अपने तेह द्वारके छट्टे द्वागमे लिगना है कि—

“पुण्यते शुभ कर्म तेहने पुण्य कहीजे तेहने अजीव कहीजे तेहने वन्ध कहीजे । पापते अशुभ कर्म तेहने पाप कहीजे अजीव कहीजे वन्ध कहीजे । कर्म प्रहेते आश्रव कहीजे तेहने जीव कहीजे । जीव सधाते कर्म बधाना ते वन्ध कहीजे अजीव कहीजे”

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

पाप पुण्य और वन्धको एकान्त अजीव कहना मिथ्या है क्योंकि ये तीनों दो वर्ण जीवात्मामें दूध और पानीकी तरह मिल कर एकाकार बने रहते हैं इसलिये व्यवहार दशामें इन्हें जीवका लक्षण माना है और व्यवहार नयसे इन तीनोंको शारूमें जीव कहा है इसलिये पाप, पुण्य, और वन्धको एकान्त अजीव कहना मिथ्या है । दूसरी बात यह है कि पाप, पुण्य और वन्ध रूप कर्मकी प्रकृतिसे ही जीवको चार गति और पाच गति आदि प्राप्त होती हैं और चार गति पाच जाति और ॥ कथको भगवती आदि

सूत्रोंमें जीव कह कर बतलाया है इसलिये शुभाशुभ कर्मोंसे बंधा हुआ जीवात्मा ही व्यवहार दशामें जीव कहलाता है । गति और जाति आदि जीवसे अलग बंधे जाते हैं और जीव उनसे अलग कहा जाता हो यह बात नहीं है अतः पुण्य, पाप, और बन्ध भी व्यवहार दशामें जीव ही हैं अजीव नहीं हैं इन्हे एकांत अजीव कहना अज्ञान है ।

[बोल ३ समाप्त]

(प्रेरक)

पुण्य पाप और बन्ध रूपी हैं और जीव अरूपी है फिर ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं ?

(प्ररूपक)

व्यवहार दशामें जीव भी रूपी माना गया है । भगवती शतक १७ उद्देश २ में जीवको रूपी होना बतलाया है । वह पाठ यह है—

“देवेणं भन्ते । महिद्दिए जाव महेसफले पुब्बामेव रूवी भविता पभू अरूवीविउ भवित्ताणं चिट्ठित्तए ? णो इणट्ठे समट्ठे सेव्वेणट्ठेणं भन्ते । एवं बुघ्घइ देवेणं जावणो पभू अरूवीविउ भवित्ताणं चिट्ठित्तए ? गोयमा ! अहमेयं जाणामि अहमेयं पासामि अहमेयं वुज्झामि अहमेयं अभिसमण्णागच्छामि मए एवं णायं मए एयं दिट्ठं मए एयं बुद्धं मए एयं अभिसमण्णागथं जण्णं तहागयस्स जीवस्स सरूविरस्स सकम्मस्स सरागस्स सधेदगस्स समोहस्स सल्लेस्सस्स ससरीरस्स तआ सरीराओ अविप्पसुक्कस्स एवं पण्णायाति तंजहा कालत्तेवा जाव सुक्किलत्तेवा, सुग्गिमगंधत्तेवा, दुग्गिमगंधत्तेवा तित्तत्तेवा जाव महुरत्तेवा कक्खइत्तेवा जावल्लुक्खत्तेवा सेतणट्ठेणं गोयमा ! जाव चिट्ठित्तए”

(भगवती शतक १७ उद्देश २)

अर्थ—

हे भगवन् ! मोक्ष नामक देवता जो कि बड़ा समृद्धि शाली और शरीरादि पुद्गलोंके सम्बन्धसे रूपी है वह अरूपी होकर रह सकता है या नहीं ?

(उत्तर) हे गोतम ! यह सम्भव नहीं है ।

(प्रश्न) इसका क्या कारण है ?

(उत्तर) हे गोतम ! मे इत्ते जानता हू पापा अनुभव करता हू यह बात मेरी जानी हुई पाप अनुभव की हुई है । जो जीव मूर्तिमान् है सरागो है सवेद है और जिसमें मोह, तथा ऐश्या विषयान् है जो शरीरसे छुटा हुआ नहीं है उसमें ये बातें भक्ष्य पाई जाती हैं जैसे कि यह काछा है, यह सुबल है, इसमें दुर्गन्ध आता है, इसमें एगन्ध आता है यह तिक्त है, यह मधुर है यह कंश है यह सूक्ष्म है इत्यादि । जिसमें पूर्वोक्त बातें पाई जाती हैं यह रुपी हो बना रहता है कदापि अरूपी नहीं हो सकता ।

यह पाठका सरल अर्थ है ।

इस पाठमें भगवान् ने सराग, समोह, और सलेश्य जीवको रूपी कहा है इसलिये व्यवहार दशमें सराग जीव भी रूपी है । जय कि सराग जीव भी रूपी है तब फिर पुण्य, पाप और बन्ध, इन रूपी पदार्थों के साथ उसका अमेद व्यवहार होनेमें क्या संदेह है ? जो लोग रूपी होनेके कारण पाप, पुण्य और बन्धको जीवसे एकान्त भेद मानते हैं वे शास्त्रके रहस्यको नहीं जानने वाले अज्ञानी हैं ।

इस पाठसे आश्रवके एकान्त अरूपी होनेका सिद्धान्त भी स्पष्ट हो जाता है । इस पाठमें सराग मलेश्य और समोह जीवको रूपी कहा है अत आश्रव रूपी भी सिद्ध होता है क्योंकि जय जीव भी रूपी है तब जीवस्वरूप आश्रव क्यों नहीं रूपी होगा ? इसलिये जो लोग आश्रवको एकान्त जीव मान कर उसे एकान्त अरूपी बतलाते हैं वे मिथ्यावादी हैं ।

[बोल ४ समाप्त]

(प्रेरक)

क्या पाप, पुण्य और बन्ध अजीव नहीं हैं ?

(प्ररूपक)

पाप, पुण्य और बन्ध व्यवहार दशमें जीव और निश्चय नयके अनुसार अजीव हैं इसलिये इन्हे एकान्त अजीव या एकान्त जीव कहना मिथ्या है किन्तु ये क्यचित् जीव और क्यचित् अजीव हैं यही बात यथार्थ समझनी चाहिये जो इन्हें एकान्त अजीव कहता है वह अज्ञानी है ।

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकारका यदि व्यवहारनयसे नहीं किन्तु निश्चयनयके अनुसार पाप पुण्य और बन्धको अजीव कहनेका तात्पर्य्य हो तो इसमें क्या आपत्ति है ?

(प्ररूपक)

यदि भ्रमविध्वसनकारका यह तात्पर्य्य्य हो कि पाप, पुण्य और बन्ध निश्चय नय के अनुसार अजीव हैं परन्तु व्यवहारनयके अनुसार नहीं तो उनके कथनमें कुछ भी

दोष नहीं है किन्तु वह विलकूल यथार्थ है परन्तु एकान्त रूपसे पाप पुण्य और वन्ध अजीव कहना मिथ्या है । यही बात आश्रवके विषयमें भी है आश्रवको भी यदि अविध्वंसनकार एकान्त रूपसे जीव और अरूपी न कहें तो कोई भी आपत्ति नहीं है वह आश्रवको एकात अरूपी और जीव कहते हैं यह बात भगवान् के कथनसे ही प्रति कूल है शास्त्रका कथन यह है कि आश्रव न तो एकात जीव है और न एकात अजीव ही है किन्तु वह जीव और अजीव दोनों ही प्रकारका है । मिथ्यात्व, कपाय, और योग ये, आश्रव माने जाते हैं और मिथ्यात्व कपाय और योगको चतुस्पर्शी और काय योग को अष्ट स्पर्शी पुद्गल माना है अत आश्रव कदापि एकात रूपसे जीव नहीं हो सकत क्योंकि मिथ्यात्व, कपाय और योग जीव नहीं हैं । यदि आश्रवको कोई एकात अजीव कहे तो वह भी ठीक नहीं कहता क्योंकि मिथ्यादृष्टिभी आश्रव माना गया है और मिथ्या दृष्टि, अरूपी और जीवका परिणाम है इसलिये आश्रव जीव भी सिद्ध होता है अत आश्रवको एकान्त जीव, या एकान्त अजीव, एकान्त रूपी, या एकान्त अरूपी कहना मिथ्या है ।

(बोल ५ वां)

(प्रेरक)

अमविध्वंसनकारने ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ५ वें का मूलपाठ लिख कर आश्रव को एकात अरूपी जीव सिद्ध किया है ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

अमविध्वंसनकारने ठाणाङ्ग ठाणा ५ वें का जो मूलपाठ लिखा है उससे आश्रव एकात अरूपी और एकात जीव सिद्ध नहीं हो सकता । वह पाठ लिख कर बतलाया जाता है ।

“पंच आश्रव द्वारा पन्नत्ता तंजहा—मिच्छत्तं, अविरतो, पमादो, कसायो, जोगा”

(ठाणाङ्ग ठाणा ५)

अर्थ—

मिथ्यात्व, अवत, पूमा, कपाय, और योग ये पांच आश्रव द्वारके भेद हैं ।

इस पाठमें आश्रव द्वारके भेद मात्र का वर्णन है परन्तु आश्रव जीव है या अजीव है यह निर्णय नहीं किया है इसलिये इस पाठका नाम लेकर आश्रव को एकान्त जीव या अरूपी कहना भोले जीवोंको धोखा देना है ।

भगवती सूत्र शतक १० उद्देश ५ में मिथ्यात्वको चतुस्पर्शी पुद्गल माना है फिर मिथ्यात्व आश्रय एकांत जीव कैसे हो सकता है ? बरिष्ठ इस पाठसे तो आश्रयका अजीव होना ही सिद्ध होता है । दूसरा आश्रय द्वार अत्रत है । अठारह पापोंसे विलकुल नहीं हटनेका नाम अत्रत है । अठारह पाप चतु स्पर्शी पुद्गल माने गये हैं इसलिये दूसरा आश्रय द्वार भी अजीव ही सिद्ध होता है । प्रमाद और कयाय, मोहसे उत्पन्न हुई कर्म को प्रकृतिके नाम हैं और मोह कर्मको आत्मसे चतु स्पर्शी पुद्गल माना है इसलिये मोह कर्मसे उत्पन्न होने वाले प्रमाद और कयाय भी चतु स्पर्शी पौद्गलिक होनेसे अजीव ही सिद्ध होते हैं । पाचवा आश्रय द्वार योग है यह मन, वचन, और कायके भेदसे तीन प्रकारका है । मन और वचनके योगको चतु स्पर्शी और काय योगको अष्टस्पर्शी कहा है इसलिये योगाश्रय भी अजीव सिद्ध होता है अतः ठाणाद्ग सूत्र क उक्त पाठका नाम लेकर आश्रयको एकांत जीव बनाना अज्ञान समझना चाहिये ।

(बोल छट्टा समाप्त)

(प्रेरक)

श्रमविध्वसनकारने तीन दृष्टियोंका नाम लेकर मिथ्यात्व आश्रयको एकांत जीव और अरूपी बनलाया है ।

इसका क्या समाधान ?

(प्रश्नक)

भगवती सूत्र शतक १० उद्देश ५ में मूलपाठमें तीन दृष्टियोंको अरूपी और मिथ्यादर्शन शक्त्यको रूपी कहा है इसलिये मिथ्यात्व आश्रय एकांत अरूपी नहीं हो सकता । भगवतीका पाठ यह है —

“अहंभते । पेज्जे दोसे कलहे जाव मिच्छा दंसण सल्ले एसणं कव्वणो ४ जहेय कोहे तहेय चउफासे” (भग० शतक १० व० ५)

इस पाठमें भगवान्ने मिथ्यादर्शन शक्त्यको चतु स्पर्शी पौद्गलिक कहा है अतः मिथ्यात्व आश्रय रूपी भी है और अजीव भी है उसे एकांत अरूपी और जीव बनाना अज्ञान है ।

(प्रेरक)

भगवती सूत्र उक्त मूलपाठमें मिथ्यादर्शन शक्त्यको रूपी कहा है पण्डित यह आश्रय नहीं है आश्रय तो केवल मिथ्यादृष्टि है और वह अरूपी है फिर मिथ्यादर्शनके रूपी होनेसे आश्रय कैसे रूपी हो सकता है ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग ठाणा ५ के मूलपाठमे आश्रव द्वारका भेद वतलानेके लिये “मिच्छत्त” यह पाठ आया है इसका अर्थ है मिथ्यात्व, मिथ्यात्वसे जैसे मिथ्यादृष्टि का ग्रहण होता है उसी तरह मिथ्यादर्शन शल्यका भी—ग्रहण होता है इसलिये मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादर्शन शल्य ये दोनों ही आश्रव हैं केवल मिथ्यादृष्टि ही नहीं अतः मिथ्यात्व पदसे केवल मिथ्यादृष्टि ही ग्रहण करना और मिथ्यादर्शन शल्यका ग्रहण नहीं करना अप्रामाणिक है । मिथ्यादर्शन शल्य भी आश्रव है और वह रूपी है इसलिये मिथ्यात्व आश्रव को एकाग्र अरूपी वताना अज्ञान है ।

आश्रवके विषयमें भीषणजी और जीतमलजीने कई विरुद्ध धाते भी कह डाली हैं । भीषणजीने आश्रवको उदयभावमें माना है और मिथ्यादृष्टिको क्षयोपशम भावमें माना है अतः इनके मतानुसार मिथ्यादृष्टि आश्रव ही नहीं हो सकता क्योंकि मिथ्यादृष्टि क्षयोपशम भावमे है और आश्रव उदयभावमे है फिर ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं ? अतः भीषणजीकी यह प्ररूपणा पूर्वापर विरुद्ध है । भीषणजीके उक्त आशय का लेख यह है—

“आश्रवभाव दोय, उदय और पारिणामिक । मोहनीय कर्मरो क्षयोपशम दोय तो आठ बोल पामे चार चारित्र, एक देश व्रत और तीन दृष्टि”

इस लेखमे भीषणजीने आश्रवको उदयभावमें और मिथ्यादृष्टिको क्षयोपशमभाव में माना है तो भी मिथ्यादृष्टिको आश्रवमे मानना इनके अविवेकका पूर्ण उदाहरण समझना चाहिये ।

(बोल ७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३०९ पर उत्तराध्ययन सूत्रका मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ इहा पाच आश्रवने कृष्णलेइयाना लक्षण क्हाते माटे जे कृष्णलेइया अरूपी तेहना लक्षण पाच आश्रव ते पिण अरूपी छे” (भ्र० पृ० ३०९)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

कृष्णलेइया ससारी जीवका परिणाम है और ससारी जीवकी भगवती शतक १७ उद्देशा २ मे रूपी होना भी कहा है इसलिये कृष्णलेइया रूपी भी सिद्ध होती है अतः

सके लक्षण पाच आश्रय रूपी भी हो सकते हैं इसलिये कृष्णदेव्याके लक्षण होनेके कारण पाच आश्रयको एकात अरूपी कहना मिथ्यात्वका परिणाम है। संसारी जीव रूपी भी हैं इस विषयमें भगवती शतक १७ उद्देश २ का मूलपाठके सिवाय भगवती शतक २ उद्देश १ का मूलपाठ भी प्रमाण है वह पाठ यह है —

“जेऽवियते खंदयो ! जाव सअते जीवे अणतेजीवे तस्सवि-
पर्यं अयमट्ठे एवं खलु जाव दव्वओणं एगे जीवे सअंते खेत्तओणं
जीवे असंखेज्ज पएसिए असंखेज्जपएसोगाढे अत्थिपुण से अन्ते । भाव
काल ओणं जीवे नक्कदाह न आसी णिक्खे नत्थिपुण से अन्ते । भाव
ओणं जीवे अणंता णाणपज्जवा अणंता दंसण पज्जवा अणंता चारित्त
पज्जवा अणता अगुरु लहु पज्जवा णत्थिपुण से अन्ते । सेत्त दव्वओ
जीवेसअंते खेत्तओ जीवे सअन्ते कालओ जीवे अणंते भावओ
जीवे अणंते”

(भ० श० २ उ० १)

वर्णन—
हे स्कन्दक ! जीव सात है या अनन्त है तुम्हारे इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—जीव
अथवा एक और सान्त है क्षेत्रसे अर्थात् प्रदेशी और अर्थात् आकाश प्रदेशको व्याप्त किया हुआ
अथवा वह सात है । कालसे जीव अनन्त है क्योंकि वह सब कालमें विद्यमान रहता है कभी भी
इसका अभाव नहीं होता । भावसे जीव अनन्त है अनन्त ज्ञानपर्याय, अनन्त दर्शन पर्याय, अनन्त
चरित्र पर्याय, अनन्त लघु गुरु पर्याय, और अनन्त अगुरु अलघु पर्याय जीवके होते हैं अतः
भावसे जीव अनन्त है । सारांश यह है कि द्रव्य और क्षेत्रसे जीव सात और काल तथा भावसे
अनन्त है ।

यहां मूल पाठमें कहा है कि “जीवके अनन्त लघु गुरु पर्याय और अनन्त
अलघु अगुरु पर्याय होते हैं” इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि संसारी जीव रूपी भी है
क्योंकि अरूपी पदार्थके लघु गुरु पर्याय और अगुरु अलघु पर्याय नहीं हो सकते ।
इस पाठकी टीकामें टीकाकारने लिखा है—

“अनन्ता गुरुलघुपर्याया औदारिकादिशरीराण्याश्चित्त इतरेषु कार्मणानि
द्वयाणि जीव स्वरूपश्चाश्रित्येति”

अर्थात् औदारिकादि शरीरकी अपेक्षासे जीवके अनन्त लघु गुरु पर्याय बड़े गये
हैं और कार्मण आदि द्रव्य तथा जीवके स्वरूपकी अपेक्षासे अनन्त अगुरु अलघु पर्याय
कड़े गये हैं ।

इस टीकासे भी जीवका रूपी होना सिद्ध होता है । यद्यपि निश्चयनयसे निज स्वरूपापन्न जीव रूपी नहीं है किन्तु अरूपी है तथापि इस पाठमे उसका वर्णन न करके ससारी जीवका वर्णन किया गया है ससारी जीव औदारिकादि शरीरके साथ दूध पानी की तरह मिलकर एकाकार हुआ रहता है इस लिये इस पाठमे उसके अनन्त गुरु लघु और अनन्त अगुरु लघु पर्यायोका वर्णन है । कृष्ण रेश्या ससारी जीवका ही परिणाम है और ससारी जीव इस पाठमे रूपी भी कहा गया है इस लिये कृष्ण रेश्या रूपी भी है । कृष्ण रेश्या रूपी है इस लिये उसके लक्षण पाच आश्रव रूपी भी है उन्हे एकान्त अरूपी कहना शास्त्रसे विरुद्ध समझना चाहिये ।

उक्त पाठमे ससारी जीवका औदारिकादि शरीरके साथ अभेद होना सिद्ध होता है और औदारिकादि शरीर, पुण्य पाप तथा बंधकी प्रकृति माना जाता है इस लिये पुण्य पाप और बंधका भी कथंचित् जीव होना सिद्ध होता है । अतः इनको सर्वथा जीवसे भिन्न मानना मिथ्या है ।

शुभाशुभ कर्मकी प्रकृतिको भी पुण्य, पाप और बंध कहते हैं और वह कर्मकी प्रकृति, चतु स्पर्शी पौद्गलिक है इस लिये वह रूपी और जीवसे कथंचित् अभिन्न और कथंचित् भिन्न है उसे जीवसे एकान्त भिन्न मानना मिथ्या है । मिथ्यात्व, कपाय और योगको चतु स्पर्शी और काययोगको अष्ट स्पर्शी पुद्गल माना है । इस लिये ये सप्त रूपी और अजीव भी सिद्ध होते हैं एकान्त अरूपी और जीव नहीं अतः आश्रवमात्र को एकान्त अरूपी और एकान्त जीव कहना अज्ञानका परिणाम है । वस्तुतः किसी अपेक्षासे आश्रव, जीव और अरूपी है और किसी अपेक्षासे अजीव और रूपी है परन्तु एकान्त पक्षका आश्रय लेकर इसे एकान्त अरूपी और जीव मानना मिथ्यात्वका परिणाम है ।

(बोल ८ वां समाप्त)

(प्ररूपक)

मिथ्यात्व आश्रवको एकान्त जीव कहना भी भ्रमविध्वंसनकारका दुराग्रह और अपने सिद्धान्तसे ही प्रतिकूल है । ठाणाग सूत्रका मूल पाठ लिख कर पहले बतलाया जा चुका है कि ऐश्वर्यायिकी और साम्परायिकी ये दो क्रियाएँ अजीवकी हैं और साम्परायिकी त्रयाके भेदमें मिथ्यात्व और अमृत भी शामिल हैं इस लिये मिथ्यात्व और अमृतकी क्रिया अजीवकी क्रिया हैं इन्हें एकान्त जीवकी क्रिया मानना शास्त्रसे सर्वथा प्रतिकूल है ।

यद्यपि शास्त्रमें सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया जीवकी कही हैं तथापि जगत् स्पष्ट अर्थ टीकाकारने यह किया है—

“सम्यग्दर्शन मिथ्यात्वयोः सतोर्ध्वं भजनस्ते सम्यक्त्व मिथ्यात्व त्रयेति”

(ठाणाग ठाणा २ की टीका)

“सम्यग्दर्शन और मिथ्या दर्शनके होनेपर जो क्रिया की जाती है वह सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया है ।”

यह टीकाकारने सम्यग्दर्शन और मिथ्या दर्शनके होनेपर जो क्रिया की जाती है वह क्रिया चाहे जीवकी हो या पुद्गल की हो दोनोंको ही सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की क्रिया कहा है केवल जीवकी हो क्रियाको सम्यक्त्व और मिथ्यात्व क्रिया नहीं कहा है इन लिये केवल जीवकी ही क्रियाको सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया कहना मिथ्या है । वास्तवमें ज्ञान और इच्छाको छोड़कर सभी क्रियाएँ जीव और पुद्गल दोनों के व्यापारसे होती हैं कोई भी क्रिया अजीवके व्यापारको छोड़कर नहीं हो सकती, अन्तर सिर्फ इतना ही है कि किसी क्रियामें जीवके व्यापारकी मुख्यता होती है और किसीमें अजीवके व्यापारकी मुख्यता होती है । साम्प्रग्यिकी और ऐर्ष्यापथिकी क्रियामें अजीवके व्यापारकी ही प्रधानता है इस लिये ये दोनों अजीवकी क्रिया कही गई हैं इसी तरह सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रियामें अजीवका व्यापार अवश्य रहता है परन्तु वसुकी अपेक्षासे उनमें जीवका व्यापार ही प्रधान होता है इस लिये सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया जीवकी कही गई हैं उनमें सबेसा अजीवका व्यापार न हो यह बात नहीं है । ज्ञान और इच्छाको छोड़कर सभी क्रियाओंमें जीव और पुद्गल दोनोंके व्यापार होते हैं परन्तु जीवके व्यापारकी मुख्यताको लेकर किसीको जीवकी क्रिया और अजीवके व्यापारकी प्रधानताको लेकर किसीको अजीव क्रिया कहा है परन्तु दोनों ही प्रकार की क्रियाओंमें जीव और पुद्गल दोनोंके व्यापार होते हैं । आश्रय, क्रिया स्वरूप है और क्रिया जीव और पुद्गल दोनोंकी हैं इस लिये आश्रय जीव और अजीव दोनों ही प्रकारका है उसे एकान्त जीव कहना अज्ञान है ।

[बोल ९ समाप्त]

(प्रेरक)

धर्म विध्वंसनकार ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा १० के पाठकी साक्षीसे आश्रयको एकान्त जीव कहलाते हैं ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग ठाणा १० के मूल पाठकी साक्षीसे आश्रवको एकान्त जीव सिद्ध करना मिथ्या है । वह पाठ लिख कर यह बतलाया जाता है—

“धम्मो अधम्म सन्ना अधम्मो धम्म सन्ना”

अर्थ —

(ठाणाङ्ग)

धर्मम अधर्मका और अधर्ममें धर्मका ज्ञान अज्ञान कहलाता है ।

यहा विपरीत ज्ञानका स्वरूप समझाते हुए यह लिखा है कि “धर्ममें अधर्मका और अधर्ममें धर्मका ज्ञान अज्ञान है” इससे आश्रवका जीव होना सिद्ध नहीं होता क्योंकि इस पाठमें कहा हुआ विपरीत ज्ञान, क्षयोपशम भावमें है और आश्रव उदयभावमें है । भीषगजीने आश्रवको उदयभावमें माना है यह उनका लेख उद्धृत करके पहले बतला दिया गया है अतः उदयभावमें होने वाला आश्रव, अज्ञान या विपरीत ज्ञानकी तरह कदापि एकान्त जीव नहीं हो सकता । आश्रव, मोहकर्मके उदयभावमें माना गया है और मोहकर्म चतुःस्पर्शी पुद्गल है अतः आश्रव भी चतुःस्पर्शी पुद्गल है उसे एकान्त जीव मानना अज्ञान है ।

(बोल १० वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भगवती सूत्र शतक १७ उद्देश २ का मूलपाठ लिखकर उसकी साक्षीसे आश्रवको एकान्त जीव बतलाते हैं ।

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक १७ उद्देश २ के मूलपाठकी साक्षीसे आश्रवको एकान्त जीव बतलाना मिथ्या है । उस पाठमें आश्रवको एकान्त जीव नहीं कहा है वह पाठ इसी प्रकारके सातवें बोलमें लिख दिया गया है उसका भाव यह है—

१८ पाप और उनसे निवृत्ति, बुद्धिके चार भेद, अवग्रहादिक मति ज्ञानके चार भेद, उत्थानादिक पाच, चार गति, आठ कर्म, छ लेश्या, तीन दृष्टि, चार दर्शन, पाच ज्ञान, तीन अज्ञान, चार सङ्गाद, पाच शरीर, तीन योग और साकार तथा अनाकार इन ९६ बोलोंमें रहने वाला जीव दूसरा है और ये बोल दूसरे हैं, यह अन्य तीर्थियोंका मत है इसका खण्डन करते हुए भगवान्ने कहा है कि “एव खलु पाणाइवाए जाव मिच्छादसणसल्लेवट्टमाणे सच्चेव जीवे सच्चेव जीवाया”

अर्थात् प्राणातिपातसे लेकर मिथ्या दर्शन शल्य पर्यन्त ९६ बोलोंमें रहनेवाला वही जीव है और वही जीवात्मा है । इस पाठसे आश्रवको एकान्त जीव घताना भोले जीवोंको धोखा देना है । इस पाठमें ९६ बोलोंके साथ जीवात्माका कथचित् अभेद और कथचित् भेद घतलाया है आश्रवको एकान्त जीव नहीं कहा है । अतः इस पाठके आश्रव से आश्रवको एकान्त जीव मानना अज्ञान है ।

इस पाठमें जो ९६ बोल कहे गये हैं उनमें १८ पाप भी शामिल हैं । उक्त ९६ बोल और जीवात्मा कथचित् भिन्न और कथचित् अभिन्न हैं इस छिपे अठारह पाप भी कथचित् जीव और कथचित् अजीव हैं परन्तु तेरह पथके आचार्य जीतमलजी १८ पापोंको जीवसे एकान्त भेद मानते हैं यह इनका प्रत्यक्ष इस पाठसे विरुद्ध प्ररूपणा सम-झनी चाहिये ।

(बोल ११ वां समाप्त)

(प्रेरक)

शास्त्रमें रूपी अजीवको वही जीवका परिणाम कहा हो तो उसे घतलाइये ।

(प्ररूपक)

ठाणाङ्क सूत्रके दशवें ठाणेमें रूपी अजीवको जीवका परिणाम कहा है वह पाठ दीक्षाके साथ लिखा जाता है ।

“दसविहे जीवपरिणामे प० तं० गतिपरिणामे, इन्द्रिय परिणामे, कसाय परिणामे, लेप्ता परिणामे, जोगपरिणामे, उद्योग परिणामे, णाण परिणामे, दंसणपरिणामे, चरित्तपरिणामे, पेय-परिणामे”

(ठाणाङ्क ठाणा १०)

अर्थ —

जीवके परिणाम दस प्रकारके हैं — (१) गति परिणाम (२) इन्द्रिय परिणाम (३) कसाय परिणाम (४) लेप्ता परिणाम [५] योग परिणाम [६] उद्योग परिणाम [७] जोग परिणाम [८] दंसण परिणाम [९] चरित्त परिणाम [१०] पेय परिणाम ।

टीका —

“परिणामं परिणाम स्तव्भाव गमनमित्यर्थः । यद्वाद—“परिणामोऽस्मात्परिणामः । नच सर्वानव्ययस्थानान् नच सर्वथा विनाशः परिणामरतद्विनाशः” । राय प्राप्तेति गतिरिव परिणामो गति परिणामः एव सर्वान् गतिरूपेण गतिनामकगौड्यान्तरादिति ३५९-

दश हेतु । तत्परिणामश्चाभवक्ष्यादिति सचनरकगत्यादिश्चतुर्विध गतिपरिणामेच सत्येवेन्द्रिय परिणामो भवतीति तमाह “इन्द्रिय परिणामे” चि सचश्रोत्रादिभेदात्पञ्चधा इन्द्रिय परिणतौचेष्टानिष्टविषयसम्बन्धाद्वागद्वेप परिणति गिति तदनंतर कपाय परिणाम उक्त. सच क्रोधादिभेदाच्चतुर्विध । कपाय परिणामेच सति ऐश्या परिणतिर्नतु ऐश्या परिणतौ कपाय परिणति येन क्षीण कपायस्यापि शुक्ल परिणतिर्देशोन पूर्वकोटि यावद्भवति यतउत्तम्” मुहुत्तद् तु जहन्ना उकोसा होई पुक्व कोहीओ नरहि वरिसेहि उणा ना यव्वा शुक्लेस्साय (शुक्ल ऐश्याया जघन्यास्थिति मुहुत्तार्ध नवनपोंना पूर्व कोटी उत्तुष्ट ज्ञावज्या भवति) अतो ऐश्या परिणाम उक्त । सच कृष्णादिभेदात्पोढेति । अयञ्च यो परिणामेसति भवति यस्मान्तिरुद्धयोगस्य ऐश्या परिणामोऽपैति यत समुच्छिन्नक्रि ध्यानमल्लेश्यस्य भवतीति ऐश्यापरिणामानन्तर योगपरिणाम उक्त सचमनोराक्षा भेदान्त्रिधेति । ससारिणाञ्च योगपरिणतानुपयोग परिणति भवतीति तदनंतरमुपयोग परिणाम उक्त सच साकारानाकार भेदाद्विधेति । सतिचोपयोगपरिणामे ज्ञानपरिणामोऽस्तदनंतरमसावुक्त । सचाभिनिवोधिकादि भेदात्पञ्चधा तथा मिथ्यादृष्टे ज्ञानमप्यज्ञानमित्यज्ञानपरिणामो मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभगाज्ञानलक्षणस्त्रिविधोऽपि विशेषग्रहण माधर्म्याद्विज्ञान परिणाम ग्रहणेन गृहीतो द्रष्टव्य इति । ज्ञानाज्ञानपरिणामेचसति सम्यक्त्वादिपरिणतिरिति ततोदर्शन परिणामउक्त सचत्रिधा सम्यक्त्वमिथ्यात्वमिश्रभेदान् । सम्यक्त्वेसति चरित्रमिति ततस्तत्परिणामउक्त । सच सामायिकादिभेदात्पञ्चधेति । स्त्र्यादिवेद परिणामे चारित्र परिणामो ननुयामित्रपरिणामे वेदपरिणतिर्यस्माद्वेदकस्या यथारूपात् चारित्र परिणतिर्दृष्टति चारित्र परिणामान्तरं वेद परिणाम उक्त । सचस्त्र्यादि भेदात्त्रिविध इति ।”

अर्थ —

रूपान्तर प्राप्ति का नाम परिणाम है कहा है कि न तो सर्वथा अपने रूपमें स्थित रहना और न सर्वथा नाश हो जाना, किन्तु अपनेसे भिन्न किसी दूसरे रूपमें आ जाना परिणाम है । जीवका दूसरे रूपमें आना जीव परिणाम है वह गति आदिके भेदसे दस प्रकारका है । गति रूप जो जीवका परिणाम है वह गति परिणाम है इसी तरह सभी परिणामोमे समझना चाहिये । गति नामक कर्मके उदयसे नरक आदि व्यवहारका कारण जो जीवका परिणाम होता है वह गति परिणाम है । यह परिणाम जब तक भवका क्षय नहीं होता तब तक बना रहता है । यह नरक आदिके भेदसे चार प्रकारका होता है । गति परिणाम होनेके बाद इन्द्रिय परिणाम होता है इस लिये मूल पाठमें गति परिणामको कहकर पश्चात् इन्द्रिय परिणाम कहा है । श्रोत्र आदिके भेदसे इन्द्रिय परिणाम पाच प्रकार

का है। इन्द्रिय परिणाम होनेके बाद इष्ट और अनिष्ट वस्तुके सम्बन्धसे राग और द्वेष रूप परिणाम होता है अतः इन्द्रिय परिणामको कहकर कषाय परिणाम कहा गया है। वह श्रोत्र आदिके भेदसे चार प्रकारका है। कषाय परिणाम होने पर लेश्या परिणाम होता है अतः कषाय परिणामके बाद लेश्या परिणाम कहा गया है। वह लेश्या परिणाम कृष्ण आदिके भेदसे छः प्रकारका होता है। योग परिणाम होनेके बाद लेश्या परिणाम होता है क्योंकि जिसके योग रुक जाते हैं उसको लेश्या परिणाम नहीं होता इस लिये लेश्या परिणामके बाद ही योग परिणाम कहा गया है। योग परिणाम मन, वचन और कायके भेदसे तीन प्रकारका है। सम्तारी जीवोका योग परिणाम होनेपर उपयोग परिणाम होता है इस लिये योग परिणामके बाद उपयोग परिणाम कहा है। उपयोग परिणाम साकार और असाकारके भेदसे दो तरहका होता है। उपयोग परिणाम होनेके बाद ज्ञान परिणाम होता है इस लिये उपयोग परिणामको कहकर ज्ञान परिणाम कहा गया है। ज्ञान परिणाम, आभिनिबोधिका आदिके भेदसे पांच प्रकारका है। मिथ्या दृष्टियोंक मत्तज्ञान भुताज्ञान और विभगाज्ञान भी ज्ञान परिणामसे ही ग्रहण किये जाते हैं। ज्ञान और अज्ञान रूप परिणाम होने पर सम्यक्त्व और मिथ्यात्व आदि परिणाम होता है इस लिये ज्ञान परिणामको कहकर दृशन परिणाम कहा है, यह सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और मिथ्र भेदसे तीन प्रकारका है। सम्यक्त्व परिणाम होनेपर बाद चारित्र परिणाम होता है अतः सम्यक्त्व परिणामको कहकर पश्चात् चारित्र परिणामको कहा है। चारित्र परिणाम सामयिक आदि भेदसे पांच प्रकारका होता है। चारित्र परिणाम, चद परिणाम होनेपर होता है परन्तु चारित्र परिणाम होनेपर वेद परिणाम होनेका कोई नियम नहीं है क्योंकि वेद परिणाम रहित जीव में भी यथास्थान चारित्र दृष्टा जाता है अतः चारित्र परिणामके अनन्तर वेद परिणाम कहा गया है। वेद परिणाम स्त्री आदि मनुष्य तीन प्रकारका है।

यहां मूल पाठ और टीकामें जीवके दश विध परिणाम कहे हैं उनमें ज्ञान, दर्शन, और चारित्र परिणाम तो अरुणी और एकान्त जीव हैं और गति, कषाय, योग और वेद परिणाम रूपी और अजीव हैं। गति, कषाय, योग और वेद आत्माके साथ क्षीर नीर न्यायसे मिलकर एकाकार होकर रहते हैं इस लिये इन्हीं जीवका परिणाम कहा है यहां जो गति परिणाम कहा है वह गति नाम कर्मक उदयसे प्रग होने वाली नाक आदि चार गतियां समझनी चाहिये। टीकाकारने लिखा है—

“गतिश्चेह गतिनामकर्मादयान्नाकाराणि ध्यपदेशात् ।”

अर्थात् गति नाम कर्मके उदयसे उत्पन्न होने वाली नरक आदि व्यवहारका कारण यहा गति समझनी चाहिये” नरक आदि चार गतिया रूपी और अजीव हैं तो भी यहा वे जीवका परिणाम कही गई हैं इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि रूपी और अजीव भी जीवका परिणाम होता है ।

(बोल १२ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविज्यसतकार भ्रमविज्यसन पृष्ठ ३१४ पर ठाणाग ठाणा दशका मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखन है —

“इहा तो गति परिणामने भाये गतिने जीव कही, भाव इन्द्रिय, भाव कपाय, भाव योग, भाव वेद, ये सब जीवना परिणाम हैं” (भ० पृ० ३१४)

इनके कहनेका आशय यह है कि गति नाम कर्मके उदयसे उत्पन्न होने वाली नरक आदि चार गतिया अजीव हैं वे जीवका परिणाम नहीं हो सकती इसलिये ठाणाग ठाणा दशके मूलपाठमे जो जीवका गत्यादि परिणाम कहा है वह भावरूप गत्यादि सम-समझना चाहिये द्रव्य रूप नहीं । इसी तरह द्रव्य इन्द्रिय, द्रव्य कपाय, द्रव्य योग और द्रव्य वेद भी अजीव हैं वे कदापि जीवके परिणाम नहीं हो सकते इसलिये ये भी भाव रूप ही जीवके परिणाम समझने चाहिये द्रव्य रूप नहीं ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ठाणाग ठाणा दशके मूलपाठमे जो गति, कपाय, और इन्द्रिय आदिको जीवका परिणाम बतलाया है उसका अभिप्राय भाव गति, भाव, कपाय, और भाव इन्द्रिय बतला कर द्रव्य गति, द्रव्य कपाय और द्रव्य इन्द्रियको जीवका परिणाम नहीं मानना मूलपाठ और टीकासे विरुद्ध होनेसे अप्रामाणिक है । टीकाकारने गतिके विषयमें स्पष्ट लिखा है कि—

“गतिश्चेह गतिनामकर्मोदयान्नारकादिव्यपदेशहेतु ”

अर्थात् “यहा गति शब्दसे, गति नाम कर्मके उदयसे उत्पन्न होने वाली नरकादि व्यवहारका कारण जो गति है वह समझनी चाहिये”

यहा टीकाकारने नाम कर्मके उदयसे उत्पन्न होने वाली नरकादि गतिको जीवका परिणाम बतलाया है इसलिये भाव गत्यादिको ही जीवका परिणाम मान कर द्रव्यगत्यादिको जीवका परिणाम न मानना मूलपाठ और टीकासे विरुद्ध समझना चाहिये ।

दूसरी बात यह है कि रूपी अरूपी सिद्ध करनेके लिये द्रव्य और भावकी रूपना करना व्यर्थ है । द्रव्य होनेके कारण कोई वस्तु रूपी नहीं होती और भाव होनेसे अरूपी नहीं हो जाती । द्रव्य होनेसे यदि रूपीकी वृत्तना की जाय तो धर्म द्रव्य, अवर्म द्रव्य और काल द्रव्य भी रूपी मानने पड़े ग क्योंकि ये सब द्रव्य हैं । यदि भाव होनेके कारण किसीको अरूपी मान लिया जाय तो वह भी ठीक नहीं है क्योंकि तोष, मान, माया, लोभ आदि भाव रूप हैं उन्हें औदयिक भावोंमें गिना गया है, परन्तु वे अप्रस्पृश्या रूपी हैं । तात्पर्य यह है कि कोई कोई द्रव्य भी अरूपी होता है और कोई कोई भाव भी रूपी होता है । ऐसी हालतमें भ्रमविध्वंसनकार जो अरूपी सिद्ध करनेके लिये भाव की रूपना करत हैं वह सर्वथा असंगत और शास्त्र न जानने का परिणाम समझता चाहिये ।

(बोल १३ वां समाप्त)

(प्ररूपक)

यहां यह शङ्का होनी है कि गति, क्पाय और योग चतुस्पर्शा और अप्रस्पृशी पुङ्गव माने गये हैं पुङ्गव जीव नहीं किन्तु अजीव हैं फिर गति, क्पाय और योग को जीवका परिणाम यहां कैसे कहा है ? तो इसका उत्तर यह है —

गुरु लघु पर्याय, अप्रस्पृशी और अगुरु अलघु पर्याय चतुस्पर्शी पुङ्गव हैं तथापि जैसे जीवके साथ एकाकार होकर रहनेसे इन्हे भगवती शतक २ उद्देश १ में जीवका पर्याय कहा है उसी तरह जीवके साथ मिल कर एकाकार होकर रहनेसे गति आदिको ठाण्ठा ठाणा दशमें जीवका परिणाम कहा है । भगवती शतक २ उद्देश १ का मूल पाठ यह है —

“भावजोषां जीवे अनन्ता नाण पञ्जवा अनन्ता द सण पञ्जवा
अनन्ता चारित्त पञ्जवा अनन्ता गुरु लघु पञ्जवा अनन्ता अगुरु अलघु
पञ्जवा”

(भगवती शतक २ उ० १)

अर्थ —

भाव जीवक अनन्त ज्ञान पर्याय, अनन्त दर्शन पर्याय, अनन्त चारित्त पर्याय, अनन्त गुरु लघु पर्याय और अनन्त अगुरु अलघु पर्याय हैं ।

यहां भाव जीवके अनन्त गुरु लघु पर्याय और अनन्त अगुरु अलघु पर्याय कहे हैं । गुरु लघु पर्याय और अगुरु अलघु पर्याय प्रमश अप्रस्पृशी और चतुस्पर्शी

पुद्गल है तथापि जीवके साथ एकाकार होकर रहनेसे जैसे इन्हे भाव जीवका पर्याय कहा है उसी तरह दुग्ध जलवत् जीवके साथ मिल कर एकाकार होकर रहने से गति आदिको ठाणाग ठाणा १० में जीवका परिणाम कहा है अतः गति आदि को भावरूप मान कर द्रव्य गति को जीव का परिणाम नहीं मानना मिथ्या समझना चाहिये ।

[बोल १४ वां समाप्त]

(प्रसन्न)

पञ्चाङ्गा सूत्रके पाचवें पदमे मनुष्य जीवके वर्ण, गन्ध, आदि पर्याय भी कहे हैं वह पाठ यह है —

“मनुस्साणं भन्ते ! केवढ्या पज्जवा पणत्ता ? गोयमा ! अनन्ता पज्जवा पणत्ता । सेकेणट्ठेणं भन्ते ! एवं बुच्चइ मणुस्साणं अणन्ता पज्जवा पणत्ता ? गोयमा ! मणुस्से मणुस्स दब्बट्ठयाए तुल्ले पएसट्ठयाए तुल्ले ओगाहण ट्ठयाए चउट्ठाण वड्डिए ठीए चउट्ठाण वड्डिए वन्नगंधरसफासआभिणिवोहियणाणओहिणाणमनपज्जवणाण केवलणाण पज्जवेहिं तुल्ले तिहिं दंसणेहिं छट्ठाण वणिए केवल दंसण पज्जवेहिं तुल्ले”

(पञ्चावणा पङ् ५)

इस पाठमे मनुष्य जीवके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श, पर्याय कहे हैं । वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श रूपी और पौद्गलिक हैं वो भी क्षीर नीरकी तरह जीवके साथ मिले हुए होनेसे इन्हे जीवका पर्याय कहा है उसी तरह ठाणाग ठाणा दशमें, जीव के साथ मिले हुए होनेसे गति आदिको जीवका परिणाम कहा है ।

भगवती शतक १२ उद्देशा १० मे आत्माको रूपी और अरूपी दोनो ही प्रकार का कहा है वह पाठ यह है ।

“कइ विहाणं भन्ते ! आया पणत्ता ? गोयमा ! अट्ठविहा आया पणत्ता तंजहा—दवि आया, कसायाया, जोगाया, उपयोगाया, णाणाया, दंसणाया, चरिताया, वीरियाया”

(भगवती शतक १२ उ० १०)

अर्थ —

हे भगवन् ! आत्मा के प्रकारका होता है ?

हे गोतम ! आत्मा आठ प्रकारका है [१] द्रव्यात्मा [२] कषायात्मा [३] योगात्मा [४] उपयोगात्मा [५] ज्ञानात्मा [६] दानात्मा [७] चारित्र्यात्मा [८] बोध्यात्मा ।

यह आठ प्रकारका आत्मा कहा गया है। इनमें कषाय, और योग क्रमशः चतुःस्पर्शी और अष्टस्पर्शी पुद्गल हैं और दोनों ही रूपी हैं इसलिये आत्मा रूपी भी सिद्ध होता है। कषाय और योग रूपी हैं इसलिये कषायाश्रय और योगाश्रय भी रूपी हैं अतः आश्रयको एकान्त अरूपी मानना सर्वथा ग्राह्यमे प्रतिकूल समझना चाहिये ।

बोल १५ वां समाप्त

(प्रेरक)

भ्रमनिर्व्विमतकार भ्रम० पृष्ठ ३१५ पर लिखत हैं कि—

त मष्टि कषाय अने योग आत्मा कही ते भाव कषाय भाव योगने क्या छै ।।

भाव कषाय तो आश्रय छै ।”

इनके फइनेका तात्पर्य यह है कि उक्त भगवनी सूत्र का मूलपाठमें जो कषाय और योगको आत्मा कहा है वह भाव कषाय भाव योग समझना चाहिये । भाव कषाय ही आश्रय है और वह अरूपी है इसलिये आश्रय अरूपी है ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवनी सूत्र शतक १२ उद्देश १० का मूलपाठ १५ वें बोलमें लिख दिया गया है उस पाठमें सामान्य रूपसे लिखा है कि “कषाय और योग आत्मा हैं।” भाव कषाय और भाव योग आत्मा हैं ऐसा वह नहीं लिखा है इसलिये भाव कषाय और भाव योग को आत्मा मान कर द्रव्य कषाय और द्रव्य योगको आत्मा न मानना भ्रमविश्वसनकार का अज्ञान है। उस पाठकी टीका और टिप्पणमें भी नहीं कहा है कि “भाव कषाय और भाव योग ही आत्मा हैं” तथा दूसरी जगह भी कषाय और योगका द्रव्य भाव रूप में नहीं किया गया है अतः भ्रमविश्वसनकार की पूर्णतः कल्पना अप्रामाणिक और मिथ्या है ।

यदि कोई कहे कि “कषाय और योग क्रमशः चतुःस्पर्शी और अष्टस्पर्शी रूपी हैं, वे आत्मा नहीं हो सकते क्योंकि आत्मा अरूपी है” तो यह ठीक नहीं है। भगवनी आदि सुत्रोंका प्रमाण देकर यह बतला दिया गया है कि सत्तारी आत्मा रूपी भी होता है इसलिये कषाय और योगके क्रमशः चतुःस्पर्शी और अष्टस्पर्शी रूपी होने पर भी आत्मा होनेमें कोई सन्देह नहीं है ।

(बोल १६ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भगवती शतक १२ उद्देशा १० मे भाव आत्माके आठ भेद कहे हैं द्रव्य आत्मा के नहीं । भाव आत्मा अरूपी है इसलिये कषाय और योग भी भावरूप ही आत्माके भेद हैं, द्रव्य कषाय योग नहीं । भाव रूप कषाय योग अरूपी हैं इसलिये कषाय-श्रव और योगाश्रव भी अरूपी हैं रूपी नहीं । अतः भ्रमविध्वंसनकारने जो भाव रूप कषाय और योगको आत्माका भेद माना है वह ठीक ही मालूम होता है ।

(प्ररूपक)

भगवती शतक १२ उद्देशा १० मे आत्ममात्रके आठ भेद कहे हैं केवल भाव आत्माके ही नहीं । वहा द्रव्य और भावका कुछ जिक्र भी नहीं है इस लिये भगवती सूत्रोक्त आत्माके आठ भेद भाव आत्माके हैं यह फल्पना निर्मूल है । यदि तुम्हारी बात मानकर भगवती सूत्रमे भाव आत्माके ही आठ भेद मान लिये जाय तो योग नामक तीसरा भेद व्यर्थ ठहरता है क्योंकि भाव योगको भीषणजीने वीर्य्य स्वरूप माना है, वह वीर्य्य नामक आठवा भेद अलग कहा गया है उसीमे भाव योग भी शामिल हो जाता है फिर उसे अलग करनेकी क्या आवश्यकता है ? भीषणजीने भाव योगको वीर्य्य स्वरूप माना है वह गाथा यह है—

“योग वीर्य्य तणो व्यापार तिणसुं अरुपी छे भाव जीव ”

भ्रम विध्वंसन पृष्ठ ३१८ में जीतमलजीने लिखा है —

“अने उत्थान, कर्म, बल, वीर्य्य, पुरुषाकार पराक्रम, फोडवे तेहिज भाव योग छै”

भीषणजी और जीतमलजीने भाव योगको वीर्य्य स्वरूप माना है वह वीर्य्य नामक आत्माका भेद जब कि कह दिया गया है तो उससे अलग योग नामक भेद कहने की क्या आवश्यकता है क्योंकि वीर्य्य नामक भेदमे ही भाव योग भी गतार्थ हो जाता है अतः भीषणजी और जीतमलजीका भाव योगको ही आत्माका भेद मानकर द्रव्य योगको आत्माका भेद नहीं मानना नितान्त अज्ञान समझना चाहिये ।

भगवती शतक १३ उद्देशा ७ मे संसारी आत्माका शरीरके साथ कश्चित् अमेद कहा गया है । वह पाठ—

“आयाभन्ते ! काया अण्णे काया ? गोयमा ! आयाविकाए
अण्णे वि काए । रूवी भन्ते ! काए अरूवीकाए ? गोयमा ! रूवीवि-
काए अरूवीविकाए”

(टीका)

“आयागते । काण” इत्यादि । आत्मा काय कायेन कृतस्यानुभवना न्नहान्येन-
कृतमन्योऽनुभवत्यनुभवाभ्यागमप्रसगात् । अथान्य आत्मन काय कायैकदेशच्छे-
दपि संवेदनस्य सम्पूर्णत्वेनाभ्युपगमादिति प्रश्न । उत्तरतु आत्मापि काय कदाचित्त-
द्व्यतिरेकान् क्षीर नीरघत् अन्यय पिण्डघत् काश्चनौपलब्धा अतएव कायरूपशै-
ल्यत्वात्मन संवेदन भवति । अतएव कायेन कृत मात्मना भगान्तरे वेशते अत्यन्त भेदे-
वाऽऽहताभ्यागम प्रसग इति । “अण्णेऽविजाण” ति अत्यन्ता भेदहि शरीराशच्छेदे जीवा-
शच्छे प्रसग तथाच संवेदनस्यामपूर्णतात्वात् तथा शरीर दाहे आत्मनोऽपि दाहेन पर-
लोका भाग प्रसग इत्यत्र कदाचिदन्योऽप्यात्मन काय इति । अन्यैस्तु कर्मण काय-
मात्रित्यात्माकाय इति उच्यते । कर्मण कायस्य ससाध्यात्मनश्च परस्परान्यभि-
चारित्वेनैकरूपत्वात् । “अण्णेऽविजाण” ति औदारिकादिकाया पेश्या जीवादन्य काय-
तद्विमोचनेन तज्जेद मिद्धेति “रुक्खीकाण” ति रूप्यपि काय औदारिकादि कायस्थूल-
रूपापेश्या । अरूप्यपि काय कर्मण कायस्यातिसूक्ष्मरूपित्वेनारूपित्व विवक्षणात् ।”

अथ —

हे भगवन् ! आत्मा शरीरमे भिन्न है वा शरीर स्वरूप है ?

हे गोतम ! आत्मा कदाचित् शरीर स्वरूप है और कदाचित् शरीरसे भिन्न भी है ।

इस प्रश्नोत्तरका अभिप्राय यह है —

आत्मा शरीर स्वरूप है क्योंकि शरीरसे किये हुए का अनुभव आत्माको होता है । यदि आत्मा शरीरसे जुड़ा होता तो शरीरसे किये हुए का आत्माको अनुभव नहीं होता क्योंकि दूसरेसे किये हुएका अनुभव दूसरे को नहीं होता अत आत्माका शरीर स्वरूप होना सिद्ध होता है ।

आत्मा शरीरसे भिन्न है क्योंकि शरीरके किसी अवयवका विच्छेद होने पर भी ज्ञानका विच्छेद नहीं होता किन्तु ज्ञान पूर्णरूप में ही होता है । यदि आत्मा और शरीर एक होते तो शरीरके किसी अवयवका विच्छेद होने पर सम्पूर्ण रूपसे ज्ञानका उदय नहीं होता । अत आत्मा शरीरसे भिन्न है । ये दो परस्पर विरुद्ध बातोंको देख कर आत्मा और शरीरके भेद और अभेदका प्रश्न किया गया है । इसका उत्तर यह है —

आत्मा, कदाचित् शरीर स्वरूप भी है क्योंकि मिले हुए दूध, जलकी तरह आग और लौह पिण्डकी तरह पत्थर और सोनेकी तरह आत्मा शरीरसे एकाकार होकर रहता है । अतएव शरीरका स्पर्श होने पर उसका ज्ञान आत्माको होता है और शरीर से किये हुएका फल आत्माको जन्मान्तरमें मिलता है । यदि शरीर के साथ आत्मा का

अत्यन्त भेद हो तो शरीरके कर्मका फल आत्माको कदापि नहीं मिल सकता । दूसरों के कर्मका फल दूसरों को नहीं मिलता । अतः आत्मा शरीरसे कथञ्चित् अभिन्न है ।

यदि आत्माको शरीरके साथ सर्वथा अमेद मान लिया जाय तो शरीरके किरा अवयवका छेद हो जाने पर आत्माके अङ्गका भी छेद मानना पड़ेगा और आत्माके अङ्गका छेद मानने पर सम्पूर्ण रूपमें ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती और शरीरके दाह होने पर आत्माका भी दाह मानना पड़ेगा ऐसी दृष्टिमें आत्माके परलोक होने का अभाव होगा अतः आत्मा कथञ्चित् शरीरसे भिन्न भी है ।

किसी किसी टीकाकारने कर्मण शरीरके साथ आत्माका अमेद मान कर 'आय विष्णवे' इसकी व्याख्या की है । उनका आशय यह है कि "ससारी आत्मा और कर्मण शरीर क्षीर नीरकी तरह मिले हुए होनेसे अभिन्न मालूम होते हैं—इसलिये यह आत्माको शरीर स्वरूप कहा है ।"

"औदारिकादि शरीरको आत्मा छोड़ देता है इसलिये औदारिकादि शरीरसे आत्माको जुदा मान कर "अण्वेविष्णवे" यह पाठ कहा है ।" औदारिकादि स्थूल शरीर रूपी है उसकी अपेक्षासे कायको रूपी कहा है । कर्मण शरीरका रूप अत्यन्त सूक्ष्म है इसलिये उस रूपकी अविज्ञप्ता करके काय को अरूपी भी कहा है । यह उक्त मूलपाठके टीकाका अर्थ है ।

यहां मूलपाठ और टीकामें ससारी आत्माको शरीरसे कथञ्चित् अभिन्न माना है अतः ससारी आत्माका रूपी होना भी सिद्ध होता है । जब कि ससारी आत्मा कथञ्चित् रूपी भी है तब फिर रूपमाले कपाय और योग के भेद क्यों नहीं हो सकते हैं ? अतः भाव कपाय और भाव योगको आत्माका भेद मान कर द्रव्य कपाय और द्रव्य योगको आत्माका भेद न मानना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये ।

अनुयोग द्वारा सूत्रमें, कर्मके उदयसे कपाय और योगकी उत्पत्ति कही गई है । कर्मके उदयसे उत्पन्न होने वाले पदार्थ न तो एकान्त जीव हैं और न एकान्त अजीव हैं वे कथञ्चित् जीव और कथञ्चित् अजीव दोनों ही तरहके हैं इसलिये कपाय और योगको एकान्त अजीव या एकान्त जीव बताना मिथ्या है ।

शास्त्रकारोंने मिथ्यात्व अत्रत कपाय और योगको कहीं तो जीव, और कहीं अजीव कहा है । जहां जीव कहा है वहां जीवाश्रयी प्रधानता और जहां अजीव कहा है वहां मुद्गग्लाघ की प्रधानता समझनी चाहिये परन्तु एकान्त जीव या अजीव शास्त्रका आशय नहीं है ।

(बोल १७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

अभविध्वंसनकार अनुयोग द्वार सूत्रकी मूलपाठ लिख कर उमकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ ईहां उदयरा दो भेद पहा उदय, अने उदय निष्पन्न, उदय ते आठ कर्म नी प्रकृति से उदय, अने उदय निष्पन्नरा दो भेद जीव उदय निष्पन्न अजीव उदय निष्पन्न” यह लिख कर आग लिखते हैं —

“इहा तो चौहे कपाय, मिथ्यादृष्टि, अज्ञा, योग इया सर्वाने जीव पहा छै त मादे सर्व आत्रव छै इण न्याय आत्रव जीव छै (भ० पृ० ३१७)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

मिथ्यात्व, कपाय, अज्ञत और योगको, जीवाशकी मुख्यताको लेकर जीवोदय निष्पन्न पहा है । ये एकान्त जीव हैं इनमें पुद्गलोका सर्वथा अभाव है यह शास्त्रका तत्त्व नहीं है क्योंकि कारणके अनुरूप ही कार्य होता है मिट्टीसे मिट्टीका ही घडा बनता है—मोनेका नहीं बनता । आठ प्रकारकी कर्मकी प्रकृतियोंका उदय चतु स्पर्शी पौद्गलिक माना गया है इसलिये उससे उत्पन्न होने वाले पदार्थ भी चतु स्पर्शी पौद्गलिक ही होंगे एकात अरूपी और एकात अपौद्गलिक नहीं हो सकते । मिथ्यात्व, अज्ञत कपाय और योग आठ प्रकारकी कर्मकी प्रकृतियोंके उदयसे उत्पन्न होते हैं इस लिये अपने कारणके अनुसार ये रूपी और चतु स्पर्शी पौद्गलिक हैं एकात अरूपी और अपौद्गलिक नहीं हैं तथापि जीवाशकी मुख्यताको लेकर शास्त्रमें इन्हें जीवोदय निष्पन्न पहा है । इसलिये इन्हें एकात जीव और अरूपी मानना मिथ्या है । टीकाकारने स्पष्ट रूपसे यह बात दर्शायी है वह टीका यह है —

“ननुयथा नरकत्वादय पर्याया जीवे भवन्तीति जीवोदय निष्पन्ने औदयिके पठ्यन्ते एव शरीराण्यपि जीवे एव भवन्तीति तत्रापि तत्रैव पठनीयानिरुधु किमिति अजीवोदयनिष्पन्ने अधीयन्ते ? । अस्त्येतत् किन्त्वौदारिकादिशरीरनामकमौदय स्य मुरयतया शरीर पुद्गलेष्वेव विपाक दर्शनात् तन्निष्पन्न औदयिको भाव शरीर लक्षणोऽजीवे एव प्राधान्या इर्शित इत्यदोष ।”

(प्रश्न) अर्थात् जैसे नरक आदि पर्याय जीवमें होते हैं इसलिये वे जीवोदय निष्पन्न औदयिक भावमें पड़े गये हैं उसी तरह शरीर भी जीवमें ही उत्पन्न होता है इसलिये उसे भी जीवोदय निष्पन्न औदयिक भावमें ही पठना चाहिये ।

उसे अजीवोदय निष्पन्न औदयिक भावमें क्यों पडा गया है ?

(उत्तर) ठीक है परन्तु औदारिक आदि शरीर नाम धर्मके उदयका विपाक, मुख्य रूपसे शरीर पुद्गलोंमें ही देखा जाता है इसलिये उससे (शरीर नाम कर्मके उदय से) उत्पन्न हुए भाव को शरीर रूप अजीवमें ही प्रधानतासे दिखलाया गया है इसलिये कोई दोष नहीं ।

इस टीकामें टीकाकारने शरीरको अजीवोदयनिष्पन्न औदयिक भावमें कहने का कारण बतलाते हुए यह स्पष्ट लिखा है कि “यद्यपि शरीर भी जीवोदय निष्पन्न औदयिक भाव कहा जा सकता है तथापि उसमें पुद्गलाशकी मुख्यता होनेसे अजीवोदय निष्पन्न कहा है ।”

इस टीकाकारकी उक्तिसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि शास्त्रमें जीवाशकी मुख्यताको लेकर जीवोदय निष्पन्न और पुद्गलाशकी मुख्यताको लेकर, अजीवोदय निष्पन्न कहा है परन्तु किसीको एकात अजीव या एकात जीव कहनेका तात्पर्य नहीं है । जीवोदय निष्पन्न पदार्थों में जीवाशकी मुख्यता और अजीवोदय निष्पन्नमें पुद्गलाशकी मुख्यता मात्र समझनी चाहिये परन्तु जीवोदय निष्पन्नमें पुद्गलाशका और अजीवोदय निष्पन्न में जीवाशका सर्वा अभाव नहीं है । इसी प्रधानताको लेकर ही शास्त्रमें उदयभावके जीवोदय निष्पन्न और अजीवोदय निष्पन्न नामक दो भेद किये हैं एकात जीव या एकात अजीवको लेकर नहीं अतः जीवोदयनिष्पन्न भावको एकात जीव और अजीवोदय निष्पन्नको एकात अजीव बतलाना मिथ्या है ।

(बोल १८ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वसनकार भ्रम विध्वसन पृष्ठ ३२० पर अनुयोग द्वार सूत्रके पाठकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अने भाव सयोग जे ज्ञानादिक ना भला भावने सयोगे तथा क्रोधादिक माठा भावने सयोग नाम ते भाव सयोग कहा तिहा भान क्रोधादिकने सयोगे क्रोधी मानो मायी लोभी कछो ते माटे ए ज्ञानादिक भाव कहा ते जीव छै तिम भाव क्रोधादिक विण जीव छै । एतला भाव क्रोधादिक ४ कहा ते जीवरा भाव छै ते कपाय आश्रव छै ते माटे कपाय आश्रवने जीव कही जे”

(भ्र० पृ० ३२०)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

यद्यपि क्रोध, मान, माया और लोभ भाव रूप कहे गये हैं तथापि ये सिर्फ आत्माके ही धर्म नहीं हैं क्योंकि सिद्धात्माओंमें इनका सदेवा अभाव है और केवल

पुद्गलोंके भी धर्म नहीं है क्योंकि आत्म संसर्ग रहित पुद्गलोम इनका सद्भाव नहीं देखा जाना इस लिये पुद्गल संसर्ग विरहित आत्माके ये धर्म हैं । पुद्गल संसर्ग विशिष्ट आत्मा रूपी ससारी और वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श आदिस युक्त माना गया है इस लिये उसके धर्म क्रोधादि भाव भी एकान्त अरूपी नहीं हो सकने । दूसरी बात यह है कि क्रोधादि भाव कर्मों के उदयसे उत्पन्न होते हैं । कर्म रूपवान् हैं इस लिये उससे उत्पन्न होने वाले क्रोधादि भाव भी रूपवान् हैं एकान्त अरूपी नहीं हैं । यदि कोई ज्ञानादि गुण का दृष्टान्त देकर क्रोधादि भावको भी एकान्त अरूपी कह तो उसे कहना चाहिये कि ज्ञानादि गुण कर्मके उदयसे नहीं किन्तु कर्मके क्षय, उपशम और क्षयोपशमसे उत्पन्न होते हैं और सिद्ध जीवोंमें भी पाये जाते हैं इस लिये ज्ञानादि, अरूपी और आत्माके मौलिक गुण हैं परन्तु क्रोधादि भाव ऐसे नहीं हैं वे कर्मों के उदयसे उत्पन्न होते हैं और सिद्धात्माओंमें नहीं होते इस लिये वे ज्ञानादि गुणके समान एकान्त अरूपी नहीं हो सकते । यदि भाव रूप कहे जानेसे कोई क्रोधादि भावको एकान्त अरूपी कहे तो उसे कहना चाहिये कि भाव रूप होनेसे न कोई एकान्त अरूपी हो जाता है और न द्रव्य रूप होनेसे रूपी ही होता है यह हम पहले ही उदाहरणके साथ बतला चुके हैं अतः भाव रूप होनेसे क्रोधादिको एकान्त अरूपी कहना अज्ञा है ।

(बोल १९ वां समाप्त)

(प्रेरक)

१ भ्रम विध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन वृष्ट ३०१ पर अनुयोग द्वार सूत्रका मूलपाठ लेख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखने हैं—

“अथ इहा भाव लाभरा २ भेद कथा । प्रशस्तभावनो लाभते ज्ञान, दर्शन, चारित्र-
तो अने अप्रशस्त माठा भावनोलाम क्रोध, मान, माया, लोभनो लाभ । इहा क्रोधादिकने
भाव लाभ कथा छै त माटे ए भाव क्रोधादिकने भाव कपाय कहीजे ते भाव कपायने
कपाय आश्रव कहीजे । तथा अनुयोग द्वार सूत्रमे इम कथो—सावज्ज जोग विरइ” ते
सावज्ज योगयकी निवर्तते सामायक । इहा योगाने सावज्ज कथा अने अजीवने तो सावज्ज
पिण न कहीजे । सावज्ज निरवज्ज तो जीवने इज कहीजे । इहा योगाने सावज्ज कथा ते
माटे ए भाव योग जीवछै अने योग आश्रव छै इण न्याय योग आश्रवने जीव कहीजे”

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

अनुयोग द्वार सूत्रके मूल पाठमे क्रोध, मान, माया और लोभके लाभको अप्रशस्त भावका लाभ कहा है । यह क्रोधादिको भाव रूप कहा है यह देखकर जीतमलजी इन्हें अरूपी बतलाते हैं परन्तु यह मिथ्या है । पहले बतला दिया गया है कि भाव रूप होनेसे न कोई एकान्त अरूपी होता है और द्रव्य रूप होनेसे न कोई एकान्त अरूपी ही हो जाता है किन्तु अपने कारणके अनुरूप सभी कार्य्य होते है क्रोध, मान, माया और लोभ कर्मों के उदयसे उत्पन्न होते हैं इस लिये अपने कारणके अनुसार ये रूपी और पौद्गलिक हैं । यदि ये रूपी और पौद्गलिक नहीं हैं तो फिर इन्हे आत्मा का मूलगुण कहना होगा और आत्माका मूलगुण माननेपर सिद्धात्माओंमें भी इनको स्वीकार करना पड़ेगा क्योंकि आत्माके मौलिक गुणोंका कभी भी नाश नहीं होता जैसे ज्ञानादि गुण आत्माके मौलिक गुण हैं अत वे सिद्ध होनेपर भी आत्मामे मौजूद रहते हैं उसी तरह क्रोध, मान, माया और लोभ भी सिद्धात्मामे मानने होंगे परन्तु यह बात जीतमलजीको भी इष्ट नहीं है अत कर्मके उदयसे उत्पन्न होने वाले क्रोधादि भाव पौद्गलिक हैं एकान्त अरूपी नहीं हैं यद्यपि ये आत्माके गुण रहे गये हैं तथापि इन्हें पुद्गल ससर्ग विशिष्ट आत्माका गुण समझना चाहिये शुद्ध आत्माका गुण नहीं । तात्पर्य्य यह है कि क्रोधादि भाव आत्माके मौलिक गुण नहीं किन्तु पुद्गल और आत्मके ससर्ग से उत्पन्न होते है इस लिये ये एकान्त जीव और एकान्त अरूपी नहीं हो सकते । ज्ञान दर्शन और चारित्र तो आत्माके मौलिक गुण हैं और ये पुद्गलके ससर्गसे उत्पन्न नहीं होते हैं तथा उनके कारण भी कर्मों का क्षय, उपशम और क्षयोपशम हैं कर्मों का उदय नहीं है इसलिये ज्ञानादि गुण एकान्त अरूपी और जीव हैं इनके दृष्टान्तसे क्रोधादि भावोंको एकान्त अरूपी और जीव बताना अज्ञान है ।

इसी तरह सावयको एकान्त अरूपी और जीव बताना भी मूर्खता है । सुयगदाग सूत्रमें १२ प्रकारकी साम्परायिकी क्रिया और १ प्रकारकी ऐर्यापथिकी इन १३ क्रियाओं को अजीव कहा गया है और भ्रमविध्वंसनकारने भी अ० पृ ३१० मे ठाणागका मूल पाठ लिखकर इन क्रियाओंको अजीव त्रिया कहा है और ये १३ क्रियाएं सावय मानी गई हैं इसलिये सावयका अजीव होना भी सिद्ध होता है । सुयगदाग सूत्रमें उक्त क्रियाओंको सावय कहा है । वह पाठ यह है—

“एव खलु तस्स तप्पत्तिथं सावज्जंति आहिज्जइ दुवालसमे
किरियट्ठाणे लोभवत्तिएत्ति आहिए”

(सुयगदाग)

यही पाठ साम्प्रदायिकी क्रियाके लिये भी आया है इस पाठमें साम्प्रदायिकी और एर्थापयिकी क्रियाको भी सावग कहा है अतः निश्चित होता है कि सानय रूपी और अजीव भी है उसे एकान्त अरूपी और जीव मानना अज्ञानियोका काम है ।

(बोल २० समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३०० पर उवाई सूत्रका मूलपाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ इहा अकुशल मनने माठा मनने रुधवो कह्यो । कुशल मन प्रवर्तविणो कह्यो । इमपिण वचन कह्यो । अकुशल मनने रुधवो कह्यो ते अजीवने किम रुधे पिण एतोजीव है ।”

इनके कहनेका भाव यह है कि योग प्रतिसलीनता नामक तपमें आया हुआ योग एकान्त अरूपी और जीव है इस लिये आश्रव एकान्त जीव और अरूपी है ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उवाई सूत्रके मूलपाठमें मन, वचनका योगके समान कायका योग भी कहा हुआ है परन्तु भ्रमविध्वंसनकारने काय योगके पाठको छोड़कर अधूरा पाठ लिखा है । काय योग प्रत्यक्ष ही रूपी और अजीव है और वह भी योगप्रतिसलीनता नामक तपमें कहा हुआ योगमें शामिल है इस लिये योग प्रतिसलीनता नामक तपमें आये हुए योग को एकान्त अरूपी और एकान्त जीव बताना मिथ्या है । उवाई सूत्रका पूर्ण पाठ इस प्रकार है—

“सेकितं मणजोगपडिसंलीनया ? अकुसलमनणिरोहोवा, कुसल मनउदीरणंवा सेत मणजोगपडिसलीनया । सेकितं वयजोगपडिसंलीनया ? असकुलवयणिरोहोवा कुसलवयउदीरणंवा सेतं वय जोगपडिसंलीनया । सेकितं कायजोगपडिसलीनया ? जण्णं सुस-माहितापाणिण कुम्भोइव गुत्तिदिण सव्वगायपडिसंलीने चिट्ठह से तं कायजोगपडिसलीनया”

(उवाई सूत्र)

अर्थ —

[प्रश्न] मनोयोग प्रतिसलीनता किसे कहते हैं ?

[उत्तर] अकुशल मनको रोकना और कुशल मनको प्रवृत्त करना, मनोयोग प्रतिसलीनता है ।

[प्रश्न] वचनयोग प्रतिसलीनता किसे कहते हैं ?

[उत्तर] अकुशल वचनको रोकना और कुशल वचनको प्रवृत्त करना वचनयोगप्रतिसलीनता है ।

[प्रश्न] काययोगप्रतिसलीनता किसको कहते हैं ?

[उत्तर] हाथ पैर आदि अंगवर्षोंको सुसमाहित रखना तथा बच्छपकी तरह अपनी इन्द्रिय और अंगवर्षोंको संकुचित रखना “काययोग प्रतिसलीनता” है ।

यहां अकुशल मन वचन और कायके योगको रोकना तथा कुशल मन वचन और कायके योगको प्रवृत्त करना योगप्रतिसलीनता नामक तप कहा गया है परन्तु जीतमलजी लिखते हैं कि “अजीवने किम रू धे पिण एजीव ह्यै” यदि अजीव नहीं रोका जा सकता तो इस पाठमें अकुशल कायके योगका निरोध करना क्यों कहा गया है ? क्योंकि शरीर और उसकी इन्द्रिया तो जीतमलजीके मतमें भी प्रत्यक्ष ही एकान्त अजीव और पौद्गलिक है । यदि अजीव होनेपर भी शरीर और इन्द्रिया रोकी जा सकती हैं तो फिर मन और वचन भी अजीव होनेपर क्यों नहीं रोके जा सकते ? अतः इस पाठमें अकुशल मन वचनको रोकनेके लिये कथन होनेसे मन और वचनके योगको एकान्त जीव और अरूपी यताना भिद्यता है ।

दूसरी बात यह है कि भगवती शतक १३ उद्देश ७ में वचनको अजीव और रूपी कहा है इसलिये वचनका योग रूपी और अजीव है । वह पाठ यह है—

“आयाभते ! भासा अण्णा भासा ? गोयमा ! णो आया भासा
अण्णा भासा ! रूपी भंते ! भासा अरूपो भासा ? गोयमा ! रूपी
भासा णो अरूपी भासा”

अर्थ —

[प्रश्न] हे भगवन् ! भाषा, (वचन) आत्मा है या अन्य है ?

[उत्तर] हे गोतम ! भाषा आत्मा नहीं है, आत्मासे अन्य है ।

[प्रश्न] हे भगवन् ! भाषा (वचन) रूपवती है या अरूपवती है ?

[उत्तर] हे गोतम ! भाषा रूपवती है अरूपवती नहीं है ।

इसी तरह मनके विषयमें भी पाठ आया है । वह पाठ यह है—

“आया भन्ते ! मणे अण्णे मणे णो आया मणे अण्णे मणे”

अर्थ —

हे भगवन् ! मन आत्मा है या आत्मासे भिन्न है ?

हे गौतम ! मन आत्मा नहीं है किन्तु वह आत्मासे भिन्न है ।

उक्त पाठमें मन और वचनको रूपी और आत्मासे भिन्न कहा है इस लिये उनके योग भी रूपी और अजीव हैं इस लिये मन वचन और योगको एकान्त अरूपी और जीव मान कर आश्रवको एकान्त जीव कहना अज्ञान है । भाव मन और भाव वचनकी कृत्युक्ति लगा कर आश्रवको एकान्त जीव और अरूपी बताना भी मिथ्या है क्योंकि मूलपाठमें भाव होनेसे किसीको एकान्त अरूपी और जीव नहीं कहा है और प्र य होनेसे किसीको एकान्त रूपी और अज व भी नहीं कहा है अतः शास्त्र विरुद्ध आश्रवको एकान्त अरूपी और जीव मानना मिथ्यात्वका परिणाम समझना चाहिये ।

[बोल २१ समाप्त]

(प्रेरक)

आश्रवको जीव और अजीव दोनों ही प्रकारका नहीं कहा हो तो उसे उदाहरण सहित बतलाइये ?

(प्ररूपक)

ठाणाग सूत्रकी टीकामें आश्रवको जीव और अजीव दोनोंमें ही माना है । वह टीका यह है—

“नव सम्भावे” त्यादि सदभावेन परमार्थेनानुपचारेणेत्यर्थः पण्यो यस्तूनि नव सदभावपदार्थास्तथा जीवा सुगन्धु सन्नानोपयोगलक्षणा अजीवास्तद्विपरीता पुण्य शुभप्रवृत्तिरूप कर्म, पापं तद्विपरीत कर्म य । आश्रयते गृह्यते कर्माज्जेत्याश्रव शुभाशुभ कर्मादान हेतुगति भाव । सवर आश्रवनिरोधो गुत्त्यादिभि निर्जग विपावाचपसावा कर्मणा देशत क्षणवा वन्ध आश्रवोत्तस्य कर्मण आत्मना सयोग । मोक्ष एतस्मिन् कर्म-क्षयादात्मन स्वात्मन्यधिष्ठानम् । ननु जीवाजीव व्यतिरिक्ता पुण्यादयोनसति तथा पुण्य-मानत्वात् तथाहि—पुण्य पापे कर्माणि वन्धोऽपि तदात्मकत्व । कर्मस्य पुद्गल परिणाम पुद्गलाच्चाजीवा इति । आश्रवस्तु मिथ्यादर्शनादिरूप परिणामो जीवस्य सधामानं पुद्गलादय विरह्यकोऽन्य । सवगोऽपि आश्रवनिरोधलक्षणो देशमरगोदात्मन परिणामो निवृत्तिरूप । निर्जग तु कर्म परिशादोजीव कर्मणा यत्पार्थक्य सापेक्ष्यनि रप-क्षयत्वा । मोक्षोऽप्यारमा समस्त कर्म विरहित इति सम्भाजीवाजीवो सदभावपदार्थानि

वस्तव्यम् अतएवोक्तमिदं “यद्वर्ति चण लोए संसव्व दुप्पडोयारं तज्जहा—जीवञ्चेअ अजीवञ्चेअ अथोच्यते सत्यमेतत् त्रिन्तु द्वावेव जीवाजीव पदार्थौ सामान्येनोक्तौ तावे-
वेह विरोपतो नवधोक्ताविति”

अर्थ —

पदार्थ नौ प्रकारके हैं (१) जीव (२) अजीव (३) पुण्य (४) पाप (५) आश्रय (६) संवर (७) निर्जरा (८) बन्ध (९) मोक्ष । सुख दुःख ज्ञान और उप-
योग लक्षण पदार्थको जीव कहते हैं और उससे भिन्न पदार्थका नाम अजीव है । शुभ
प्रकृति रूप कर्म ‘पुण्य’ और अशुभ प्रकृति रूप कर्म पाप कहलाते हैं । शुभ और अशुभ
दोनों ही प्रकारके कर्मोंका ग्रहण जिससे होता है उसे “आश्रय” कहते हैं । शुक्ति आदिके
द्वारा आश्रयको रोक देना ‘संवर’ है । विपाक या तपस्यासे देशसे कर्मों का क्षपण करना
निर्जरा है । आश्रयके द्वारा ग्रहण किये हुए कर्मों का आत्माके साथ संयोग होना ‘बन्ध’
कहलाता है । सब कर्मों के क्षय होनेपर आत्माका अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता
‘मोक्ष’ है ।

(शका)

उक्त नव ही पदार्थ जीव और अजीव नामक दो ही पदार्थमें शामिल हो जाते
हैं । इन्हें अलग कहनेकी क्या आवश्यकता है ? पाप और पुण्य कर्मस्वरूप हैं और बन्ध
भी कर्म स्वरूप ही है कर्म पुद्गलोंका परिणाम है पुद्गल अजीव हैं इसलिये पाप,
पुण्य और बन्ध ये तीनों पदार्थ अजीवमें गतार्थ होते हैं । मिथ्या दर्शनादि रूप आश्रय
जीवका परिणाम है वह जीव और पुद्गलोंको छोड़कर अन्य क्या हो सकता है ?
(अर्थात् आश्रय कोई तो जीवका परिणाम है और कोई पुद्गलका परिणाम है अतः वह
जीव और अजीव दोनोंमें ही गतार्थ है) देश या सर्वसे आश्रयको रोकने काला निवृत्ति-
स्वरूप संवर भी जीवका ही परिणाम है । कर्मों का परिणामन रूप निर्जरा भी जीव स्व-
रूप ही है क्योंकि जीव ही अपनी शक्तिसे कर्मों को अपनेसे पृथक् कर देता है । मोक्ष
भी जीवस्वरूप ही है क्योंकि समस्त कर्मों से रहित हुआ जीव ही मोक्ष माना जाता है इस
प्रकार उक्त नौ ही पदार्थ जीव और अजीव नामक दो ही पदार्थमें शामिल हो जाते हैं ।
यहां भी है—छोकमें जो कुछ देखा जाता है वह कोई तो जीव और कोई अजीव है ।

(उत्तर)

यह सत्य है परन्तु सामान्य रूपसे संक्षेपमें बतलाये हुए जीव और अजीव पदार्थों
का ही यहां विशेष रूपसे उल्लेख करके उनका प्रपञ्च समझाया गया है इस लिये यहां जो

पदार्थोंका तो भेद किया है इसमें कोई दोष नहीं है । वास्तवमें पदार्थ जीव और अजीव दो ही हैं ।

यहां टीकाकारने आश्रमके विषयमें लिखा है कि “सचात्मानं पुद्गलाच्च विरह्य्य कोऽन्य” अर्थात् वह आश्रम आत्मा और पुद्गलोंको छोड़कर अन्य क्या है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है । आश्रम, आत्मा और पुद्गल इन दोनोंका परिणाम स्वरूप ही है यह टीकाकारका आशय है इस लिये आश्रमको एकान्त जीव मानना इस टीकासे विरुद्ध समझना चाहिये । यद्यपि टीकाके इस पूर्वोक्त वाक्यके पहले आश्रमके सम्बन्धमें यह वाक्य आया है कि “आश्रवस्तु मिथ्यादर्शनादिरूप परिणामो जीवस्य” तथापि इस वाक्यमें “परिणामो जीवस्य” इसमें दो तरहका सन्धि विच्छेद है—“परिणाम जीवस्य” परिणाम अजीवस्य” इन दोनों ही प्रकारका छेद करके आश्रमको जीव और अजीव दोनोंका परिणाम बताना टीकाकारको इष्ट है । यदि आश्रमको केवल जीवका ही परिणाम बताना इष्ट होता तो टीकाकार यह कैसे लिखत कि “सचात्मानं पुद्गलाच्च विरह्य्य कोऽन्य । अतः टीकाकारका “परिणामो जीवस्य” इसमें पूर्वोक्त रीतिसे द्विविध सन्धिका विच्छेद करना तात्पर्य है । परन्तु जीवमलजीने भोले जीनोंको ध्रममें डालनेके लिये इस टीकाके “सचात्मानं पुद्गलाच्च विरह्य्य कोऽन्य” इस वाक्यका अर्थ नहीं करके केवल “आश्रवस्तु मिथ्या दर्शनादिरूप परिणामो जीवस्य” इसीका अर्थ करके छोड़ दिया है और वह अर्थ भी “परिणाम जीवस्य” इस विच्छेदके अनुसार ही किया है “परिणाम अजीवस्य” इस विच्छेदके अनुसार नहीं किया है अतः आश्रमको एकान्त अजीव कहना उनका अज्ञान समझना चाहिये ।

बोल २२ वां समाप्त

(प्रत्यक्ष)

भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशा १ में पाठ आया है कि—“दुस्ती दुस्तेण कुडे नो अदुस्ती दुस्तेण कुडे” अर्थात् कर्मों से युक्त पुरुष ही कर्मका स्पर्श करता है परन्तु अकर्म पुरुष, कर्मका स्पर्श नहीं करता” यदि अकर्म (कर्म रहित) पुरुषको भी कर्मका स्पर्श हो तो सिद्धात्मा पुरुषोंमें भी कर्मका स्पर्श मानना पड़ेगा । परन्तु यह ध्यान नहीं होती अतः निश्चित होता है कि कर्म भी कर्मक ग्रहण करनेमें कारण होनेसे आश्रम हैं । तथा भगवती में इस पाठके आगे यह पाठ आया है कि “दुस्ती दुस्तेण पणियायद” अर्थात् कर्मसे युक्त मनुष्य कर्मका ग्रहण करता है” इस पाठसे कर्मका आश्रम होना सिद्ध होना है । कर्म पौद्गलिक अजीव है इस लिये आश्रम, पौद्गलिक अजीव भी सिद्ध होना है उसे एकान्त जीव मानने बाड़े अज्ञानी हैं ।

इसके पहलेके बोलमे ठाणाङ्ग सूत्रकी टीकाकी साक्षी देकर जो पाप, पुण्य और बन्धको अजीवमे, और सवर, मोक्ष तथा निर्जराको जीवमे एव आश्रवको जीव ओर अजीव दोनो ही में गतार्थ किया है वह निश्चय नयके अनुसार सम्झना चाहिये क्योंकि व्यवहारनय में पाप, पुण्य और बन्ध को आत्मा का परिणाम भी कहा है । वह पाठ यह है ।

“अहमंते ! पाणाइवाए सुसावाए जावमिच्छादंसणसल्ले,
पाणाइवायवेरमणे जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे उप्पत्तिया जाव
परिणामिया उग्गहे जावधागणा उट्ठाणे कम्मे वले वीरिए पुरिसक्कार
परक्कमे णेरइयत्ते असुर कुमारत्ते जाव वेमाणियत्ते णाणावरणिज्जे
जाव अन्तराइए कण्हत्तेस्सा जाव सुक्कलेस्सा समदिट्ठिए ३ चक्खु
दंसणे ४ ओरालिय सरीरे ५ मण जोगे ३ सागारोवयोगे जेयावण्णे
तहप्पगारा सव्वेत्ते णणत्थ आत्ताए परिणमन्ति ? हंता ! गोयमा !
पाणाइवाए जाव सव्वेत्ते णणत्थ आत्ताए परिणमन्ति ।”

अर्थ —

(भगवतो शतक २० उद्देश ३)

हे भगवन् ! प्राणातिपात और मृषा वादसे लेकर मिथ्यादर्शन शल्य पर्यन्त, और प्राणा-
तिपात विरमणसे लेकर यावत् दिव्या दर्शन शल्य विनेक पर्यन्त, ओत्पात्तिकी यावत् परिणामिकी,
अवग्रह यावत् धारणा, उत्थान, बल, धीर्य, कर्म, पुरुषाकार पराक्रम, नैरयिक्त्व, बाहुर कुमारत्व,
यावत् धैर्यात्मिकत्व, ज्ञानावराणीय यावत् आन्तरायिक, कृष्ण देश्या यावत् शुक्ल लेश्या, सम्य-
ग्दृष्टि आदि तीन, चतुर्दशानि चार, आभिनिघोधिकादि पाच ज्ञान, यावत् विभंग ज्ञान आहारादि
चार संज्ञाए औदारिकादि पाच शरीर, मनोयोगादि तीन योग, साकार और अनाकारोपयोग ये
सप्त पदार्थ क्या आत्माके ही परिणाम हैं ?

[उत्तर] ॥ गोतम ! प्राणातिपातसे लेकर उक्त सभी बोल आत्माके ही परिणाम हैं दूस-
रेके नहीं ।

इस पाठमे प्राणातिपातसे लेकर अनाकारोपयोग पर्यन्त सभी आत्माके ही परि-
णाम कहे हैं इसलिये पुण्य पाप और बंध भी व्यवहारनयमें जीव हैं इन्हें एकात अजीव
कहना अज्ञानका परिणाम है ।

बोल २३ वां समाप्त

(इति आश्रवाचिकारः समाप्तः)

अथ जीवाजीवादि पदार्थ विचारः ।

(प्रारम्भिक)

जैन शास्त्रमें, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रय, संवर, निर्जरा वध और मोक्ष ये नव तत्त्व माने गये हैं। ये नव ही तत्त्व, किसी न्यायसे रूपी और किसी न्यायसे अरूपी हैं। इसका विवेक नीचे लिखे अनुसार समझना चाहिये।

जीव, निश्चयनयसे अरूपी और व्यवहार नयसे रूपी है। कौण्डिन्यादि शरीर धारी प्राणियोंको जीव कहते हैं और वे रूपी हैं अतः व्यवहार नयसे जीव रूपी है। सिद्धात्मा, रूपरहित होते हैं और वे भी जीव हैं इसलिये निश्चय नयसे जीव निर्गुण निर्गुण और रूप रहित है। ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा दोमे जीवके दो भेद किये हैं एक संसारी और दूसरा निष्ठ उनमें संसारी जीव रूपी और निष्ठ अरूपी हैं।

अजीव पदार्थ भी रूपी और अरूपी दो तरहका है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल ये अरूपी हैं और पुद्गल रूपी है।

पुण्य और पाप, रूपी और अरूपी दो तरहके हैं। आत्माका, अन्तादि दान करनेके लिये जो शुभ अध्यवसाय होता है वह पुण्य है। उक्त शुभ अध्यवसाय अरूपी है इसलिये पुण्य अरूपी है। ४२ प्रकारकी पुण्यकी प्रकृति अनन्त पुद्गलोंके स्वयंसे उत्पन्न होती हैं अतः शुभकरणीसे उत्पन्न हुआ पुण्य रूप फल रूपी है। हिंसा आदि करनेके लिये जो दुराध्यवसाय या आत्मपरिणाम होता है वह पाप है वह अध्यवसाय अरूपी है इसलिये पाप अरूपी है। पापका फल जो ८२ प्रकृतियोंका उदय है वह भी पाप फल होता है और वह रूपरान् है इसलिये पाप रूपी भी है।

आश्रय भी रूपी और अरूपी दो तरहका होता है शुभ, और अशुभ अध्यवसाय, छ. भाग हेतुयाए, मिथ्यात्व आदि जीवके परिणाम ये सब कर्मवन्धके कारण होनेसे आश्रय कहलाते हैं ये रूपी नहीं हैं इसलिये आश्रय अरूपी है। कर्म और अजीवकी २५ क्रियाए, छ द्रव्यहेतुया, मिथ्यात्व आदि कर्मकी प्रकृति ये सब कर्मवन्धके कारण होनेसे आश्रय कहे जाते हैं ये सब रूपी हैं इसलिये आश्रय भी रूपी है।

संवर भी रूपी और अरूपी दो प्रकारका होता है। सम्यक्त्व, धन, अन्नमांस, अकपाय और अयोग ये सब संवर कहे जाते हैं। ये जीवके गुण और अरूपी हैं इस-

लिये सवर भी अरूपी है । जबरूपी तालाबमें आने वाले कर्मरूपी जलको रोक देना संवर है और रुके हुए कर्म, रूपी हैं इसलिये सवर रूपी-भी है ।

निर्जराभी रूपी और अरूपी दो प्रकारकी होती है । आत्माके किसो एक देशसे कर्मों का झड़ जाना और कर्मों के झड़ जानेसे आत्म प्रदेशका निर्मल हो जाना निर्जरा है । वह आत्म प्रदेश अरूपी है इसलिये निर्जरा अरूपी है । आत्म प्रदेशसे झड़े हुए कर्म पुद्गल भी निर्जरा कहलाते हैं वे रूपी हैं इसलिये निर्जरा भी रूपी है ।

बन्ध भी रूपी और अरूपी दो तरहका होता है । शुभ और अशुभ कर्मों के बन्ध का हेतु जो आत्म परिणाम है वह "बध" कहलाता है वह आत्म परिणाम अरूपी है इसलिये बध भी अरूपी है । शुभ और अशुभ कर्मकी प्रकृतियोंके बन्धनको भी "बध" कहते हैं । कर्मकी प्रकृति रूपी है इसलिये बध भी रूपी है ।

मोक्ष भी रूपी और अरूपी दो प्रकारका है । आत्मा का कर्मबन्धन से सर्वथा छुट कर अपने सहज रूपमें स्थित हो जाना मोक्ष है वह आत्माका स्वाभाविक रूप है और आत्मा अरूपी है इसलिये मोक्ष अरूपी है । जो कर्म, आत्मासे पृथक् हो जाते हैं वे भी मुक्त कहे जाते हैं वे कर्म रूपी हैं इसलिये मोक्ष भी रूपी है । इस प्रकार नौवीं पदार्थ किसी अपेक्षासे रूपी और किसी अपेक्षासे अरूपी है ।

(बोल १ समाप्त)

(प्ररूपक)

सुरयनयसे चार पदार्थ रूपी चार अरूपी और एक मिश्र है ।

भगवती शतक १२ वद्वेशा ५ में, आठ कर्म, अठारह पापस्थानक, दो योग, तैजस और कार्मण शरीर, सूक्ष्म स्कन्ध, इन तीस बोलोंमें पाच वर्ण, पाच रस, दो गंध और चार स्पर्श बतलाए हैं । घनोदधि घनवात, तनुवात, चार शरीर, वादर स्कन्ध, छ^० द्रव्यदेइया, और फाय योग इनमें पाच वर्ण, दो गंध, पाच रस और आठ स्पर्श कहे गये हैं । आठरह पापोंसे विरमण, बारह उपयोग, ७ भाव देइया, चार सज्ञाए औत्पत्यादिक बुद्धिके चार भेद, अवग्रहादिक चार मतिज्ञान, उत्थानादिक चार, तीन दृष्टि, धर्मास्ति-फाय, अधर्मास्तिफाय, जीरान्तिफाय, और फाल इनको वर्ण, गंध, रस और स्पर्श रहित होनेसे अरूपी कहा है । अत पुण्य, पाप, और बंध ये तीन कर्म स्वरूप होनेसे रूपी हैं । छ^० द्रव्यदेइया, तीन योग, पाच शरीर, हिंसा, मृषावाद, चोरी, मिथुन, परिग्रह ये सब रूपी हैं और आश्रय हैं इसलिये आश्रय भी रूपी है ।

यद्यपि छ भावत्रेया, मिथ्यादृष्टि, और चार मत्ता आदि भी आश्रय हैं और वे अरूपी हैं तथापि मुख्यतयमे ये रूपी ही माने जाते हैं क्योंकि आश्रयको त्यागनेयोग्य कहा है और त्याग रूपी वस्तुका ही होता है इसलिये मुख्यतयमें आश्रय रूपी है अरूपी नहीं । आश्रय उदयमात्रमे माना गया है इसलिये परगुण होनेसे वह रूपी है अरूपी नहीं । मन, और माया, चतु स्पर्शी और अष्टस्पर्शी माने गये हैं और वे भी आश्रय हैं इसलिये निश्चयनयमें आश्रय रूपी हो है अरूपी नहीं है । अठारह पापोंसे निवृत्त हो जाना सत्तर है वह अरूपी है । निर्जरा और मोक्ष आत्माके स्वाभाविक गुण हैं इसलिये अरूपी हैं । जीव, निश्चयनयसे निराकार और निरञ्जन है इसलिये जीव, सत्तर, मोक्ष, और निर्जरा ये चार निश्चय नयमें अरूपी हैं ।

अजीव पदार्थमें पर्मास्तिभाव, अधर्मास्तिभाव, आकाश और काल ये चार अरूपी हैं और पुद्गल रूपी है इसलिये निश्चयनयमें अजीव तत्त्व, रूपी और अरूपी दोनों ही प्रकारका है ।

[बोल २ रा]

उक्त नौ ही पदार्थ किसी अपेक्षासे जीव माने जाते हैं । किसी अपेक्षा से एक जीव और आठ अजीव माने जाते हैं । किसी अपेक्षासे आठ जीव और एक अजीव माना जाता है । किसी अपेक्षासे चार जीव और पांच अजीव माने जाते हैं परन्तु मुख्यतयमें एक जीव, एक अजीव और शेष सात पदार्थ जीव और अजीव इन दोनोंके पर्याय माने जाते हैं ।

इसका सुल्लासा इस प्रकार समझना चाहिये ।

जीव और अजीव आदि पदार्था व वास्तविक स्वरूपको “तत्त्व” कहते हैं उसके ज्ञानका नाम तत्त्वज्ञान है वह तत्त्वज्ञान जीवरूप है इसलिये तत्त्वज्ञानकी अपेक्षासे नौ ही पदार्थ जीव माने जाते हैं । जीव अनुयोग द्वार सूत्रमें शब्दादि तीन नयगालोक मतमे आत्माके उपयोगको “पायली” कहा है और आत्माका उपयोग आत्मस्वरूप है इसलिये पायलीको भी आत्मा कहा है उसी तरह नवतन्त्रोंका जो उपयोग है वही नवतत्त्व है और वह उपयोग जीव है इसलिये शब्दादि तीन नयगालोके मतमे नव ही तत्त्व जीव हैं ।

किसी अपेक्षासे एक जीव और आठ पदार्थ अजीव है । एक तो अजीव पदार्थ स्वतः सिद्ध हो है बाकीके सात पदार्थोंका द्रव्य, पुद्गल स्वरूप है इसलिये एक जीव और आठ पदार्थ अजीव हैं ।

(किसी अपेक्षासे एक अजीव और आठ जीव हैं)

इसका विचार इस प्रकार है —उक्त नव तत्त्वोमे एक तो जीव सिद्ध है बाकी, अजीव तत्त्वको छोड़कर मय जीव हैं क्योंकि पन्नासगा सूत्रके पाचमे पदमें ३६ बोलो को आत्माका पर्याय कहा है । भगवती शतक १३ उद्देशा ७ मे कायको आत्मा, सचेतन और जीव कहा है । आवश्यक सूत्रमें “सचित्त आहारो” यह पाठ देकर आहारको सचित्त कहा है । अथर्वती शतक २० उद्देशा ९ में ११६ बोलोंको जीवात्मा कहा है । वे बोल ये हैं—

अठारह पाप और अठारह पापोसे विरमण, औत्पातिकी आदि चार बुद्धि, अव-
प्रहादिक मति ज्ञानके चार भेद, उद्गाणादिक पाच वीर्य नारकी आदि चौबीस दण्डक,
ज्ञानावरणादिक आठ कर्म, छ लेख्या, त न दृष्टि, चार दर्शन, पाच ज्ञान, तीन अज्ञान,
चार संज्ञा, पाच शरीर, तीन योग, दो उपयोग ये ११६ बोल जीवात्माके परिणाम हैं ।

इन बोलोंमें पाप, पुण्य, आश्रव, संवर, ध्व, मोक्ष, निर्जरा सभी शामिल हैं इस
लिये आठ जीव हैं और एक अजीव है ।

ठाणग सूत्रके दूसरे ठाणामें कालको जीव और अजीव दो तरहका माना है वहा
कहा है कि जीवके साथ सम्बन्ध रखने वाले काल, धूप, छाया, भवन, विमान आदि
जीव हैं और अजीवके साथ सम्बन्ध रखने वाले पूर्वोक्त काल आदि अजीव हैं । ससारी
जीव पुण्य, पाप आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये आठ पदार्थ कर्म और काया
को छोड़कर नहीं रहत किन्तु इनके साथ ही रहते हैं । अत ये आठ पदार्थ जीव, हैं
और एक अजीव है ।

[बोल ३]

(किसी अपेक्षासे चार जीव और पाच अजीव हैं)

पुण्य, पाप, आश्रव और ध्व, जीवके निज गुण नहीं हैं किन्तु कर्मके परिणाम
रूप होनेसे ये दूसरेके गुण हैं । अत निश्चय नयमे ये चारो अजीव हैं संवर, निर्जरा
और मोक्ष ये आत्माके निज गुण हैं इस लिये गुण गुणोंके अभेद न्यायसे निश्चय नयमें
ये जीव हैं । अनुयोग द्वार सूत्रमें लिखा है कि—

“जीवगुणप्पमाणे तिविहे पन्नत्ते तजहा—नाणगुणप्पमाणे
दंसणगुणप्पमाणे चरित्तगुणप्पमाणे”

अर्थात्, ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये तीनो आत्माके निजगुण हैं इस लिये गुण
गुणोंके अभेद होनेमे ये भी जीव हैं । उत्तराध्ययन सूत्रके २८ वें अध्ययनमे जीवका
लक्षण बताते हुए लिखा है कि—

**“जीव उपयोग लक्षणं” नाणं च दंसणं जीव चरित्तव तवो
तहा वोरियं य उपयोगो य एयं जीवस्स लक्षणं”**

अर्थात् ज्ञान दर्शन चारित्र तप वीर्य और उपयोग, ये जीवके लक्षण हैं । अतः गुण गुणीके अभेद होनेसे ये भी जीव हैं ।

आचाराग सूत्रके पाचवें अध्यायमें मूलपाठ आया है कि “जे आया से विन्नाया” अर्थात् जो आत्मा है वही विज्ञान है । इस लिये विज्ञान भी आत्मा है ।

भगवती सूत्र शतक १ ऋषि ९ में महावीर स्वामीके स्थितिरोने कालाङ्ग-वैशिक मुनिसे कहा है कि “आयाण अजो सामादए आयाण अजो सामादयस्स अट्ठो” अर्थात् है आर्यो । आत्मा ही सामायक है और आत्मा ही सामायकका प्रयोजन है । इसी तरह समय, प्रत्याख्यान, चारित्र और व्युत्सर्ग ये सब भी आत्मा कहे गये हैं । अतः सत्त्व, निर्जरा और मोक्ष आत्माके निज गुण होनेसे जीव हैं । पाप, पुण्य, आश्रय और बन्ध ये कहीं भी निश्चय नयमें आत्माके निज गुण नहीं कहे हैं किन्तु कर्मक परिणामस्वरूप होनेसे ये दूसरेके गुण हैं । अतः जीव, सत्त्व और मोक्ष तथा निर्जरा ये चार पदार्थ जीव हैं और अजीव, आश्रय, पाप, पुण्य और बन्ध ये पांच अजीव हैं ।

[बोल ४ समाप्त]

(किमी अपेक्षासे एक जीव, और एक अजीव और सात इन दोनोंके पर्याय हैं)

पन्नावणा सूत्रके पाचवें पदमें कहा है कि द्रव्य, प्रवेश, पांच वर्ण, पांच रस, दो गन्ध, आठ स्पर्श, बारह उपयोग, पुद्गल जनित शरीरका अवगाहन, आयुष्यकी स्थिति, ये ३६ बोल जीवके पर्याय हैं । किसीमें जीवकी और किसीमें अजीवकी प्रगति होनेसे किसीको जीव और किसीको अजीव कहा है । इन बोलोंमें कई तो सदा निर्जरा और कई मोक्ष स्वरूप हैं और कई पुण्य, पाप, आश्रय और बन्ध स्वरूप हैं अतः जीव और अजीव तत्त्वको छोड़ कर शेष सात पदार्थ इन दोनोंके ही पर्याय हैं यह बात सिद्ध होती है ।

यहां कई नयोंका आश्रय लेकर रुझनेसे नव तत्वोंका विचार किया गया है । क्योंकि किसी एक नयका आश्रय लेकर शेष नयोंकी अवहेलना करना जैन शास्त्रमें विरुद्ध है । अतः किसी नयको मुख्य और किसीको गौण मानकर पदार्थोंका स्वरूप बनाना ही जैन धर्मका सिद्धान्त है इस लिये बुद्धिमानोंको पक्षपात छोड़ कर अनेकान्त नान्यस्वरूप जैन सिद्धान्तानुसार इन पदार्थोंका स्वरूप जानना चाहिये । यदि किसी योग्यबुद्धि वाले

पुत्रको उक्त बातें समझ न पड़े तो उसे पक्षपात रहित होकर भगवती सूत्रोक्त वाक्यानुसार अपनी आत्माको पवित्र करना चाहिये ।

“तमेवसर्वा नि सक ज जिगेहि पञ्चपदय”

अर्थात् जिनबरोने जो कहा है वही सत्य है उसमे थोड़ी भी शका नहीं है । ऐसी भावना रखनेसे भी पुरुष भगवानकी आज्ञाका आगमक हो सकता है ।

(बोल ५ वां समाप्त)

इति नव तत्त्व-विचार ।



अथ जीवभेदाधिकारः ।

—०—०—०—

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३३६ पर लिखते हैं कि “केनला एक अज्ञानी भुवनपति चाण व्यन्तरमें अने प्रथम नरकमें जीवरा तीन भेद कहे” इनके कहनेका आशय यह है कि “प्रथम नारकी, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें जीवके दोही भेद होत हैं । असंक्षोका अपर्याप्त नामक तीसरा भेद नहीं होता”

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

प्रथम नारकी, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें जीवका तीसरा भेद न मानना मूल्यता है क्योंकि शास्त्रके मूलपाठ और टीकासे प्रथम नारकी, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें जीवोंक तीन भेद सिद्ध होते हैं । इस विषयमें पन्नावणा सूत्रमें यह पाठ आया है—

“जीवाण भन्ते ! किं सन्नी किं असन्नी नो सन्नी नो असन्नी ? गोपमा ! जीवा सन्नीवि असन्नीवि नोसन्नी नोअसन्नीवि । नेरइयाणं पुच्छा ? गोपमा ! नेरइया सन्नीवि असन्नीवि नो नोसन्नी नो असन्नी”

(पन्नावणा)

अर्थ —

हे भगवन् ! जीव सन्नी होते हैं या असन्नी होते हैं अथवा सन्नी असन्नी इन दोनोंत भिन्न होते हैं ? [३०] हे गोतम ! जीव सन्नी भी होते हैं असन्नी भी होते हैं और इन दोनोंत भिन्न भी होते हैं । [प्र-] हे भगवन् नारकि जीवके विषयमें प्रश्न है ? [३०] हे गोतम ! नारकि जीव सन्नी और असन्नी दो प्रकारके होते हैं परन्तु इससे भिन्न नहीं होते ।

इसके आगे चटकर पन्नावणा सूत्रमें व्यन्तर देवोंके विषयमें भी ऐसा ही पाठ आया है और असुर कुमासे लेकर स्तनिव कुमार परान्त भुवावामी देवताओंके विषय में भी यही बात कही है इस लिये प्रथम नारकि भुवापति और व्यन्तर देवताओंमें असंक्षोका भेद होना भी शास्त्रमें सिद्ध होता है तथापि उसे न मारता शास्त्र बिगड़ समझना चाहिये ।

भगवती सूत्र शतक १३ उद्देश १ में यह मूलपाठ आया है -

“गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवोए तीसाए गिरयावास
सय सहस्सेसु संखेज्जावि पत्थडेंसु नरयेसु संखेज्जा गेरया पण्णत्ता
संखेज्जा काउलेस्सा पण्णत्ता एवं जाव संखेज्जा सन्नी पण्णत्ता असंज्ञी
सिय अत्थि सिय णो अत्थि जइ अत्थि एक्कोवा दोवा तीणिवा उक्को-
सेणं संखेज्जा पण्णत्ता”

(भगवती शतक १३ उद्देश १)

अर्थ —

हे गोतम ! रत्नप्रभा नामक पृथिवीयम कुल तीस लाख नारकि जीवोंके निवास स्थान है
उनमें कई संख्यात योजन और कई असंख्यात योजन विलुप्त हैं । संख्यात योजन विलुप्त नरका-
वासोमें संख्यात नारकि और संख्यात कापोत्तेशी जीव रहते हैं । संख्यात नारकि जीव संज्ञी हैं
परन्तु अमंज्ञी जीव इन नरकोमें कभी होते हैं और कभी नहीं भी होते हैं यदि होते हैं तो १-२-३
और उत्कृष्ट संख्यात होते हैं ।

इस पाठमें नारकि जीवोमें जघन्य १-२-३ और उत्कृष्ट संख्यात असंज्ञी जीव
कहे गये हैं । तथा असंख्यात योजन वाले नरकावासोमें असंख्यात असंज्ञी जीव माने गये
हैं । भगवती शतक १३ उद्देश २ में भुवनपति और व्यन्तर देवोंके लिये भी इसी तरह
का पाठ आया है इसलिये प्रथम नारकी भुवनपति तथा व्यन्तर देवोमें असंज्ञीका
अपर्याप्त नामक भेद न मानना अयुक्त है । ऊपर लिखे हुए पाठमें जो “सिय अत्थि
सिय नो अत्थि” यह असंज्ञीके विषयमें पाठ आया है इसका अभिप्राय बताते हुए टीका-
कारने यह लिखा है “असंज्ञिभ्यउद्धृत्य ये नारकत्वनोत्पन्नास्तेऽपर्याप्तावस्थायामसंज्ञि-
नो भूतभावत्वात्तेषांत्वा इति कृत्वा” “सिय अत्थि” इत्याद्युक्तम्” अर्थात् जो जीव
असंज्ञीसे निकलकर नरकोमें जाते हैं वे अपर्याप्तावस्थामें असंज्ञी ही होकर रहते हैं वे
जीव बहुत अल्प होते हैं इस लिये मूलपाठमें लिखा है कि “सिय अत्थि” इत्यादि ।

यहां टीकाकारने मूलपाठका आशय समझाते हुए नारकि जीवोमें असंज्ञीके अप-
र्याप्त नामक भेदका स्पष्ट उल्लेख किया है अतः नारकि जीवोमें असंज्ञीके अपर्याप्त
नामक भेदको न मानना उक्त मूलपाठ और टीकासे विरुद्ध होनेके कारण अप्रामाणिक
समझना चाहिये ।

भगवती सूत्र शतक १ उद्देश ४ में सज्ञी नारकि और देवतामें काळा देशके ल
भङ्ग घटलाये हैं एवं जीवाभिगम सूत्रमें नारकि, भुवनपति, और व्यन्तर दोवोके संज्ञी
और असंज्ञी दोनों ही भेद कहे गये हैं । वहांका पाठ यह है—

“तेसिर्ण अन्ने जीवा किं सन्तो असन्तो ? गोयमा ! सन्तोवि असन्तोवि”

इस पाठमें प्रथम नरकके जीवोंको सही और असही दोनों ही तरहका कहा है । एवं इसी जीवाभिगम सूत्रमें नारकि जीवोंका ज्ञानके विषयमें प्रश्न करने पर भगवान्ने यह उत्तर दिया है—

“जे अण्णाणी ते अत्थोगइया दुअण्णाणी अत्थोगइया ती अण्णाणी । जेय दुअण्णाणी ते णियमा महअण्णाणी सुअण्णाणीय”
(जीवाभिगम सूत्र)

(टीका)

ये नारका असंज्ञिनस्तेऽपय्याप्ताप्रस्थाया इत्यज्ञानिन यय्याप्तावस्थायान्तु-
अज्ञानिन ”

अर्थात् जो नारकि जीव असही हैं वे अपय्याप्ताप्रस्थामे दो अज्ञानवाले होते हैं और यय्याप्तावस्थामें तीन अज्ञानवाले होते हैं । जो नारकि दो अज्ञानवाले होते हैं वे नियमसे भक्ति अज्ञान और श्रुत अज्ञानवाले होते हैं । यह वस्तु मूलपाठ और उसकी टीकाका मिलित अर्थ है ।

इस मूलपाठमें असही नारकि जीवोंको दो अज्ञानवाला कहा है और टीकाकारने स्पष्ट लिखा है कि असही नारकि अपय्याप्तावस्थामें दो अज्ञानसे युक्त होते हैं यहा टीकाकारने तो नारकि जीवोंमें असहीक अपय्याप्त नामक भेदका स्पष्ट रूपसे प्रतिपादन किया है इसलिये नारकि जीवोंमें असहीके अपय्याप्त नामक भेदको न मानना बाल्य विरुद्ध समझना चाहिये । इस पाठका आगे भुवनपति और व्यन्तर देवोंने लिये भी इसी तरहका पाठ आया है इसलिये भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें भी असहीके अपय्याप्त नामक भेद होना स्पष्ट सिद्ध होता है तथापि इसे न मानना अपने अपानका परिचय देना समझना चाहिये ।

(बोल १)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनपर भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३३७ पर यन्तावणा सूत्र पद ११ उद्देश १ का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“इहा कथो मनुष्यना वो भेद । सन्तीमून त विविध अर्थात्तान सहित मनुष्य”
इत्यादि लिख कर आगे लिखते हैं—

“ते अवधिज्ञान रहितने असन्नीभूत कह्यो पिण असन्नीरो भेद न पावे तिम नेर-
इयाने असन्नीभूत कहा पिण असन्नीरो भेद न पावे । ए नेरइया अने देवताने असन्नी
कहा ते सज्ञावाची छे । जे अवधि विभग रहित नेरइयानो नाम असन्नी छे । जिम
विशिष्ट अवधि रहित मनुष्य निर्जरया पुद्गल न देखे तेहने पिण असन्नीभूत कह्यो”
(भ० पृ० ३३७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

गर्भज मनुष्यको शास्त्रमे जगह जगह सज्ञीभूत कहा है और पन्नावणा सूत्रमे
उसे असज्ञीभूत भी कहा है, इससे सशय उत्पन्न होता है । क शास्त्रमें जत्र कि जगह
जगह गर्भज मनुष्यको सज्ञीभूत कहा है तत्र पन्नावणा सूत्र में उसे असज्ञीभूत क्यों
कहा ? इसका समाधान यह किया जाता है कि पन्नावणा सूत्रमें जो गर्भज मनुष्यको
असज्ञीभूत कहा है उसका अभिप्राय अवधिज्ञान रहित होना है सज्ञीका विरोधी असज्ञी
होना नहीं है क्योंकि ऐसा माननेसे पन्नावणा सूत्रके साथ दूसरे सूत्रोका विरोध पडता
है अतः विशिष्ट अवधि ज्ञान रहित होनेकी अपेक्षासे ही पन्नावणामें गर्भज मनुष्य को
असज्ञी भूत कहा है सज्ञीका विरोधी असज्ञी होनेसे नहीं परन्तु यह दृष्टात, असज्ञीसे मर
कर नारकि भुवनपति और व्यन्तर देवोमे उत्पन्न होने वाले जीवोमें नहीं घटता है क्यों
कि उन जीवोको समी जगह असज्ञी हो कहा है सज्ञीभूत नहीं नहीं कहा है । यदि
किसी जगह उन्हे सज्ञी भी कहा होता तो मनुष्यके विषयमें कहेहुए पन्नावणा सूत्रके उक्त
पाठका दृष्टान्त देकर नारकि, भुवनपति, और व्यन्तर देवोमें असज्ञीके भेदका निषेध
किया जा सकता था परन्तु असज्ञासे मर कर नारकि आदिमे उत्पन्न होनेवाले जीवोको
कहीं भी सज्ञी नहीं कहा है अतः पन्नावणा सूत्रका दृष्टात देकर नारकि भुवनपति और
व्यन्तर देवो मे असज्ञी के अपर्याप्त भेद को न मानना अज्ञान का परिणाम समझना
चाहिये ।

(बोल २ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३३९ पर पन्नावणा पद ११ के मूलपाठको
लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ अठे पिण कह्यो—न्धाना वालक वालिका मनपटुता पण न पाम्यो विशिष्ट
ज्ञान रहितन सन्नी न कह्यो पिण जीवरो भेद तेरमो छै तिणमें असन्नीरो भेद न थी तिम
नेरइयाने असन्नीभूत कहा पिण असन्नीरो भेद न थी” (भ० पृ० ३३९)

इसका क्या समाधान ?

(प्रश्नक)

बालक और बालिका, मनोयुग्म होते हैं मनोविच्छिन्न नहीं होते इसलिये वास्तवमें वे सजी ही हैं असजी नहीं हैं परन्तु पन्नावणा सूत्रमें विशिष्ट ज्ञान रहित होनेसे उन्हें असजी कहा है। अतएव शास्त्रमें उत्तानशय बालक, और बालिकाओंको सजी कह कर लिया है परन्तु असंजीसे निकल कर नरक, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें उत्पन्न हुए जीवोंको कहीं भी सजी नहीं कहा है इसलिये छोटे बालक और बालिकाका दृष्टांत देकर उन जीवोंमें अमर्त्योंके भेदका निषेध करना अज्ञान मूलक है। यदि असंजीमें मरकर नरक, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें उत्पन्न होने वाले जीवोंको किसी जगह भी शास्त्रमें मर्त्य कह कर घनलाया होता तो कदाचित् छोटे बालक और बालिकाके विषयमें आये हुए पन्नावणा सूत्रके मूलपाठका दृष्टांत देकर उन जीवोंमें असंजीके अपर्याप्त भेदका निषेध किया जा सकता था परन्तु कहीं भी असंजीसे मर कर नरक आदि में उत्पन्न होने वाले जीव को मर्त्य नहीं कहा है अतः उनमें अमर्त्योंके भेद का निषेध करना मिथ्या है।

(बोल ३)

(प्रेरक)

भ्रमविश्रंसनकार भ्रमनिध्वसन पृष्ठ ३४० पर दश वैकालिक सूत्रकी गाथा लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं।

“अग इति ८ सूत्रम कक्षा धू वर प्रमुखनी सूत्रम स्नेह न्दाना फल कु युधा उत्तिग तीडी नागरा नीलग फूलग बीज खसमसाविकाना न्दाना अदुर किडी प्रमुखना (ण्डा सूत्रम कक्षा) । ते न्दाना माट सूत्रम छे पिण सूत्रमरो जीवो भेद नहीं विम नेर-या अने देवनाने अमन्ती कक्षा पिण असन्तीगे भेद नहीं” (भ० पृ० ३४०)

इसका क्या उत्तर ?

(प्रत्यक)

किडी आदि जीव, शास्त्रमें जगह जगह, त्रय जीवोंमें गिने गये हैं सूत्रम जीवोंके भेदमें नहीं गिने गये हैं इसलिये छोटा होनेके कारण उन्हें दशवैकालिक सूत्रमें सूत्रम कहा परन्तु यह दृष्टांत असंजीमें मर कर नरक, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें उत्पन्न होने वाले जीवोंमें नहीं घटता क्योंकि अमर्त्योंसे मर कर नरक, भुवनपति, और व्यन्तर देवोंमें उत्पन्न होने वाले जीवोंको कहीं भी मर्त्य नहीं कहा है किन्तु सदेव अमर्त्य ही कहा है

अतः दशवैकालिक सूत्र के दृष्टांतसे नरक, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें असन्नीके अपर्याप्त नामक भेद को न मानना अज्ञान है ।

(बोल ४)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३४२ पर अनुयोगद्वार सूत्रका मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखत है —

“अथ इहा विशेष अविशेष ए वे नाम कथा तिणमे अविशेषयी तो मनुष्य विशेषयी समूर्च्छिम गर्भज । अने अविशेषयी तो समूर्च्छिम मनुष्य अने विशेषयी पर्याप्तो अपर्याप्तो कह्यो । इहा समूर्च्छिम मनुष्यने पर्याप्तो अपर्याप्तो ते तैतलीक पर्याय वाधी ते पर्याय आशी पर्याप्तो कह्यो । अने सम्पूर्णतः वाधी ते न्याय अपर्याप्तो कह्यो । समूर्च्छिम मनुष्यने पर्याप्तो कह्यो पिण पर्याप्तोमे जीवरा सात भेद पाये ते माहिलो भेद न थी । जे देवताने असन्नी फट्टा माटे असन्नीरो जीवरो भेद कहे तो तिणरे लेखे समूर्च्छिम मनुष्यने पिण पर्याप्तो कट्टा माटे पर्याप्तारो भेद कहियो अने समूर्च्छिम मनुष्यने पर्याप्तारो भेद न थी कहे तो देवतामें पिण असन्नीरो भेद न कहियो” (२७० पृ० ३४२)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

समूर्च्छिम मनुष्यका दृष्टांत देकर प्रथम नारकि, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें असन्नीके भेदका निषेध करना अयुक्त है क्योंकि अन्य सूत्रोंमें समूर्च्छिम जीवोंमें पर्याप्तपनेका स्पष्ट निषेध किया है इसलिये समूर्च्छिम मनुष्यमें पर्याप्तका भेद नहीं माना जा सकता परन्तु प्रथम नारकि, भुवनपति, और व्यन्तर देवोंमें असन्नीके अपर्याप्त भेदका कहीं भी निषेध नहीं किया है इसलिये प्रथम नारकि, भुवनपति, और व्यन्तर देवों में असन्नी के अपर्याप्त नामक भेद का निषेध करना अप्रामाणिक है ।

यदि कोई कहे कि समूर्च्छिम मनुष्यमें पर्याप्तपनेका जब कि अन्य सूत्रोंमें निषेध किया है तब फिर अनुयोग द्वार सूत्रमें उसे पर्याप्त कैसे कहा है ? तो इसका समाधान यह है कि—जैसे अनुयोग द्वार सूत्रमें उदय आदि भावोंके २६ विकल्प, विकल्प मात्र दिशानेके लिये किये हैं परन्तु सभी विकल्पोंके उदाहरण नहीं मिलते उसी तरह समूर्च्छिम मनुष्यमें दो भेद भी सभावना मात्रसे किये हैं परन्तु समूर्च्छिम जीवों में पर्याप्त नामक भेदके होनेसे नहीं क्योंकि अन्य सूत्रोंमें समूर्च्छिमजीवोंमें पर्याप्तपने

का स्पष्ट निषेध किया गया है परन्तु यह बात प्रथम नारकि भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें नहीं पड़ती क्योंकि कहीं भी शास्त्रमें उनमें असङ्गीके भेदका निषेध नहीं किया है अतः विविध कुतर्कों का आश्रय लेकर प्रथम नारकि, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें असङ्गीके अपर्याप्त नामक भेदको निषेध करना अयुक्त है ।

(बोल ५ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भगवती सूत्र शतक १३ उद्देश २ के मूलपाठमें लिखा है कि “असुर कुमार वंशताम नपु सकवेद नहीं पाया जाता है” यदि भुवनपतिमें असङ्गीका अपर्याप्त भेद होता है तो उसमें नपु सक वेद भी पाया जाना चाहिये परन्तु यह बात भगवतीका उक्त शतक और उद्देशके मूलपाठसे विरुद्ध है इस लिये भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें असङ्गीके अपर्याप्त नामक भेदको मानना अयुक्त है ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

प्रथम नारकि, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें असङ्गीके अपर्याप्त नामक भेदका शास्त्रमें स्पष्ट उल्लेख किया है इसलिये प्रथम नारकि, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें असङ्गीका अपर्याप्त भेद होता है और असङ्गीके अपर्याप्त भेदका उनमें सद्भाव होने से नपु सक वेद भी उनमें पाया जाता है परन्तु वह अवस्था अन्तर्मुहूर्त की होती है इस लिये उक्तकी अविवक्षा करके भगवती सूत्रके मूलपाठमें असुर कुमार वंशताम नपु सक वेदका निषेध किया है । जैसे भगवती सूत्र शतक ३० उद्देश पहलेमें सम्यग्दृष्टि द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवको विशिष्ट सम्यक्त्वके अभावसे क्रियावादी और विनयवादी होनेका निषेध किया है सर्वथा सम्यक्त्वके अभाव होनेमें नहीं इसी तरह भगवती सूत्रमें भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें विशिष्ट रूपसे असङ्गीके अपर्याप्त भेदका न होने से नपु सक वेदका निषेध किया है सर्वथा असङ्गीके अपर्याप्त भेदके न होनेसे नहीं अतः प्रथम नारकि, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें असङ्गीके अपर्याप्त भेदका निषेध करना अज्ञान मूलक है । इस प्रकरणका सार यह है—

असङ्गीसे भरकर प्रथम नारकि भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें उत्पन्न होना वांछे जीवोंमें असङ्गीका अपर्याप्त नामक भेद होता है क्योंकि शास्त्रमें जगत् जगत् उन्हें असङ्गी कहकर ही बुलाया है, कहीं भी सङ्गी नहीं कहा है । यदि उनमें असङ्गीका भेद मानना शास्त्रनारको दृष्ट न होना तो जैसे उतावला (छोटा) बालकको असङ्गी कह

कर भी सझी कहा है उसी तरह अर झीसे गर कर प्रथम नारकि और भुवनपति आदिमें उत्पन्न होने वाले जीवोंको भी अवश्य सझी कहते परन्तु कहीं भी उक्त जीवोंकी सझी नहीं कहा है सभी जगह उसे असझी कहकर ही बतलाया है और कई टीकाकारोंन तो साफ साफ उक्त जीवोंमें असझीके भेदका तथ्यन किया है इस लिये पूर्वोक्त दृष्टान्तोंके आश्रयसे प्रथम नारकि भुवनपति और व्यन्तर देवताओंमें अगझीके अपर्याप्त भेदका खण्डन करना अज्ञान समझना चाहिये ।

(बोल ६ द्वा समाप्त)

इति जीवभेदाधिकारः ।



अथ सूत्रपठनाधिकारः ।

— ०२० —

(द्वेष्टक)

अत्र विध्वंसनस्य भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३६१ पर लिखत है—

“कैतला एक कहे गृहस्थ सूत्रभगे तहनी जिन आज्ञा छै ते सूत्रना अजाण छै ।
अने भगवन्तनी आज्ञा सो साधुनो इज छै पिण सूत्रभणनारी गृहस्थने आज्ञा दीधी नथी ।

इसका क्या समाधान ?

(अ० पृ० ३६१)

(प्ररूपक)

समुच्चय गृहस्थका नाम लेकर आज्ञाको भी सूत्र पढ़नेका निषेध करना स्वार्थ
तथा अज्ञानका परिणाम है क्योंकि शास्त्रमें शास्त्र पढ़नेके चौदह अतिचार साधु और
आवरक दोनोंका कहे हैं यदि आज्ञाको शास्त्र पढ़नेका अधिकार ही नहीं है तो फिर वसक
लिये शास्त्र पढ़नेके अतिचारोके कहनेकी क्या आवश्यकता है ? अत एकान्त रूपसे
आवरकको शास्त्र पढ़नेका निषेध करना अज्ञान मूलक है ।

शास्त्रोंका भेदके साथ चौदह अतिचार बताये जाते हैं । नन्दी सूत्रमें शास्त्रोंका
भेद बतलानेके लिये यह पाठ आया है—

“अहवा त समासो दुविह पण्णत्तं तजहा—अङ्गपविह
अङ्गवाहिरिच से कित्त अङ्ग वाहिरं ? अङ्गवाहिरि दुविह पण्णत्तं तजहा-
आवस्सयच आवस्सयवहरित्तच । सेकित्तं आवस्सयं ? आवस्सयं
छव्विह पण्णत्तं तजहा—सामाहयं जाव पच्चक्खणाणं सेतं आवस्सयं ।
सेकित्तं आवस्सयवहरित्त आवस्सयवहरित्त दुविह पण्णत्तं तजहा-
कालियच उक्कालियं च”

(नन्दी सूत्र)

अथ —

अथवा प्रकृतानुसारसे गमिक और अगमिक धार्मिक दो भेद हैं । एक अग प्रविष्ट और
दूसरा अग पाद अग चाद भी दो प्रकार होते हैं एक आवश्यक और दूसरा आवश्यक भिन्न
आवश्यकके छ भेद हैं सामायिकों लेकर प्रत्यापान पद्यन्त । आवश्यकके भिन्न भी दो तरह
होते हैं कालिक और उक्कालिक ।

कर भी रानी रुझा है उसी तरह अरु होमे मर पर प्रथम नागकि और गुणपति आग्नि
उत्पन्ना होने पागे जीवोंको भी अथर्व सती करने पड़्यो मर्यु मर्त्य भी अथर्व ज्ञो, यद्यो रानी
नहीं पड़ा है सभी तरह वने अरुभी पड़कर हो दया-पा है और वर दीक्षा-प्राप्ति को
साक साक अपने जीवोंमें अरु होत भवता यथा विद्या है इति चित् पूर्वेकम् अथर्वनाद
आश्रयम् प्रथम नागकि गुणपति और दाना दानाभोग्य अथर्वीक अथर्वान् भेदः।
रुग्दत्त करना अथर्व मन्त्रनामा आदि ।

(चोल द द्वा समाप्त)

इति जीवभेदाधिकारः ।



अथ सूत्रपठनाधिकारः ।

—०५०—

(श्लोक)

भ्रम विध्यमनस्य भ्रमविध्यमस्य पृष्ठ ३६१ पर लिखत है—

“वेतला एक फले गृहस्थ सूत्रभगे तेहनी जिन आज्ञा छै ते सूत्रना अजाण छै ।
अने भगवन्तनी आज्ञा तो साधुनो इज छै पिण सूत्रभगवारी गृहस्थने आज्ञा दीधी नथी ।

इसका क्या समाधान ?

(भ० पृ० ३६१)

(प्रत्युपक)

समुच्चय गृहस्थका नाम लेकर आर्यको भी सूत्र पढ़नेका निषेध करना स्वार्थ तथा अज्ञानका परिणाम है क्योंकि शास्त्रमें शास्त्र पढ़नेके चौदह अतिचार साधु और आर्य दोनों ही नष्ट हैं यदि आर्यको शास्त्र पढ़नेका अधिकार ही नहीं है तो फिर उसने लिये शास्त्र पढ़नेके अतिचारोंक वहनेकी क्या आवश्यकता है ? अत एकान्त रूपसे आर्यको शास्त्र पढ़नेका निषेध करना अज्ञान मूलक है ।

शास्त्रोंका भेदने साथ चौदह अतिचार बनाये जाते हैं । नन्दी सूत्रमें शास्त्रोंका भेद बतलानेके लिये यह पाठ आया है—

“अह्या त समाप्तो दुविहं पणत्त तजहा—अङ्गपविह
अङ्गवाहिरच से किंत्त अङ्ग वाहिरं ? अङ्गवाहिर दुविहं पणत्तं तजहा-
आवस्सयच आवस्सयवहरित्तं । सेकित्त आवस्सय ? आवस्सय
उत्थितं पणत्तं तजहा—सामास्यं जाय पञ्चक्खण सेन आवस्सयं ।
सेकित्त आवस्सयवहरित्त आवस्सयवहरित्त दुविह पणत्त तजहा-
कालियच उक्कालियच”

(नन्दी सूत्र)

अथ —

अथवा प्रकारान्तरेसे गमिक और अगमिक शास्त्रक दो भेद हैं । एक भग प्रविष्ट और दूसरा अग पाद अग पाद भा दो प्रकारके होते हैं एक आवश्यक और दूसरा आवश्यकते भिन्न आवश्यकते छ भेद हैं सामास्यसे एक प्रत्याख्यान पठन्ति । आवश्यकते भिन्न भी दो तरहके होते हैं कालिक और उत्कालिक ।

जो प्रातः काल, मध्याह्न काल, साध्याकाल और मध्य रात्रिकी दो घड़ीको छोड़ कर शेष कालमें पढ़े जाते हैं वे उत्कालिक सूत्र हैं और जो दिन रातके पहले और पिछले पढ़नेमें ही पढ़े जाते हैं वे कालिक सूत्र कहलाते हैं । इन सभी सूत्रोंके पढ़नेमें चौदह तरह के अतिचारोंका त्याग करना शास्त्रमें कहा है । वे अतिचार ये हैं—

“जंवाइद्धं वचामेलियं हीणक्खरियं अच्चक्खरियं पयहीणं विणयहीणं घोसहीणं जोगहीणं सुठ्वदिनं दुट्ठुपडिच्छियं अकाले कओसज्झाओ कालेनकओ सज्झाओ असज्झाए सज्झाइयं सज्झाए नसज्झाइयं तस्समिच्छामि दुक्कड ।

(आवश्यक सूत्र)

शास्त्र पढ़नेके चौदह अतिचार होते हैं वे ये हैं—

[१] व्याधिद्ध—विपरीत गूथी हुई रतमालाकी तरह क्रमको छोड़कर व्युत्क्रमसे पढ़ना ‘व्याधिद्ध’ कहलाता है । [२] व्यत्याप्ने दित—बार बार पुनरक्ति करके पढ़ना ‘व्यत्याप्ने दित’ है । [३] हीनाक्षर—अक्षर हीन पाठ करना हीनाक्षर कहलाता है । [४] अत्यक्षर—अक्षर बढ़ा कर पढ़ना अत्यक्षर नामक अतिचार है । [५] पद हीन—किसी पदको छोड़कर पढ़ना पद हीन कहलाता है । [६] विनय हीन—विनयको छोड़कर पढ़ना विनय हीन है । [७] घोष हीन—उदात्त अनुदात्त आदिसे हीन पाठ करना घोषहीन कहलाता है । [८] योगहीन—अच्छी तरहसे योगोपचार करके न पढ़ना योगहीन कहलाता है । [९] छद्मवदत्त—गुरसे नहीं दिये हुएका पाठ करना छद्मवदत्त है । [१०] दुष्टु प्रतीच्छित—दुष्ट अन्तःकरणसे पाये हुएका पाठ करना ‘दुष्टु-प्रतीच्छित’ कहलाता है । [११] अकाले कृतस्वाध्याय—जिस उद्देशा आदि पढ़नेका जो काल नहीं है उसमें उसे पढ़ना ‘अकाले कृतस्वाध्याय’ कहलाता है । [१२] काले न कृतस्वाध्याय—जिस उद्देशा आदि पढ़नेका जो काल है इसमें उसे न पढ़ना, ‘काले न कृतस्वाध्याय’ है । [१३] अस्वाध्याये स्वाध्यायित—अस्वाध्याय (अनध्याय) में स्वाध्याय करना ‘अस्वाध्याये स्वाध्यायित’ है । [१४] स्वाध्याये न स्वाध्यायित—स्वाध्याय कालमें स्वाध्याय न करना स्वाध्याये न स्वाध्यायित कहलाता है । ये चौदह शास्त्र पढ़नेके अतिचार हैं इनके प्रयोग हो जानेपर प्रायश्चित्तस्वरूप पाठको मिच्छामि दुक्कड देना पड़ता है ।

ये चौदह अतिचार साधुकी तरह श्रावकोंके भी कहे हैं । सब मिलकर ९९ अतिचार श्रावकोंके होते हैं उनमें ये चौदह अतिचार भी शामिल हैं । भीषणजीने अपनी दाढ़ ब्रतकी डालमें लिखा है —

“चौदह अतिचार ज्ञानरा पाच समकिन ना जान ।

साठ बाह्य प्रना तथा पन्द्रह कर्मदान” ।

इस गेहामें भीषणजीने शास्त्र पढ़नेके उक्त चौदह अतिचार श्रावकोंके भी कहे हैं इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि शास्त्र पढ़नेका श्रावकोंको भी अधिकार है केवल साधुओंको ही नहीं अन्यथा आश्रवोंके उक्त चौदह अतिचार क्यों कहे जाते और भीषणजी भी उसे क्यों स्वीकार करते । अतः श्रावकोंका शास्त्र पढ़नेका एकान्त रूपसे निषेध करना अज्ञान मूलक समझना चाहिये ।

बोल १ समाप्त

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकारका मन है कि श्रावकोंको प्रतिक्रमण सूत्र पढ़नेका तो अधिकार है परन्तु दूसरे सूत्रोंके पढ़नेका अधिकार नहीं है इसलिये ये चौदह ज्ञानके अतिचार श्रावकोंके भी कहे हैं ।

इसका क्या समाधान ?

(प्रत्यक्ष)

भ्रमविध्वंसनकारका यह मन अमंगल है क्योंकि उक्त चौदह अतिचारोंमें कालमें स्वाध्याय न करना और अकालमें स्वाध्याय करना भी गिने गये हैं । ये अतिचार आवश्यक सूत्रके पढ़नेमें नहीं लगते क्योंकि आवश्यक सूत्रके पढ़नेमें कोई काल विशेष का नियम नहीं है जिसके पढ़नेमें काल विशेषका नियम है उन्हीं के पढ़नेमें ये अतिचार लगते हैं । यदि श्रावकोंको आवश्यकसे भिन्न सूत्रोंके पढ़नेका अधिकार ही नहीं है तो फिर ये पूर्वोक्त दो अतिचार श्रावकोंके कैसे हो सकते हैं ? अतः आवश्यकके सिवाय दूसरे सूत्रों के पढ़ने का श्रावकोंको अधिकार नहीं है यह कहने वालोंको अज्ञानी समझना चाहिये ।

भीषणजीने, अकालमें स्वाध्याय करने और कालमें स्वाध्याय न करनेरूप अतिचार श्रावकोंको भी कहे हैं—

“अकाले करे स्वज्ज्ञाय हो श्रावक, काले स्वज्ज्ञाय कर नहीं । अस्वज्ज्ञायमें करे स्वज्ज्ञाय हो श्रावक, स्वज्ज्ञाय वेला आलस करे जब ज्ञान धारो मलो थायहो श्रावक, अतिचार लागे ज्ञानन”

(कही तीसरी)

इस भीषणजीके पथसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि काल विशेषके साथ पढ़े जानेवाले आवश्यक सूत्रसे अतिरिक्त सूत्रोंके पढ़नेका अधिकार श्रावकोंका भी है अन्यथा अकाल

में स्वाध्याय करने और कालमें स्वाध्याय न करने रूप अतिचार आपको कैसे हो सकते हैं ? अतः आवश्यक मूलमें अतिरिक्त सूत्रोंके पढ़नेका अधिकार न मानना मिथ्या है ।

नन्दी सूत्र और समवायाङ्ग सूत्रमें आपकोके लिये यह पाठ आया है—

“सुयपरिगृह्य तपोवहाणाह”

(टीका)

“श्रुत परिग्रहास्तप उपधानानि प्रतीतानि”

अर्थात् आवश्यक सूत्र पढ़े हुए और उपधान रूप तपके करने वाले होते हैं ।

यहां मूलपाठ और टीकामें आवश्यकको श्रुत परिग्रह (शास्त्र पढ़ने वाला) कहा है । यदि आवश्यकको शास्त्र पढ़नेका अधिकार ही नहीं है तो वह श्रुत परिग्रह कैसे हो सकता है ? अतः आपकोको आवश्यक सूत्रसे भिन्न सूत्रोंके पढ़ने का अधिकार स्पष्ट सिद्ध होता है तथापि उसे न मानना मूलताका परिणाम है ।

(बोल १ समाप्त)

(प्रश्नक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविघ्नसन पृष्ठ ३६८ पर लिखते हैं—

“जे जन्दी समवायाङ्गे साधाने सुयपरिगृह्या कहा ते तो सूत्र श्रुत अने अर्थ श्रुत घेहूना ग्रहण करवा थकी कहा छै अने आपकोने सुयपरिगृह्या कहा ते अर्थ श्रुत नाहीज ग्रहण करणहार माटे जाणवा” (भ० पृ० ३६८)

इसका क्या समाधान ?

(प्रत्युपक)

नन्दी और समवायाङ्ग सूत्रमें साधु और आवश्यक दोनोंके लिये समान ही “सुयपरिगृह्या” यह पाठ आया है । साधुके लिये इसका अर्थ दूसरा हो और आपकोके लिये दूसरा हो यह त्रिकालमें भी नहीं हो सकता । टीका और टिप्पणमें भी यह नहीं लिखा है कि साधु तो सूत्र अर्थ दोनों ही पढ़ता है और आपको केवल अर्थ ही पढ़ता है इसलिये साधुकी तरह आपको भी सूत्र और अर्थ दोनों ही पढ़नेका अधिकार है ।

उत्तराज्ययन सूत्रमें पालिन नामक आपकोके विषयमें यह पाठ आया है—“निगये पावपणे सावण सेवि कोविण”

अर्थात् वह पालिन नामक आपको, निग्रन्थ प्रवचनका कोविद (पण्डित) था । यदि आपकोको सूत्र पढ़नेका अधिकार ही नहीं है तो पालिन आपको निग्रन्थ प्रवचनका कोविद कैसे हो सकता था ?

सूत्रपटाधिकार ।

उत्तराध्ययन सूत्रके २२ वें अन्वयनमें राजमतीके लिये यह पाठ आया है कि—
 "वना बहुस्सुया"

अर्थात् राजकन्या राजमती नदी शीलपती और बहुश्रुत थी । यदि आवकको पढ़नेका अधिकार हो नहीं है तो शास्त्र पढ़े बिना राजमती बहुश्रुत कैसे थी ?

भगवती उगई और सुयगडाग आदि सूत्रोंमें आवकको वर्णन करनेके लिये यह पाठ आया है कि—

"आस्तस्य सवर निजरा क्रिया अदिगणवन्धमोक्खदुसला"
 इस पाठमें आवकको १२ प्रकारकी निर्जरामें कुशल होना कहा है और निजरा का दशवा भेद स्वाध्याय है । स्वाध्यायके पाच भेद होते हैं—(१) वाचना (२) पुच्छना (३) पर्याटना (४) अनुलोपेक्षा (५) धर्मकथा । इन पांचो प्रकारके स्वाध्यायोंमें वही कुशल हो सकता है जो सूत्र भी पढ़ना हो और अर्थ भी पढ़ना हो, जो सूत्र पढ़ने का अधिकारी ही नहीं है वह उक्त स्वाध्यायके पाच भेदोंमें कुशल नहीं हो सकता । तो स्वाध्यायमें कुशल नहीं है वह याद प्रकारकी निर्जरा में भी कुशल नहीं हो सकता । परन्तु आवक १२ प्रकारकी निर्जरामें कुशल होता है इसलिये वह पाच प्रकारके स्वाध्यायमें भी कुशल है । आवक पाच प्रकारके स्वाध्यायमें कुशल होता है इसलिये वह शास्त्र पढ़ने का भी अधिकारी है । शास्त्र सूत्रमें कहा है कि सुगुडि प्रधानने जितशत्रु राजाको विचित्र प्रकारसे केवल प्रणीत धर्मका उपदेश दिया था । यदि आवक सूत्र नहीं पढ़ना तो सुगुडि प्रधान शास्त्र पढ़े बिना केवल प्रणीत धर्मका उपदेश राजाको किस प्रकार दे सकता था ? शास्त्रमें जगह जगह आवकको "अस्मकस्वादि" कहा है । जो धर्मका यथार्थ प्रतिपादन करता है वह धर्माचार्यायी कहा जाता है । यदि आवकको शास्त्र पढ़नेका अधिकार ही नहीं है तो शास्त्र पढ़े बिना वह धर्माचार्यायी (धर्मको कहनेवाला) कैसे हो सकता है ? अतः आवक को शास्त्र पढ़नेका अधिकार नहीं मानने बाड़े अज्ञानी हैं ।

बोल २ रा

(प्रेरक)

भ्रमजिब्वसनकार भ्रमजिब्वसन पृष्ठ २६१ पर प्रश्नव्याकरणसूत्रका मूल लिख कर उसकी समाखोचना करते हुए लिखते हैं—

"अयं इहा कश्चो उत्तम महर्षि साधुने इज सूत्र भगवारी आशा दीधी ते सिद्धान्त भणीने सत्यवचन जाणे माये अने देवेन्द्र नरेन्द्रादिकने भाष्या अर्थ ते

सत्य वचन जाणे । ए तो प्रत्यक्ष साधुने इज सूत्र भणवारी आह्वा कही पिण गृहस्थने सूत्र भणवारी आज्ञा नहीं । ते माटे श्रावक सूत्र भणे ते आपरे छंदे पिण जिन आज्ञा नहीं” (भ्र० पृ० २६१)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

प्रश्नव्याकरण सूत्रका मूलपाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है । वह पाठ यह है —

“तं सच्चं भगवं तित्थयरसुभासियं दसविहं चोदसपूर्वोहिं पाउडत्थविदितं महरोसीणयसमयप्पदिज्जं देवेन्दनरेन्दभासियत्थं वेमाणियसाहियं महत्थं मत्तोसहिविज्जासाहणत्थं”

(प्रश्न व्याकरण सूत्र)

(टीका)

तस्मिन्नि यस्मादेवं तरमान् सत्या द्वितीयं महाव्रतम् भगवद्भट्टारकतीर्थङ्करसुभा-
पित जिनै सुपूज्यं दशविध दशप्रकार जनपदसम्मतसत्यादिभेदेन दशवैकालिकादि
प्रसिद्ध चतुदशपूर्विभि प्राभृतार्थवेदित पूर्वगताजविज्ञेपाभिधेयतयाज्ञातं, महर्षिणाच
समयेन सिद्धान्तेन “पश्नं” ति प्रदत्त समयप्रतिज्ञाया समाचाराभ्युपगमः । पाठान्तरे
“मह्वीरिसीसमयपश्नचिन्तन” ति महर्षिभिः समय प्रतिज्ञा सिद्धान्ताभ्युपगम समा-
चाराभ्युपगमो वेति चरित यन् तत्तथा । देवेन्द्रनरेन्द्रैर्भाषित जनानामुक्तोर्ण पुरु-
षार्थं स्तत्साध्यो धर्मादिर्यस्य तत्तथा । अथवा देवेन्द्रनरेन्द्राणा भासित प्रतिभासितोऽ
र्थं प्रयोजन यस्य तत्तथा । अथवा देवेन्द्रादीना भाषिता अर्था जीवादयो जिनवचन
रूपेण येन तत्तथा । तथा वैमानिकात् साधित प्रतिपादितमुपादेयतया जिनादिभिर्
तत्तथा । वैमानिकैर्वा साधितं कृत मासेवित समर्थितवा यत्तत्तथा । महार्थं महाप्रयो-
जनम् एतदेवाह मन्त्रौपधिविद्याना साधनमर्थं प्रयोजन यस्य तद्विना तस्या-
भावात् तत्तथा ।

अर्थ —

सत्य, दूसरा महाव्रत है इसे तीर्थकरोंने दश प्रकारका कहा है ।

जनपदसम्मत सत्यादिके भेदसे दश प्रकारका सत्य, दश वैकालिक आदि सूत्रों में प्रसिद्ध है । इसे चौदह पूर्वधारियोंने पूर्वान्तर्गत प्रभृत नामक श्रुत विशेषसे जाना है । बड़े बड़े ऋषियोंके सिद्धान्तसे यह सत्य दिया गया है अथवा बड़े बड़े ऋषियोंने सत्य भाषणकी प्रतिज्ञा की है । अथवा पाठान्तरके अनुसार, बड़े बड़े ऋषियोंने सत्य भाषणकी

प्रतिज्ञा और सत्य भाषण किया है । देवेन्द्र और नरेन्द्रोने सत्यभाषणका धर्मादिरूप प्रयोजन मनुष्योंको बनलाया है अथवा देवेन्द्र और नरेन्द्रोको सत्य भाषणका प्रयोजन प्रति-
भाषित हुआ है अथवा सत्यने ही देवेन्द्र और नरेन्द्रो को जिनप्रवृत्तरूपसे जीवादि
पदार्थका ज्ञान कराया है । इस सत्यको वैमानिक देवोंने भी स्वीकार किया है अथवा
वैमानिक देवोंने सत्यका सेवन और समर्थन किया है । यह सत्य बड़े बड़े प्रयोजनों को
सिद्ध करता है । सत्यके बिना मन्त्र औषधि त्रिणाए भी सिद्ध नहीं होतीं । यह उक्त
मूलपाठका टीकानुसार भावार्थ है ।

यहा मूलपाठमें सत्य रूप महाजनका साहाय्य बतलाया है, शास्त्र पढ़ने पढ़ानेका
कुछ जिक्र भी नहीं है इसलिये इस पाठका नाम लेकर श्रावकोंको शास्त्र पढ़नेका निषेध
काना अज्ञान मूलक है । यहा मूलपाठमें सत्यकी प्रशंसा करतेहुए जो यह लिखा है
कि—“महर्षिणीयममयपइन्द्रदेविन्द्वनरिन्दभासित्यथ” इसका टीकाकार ने यह
अर्थ किया है—

“महर्षीणाञ्च समयेन सिद्धान्तेन प्रदत्तम्” देवेन्द्रनग्नद्राणा भासिनोऽर्थ प्रयो-
जन यस्य तत्तथा ।”

अर्थात् बड़े बड़े ऋषियाक सिद्धान्तसे सत्य दिया हुआ है और देवेन्द्र और नर-
न्द्रोको सत्यका प्रयोजन प्रतिभाषित हुआ है ।

इन पदोंसे सत्य रूप महाजनकी प्रशंसा की गयी है परन्तु शास्त्र पढ़ने पढ़ानेके
सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा है तथापि इन्हीं पदोंका अर्थ करते हुए जीतमलजी धामठाते हैं
कि “उत्तम ऋषि महर्षियोंको ही शास्त्र पढ़नेका अधिकार है । देवेन्द्र और नरेन्द्रोको
सूक्ष्मे अर्थ जाननेका ही अधिकार है इत्यादि,” परन्तु उक्त पदोंका ऐसा अर्थ निकालने
भी नहीं हो सकता अतः अमविध्वसनकारका यह अर्थ करना उनके अज्ञानका सूचक
है । टीकाकारने “महर्षीणा समयेन प्रदत्त” ऐसा तृतीया तत्पुरुष दिखलाकर साफ बतला
दिया है कि सत्य बचन, महर्षियोंके सिद्धान्तसे दिया गया है अतः महर्षियोंकोही सिद्धान्त
दिये जानेका अर्थ सर्वथा मित्या और व्युत्पत्तिसे विरुद्ध है । इसी तरह देवेन्द्र और
नरेन्द्रोको केवल अर्थ जाननेका ही अधिकार है, यह उक्त दूसरे विशेषणका तात्पर्य बन-
लाना भी अज्ञान है क्योंकि टीकाकारने साफ साफ कह दिया है कि “अर्थ” शब्दका यहा
प्रयोजन अर्थ है शब्दका या सूत्रका अर्थ नहीं । अतः उक्त दोनों विशेषणोंका व्युत्पत्ति
विह्वल उन्मत्त प्रलाप जैसा मनमाना अर्थ करके आवककी शास्त्र पढ़नेका निषेध काना
मूर्खताका परिणाम समझना चाहिये ।

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३६२ पर व्यवहार सूत्रकी साक्षी देकर लिखत है—

“दश वर्ष दीक्षा लिया साधुने कल्पे भगवती सूत्र भणियो ए साधुने पिण मर्यादा सूत्र भणवारी कही जे तीन वर्ष दीक्षा लिया पठे निशीथ सूत्र भणयो कल्पे छने तीन वर्ष दीक्षा लिया पहिला तो साधुने पिण निशीथ सूत्र भणयो न कल्पे छने तीन वर्ष पहिले साधु निशीथ सूत्र भणे तेहनी जिन आज्ञा नहीं तो गृहस्थ सूत्र भणे तेहनी आज्ञा किम देवे” (भ० पृ० ३६०)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

व्यवहार सूत्रमें, तीन वर्ष दीक्षा लेनेके बाद निशीथ सूत्र पढ़नेका और दश वर्ष दीक्षा लेनेके बाद जो भगवती सूत्र पढ़नेका विधान किया है वह सबके लिये नहीं है क्योंकि त्रिशिष्ट योग्यतावाले मुनिको तीन वर्षकी दीक्षाके बाद ही शास्त्रमें जघन्य आचाराग, निशीथ और उत्कृष्ट द्वादशागको पढ़ने वाला बहुश्रुत और वह्वागम कहा है। वह पाठ यह है—

“तिवास पज्जाए समणे निग्गंधे आयारकुसले संजमकुसले पवयणकुसले पण्णत्तिकुसले संगहकुसले उवग्गहकुसले अक्ख-
यायारे असवलायारे अभिन्नायारे असंकिलिद्वायारचरिते बहुस्सुए
यह्वागमे जहण्णेणं आयारकप्पघरे कप्पह उवज्झायताए उदि-
सित्तए ।,,

(व्यवहार सूत्र ३० ३)

अर्थ —

तीन वर्षकी दीक्षा पर्याप्तवाला जो ध्रमण निग्रथ, आचार कुशल, संग्रह कुशल, उपमह कुशल, अक्षताचार, (अव्यवहित आचारपाला) अक्षयलाचार अभिन्नाचार, अमविल्लाचार, बहुश्रुत और वह्वागम है अर्थात् अल्पसे अल्प आचाराग, निशीथ, और उत्कृष्ट द्वादशागधारी है उसे आचार्य्य पत्र देना कल्पता है।

इस पाठमें तीन वर्षकी दीक्षावाले साधुको बहुश्रुत और वह्वागम, कहा है इन का अर्थ करत हुए टीकाकारने लिया है कि—

“तथा बहु भुने सूत्रं यस्यामो बहु श्रुत तथा बहुगमोऽर्थास्तपोयस्यस बहुवा-
गम । जपन्येनाचारकन्पथो निशीधाध्ययनसुत्रार्थपर इत्यर्थ । जपन्यत आचार
कन्पदद्वादशकार्यतो द्वादशांगनिद्रिति”

अर्थान् जिसने बहुत सूत्रोंका अध्ययन किया है वह बहुश्रुत है और जो बहुत
अनंरूप आगमका ज्ञाता है वह बहुवागम कहलाता है । तात्पर्य यह है कि तीन वर्षकी
दीक्षा वाला जो साधु, जपन्य निशीथ सूत्र और उसका अर्थ जानता हो और उत्कृष्ट
द्वादशांगधारी हो वह आचार्य्य बनाया जा सकता है ।

यक्षा टीका और मूलपाठमें तीन वर्षकी दीक्षावाले साधुको उत्कृष्ट द्वादशांगधारी
कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि व्यवहार सूत्रमें तीन वर्ष दीक्षा लेनेके पश्चात
निशीथ सूत्र पढ़ने और १० वर्ष दीक्षा लेनेके बाद जो भगवती सूत्र पढ़ने का विज्ञान
किया है वह एकानरूपसे नहीं है । विशेष योग्यतावाले साधु, तीन वर्षके अन्दर ही
उत्कृष्ट द्वादशाङ्गधारी भी हो सकते हैं अतः व्यवहार सूत्रका नाम लेका श्रावकको शास्त्र
पढ़नेका निषेध करना अज्ञानमूलक है ।

बोल ४

(प्रेरक)

भ्रमविध्यसनकार भ्रमविध्यसन पृष्ठ ३६४ पर निशीथ सूत्र उद्देशा १९ का मूल
पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“जे आचार्य्य उपाध्यायनी अणदीधी वाचणी आचर तथा आचारताने अनु-
मोद तो चौमासी दण्ड आवे तो गृहस्थ आपर मते सूत्र भणे ते तो आचार्य्यरी अण-
दीधी वाचणीछै तेहनी अनुमोदना किया चौमासी दण्ड आवे तो जे अणदीधा वाचणी
गृहस्थ आचरे तेहने धर्म किम कहिये । (अ० पृ० ३६४)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

गुरुसे पढ़े ज्ञान अपने मनसे शास्त्र पढ़ने पर “सुष्ट्वदिन्न” नामक ज्ञान का
अतिचार होता है उसकी निवृत्तिके लिये, निरतिचार शास्त्राध्ययन करनेवाले श्रावक,
गुरुमें पढ़कर ही शास्त्रका अध्ययन करते हैं । यह “सुष्ट्वदिन्न” नामक अतिचार,
साधुकी तरह श्रावकका भी कहा है इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि श्रावकको भी गुरुमें
शास्त्र पढ़नेका अधिकार है । यदि श्रावकको शास्त्र पढ़नेका अधिकार ही न होता तो
उसको “सुष्ट्वदिन्न” नामक अतिचार क्यों आता ? अतः निशीथ उद्देशा १९

का नाम लेकर श्रावकको शास्त्र पढ़नेका अनधिकार बताना मिथ्या है। उक्त पाठमें गुरु से पढ़े बिना शास्त्रका अध्ययन करनेसे प्रायश्चित्त कहा है इसलिये जो गुरुसे पढ़ कर शास्त्रका अध्ययन करता है उसके अध्ययनका अनुमोदन करनेसे प्रायश्चित्त नहीं हो सकता अतः श्रावक को शास्त्र पढ़ने का अनधिकार बताना मिथ्या-समझना चाहिये।

[बोल ५ वां]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार ठाणाङ्ग ठाणा ३ उद्देशा ४ के मूलपाठको लिए कर उसको समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“इहा कस्यो ण तीन वाचणी देवायोग्य नहीं अविनीत, विधेना लोलुपी, समावो-
वञ्जी २ उदरे, एतीन साधुने वाचणी पिण देणी नहीं तो गृहस्थ तो क्रोधी मानी पिण
हुने अविनीत पिण हुवे विधेनो गृह स्त्री आदिऊनो गृध्र पिण हुवे ते माटे श्रावकने वा-
चणी देणी नहीं” (अ० पृ० ३६५)

इसका क्या समाधान ?

(प्रलपक)

ठाणाङ्ग ठाणा ३ का नाम लेकर सभी श्रावकको अविनीत, लोलुप और क्रोधी आदि ठहरा कर शास्त्र पढ़ने का अनधिकारी कहना सूर्यता है। जैसे साधुओंमें कोई कोई अविनीत लोलुप और क्रोधी होता है उसी तरह श्रावकोंमें भी कोई कोई अविनीत, लोलुप और क्रोधी होता है। ऐसे साधु और श्रावकको ठाणाङ्ग ठाणा तीन में शास्त्र पढ़ाने का निषेध किया है परन्तु जो श्रावक अविनीत लोलुप और क्रोधी नहीं है उसको शास्त्र पढ़ानेका निषेध नहीं है। अतः ठाणाङ्ग ठाणा ३ का नाम लेकर श्रावकको शास्त्र पढ़नेका निषेध करना अज्ञान है।

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३३६ पर उपाई और सुयगहाग सूत्रका मूल पाठ लिएकर उनकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अय इहा कस्यो अर्थो लाधा छै अर्थ प्रज्ञा छै अर्थ पूजा छै अर्थ जाण्या छै। इहां श्रावकने अर्थाराज्ञाता कहा पिण इम न कस्यो “लद्धसुत्ता” जे लाधा भण्या छै सूत्र इम न कस्यो ते माटे सिद्धान्त भगवानी आज्ञा साधुने इज छै पिण श्रावकने नहीं”

इसका क्या उत्तर ?

(अ० पृ० ३३६)

(प्ररूपक)

उपाई सूत्र और सुयगडाग सूत्रमे जैसे श्रावकको अर्थका ज्ञाता कहा है उसी तरह समवायाग सूत्र और नन्दी सूत्रमे श्रावकको सूत्रोक्त ज्ञाता भी कहा है । वह पाठ यह है — “सुयपरिगहिया तत्रोवहाणाइ” अर्थात् श्रावक सूत्रको पढ़े हुए और उपधान नामक तप करने वाले होते हैं । यहा प्रत्यक्ष श्रावकको सूत्र पढ़नेवाला कहा है इसलिये श्रावकको सूत्र पढ़नेका अधिकार स्पष्ट सिद्ध होना है तथापि उपाई और सुयगडाग का नाम लेकर श्रावकको शास्त्र पढ़नेका अनधिकार बताना अज्ञानत मिथ्या है । उपाई और सुयगडाग सूत्रमे श्रावकको अर्थका ज्ञाता कहा है इसका अभिप्राय यह नहीं हो सकता कि वे अर्थ जाननेके ही अधिकारी हैं सूत्र पढ़नेके अधिकारी नहीं हैं किन्तु उपाई और सुयगडाग सूत्रसे अर्थ जाननेके और समन्याग सूत्रसे मूल पढ़नेके श्रावक अधिकारी सिद्ध होते हैं अतः श्रावकको सूत्र पढ़नेका अनधिकारी बताना अज्ञान है । इसी तरह सुयगडाग सूत्रके ११ वें अध्यायनकी २४वीं गाथा लिखकर भ्रमविध्वसनकारने जो यह लिखा है कि “आत्मगुप्त साधु इज्ज शुद्ध धर्मानो परपुण हार छे” यह भी मिथ्या है क्योंकि वस्तु गाथामें श्रावकको शुद्ध धर्मका उपदेशक होना वर्जित नहीं किया है और किया भी नहीं जा सकता क्योंकि उपाई सूत्रमे श्रावकको “धम्मक्खाइ” कह कर धर्मोपदेशक होना साफ साफ बतलाया है और भ्रमविध्वसनकारने भी भ्र० पृ० २३५ पर श्रावकको धर्मोपदेशक माना है । जैसे कि वे लिखते हैं—“धमे सुत चारिज रूपने सभलाज त धर्माख्यात फहीजै” यह लिखकर स्वयं भ्रमविध्वसनकारने भी श्रावकको धर्मोपदेशक होना स्वीकार किया है तथापि सुयगडाग सूत्रकी गाथाका नाम लेकर श्रावकको धर्मोपदेशक होनेका निषेध करना इनका शास्त्र और अपने कथनसे भी विरुद्ध है ।

(बोल ६ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन शृणु ३६८ पर सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्रकी तीसरी और चौथी गाथा लिख कर उनकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ इहा क्खो—ए सूत्र, अभाजनने सिप्पाये ते कुल गग सघ घाहिर ज्ञानादिध रहिन फयो । अरिहत गणधर स्थविरानी मर्यादानो लोपहार कयो । जो साधु अभाजन ने नमिसावणो सो गृहस्थवो प्रत्यक्ष पाच आग्रतो सेवणहार अभाजनदज्ज ते तेहने सिप्पाया धर्मकिम हुवे इत्यादि लिखकर श्रावकको एकान्तरूपमे अभाजन कायम करके उसको शास्त्र पढ़ानेका अनधिकारी बतलाते हैं ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्रकी दूसरी और तीसरी गाथाओमें अभाजनको शास्त्र पढ़ानेका निषेध किया है परन्तु वहा यह नहीं कहा है कि श्रावक अभाजन होता है इसलिये उसं नहीं पढ़ाना चाहिये । अतः सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्रकी गाथाओका नाम लेकर श्रावकको शास्त्र पढ़ानेका अनधिकारी बताना मिथ्या है । सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्रमें अभाजनको शास्त्र पढ़ानेका निषेध किया है परन्तु श्रावक अभाजन नहीं है क्योंकि वह चतुर्विध तीर्थमें गिना गया है और शास्त्रकारोंने श्रावकको गुण रूपो रत्नका पात्र कहा है इस लिये श्रावक भाजन है अभाजन नहीं है । जैसे कोई कोई साधु शास्त्रमें अभाजन कहे गए हैं वसी तरह कोई कोई श्रावक भी अयोग्य होते हैं ऐसे अयोग्य साधु और श्रावकोंको शास्त्र पढ़ानेका निषेध है परन्तु सभी श्रावकोंको अयोग्य कायम करके उन्हें शास्त्र पढ़ानेका निषेध करना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये ।

ठागाङ्ग ठाणा दूसरेमें श्रुत और चारित्र धर्मका दो भेद बताकर श्रावकको श्रुत धर्म वाला और देश चारित्रि बतलाया है तथा साधुको श्रुतज्ञान और सम्पूर्ण चारित्रि कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रावकको भी शास्त्र पढ़नेका अधिकार है क्योंकि शास्त्र पढ़े बिना श्रावक श्रुत धर्मवाला कैसे हो सकता है ?

ठाणाग ठाणा ४ में श्रुत और चारित्रको लेकर एक चौभगी कही गई है । वह पाठ यह है —

“सुय सम्पन्ने नाम मेगे नो चरित्तसम्पन्ने”

- (१) कोई पुरुष श्रुत सम्पन्न होते हैं चारित्र सम्पन्न नहीं होते ।
- (२) कोई चारित्र सम्पन्न होते हैं श्रुत सम्पन्न नहीं होते ।
- (३) कोई चाग्रि और श्रुत उभय सम्पन्न होते हैं ।
- (४) कोई न श्रुत सम्पन्न होते हैं और न चारित्र सम्पन्न होते हैं ।

यहा चारित्र रहित पुरुषको श्रुत सम्पन्न कहा है । यदि साधुसे इतरको शास्त्र पढ़नेका अधिकार ही नहीं है तो चारित्र रहित पुरुष श्रुत सम्पन्न कैसे हो सकता है ? अतः साधुसे इतरको भी शास्त्र पढ़नेका अधिकार है ।

भगवती शतक ८ वदेशा १० में यह पाठ आया है —

“सुयसम्पन्ने नाम मेगे नो सोलसम्पन्ने”

उस पाठमें शील रहितको श्रुत सम्पन्न होना कहा है। यदि साधुसे इनको शास्त्र पढ़नेका अधिकार नहीं है तो शील रहित पुरुष श्रुतसम्पन्न कैसे हो सकता है ? अतः श्रावकको शास्त्र पढ़नेका निषेध करना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिये ।

(बोल ७ समाप्त)

(प्रेरक)

निजीय सूत्र उद्देशा १९ में पाठ आया है कि—

“जेभिकखू पासत्थं वायइ वायंनं वा साइज्जइ”

जेभिकखू पासत्थं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ”

अर्थात् जो साधु पासत्थको पढ़ता है या पढ़ाते हुए को अच्छा जानता है। जो साधु पासत्थसे शास्त्र पढ़ता है या पढ़ने हुएको अच्छा जानता है उसे प्रायश्चित्त आना है। इसी तरह उसन्न कुशील आदिके लिये भी पाठ आया है इन पाठोंके अनुसार जब कि परिमत्त रहित रत्तो आदिका त्यागी पासत्थ आदिको भी शास्त्र पढ़ानेका निषेध है तब फिर श्रावक तो परिमही और स्त्री आदिको रखने वाला होता है उसको शास्त्र पढ़ने का अधिकार कैसे हो सकता है ?

इसका क्या समाधान ?

(प्रलपक)

उसन्न पासत्थ और कुशील आदि, केवल साधु ही नहीं होते श्रावक भी होते हैं इस लिये निजीय सूत्र उद्देशा १९ के मूलपाठमें जो साधु और श्रावक, उसन्न पासत्थ और कुशील आदि हैं उनका शास्त्र पढ़ानेका निषेध किया है पान्नु जो साधु और श्रावक उसन्न पासत्थ और कुशील आदि नहीं हैं उनको शास्त्र पढ़ानेका निषेध नहीं है अतः निजीयके उक्त मूलपाठका नाम लेकर श्रावकको शास्त्र पढ़ानेका निषेध करता, असंगत है। भगवती सूत्र श्रावक दश उद्देशा चारमें श्रावकोंको भी उसन्न पासत्थ और कुशील आदि कहा है यह पाठ यह है —

“तण्ण ते तापतिसं सहाया गाहावइ समणोवासगा पुत्थिं उग्गा उग्गविहारी सविग्गा मंविग्गविहारी भवित्ता तपोपच्छा पासत्था पासत्थ विहारी उसन्ना औसन्नविहारी कुशीला कुशील विहारी अहाच्छन्दा अहाच्छन्द विहारी घट्टइं वासाइं समणोवासग परिघायं पाउणति”

(भ० श० १० ४)

अग और बाह्य उत्तगाध्ययन आदिके द्वारा सम्यक्त्वका लाभ करता है वह "सूत्र रुचि" कहा जाता है । वह गाथा यह है —

"जे सुत्त महिज्जंतो सुएण ओगाहइउ संमत्त अंगेण बाहिरिण
य सोसुत्तवइत्ति नापव्वो"

(उत्तराध्ययन अ० २८ गाथा २१)

इस गाथामें, जो पुरुष साधु नहीं है परन्तु सूत्र पढ़ कर सम्यक्त्वका लाभ करता है उसे "सूत्र रुचि" कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधुसे इतर [पुरुष को भी शास्त्र पढ़नेका अधिकार है अग साधुके सिवाय सभीको शास्त्र पढ़नेका अनधिकारी बनाना अज्ञानियोंका कार्य समझना चाहिये ।

[बोल ९ वां समाप्त]

इति मृत्रपठनाधिकारः)



(अथ क्रियाधिकारः)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३७४ पर आज्ञा बाहरकी करनीसे पुण्य होनेका खण्डन करते हुए लिखते हैं —

“कतला एक अज्ञाण आज्ञा बाहगली करणीथी पुण्य बधतो कहें ते सृजना जाण-णहार नहीं” (भ्र० पृ० ३७४)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

आज्ञा बाहरकी करनीसे पुण्यबंध नहीं मानना शास्त्र न जाननेका फल है । क्यों कि जो, जैन धर्मक निन्दक और मिथ्यादर्शनमें श्रद्धा रखने वाले अपने शास्त्रके अनुसार अकाम निर्जरा आदिकी करनी करते हैं उनकी करनी जिन आज्ञामें नहीं है तथापि वे अपनी उस आज्ञा बाहरकी करनीसे पुण्य बाध कर स्वर्गमें जाते हैं । यदि आज्ञा बाहरकी करनीसे पुण्यबंध नहीं होता तो उक्त पुरुष स्वर्गमें कैसे जाते ? अतः आज्ञा बाहरकी करनीसे पुण्यबंध नहीं मानना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये ।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

जैन धर्ममें श्रद्धा नहीं रखने वाले मिथ्या दर्शनियोंकी अकाम निर्जगदि क्रियाको भ्रमविध्वसनकार जिन आज्ञामें बतलाते हैं और उसे आज्ञामें बतला कर आज्ञा बाहरकी क्रियासे पुण्यबन्ध होनेका निषेध करते हैं ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

वीतराग भाषित धर्ममें श्रद्धा नहीं रख कर मिथ्यादर्शन आदिमें श्रद्धा रखनेवाले जो अज्ञानी अकाम निर्जरा आदिकी करनी करते हैं उनकी करनी यदि जिन आज्ञामें है तो फिर वे मिथ्यादृष्टि कैसे हो सकते हैं ? क्योंकि जिन आज्ञाका आराधक पुरुष मिथ्या-दृष्टि नहीं होता अतः अकाम निर्जरा आदिकी करनी करने वालेको मिथ्यादृष्टि मानना और उसकी करनीको जिन आज्ञामें बताना परस्पर विरुद्ध और अज्ञान मिथ्या है ।

[बोल २ समाप्त]

(प्रेरक)

जो जीव बीतरागकी आज्ञाका आगधक नहीं है वह आज्ञा बाहरकी क्रिया कर के स्वर्ग प्राप्त करता है यह कहा लिया है ?

(प्रत्युक्त)

उवाह सूर के मूल पाठमें स्पष्ट लिखा है कि जो जीव बीतराग की आज्ञा का आगधक नहीं है वह भी आज्ञा बाहर की क्रिया करके स्वर्गगामी होता है वह पाठ यह है —

“सैजे इमे गामागर जाव सन्निवेसेसु पव्वइया समणा भवति तंजहा आयरियपडिणीया उवज्जायपडिणीया कुलपडिणीया गण पडिणीया आयरियउवज्जायाण अजसकारगा अवण्णकारगा अक्की-त्तिकारगा असब्भावुब्भावणाहिमिच्छताभिणिवेसेहिंय अप्पाणंच प-रच तडुभयंच बुग्गाहे माणा बुप्पाए माणा विहरिता बहुइ वासाइ समणपरियागं पाउणंति तस्स ठाणस्स अणालोह्य अपडिक्कता काल मासे कालां किच्चा उक्कोसेणं लांतए कप्पे देवकिण्णिएसु देव-किण्विसियत्ताण उववत्तारो भवति तहिं तेसिं गनी तेरससागरो घमाहं ठीति अणाराहगा सेस तच्चेव”

(उवाह सूत्र)

अर्थ —

आघाप्पा, उपाध्याय, पुत्र और गणक साथ वरभाय रखन वाले और उनकी भयना, भकार्त्ति, तथा भयनका प्रचार करन वाले कई नामधारी प्रमत्तित ग्राम आदि यात्रा में निर्याता में रहते हैं य मिथ्यात्वक अभिविग्रह और असद्भावकी भावनासे अपन आपकी और दूसरा को भी घुरे आपहर्म टारते हैं । य असद्भावनाका समधान करन वाले बहुत काल तक अपनी प्रमत्तता का पालन करके अपने घुरे काष्पकी आलोचना नहीं करनेसे पापरहित नहीं होते । य शायु छेप होने पर मर कर अन्तर्ग नामक देशगोकर्म उत्पन्ना होकर किलिषयी नामक दशना होत है । यही इन की दार्शनिक सागर तक स्थिति होती है य परलोक सम्प्रत्या भगवान का आग के आगधक नहीं है ।

इस पाठमें आचार्या उपाध्याय पुत्र, गण अथ आदिषी निन्दा करन वाले तीन

तरागकी आङ्गाका अनारावक अङ्गानी जीवोको आङ्गा बाहरकी क्रियासे स्वर्ग प्राप्त करना कहा है अतः आङ्गा बाहरकी क्रियामे भी पुण्य बन्ध होना स्पष्ट सिद्ध होता है । तथापि आङ्गा बाहर की क्रिया से पुण्यबन्धका निषेध करके अङ्गानियो की अकाम निर्जरा आदि क्रियाओको आङ्गामे कायम करना अङ्गानका परिणाम समझना चाहिये । इस विषयका विस्तृत विवेचन मिथ्यात्व क्रियाधिकारमे किया गया है विशेष जिज्ञासुओं को वहीं देखना चाहिये ।

(बोल ३ समाप्त)
(इति क्रियाधिकारः)



(अथ अल्पपाप बहुनिर्जराधिकारः)

(प्रेरक)

भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूलपाठमें साधुको अप्राप्तुक [और] अनेपणिक आहार देनेसे अल्पपाप पाप कर्म और बहुतर निर्जरा होना लिखा है उसका अर्थ फाते हुए भ्रमविध्वंसनकार लिखते हैं —

“तेहने अल्प पाप ते पापनो नहोंन छै अने हर्ष करी दीधा बहुत गरी निर्जरा हुई” (अ० पृ० ४४९)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्रका वह मूलपाठ टीकाके साथ लिख कर इसका समाधान दिया जाता है वह पाठ यह है —

“समणोवासणं भन्ते ! तहाह्व समण वा माह्वं वा अफा-
सुणं अणेसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाहमेणं पडिलाभेमा-
णस्स किंज्जइ गोपमा ! बहुतरिया से निज्जरा कज्जइ अप्पतराए मे
पाव कम्मे कज्जइ”

(भगवती शतक ८ उद्देशा ६)

(टीका)

‘बहुतरिय’ति पाप कर्मापक्षया ‘अल्पपाप’ति अपाप निर्जरापेक्षया । अयमर्था गुणवैपात्रायासु कादिद्रव्यदाने चारित्रकायोपपत्तौ जीवपानो व्यरहारस्त-
चारित्रयाच भवति ततश्च चारित्रकायोपपत्तौ निर्जरा जीवपानादय पापकर्म तत्रच
स्वहेतुसामर्थ्यात् पापापेक्षया बहुतरा निर्जरा निर्जरापेक्षयाचालपतर् पापं भवति । इदं
त्रिषेचका मन्त्यते अमस्तरणादिकारणतएवा प्रासुकादि दाने बहुतरा निर्जरा भवति ता-
कारणे यदुक्त ‘सयरणम्मि असुद्ध दोण्ह विणेण्ह दित्तयाण्हिय

आडर दिट्ठ तेण सचेव्ह हिय असंयग्गेति”

अन्नेत्वाहुरकारणेऽपि गुणवैपात्रायासु कान्तिशाने परिणामरगात् बहुतरा निर्जराभवति
अल्पतरंच पाप कर्मेति निर्जिरेणत्वात्सूत्रस्य परिणामरयच प्रमागत्वात् आहप—“परम
रहस्स मिमोण समत्त गणिट्ठिह गिरिय साण । परिणामिय पमणे निरुत्तमसंय-

माणान्" यच्चोच्यते मथरणमि असुद्ध मित्यादिनाऽशुद्धं द्वयोरपि दागृप्रहीनो रहितायेति तद्ग्राहकस्य व्यवहारत मयमविराधनादायकस्यच लुब्धकदृष्टान्तभाषित्वेनवा, ददत शुभाल्यायुष्कता निमित्तत्वात् । शुभमपिचायुरल्प महित विप्रक्षया, शुभायुष्कता निमित्त चा प्रासुकादि दानस्य अल्पायुष्कता प्रतिपादकसूत्रे प्राप्चर्चित यत्पुनरिहतत्वं तत्कैवल्लिभाभ्यम्' अथ —

हे भगवन् ! तयात्रिव श्रमण और माहनको अप्रासुक अनेपणिक आहार देनेवाले श्रमणोपासकको क्या फल होता है ?

(उत्तर) हे गोतम ! अल्पतर पाप और बहुतर निर्जग होती है । यह मूलपाठ का अर्थ है । टीकाका अर्थ निम्नलिखित है—

पाप कर्मकी अपेक्षा बहुत अधिक निर्जरा होती है और निर्जराकी अपेक्षा पाप कर्म बहुत थोड़ा होता है । इसका आशय यह है कि गुणवान पात्रको अप्रासुक अन्नादि दान देनेसे उसके चारित्र और शरीरको सहायता प्राप्त होती है और व्यवहारसे चारित्र की बाधा और जीवकी विराधना होती है अतः चारित्र और शरीरकी सहायता होनेसे निर्जरा होती है और जीव विराधना आदि होनेसे पाप होता है । चारित्र और शरीरकी सहायता बहुत अधिक होती है और जीव विराधना बहुत थोड़ी होती है । इस लिये अपने तारणानुसार बहुतर निर्जग और निर्जराकी अपेक्षासे अल्पतर पाप होता है । इस विषय में विवेचक लोगोका मत यह है—

निर्वाह नहीं होने आदि कारणोसे अप्रासुक वस्तुका दान करना बहुतर निर्जराका हेतु होता है अन्यथा नहीं, जैसे किसी आचार्य्यने कहा है—निर्वाह होनेपर अशुद्ध आहार देना और लेना दाता और ग्राहक दोनोंके अहितके लिये होता है परन्तु रोगीके दृष्टान्त से निर्वाह नहीं हो सकनेपर वह दान दोनोंका हितकारक होता है । इस विषयमें दूसरे लोगोका कहना यह है—

कारण नहीं होनेपर भी गुणवान पात्रको अप्रासुकादि आहार देनेसे बहुत निर्जरा और अल्पतर पाप होता है क्योंकि मूल सूत्रमें कारण विशेषका उल्लेख नहीं किया गया है तथा गुणवान पात्रको श्रद्धापूर्वक अप्रासुक आहार देने वाले श्रमणोपासकका परिणाम शुद्ध है उक्त परिणामकी शुद्धिके कारण बहुतर निर्जरा, और अशुद्ध अन्न होनेके कारण अल्पतर पाप होता है । जैसे आचार्य्यों ने कहा है — परम रहस्यको जानने वाले सम्पूर्ण ब्रह्मज्ञाता के मारका ज्ञाता, निश्चय तथका अवलम्बन करने वाले ऋषियोंने (पाप और पुण्य आदिके विषयमें) परिणामको ही प्रमाण माना है । अतः बिना कारण भी गुणवान पात्रको अमृगना आहार देनेसे बहुतर निर्जरा और अल्पतर पाप होना

समझना चाहिये । जो कि “सकृणमि अशुद्ध” इत्यादि गाथायें अप्राप्त दानको देने वाले और देने वाले दोनोंके लिये अहित कहा है वह इस लिये कहा है कि अशुद्ध आहार होनेसे व्ययशरत समय विगड़ना होती है और लुब्धकके दृष्टान्तसे देनेवालेकी शुभ आयु घटती है यद्यपि वह आयु शुभ है तथापि थोड़ी होनेसे उसे अहित कहा है अप्राप्त आदिका दान, शुभ आयु उत्पन्न भी कारण होता है यह पूर्व सूत्रमें पहले ही बताया दिया गया है ।

इस विषयमें जो तत्त्व यानी यथाय धाम है वह केवल गम्य है यह ऊपर लिखी हुई टीकाका अर्थ है ।

इस टीकामें टीकाकारने अल्पतर पाप शब्दका अर्थ निर्जराकी अपेक्षा थोड़ा पाप होना और बहुत निर्जराका अर्थ पापकी अपेक्षासे बहुत ज्यादा निर्जरा होना बतलाया है परन्तु पापका अभाव, या पाप नहीं होना इत्यादि अर्थ नहीं किया है अतः अल्पतर पाप शब्दका पापका अभाव अर्थ बनाना मिथ्या समझना चाहिये ।

इस टीकामें विवेचक और अन्यके मतसे उक्त मूल पाठके दो आशय बतलाये हैं । विवेचक लोग कारण पढ़ने पर अप्राप्त दानका अल्पतर पाप और बहुत निर्जरा रूप फल बतलाते हैं और अन्य लोग कारण नहीं होनेपर भी अप्राप्त दानका अल्पतर पाप और बहुत निर्जरा रूप फल मानते हैं परन्तु दोनों मतमालोको अल्पतर पाप शब्दके अर्थमें कोई मत भेद नहीं है दोनोंहीने अल्पतर पाप शब्दका निर्जराकी अपेक्षासे अल्प पाप होना ही अर्थ माना है अतः अल्पतर पाप शब्दका अर्थ पापका अभाव बनाना टीका से विरुद्ध और अफान्त मिथ्या है ।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

अभिविध्यमनकार अभिविध्यसन पृष्ठ ४४८ पर “यत्पुनरिह तत्र तत्केवलगम्यम्” इस टीकाके वाक्यको लिख कर लिखते हैं—“अथ अठे पिण टीकामें एपाठो न्याय केवलीने भलायो त माट अशुद्ध लेवारी धाप करणी नहीं”

इसका क्या समाधान ?

(प्रत्यक्ष)

अल्पतर पाप और बहुत निर्जरा शब्दका अर्थके विषयमें टीकाकारने केवलीपर न्याय करना नहीं छोड़ा है इनका अर्थ तो स्पष्ट रूपसे कर दिया है । निर्जराकी अपेक्षा अल्प पाप होना अल्पतर पाप शब्दका और पापकी अपेक्षा बहुत निर्जरा होना बहुत

निर्जरा शब्दका अर्थ कर दिया है इस लिये अल्पतर पाप शब्दका अर्थ निर्जराकी अपेक्षा से थोड़ा पाप होना ही है पापका अभाव या पाप न होना अर्थ नहीं है । उक्त टीकामें जो त्रिचक्रोंने कारण पढ़नेपर अप्राप्त आहार देनेका फल अल्प पाप और बहुत निर्जरा बतलाया है और अन्य लोग बिना कारण भी अप्राप्त दानका उक्त फल कहते हैं इन दोनोंमें कौनसा मत युक्त है इसका निर्णय टीकाकारने स्वयं कृत नहीं करके लिखा है कि 'यत्पुनरिह्नत्त्वं तत्त्रैवल्लिगम्यम्' अर्थात् उक्त दोनों मतोंमें कौन मत श्रेष्ठ है यह बात पेंचली जानें, परन्तु टीकाकारको अल्पतर पाप शब्दका अर्थके प्रियमें कोई मग्य नहीं है अतः 'यत्पुनरिह्नत्त्वं तत्त्रैवल्लिगम्यम्' इस टीकाका नाम लेकर अल्पतर पापशब्दका पापका अभाव अर्थ करना टीकाका अर्थ नहीं समझनेका परिणाम समझना चाहिये ।

[बोल २ रा]

(प्रेरक)

भ्रमविश्वसनकार इस पाठका तात्पर्य यह बतलाते हैं कि जो आहार असूयता हो गया है परन्तु श्रावक और साधुको इसका पना नहीं है । साधु सूयता समझकर लेता है और श्रावक उसे सूयता समझ कर देता है उस दानका फल इस पाठमें अल्पतर पाप और बहुत निर्जरा कही है क्योंकि श्रावक सूयता समझकर उस अन्नको देता है इसलिये उनका कोई अपराध नहीं है अतः उस दानसे श्रावकको अल्प पाप यानी थोड़ा भी पाप नहीं होता और बहुत निर्जरा होती है । यह बात भ्र० पृ० ४४९ मे कही है ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

जिस अन्नको श्रावक असूयता नहीं जानता किन्तु सूयता जानकर साधुको देता है वह अन्न असूयता नहीं है वह सूयता ही है और उस दानका फल पूर्ण पाठमें एकान्त निर्जरा और थोड़ा भी पाप न होना कह दिया गया है फिर उसी बातको इस पाठमें दुहरानेकी कोई आवश्यकता नहीं है इसमें तो असूयता आहार देनेका फल कहा है और टीकाकारने साफ साफ लिख दिया है कि साधुके चारित्र और शरीरकी सहायता होती है इस लिये असूयता आहार देनेमें बहुत निर्जरा होती है और व्यवहारसे चारित्र की बाधा और हिंसा होनी है इस लिये असूयता आहार देनेसे थोड़ा पाप भी होना है । यदि श्रावक सूयता समझ ही साधुको देवे तो फिर टीकाकारको ऐसा लिखनेका क्या प्रयोजन था ? और कारण पढ़नेपर असूयता आहार देनेका फल अल्पतर पाप, बहुत निर्जरा है या, बिना कारण भी देने पर उक्तफल है, इस विषयका विचार

पिबेचक और अन्यके मतसे जो टीकाकारने किया है उसका क्या प्रयोजन था ? अन असुसता आहार देनेका हो फल इस टीका और पाठमे कहा है सुसता आहार देनेका फल नहीं, इसमे किसी प्रकार का भी सशय नहीं करना चाहिये ।

अल्पतर पाप शब्दका अर्थ भी भ्रमविध्वंसनकारने अशुद्ध किया है । टीकाकारने साक साक लिए दिया है कि निर्जराकी अपेक्षासे अल्प पाप होना अल्पतर पाप शब्दका अर्थ है । दूसरी बात यह है कि बहु शब्दके साथ आये हुए अल्प शब्दका अभाव अर्थ होता भी नहीं है । जैसे उत्तमाध्ययन सूत्रमे बहु शब्दके साथ अल्प शब्द आया है उसका निषेध या अभाव अर्थ न होकर 'थोडा' अर्थ ही होता है वह पाठ यह है —

“बहुपापमगओ अप्पपपसगओ पकग्ग” तथा भगवती शतक १ उद्देशा ९ मे पाठ आया है—अप्पपपसगओ बहुपपमगओ’ दर्शनकालिक सूत्रमे पाठ आया है—“अप्पवा बहुता’ ठाणाङ्ग ठाणा चौथामे पाठ आया है—“वउत्तिहे अप्पा बहुण पणत्ते” भगवती शतक १९ उद्देशा ३ और उक्त सूत्र शतक २५ उद्देशा ३ मे पाठ आया है—“कयरे कयरे हितो अप्पावा बहुयाना तुप्पावा” पल्लवणा सूत्रक वीसरे पदमे पाठ आया है “अप्पाना बहुयाना” उपाइ सूत्रमे पाठ आया है “अप्पतगेगा भुज्जतरोरा” इसी तरह शास्त्रमे अनेको जगह बहुशब्दके साथ अल्प शब्दका प्रयोग हुआ है और सभी जगह उसका “थोडा” अर्थ ही होता है अभाव या निषेध अर्थ नहीं होता अल्पता जहा बहु शब्दके साथ न आकर अत्रला अत्रल शब्द आता है वहा कहीं कहीं उसका अभाव अर्थ भी होता है परन्तु बहु शब्दके साथ आये हुए अल्प शब्दका कहीं भी अभाव अर्थ नहीं होना । भगवती शतक ८ उद्देशा ६ मे बहु शब्दके साथ अल्प शब्द आया है और उस पर भी इससे उत्तर तरप् प्रत्यय लगा है अन वहा अल्प शब्दका अभाव अर्थ करना एकान्त मिथ्या है ।

(बोल ३)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकारने अल्पपाप बहु निर्जग प्रकरणमे पहले बोलमे अफासुक अने सणीकका अर्थ सचित्त यानी जीववाली चीज किया है और यह अर्थ फाके जनता को यह धनलानेकी चेष्टा की है कि यात्रक, माधुको सचित्त चीज यानी कच्चा पानी आदि कैसे दे सकते है ?

इसका क्या समाधान ?

(प्रत्युक्त)

भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूलपाठमे “अफासुअ अनेसणीज” यह

पाठ आया है यहा अकाल्पनिकको अप्रासुक कहा है और अकाल्पनिकको ही अनेपणिक कहा है परन्तु जीववाली चीजको अप्रासुक नहीं कहा है अतः जीतमलजीने जो उन पाठमे अप्रासुक शब्दका सचित्त अर्थ किया है वह मिथ्या है । दूसरी जगह स्वयं जीतमलजीने भी अप्रासुक शब्दका अकाल्पनिक अर्थ किया है । आचार्यग सूरके दूसरे श्रुत सूक्तके ऊपर जीतमलजीने टब्बा रची है उस टब्बामे “अफासुअ” इस पाठ पर उनकी लिखी हुई टब्बा यह है —

“अफासुक ए अणकाल्पनिक माटे सचित्त सुत्य, जिम उत्तराध्ययन अ० १ गाथा ५ अवनतिने कह्यो—“दुसीले रम्मइ मिए” भू डा आचारने बिगे रमे मिए कहिता मृग सरीखो अजाण ते माटे मृग कह्यो तिम सचित्त पिण अकाल्पनिक छै अने जिहा गीजो आहार वस्त्रादिक सचित्त नहँ तेहने अफासुक कह्यो अकल्पना माटे सचित्त सरीखो इमहीज (अणे सणीज) ते अकल्पना माटे असुअता सरीखो जाणवो”

इस टब्बा अर्थमे स्वयं जीतमलजीने “अफासुअ” का अर्थ सचित्त हृत्य अकल्पनीय किया है अतः भगवती शतक ८ उद्देश ६ के मूलपाठमे “अफासुअ” का सचित्त अर्थ करना इनका जनताको धोखा देना है वास्तवमे इस पाठमे अकल्पनीय वस्तु को ही अप्रासुक कह कर बतलाया है जीववाली चीज को नहीं अतः जीतमलजी का पूर्वाक्त आशय मिथ्या समझना चाहिये ।

(बोल ४)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ४४४ पर भगवती सूत्र शतक ५ उद्देश ६ का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

‘अ ४ इहा तो साधुने अप्रासुक अनेपणिक आहार दीधा अल्प आयुष बाधे कह्यो इहां तो जे असुअतो देने ते जीवहिंसा अने झूठर बरोवर कह्यो छै । अल्प आयुषो ते निगोदर छै जे जीव हणया झूठ बोलया साधुने अशुद्ध अज्ञानादिक दीधा बधतो कह्यो इम हिज ठाणाङ्ग ठाणा ३ अशुद्ध दिया अल्प आयुषो बाधतो कह्यो तो अशुद्ध दिया थोडो पाप घणी निर्जरा किम हुवे”

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

भगवती शतक ५ उद्देश ६ के मूलपाठमें साधुको अप्रासुक अनेपणिक आहार देनेसे अल्प आयुका न होना लिखा है उक्त आयु, दीर्घ आयुकी अपेक्षा अल्प कही गई

है शुभकर्मवपद्वय निगोदकी आयु होनेसे नहीं। अतः भगवती शनक ५ उद्देश ६ के मूलपाठका नाम लेकर साधुको अप्रासुक अनेपणिक आहार देनेसे निगोदकी आयु बन्ध बताना अज्ञान है। साधुको अप्रासुक अनेपणिक आहार देनेसे भगवती शनक ५ उद्देश ६ के मूलपाठमें शुभ अल्प आयु ५५ होना लिखा है यह जान भगवती शनक आठ उद्देश ६ के टीकामें भी कही है। वह टीका यह है —

“शुभायुः कृतानिमित्तं चाप्रासुकादिदानम्यात्पयुः कृत्वाकल्पप्रतिपादकसूत्रे प्राक् चर्चितम्”

अर्थात् साधुको अप्रासुक अनेपणिक आहार देनेसे शुभ अल्प आयुका बन्ध होना है यह पहले बतला दिया गया है। यहां टीकाकारने स्पष्ट लिखा है कि साधुको अप्रासुक और अनेपणिक आहार देनेसे शुभ अल्प आयुका बन्ध होना है निगोदकी आयु पाना नहीं कहा है तथा भगवती शनक ५ उद्देश ६ के पाठकी टीकामें भी वही बात कही है वह टीका यह है —

“अथग्रहापेक्षिकी अल्पायुः कृता ग्राह्या यतः किल जितागमाभिमन्त्रितमृतयो मुनयः प्रथमवयसः भोगिनः कश्चन मृतादृष्ट्वा उत्तारो भवन्ति नूनं मनसः भवान्तरे किंचिदशुभं प्राणिरधादि चामरितम् अकल्पना मुनिभ्यो दत्तं येनायं भोग्यप्यर्थाय मयुस्तद्विनि”।

अर्थात् भगवती शनक ५ उद्देश ६ के मूलपाठमें मुनिको अप्रासुक अनेपणिक आहार देनेसे जो अल्प आयु प्राप्त होना कहा गया है वह दीर्घ आयुकी अपेक्षासे अल्प समझना चाहिये, क्योंकि जिनागमसे सम्पन्न बुद्धिवाले मुनि, किसी भोगी पुण्यको पहली अपेक्षामें मरा हुआ देख कर कहते हैं कि इसने जन्मान्तरमें प्राणिरध आदि अशुभ कर्मका अवश्य आचरण किया था अथवा मुनियों! अकल्पनीय अन्नानि दिया था जिन्में भोगी होकर भी यह अल्प आयु हुआ है।

यहां टीकाकारने मूलपाठका आशय बतलाते हुए दीर्घ आयुकी अपेक्षामें अल्प आयु पाना लिखा है निगोदकी आयु पाना नहीं कहा है इस लिये भगवती शनक ५ उद्देश ६ का नाम लेकर साधु को अप्रासुक और अनेपणिक आहार देनेसे निगोदकी आयु पाना मिथ्या है। भगवती शनक ५ उद्देश ६ का मूलपाठ यह है —

“कण्ट भन्ते ! जीवा अप्याउपत्ताण कम्म परुरंति ?

गोपमा ! तीहिं ठाणेहिं जीवा अप्याउपत्ताण कम्म परुरंति त

जहा—पाणेअव्वाइत्ता मुसवदित्ता तत्ताम्प समणस मात्तावा

पाठ आया है यहा अकाल्पनिकको अप्रासुक कहा है और अकाल्पनिकको ही अनेपणिक कहा है परन्तु जीववाली चीजको अप्रासुक नहीं कहा है अतः जीतमलजीने जो उक्त पाठमे अप्रासुक शब्दका सचित्त अर्थ किया है वह मिथ्या है । दूसरी जगह स्वयं जीतमलजीने भी अप्रासुक शब्दका अकाल्पनिक अर्थ किया है । आचार्यग सूत्रके दूसरे श्रुत स्थानके ऊपर जीतमलजीने टब्बा रची है उस टब्बामें “अफासुअ” इस पाठ पर उनकी लिखी हुई टब्बा यह है —

“अफासुक ए अणकाल्पनिक माटे सचित्त सुख, जिम उत्तराध्ययन अ० १ गाथा ५ अन्तर्निने रह्यो—“दुसीले रम्मइ मिण” भू डा आचार्यने विगे रमे मिए कहिता मृग सरीखो अजाण ते माटे मृग कह्यो तिम सचित्त पिण अकाल्पनिक छै अने जिहा बीजो आहार वस्त्रादिक सचित्त नहीं तेहने अफासुक रह्यो अकल्पता माटे सचित्त सरीखो इमहीज (अणे सणीज) ते अकल्पता माटे असंयता सरीखो जान्यो”

इस टब्बा अर्थमे स्वयं जीतमलजीने “अफासुअ” का अर्थ सचित्त दुख अकल्पनीय किया है अतः भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूलपाठमे “अफासुअ” का सचित्त अर्थ करना इनका जनताको धोखा देना है वास्तवमे इस पाठमे अकल्पनीय वस्तु को ही अप्रासुक कह कर बतलाया है जीववाली चीज को नहीं अतः जीतमलजी का पूर्वाक्त आरोप मिथ्या समझना चाहिये ।

(बोल ४)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ४४४ पर भगवती सूत्र श्लोक ५ उद्देशा ६ का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ इहा तो साधुने अप्रासुक अनेपणिक आहार दीधा अल्प आयुष बाधे कह्यो इहा तो जे असंयतो दवे ते जीवहिंसा अने झूठर वगेवर कह्यो छै । अल्प आयुषो ते निगोदर छै जे जीव हण्यो झूठ बोल्या साधुने अशुद्ध अजानादिक दीधा बाधतो कह्यो इम हिज ठाणाझ ठाणा ३ अशुद्ध दिया अल्प आयुषो बाधतो कह्यो तो अशुद्ध दिया थोडो पाप घणी निर्जग किम हुवे”

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

भगवती शतक ५ उद्देशा ६ के मूलपाठमें साधुको अप्रासुक अनेपणिक आहार देनेसे अल्प आयुका उभ होना लिखा है यह आयु, दीर्घ आयुकी अपेक्षा अल्प कही गई

है शुद्धभयप्रदणस्य निगोदकी आयु होनसे नहीं। अतः भगवती शतक ५ उद्देश ६ के मूलपाठका नाम लेकर साधुको अप्रासुक अनेपणिक आहार देनेसे निगोदकी आयु बन्ध बनाना अज्ञान है। साधुको अप्रासुक अनेपणिक आहार देनेसे भगवती शतक ५ उद्देश ६ के मूलपाठमें शुभ अल्प आयु बंध होना लिया है यह बात भगवती शतक आठ उद्देश ६ के टीकामें भी कही है। वह टीका यह है —

“शुभायुष्मन्तानिमित्तं चाप्रासुकादिदानम्याल्पं युक्ताफलप्रतिपादकसूत्रे प्राक् चर्चितम्”

अर्थात् साधुको अप्रासुक अनेपणिक आहार देनेसे शुभ अल्प आयुका बन्ध होना है यह पहले बतला दिया गया है। यहां टीकाकारने स्पष्ट लिया है कि साधुको अप्रासुक और अनेपणिक आहार देनेसे शुभ अल्प आयुका बन्ध होना है निगोदकी आयु पाना नहीं कहा है तथा भगवती शतक ५ उद्देश ६ के पाठकी टीकामें भी यही बात कही है वह टीका यह है —

“अथरहापेक्षिकी अल्पायुः क्ता प्राप्य यत्नं किल जितागमाभिमर्त्यमृतयो मुनयः प्रथमवयसं भोगितं बन्धनं मृतरष्ट्रा वृत्तारो भवन्ति नूनं मनेन भवान्तरं चि-
चित्तशुभं प्राणिवशादि चासन्नितम् अरन्त्यवा मुनिभ्यो दत्तं येनायं भोग्यं पृथपायु
मवृत्तवृत्तिः ।”

अर्थात् भगवती शतक ५ उद्देश ६ के मूलपाठमें मुनिको अप्रासुक अनेपणिक आहार देनेसे जो अल्प आयु प्राप्त होता कहा गया है वह दीर्घ आयुकी अपेक्षासे अल्प समझना चाहिये, क्योंकि जितागमसे सस्त्रुन बुद्धिवाले मुनि, किसी भोगी पुण्यको पहली अवस्थामें मग हुआ देस कर कहत हैं कि इसने जन्मान्तरमें प्राणिवध आदि अशुभ कर्मका अवश्य आचरण किया था अथवा मुनियोंका अकल्पनीय अन्नादि दिया था जि-
ससे भोगी होकर भी वह अल्पायु हुआ है।

यहां टीकाकारने मूलपाठका आशय बतलाते हुए दीर्घ आयुकी अपेक्षासे अल्प आयु पाना लिखा है निगोदकी आयु पाना नहीं कहा है इस लिये भगवती शतक ५ उद्देश ६ का नाम लेकर साधुको अप्रासुक और अनेपणिक आहार देने से निगोदकी आयु बताना मिथ्या है। भगवती शतक ५ उद्देश ६ का मूलपाठ यह है —

“कणहं भन्ते ! जीवा अप्पाउयत्ताणं कम्मं पक्खंति ?

गोयमा ! तीहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउयत्ताणं कम्मं पक्खंति त-

जहा—पाणेअड्वाइत्ता सुसवदित्ता तत्तारुव ममणावा मात्तणाय

अस्मात्पुण्यं अणोसणिज्जेणं असणं पाणं खाइमं साइमं पडिलाभित्ता
भवइ एवं खलु जीवा अप्पाउवत्ताए कम्मं पकरेंति”

(भ० अ० ५ उ० ६)

अथ —

हे भगवन् ! जाव, अत्प आयु वैसे बाधते हे ?

(उत्तर) हे गोतम ! तीन कारणोंसे जीवको अल्प आयुका बन्ध होता है जीवहिंसा करने से, झूठ बोलने से और मुनिको अप्राप्तक अनेपणिक आहारादि देनेसे ।

इस पाठमें प्राणातिपात, मृषावाद और मुनिको असूक्ष्मता आहार देनेसे अल्प आयुका बन्ध होना कहा है । यह अल्प आयु, क्षुब्धक भव ग्रहण रूप नहीं है किंतु दीर्घ आयुकी अपेक्षासे अल्प है यह पहले टीकाका प्रमाणके साथ लिख दिया गया है । यहा प्राणातिपात और मृषावाद भी सप्त प्रकारके नहीं लिये गये हैं किंतु मुनिको आहार देने के लिये जो आधाकर्मों आहार तर्क्याग किया जाता है उसमें जो प्राणातिपात होता है वह प्राणातिपात, और उस आधा कर्मों आहारको देनेके लिये जो मिथ्या भाषण किया जाता है वह मिथ्या भाषण, इन्हींका ग्रहण है सब प्राणातिपात और सप्त मृषावादका ग्रहण नहीं है । इसका सुलभासा ठाणाङ्ग सूत्रके पाठकी टीकामें किया है वह टीका यह है —

“तथाहि प्राणानतिपात्यानाकर्मदि करणतो मृतोक्त्वा यथा अहो साधो । स्वार्थं मिद्व मिद्व भक्तादि रूपनीय वो नञ्झा काट्योत्थादि”

अर्थात् प्राणियों का विनाशके द्वारा आधाकर्मों आहार तर्क्याग करके झूठ धोल कर साधुको दना “अर्थात् हे साधो ! यह अन्न हमने अपने लिये बनाया है यह आपका करपके योग्य है” इत्यादि मिथ्या धोल कर आधा कर्मों आहार साधुको दना, इस प्रकार जो झूठ गेला जाता है और आधा कर्मों आहार तर्क्याग करनेमें जो प्राणातिपात होता है उन्हीं प्राणातिपात और मृषावादसे शुभ अल्प आयुका बन्ध होना समझना चाहिये सप्त प्राणातिपात और मृषावादसे नहीं । अतः भगवती शतक ५ उद्देशा ६ के मूलपाठमें सभी प्राणातिपात और सभी मृषावादोंका ग्रहण करना एकान्त मिथ्या समझना चाहिये ।

यदि कोई कहे कि भगवती शतक ५ उद्देशा ६ के मूलपाठमें सामान्य प्राणातिपात और मिथ्या भाषणका फल अल्प आयुका बन्ध होना लिखा है

आ “ करनेमें जो जीवहिंसा होती है और उसे साधुको

“ है उन्हींसे अल्प आयुका बन्ध नहीं कहा है

? तो इसका उत्तर यह है कि भगवती शतक ५

पाठके निकटवर्ती पाठमें कहा है कि प्राणातिपात और मृषावादसे अशुभ दीर्घ आयुका वन्ध होता है । परन्तु एक ही कारणसे परस्पर विरुद्ध दो कार्य नहीं हो सकते इसलिये टीकाकारने इस पाठकी टीकामें इसका निर्णय स्पष्ट रूपसे कर दिया है कि आधाकर्मों आहार तैयार करनेमें जो जीवहिंसा होती है उस जीव हिंसासे और झूठ बोलकर जो साधुको आधाकर्मों आहार दिया जाता है उस मृषावादसे शुभ अल्प आयुका वन्ध होता है इनसे अतिरिक्त जो प्राणातिपात और मृषावाद है उनसे अशुभ दीर्घ आयुका वन्ध होता है अतः टीकाकारका किया हुआ निर्णयसे इस पाठमें सभी प्राणातिपात और सभी मृषावादोंका ग्रहण न होकर आधाकर्मों आहार तैयार करनेमें जो जीवहिंसा होती है उसीका ग्रहण होता है । वह टीका यह है —

“यो जीवो जिनसाधुगुणपञ्चपातितया तत्पूजार्थं पृथिव्यागारभेण स्वभाण्डा मत्प्योत्कर्षादिनाऽथाकर्मादिकरणेनच प्राणातिपातादिषु वर्तते तस्य वधादि विरति निरवगमननिमित्तायुःकापेक्षयेयमल्पायुष्कृता समप्रसेया । अथनैव निर्विशेषगत्या- त्सत्रस्य अल्पायुःकृत्वस्यच क्षुल्लकभवग्रहणरूपस्यापि प्राणातिपातादिहेतुतुल्यमानत्वा- दत्त कथमभिधीयते सविशेषण प्राणानिपातादिवतो जीवस्य आपेक्षिकी चाट्यायुःकृतेति ? अन्यते—अविशेषण त्वेऽपि सत्रस्य प्राणातिपातादिविशेषणमवश्य वाच्यम् । यत इतस्मृतीय- सूत्रे प्राणातिपातादितएव अशुभदीर्घायुष्कृता वक्ष्यति नहि सामान्यहेनौ कार्यावैषम्या युज्यते सर्वत्रानुवासे प्रसंगान् तथा “समणोवासण भन्ते । तद्धारुव ममण माहनवा अकासुण्ण असण ४ पडिल्लभमाणस्तकि कज्जइ ? उहुतरिया निज्जग वज्जइ अण्णतरे से पावज्जमे कज्जइ” इतिवक्ष्यमाण वचनान्वसीयते नैत्रय शुल्लकभवग्रहणरूपा अल्पायुष्कृता नहिस्व-पपाप बहुनिर्जरा निबन्धनम्यानुष्ठानस्य क्षुल्लकभवग्रहणनिमित्ततया नभाव्यते ।

अर्थ —

जो जीव, चैन साधुओंके गुणके पञ्चपातसे उनकी पूजा और सत्कार करने के लिये पृथिवी काय आदिका आरम्भ करके अपन पाप आदिको अथवा पूर्णक रस और चटा कर आधाकर्मों आहार तैयार करता है और आधाकर्मों आहार तैयार करके प्राणा- निपात करता है उस पुण्यकी, प्राणातिपात रहित निरवगम दानसे उत्पन्न होने वाली आयु की अपेक्षामें अल्प आयु बंधती है । यदि कोई कहे कि इस सूत्रमें प्राणातिपात और मिथ्या भाषणसे अल्प आयु बन्ध होता कहा है परन्तु यह नहीं कहा है कि अमुक प्राणातिपात या अमुक मिथ्याभाषणसे अल्प आयु बंधती है । तथा यह भी नहीं कहा है कि दीर्घ आयुकी अपेक्षामें अल्प आयु बंधती है परन्तु शुल्लक भव ग्रहण रूप अल्प आयु की फिर यह किस प्रकार मान लिया जाये कि आधाकर्मों आहार तैयार करनेमें जो

विपात होता है और मिथ्या भाषण करके जो साधुको आधाकर्मी आहार दिया जाता है उन्हींसे अल्प आयु का वन्ध होना है दूसरे प्राणातिपात और मिथ्या भाषणसे नहीं ?” तो इसका उत्तर यह है—यद्यपि इस सूत्रमें सामान्य रूपमें प्राणातिपात और मिथ्या भाषणसे अल्प आयु का वन्ध होना कहा है तथापि इनका विशेषण अग्रय कहना होगा अर्थात् आधाकर्मी आहार तैयार करनेमें जो प्राणातिपात होता है और झूठ बोलकर जो साधुको आधाकर्मी आहार दिया जाता है उन्हींसे अल्प आयु का वन्ध होता है यह कहना ही होगा क्योंकि इस सूत्रके तीसरे सूत्रमें कहा है कि “प्राणातिपात और मिथ्या भाषणसे अग्रय दीर्घ आयु का वन्ध होता है ।” एक ही कारणसे परस्पर विरुद्ध दो कार्य उत्पन्न हो यह समझ नहीं है क्योंकि ऐमा माननेपर सभी जगह अव्ययस्था हो जायगी तथा भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूलपाठमें इसी अत्यन्तनीय अन्नके दानसे अत्यन्त पाप और बहुत निर्जरा होना कहा है इससे ज्ञात होता है कि इस पाठमें कही हुई अल्पायु वृक्षता क्षुल्लकभय ग्रहण रूपा नहीं है क्योंकि जिससे अल्पतर पाप और बहुत निर्जरा होती है उस कार्यसे क्षुल्लकभय ग्रहण रूप अल्पायुवृक्षता होना समझ नहीं है। यह उक्त टीकाका अर्थ है ।

यहां टीकाकारने स्पष्ट लिखा है कि आधाकर्मी आहार तैयार करनेमें जो प्राणातिपात होता है और मुनिको झूठ बोलकर जो आधाकर्मी आहार दिया जाता है उन्हीं प्राणातिपात और मिथ्या भाषणसे अल्प आयु का वन्ध होता है सभी प्राणातिपात और मिथ्या भाषणसे नहीं तथा अल्प आयु भी दीर्घ आयुकी अपेक्षासे कही गई है क्षुल्लकभय ग्रहण रूप नहीं । अतः सभी प्राणातिपात और मिथ्या भाषणका इस पाठमें ग्रहण करना और अल्प आयुसे निर्गोदकी आयु बनाना तथा भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूलपाठमें अल्पतर पाप शब्दका पापका अभव्य अर्थ करना, यह सब एकान्त मिथ्या और मूल मत् तथा टीकामें निरुद्ध समझना चाहिये ।

(बोल ५ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविश्रमनकार भगवती शतक १८ उद्देशा १० का मूलपाठ लिखकर लिखत हैं कि “त अमध्य आहार साधुने दीया अतएव निर्जरा किम हावे” इत्यादि ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सत्र शतक १८ उद्देशा १० के मूलपाठमें उत्सर्गमार्गमें अनेपणिक आहार साधुको अमध्य कहा है कारण दशममें अमध्य नहीं कहा है अतएव सुयोगदाग

मृतके दूसरे श्रुतस्कन्धकी आठवी और नयी गाथामें आधाकर्मी आहार खानेवालेको एकान्त पापी कहनेका निषेध किया है । वे गाथाएँ टीकाके साथ लिखी जाती हैं—

“अहाकम्पाणि भुंजन्ति अण्णमण्णे सकम्मुणा
उवल्लित्तेति जाणिज्जा अणुवल्लित्तेति वाणुणो”
एएहिं दोहिं ठाणेहिं चवहारो न विज्जह
एणहिं दोहिं ठाणेहिं अणापारं तु जाणण”

(सुव० भु० २ गाथा ८-९)

टीका —

साधु च प्रधानकारणमाश्रित्य कर्माण्याधाकर्माणि तानिच वस्त्र भोजन वस्तुया-
दीन्युच्यन्ते । एतान्याधाकर्माणि ये भुञ्जते णैरुपयोग ये कुर्वन्ति अन्योऽन्य परस्पर तान्
स्वकीयेन कर्मणा उपलिप्तान् विजानीयादित्येव नोवदेत् तथा अनुपक्षितानितिवा नोव-
देत् । एतदुक्तं भवति—आधाकर्माऽपि श्रुतोपदेशेन शुद्धमिति कृत्वा सु जान कर्मणा
नोपलिप्यते तत्राधाकर्मोपभोगेनाश्रय कर्मबन्धो भवतीत्येव नोवदेत् । यथास्थितं
मौनं न्द्रागमद्वयस्यत्वेवं युज्यते वस्तुम्—

आधाकर्मोपभोगेन स्यात्कर्मत्रयं ध म्यान्तेति । यत् उक्तम्—“किंविच्छुद्धं फलस्य
मफलस्य वास्यादकृत्यमपि फलस्यम् । पिण्ड इत्या, वस्त्रं, पात्रं वा भेषजाद्यवा” नशा-
ऽन्यैरप्यभिहितम् “इत्थमेतद्विज्ञाऽग्रमथा देशकालमयान् प्रति । यस्यामकार्णं फार्णं
स्यात्कर्म फार्णञ्च वर्जयेत्” इत्यादि । गाथा ८

किमित्येदं याद्वाद् प्रतिपाद्यते इत्याह—आभ्या द्वाभ्या स्थानाभ्यामाश्रिताभ्या
मनयोर्वा स्थानयो रगणकर्मोपभोगेन कर्मबन्धभावाभासभूतयो र्णवहारो न विद्यते ।
तथाहि यद्यवश्यमाधाकर्मोपभोगेनैकान्तेन कर्मबन्धोऽभ्युपगम्येत एवचाहारभावेनापि
क्वचित्सुतागमनयो र्द्वय स्यात् । तथाहि क्षुत्पपीडितो नसम्यगीर्यार्थं शोधयेत् तत्रश्च
प्रज्ञान् प्राण्युपमर्दमपि कुर्यान् । मूर्च्छादि सद्भावतयाच देहपातेसत्यवश्यभावी घसादि
व्याधानोऽकालमरणेचाविरति ग्दीकृता भवत्यार्ज्यानापत्तौ चतिट्ठमं खरेते । आगमश्च
“सत्तथ सज्जं सज्जमाओ अपपागमेव रक्खेज्जा” इत्यादिनाऽपि तदुपभोगे कर्मवधाभाव
इति । तथाहि आधाकर्मण्यपि निष्पाद्यमाने पङ्गीवित्तायवच तद्वधेच प्रतीत कर्मवध
इत्यनयो स्थानयो र्नेकान्तेनाश्रयमाणयो र्मवहरण व्यग्रहणो न युज्यते तथाऽभ्यामेव
स्थानाभ्या समाश्रिताभ्या र्णवताचार विजानीयादिति स्थितम्”

अर्थ —

साधुके निमित्त जो प्रधानरूपसे कर्म किया जाता है उसे आधाकर्म कहते हैं । साधुके निमित्त वस्त्र, भोजन मकान आदि जो किये गये हैं वे सब आधाकर्म नहलते हैं । जो साधु इनका उपभोग करता है उसे एकान्न रूपासे कर्मसे उपलब्ध अथवा एकान्त रूपसे कर्मसे अनुपलब्ध न कहना चाहिये । इसका कारण यह है कि जो साधु शास्त्रोक्त रीतिसे आश्रमिकों का उपभोग करता है उसको कर्मबन्ध नहीं होता और जो शास्त्र विधिका उल्लंघन करके आहारके लोभसे आधाकर्मका उपयोग करता है उसको कर्मबन्ध होता है । अतः आधाकर्मके उपभोग करनेसे अग्रय कर्मबन्ध होता है या निलकुल कर्मबन्ध नहीं होना यह एकान्न रूपासे नहीं कहना चाहिये । इस विषयमें जैनाग्रामके तत्त्वज्ञाननेवाले पुरुषोंको यह कहना चाहिये कि आधाकर्मके उपभोगसे कथंचित् कर्मबन्ध होता है और कथंचित् नहीं भी होता है । पूर्वाचार्योंने कहा है कि पिण्ड, शय्या, वस्त्र, पात्र और भोजन आदि, शुद्ध और कल्पनीय होकर भी कदाचित् अशुद्ध और अस्वपनीय हो जाते हैं और अस्वपनीय होकर भी कदाचित् शुद्ध और कल्पनीय होते हैं । अन्य आचार्योंने भी कहा है कि—कोई ऐसी अवस्था आ जाती है जिसमें कार्य तो अकार्य और अकार्य ही कार्य हो जाता है । अतः हर एक दशमे आधाकर्म आहार खाना वर्जित नहीं हो सकता ।

यदि सभी समयमें आधाकर्म आहार खाना अनुचित माना जाय तो महान् अनर्थाका उद्भव हो सकता है क्योंकि क्षुधासे पीडित साधु, अच्छी तरहसे ईर्ष्यापथका परिशोधन नहीं कर सकता है और ईर्ष्यापथका यथावत् परिशोधन नहीं होने पर प्राणियोंका उपमद होना भी सम्भव है तथा क्षुधासे पीडित साधु यदि मूर्च्छित होकर गिर पड़े तो अग्रय उसे त्रम आदि प्राणियोंका विषाद हो सकता है । कदाचित् क्षुधा फटसे साधुका मरण हो जाय तो उसकी विरति भी नाशमें नहीं रह सकती । कदाचित् क्षुधा फटसे मारते हुए साधुको आर्तध्यान आ जाये तो उसकी तिर्यग्गति होती है अतः सभी दशमें आधा कर्म आहार खानेको वर्जित करना मित्या है । आगममें कहा है कि साधु को सर्वत्र समयकी रक्षा करनी चाहिये और समयसे भी अपनी रक्षा करनी चाहिये । यह आगम भी आधाकर्म आहारको कारणवश खाने पर कर्मबन्धका अभाव उल्लेख करता है यद्यपि आश्रमिकों आहारको तय्यार करनेमें छः कायक जीवोंका विषाद होता है और जीवोंका विषाद होनेसे कर्मबन्ध होना भी प्रसिद्ध है तथापि आधाकर्म आहार खाने से अग्रान्त रूपसे पाप उत्पन्न उचित नहीं है । इसी तरह सारे अनाचारोंके विषयमें समझना चाहिये । यह उसका गाथा और उनकी टीकाका भावार्थ है ।

इन गाथाओंमें आधाकर्मों आहार रानेगलेको एकान्तरूपसे कर्मोपलब्धि कहने का निषेध किया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि भगवन्तो शनक १८ उद्देशा १० में जो अनेपणिक आहार साधुके लिये अभक्ष्य कहा है वह उत्सर्ग मार्गमें कहा है कारण दशमें नहीं । वृहत्कल्प सूत्र में सद्गोप आहार को एकान्त अभक्ष्य नहीं कहा है । वह पाठ यह है —

“निर्गयेणवा गाहावश्कुला पिण्डवापपट्टियाए अणुपविष्टेणं
अण्णरे अचित्ते अनेसणिज्जे पाणभोयणे पट्टिगारहित्तए सिया ।
अत्थिया इत्थ केह सेहत्तराए अणुवट्ठावित्तए कप्पइ से तरस दाऊ वा
अणुपदाऊं वा अत्थिया इत्थ केह सेहत्तराए अणुवट्ठावित्तए सिया त णो
अप्पणा भुंजेज्जा णो अण्णेसिं अणुपदेज्जा एगंते बहुकासुए थडिले
पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्टवेयवेसिया”

(वृहत्कल्प)

इस पाठका भाव यह है कि भिक्षार्थ गये हुए साधुको यदि कोई वृद्ध अचित्त अनेपणिक आहार लाकर देन तो साधु वह अन्न अपने नवदीक्षित शिष्य यानी सामायक चगित्रगलेको रानेके लिये दे देवे यदि नवदीक्षित शिष्य न हो तो उस अन्नको स्वयं न राने और किसी दूसरे साधुको भी न दे किन्तु एकान्त स्थानमें पूजन और प्रति-
लेपन करके परठ देवे ।

इस पाठमें सद्गोप आहार नवदीक्षित शिष्यके राने योग्य कहा है अतः सद्गोप आहारको एकान्त अभक्ष्य कहना शास्त्र विरुद्ध है । जब कि सद्गोप आहार एकान्त अभक्ष्य नहीं है तब फिर सद्गोप आहार देने वाले भ्रातृको एकान्त पाप कैसे हो सकता है ? यह बुद्धिमानोंको सोचना चाहिये । जीतमलजीने भी आधाकर्म आहार नवदीक्षित शिष्यके राने योग्य कहा है । वृहत्कल्प सूत्रकी जोड़के चौथी ढालमें जीतमलजी ने यह लिखा है —

“इमहि वकोण उपरत लेपयो आधाकर्मोदि अचित्त सखो छै । नवदीक्षित तो तसुदीजे नहीं तर सादू पारिठणो कह्यो”

अतः आधाकर्मों आहारको एकान्त अभक्ष्य कहना मिथ्या है ।

(बोल छट्टा समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकारके मतानुयायी साधु, कारण पडने पर नित्य पिण्ड लेना क्षप-

नीय बनलाते हैं परन्तु कारण होने पर भी आधाकर्मों आहारको त्यागनेयोग्य कहते हैं प्रश्नोत्तर साधनरूप में जीतमलजीने लिखा है कि—

“साधुने कारण पड्या आधाकर्मों उद्देशिक न लेणो तो कारणे नित्य पिण्ड भोग-चगो कि नहीं । इति प्रश्न (५६)

(उत्तर) आधाकर्मों उद्देशिक तो वस्तुइ अशुद्ध छै अने नित्यपिण्ड वस्तु अशुद्ध नहीं ते भणी कारण पट्या दोष नहीं । कोई कहे एवो अनाचार छै ते कारणे किम सेवे ? तो अनाचार तो स्नान किया पिण कसो, सुगन्ध सुंघ्या, बसन, गले हैठना, वेश कापे, चूच, भजन, ए सर्व अनाचार छै पिण जितव्यवदाग्धी कारणे दोष न कह्यो ।’ (प्रश्नो० सा० अ०)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उद्दिष्ट भक्त और नित्य पिण्ड, इन दोनोंको शास्त्रमें एक समान दुर्गतिका कारण बताया है । उत्तराध्ययन सूत्रके बीसवें अन्ययनमें इस विषयमें यह गाया आई है —

“उद्देशियां कीयगहं नियोगं, नमुंचइ किंचि अनेसणिज्जं ।
अग्गीविवा सव्वभक्खो भवित्ता, ह्यो चुओ गच्छइ कहु पाव”
(उत्तरा० सू०)

अर्थ —

जो आहार साधुके लिये बनाया गया है, जो साधुके लिये खरीदा गया है तथा एक ही धनीका नित्य पिण्ड लेना, इन आहारोंको नहीं छोड़कर जो साधु अशुद्धी तरह सबभक्षी हो जाता है वह पाप कर्मका उपार्जन करता है और उसकी गति बुरी होती है ।

इस गाथामें उद्दिष्ट भक्त और नित्य पिण्ड इन दोनोंको दुर्गतिका कारण बतलाया है । इसलिये कारण पडने पर नित्य पिण्ड लेनेका स्थापन करना और उद्दिष्टका खण्डन करना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये । वास्तवमें उत्सर्ग मार्गमें दोनों ही वर्जित हैं परन्तु अवत्रादकी बात न्यायी है । एक ही धनीके आहारको प्रति दिन लेना नित्यपिण्ड कहलाता है परन्तु कई नामधारी साधु एक ही धनीके आहारको क्षेत्रमेद कायम करके प्रतिदिन बिना कारण ही लेते हैं और रास्तेमें साधु सेवाका अधिक माहात्म्य बता कर गृहस्थोंको अपने साथ लेकर विहार करते हैं । गन्तेमें प्रत्येक पड़ावोपर प्रतिदिन एक ही धनीका आहार लेकर खाते हैं यह सब कार्य साधुताका विनाशक और प्रत्यक्ष शास्त्रसे विरुद्ध है इस लिये ऐसे आचरण वाले साधुओंको अज्ञानी समझना चाहिये ।

(बोल ७ वां सप्ताह)

(इति अल्पपाप बहुनिर्जराधिकारः)

(अथ कपाटाधिकारः)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ४५६ पर लिखते हैं—

“कोई पाखण्डी, साधु नाम धरायने पोते हाथकी किम्बड़ जड़े उपाहे म
सूत्रना झूठा नाम लेईने किमाड जडवानी अने उपाहजानी मणहुन्ती थाप करे छै”

(भ० पृष्ठ ४५६)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

प्रथम तो भ्रमविध्वसनकारके मतानुयायी साधु ही कपाट खोलने और बन्द करने परहेज नहीं करते, वे अपने हाथसे लिङ्गीका कपाट खोलते हैं और बन्द करते हैं तथा इस कार्यको शास्त्रानुसृत्य करते हैं परन्तु यदि दूसरा कोई साधु ऐसा करे तो उसे वे बुरा बताते हैं यह इनकी अद्भूत लीला है। यदि ऊहो कि वे लिङ्गीके कपाट को खोलते हैं और बन्द करते हैं परन्तु द्वारके कपाटको नहीं खोलने और नहीं बन्द करते हैं तो यह उनका मिथ्याचार है कहीं भी शास्त्रमे ऐसा नहीं कहा है कि साधुको लिङ्गी का कपाट खोलना और बन्द करना चाहिये परन्तु द्वारका कपाट खोलना और बन्द करना नहीं चाहिये। अतः लिङ्गीके कपाटको खोलने और बन्द करनेको बुरा नहीं मान कर भी द्वार के कपाट को खोलने और बन्द करनेको बुरा बताना असान्मूलक है।

भिक्षुशरसायन पत्र ११८ पर जीतमञ्जरी लिखत है —

“पश्चात्तने वर्ग पूज्यजी सहर काकरोली सार

खेंदलोतारी पोलमें उनरिया तिग वार (१)

प्रत्यग्र वारी पोलरी जडी हुन्ती तिग वार

अपि भिक्षु रहिता थका एक दिवस अवधार (२)

वारी खोली वारणे दिशा जायवा दख

निछरिया भिक्षु निशा पूछे हेम सपल (३)

स्वामी वारी खोलन तणी नही काइ अटकाव

तन भिक्षु बोल्या तुरत प्रत्यग्र ते प्रस्ताव (४)

पूज कहे पूछे जनी शररो नही अटकाव

मटकाव हुवे जो पहने रहे खोला किण न्याय (५)

तथा कुमति विह्वल नामक ग्रन्थमें जीतमलजीने लिखा है—

“सम्बत् १८५९ सोमवर्षमें वज्रजी नावाजी आदि सात आर्यानि भीषणजी स्वामी साथे आय लूनी आगलकानी उपासरागी अज्ञालिधी गृहस्थ और वासधी कूची ल्यायो आर्या माहे उत्तारी जितरे स्वामीजी कने ऊभा । आर्या उपसरामे गया पठे स्वामीजी ठीकाने आया प वात नाथाजीरे मुहडा धी सुणी तिम लिखो । सम्बत् १८९४ चैत्र शुदी १५ वार सोम खेरवामे नाथाजी कने बैठा पूठने लिखियो ठै”

यहां पर जीतमलजीने साफ २ लिखा है कि भीषणजीने गृहस्थमे कूजी लाकर द्वारके फाटका ताला खोला था और सतीओंको अन्दर प्रवेश कराया था । तथा पूर्व लिखित दोहोमे सिडकीका कपाट खोल कर भीषणजीका बाहर जाना और हेमजी के पूठने पर उसे शास्त्रानुकूल धताना साफ साफ लिखा है । यदि द्वारका कपाट खोलनेमें दोष था तो भीषणजीने छनीके फाटका ताला खोल कर सतियोंको अन्दर कैसे प्रवेश कराया था ? तथा सिडकीका कपाट खोल कर वह रात्रिमे बाहर कैसे गये थे ? अतः द्वारके कपाटको खोलनेमे साधुताका विनाश मानना इतका अज्ञान और इनके स्वयं आचरणसे भी भी विरुद्ध है ।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविश्वसनकार भ्रमविश्वसन पृष्ठ ४५६ पर उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ४ के ३५ वीं गाथा लिख कर उसकी समालोचनामे लिखते हैं—

“अथ अठे इम कह्यो किमाण सहित रयानक मणकरीने पिण वाछणो नहीं तो जडवो किहाथकी ? (भ्र० पृ० ४५६)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

कपाट वाले मकानकी जन मनसे इच्छा भी बुरी है तब फिर उसमें उतरना तो और ज्यादा बुरा होगा फिर तेरह पन्थी माधु कपाट वाले मकानमे क्यों उतरते हैं ? इस कार्यसे उनकी साधुता कैसे रह सकती है ? जिसकी मनसे इच्छा रखना भी बुरा है उस कार्यको शरीरसे करना तो और अधिक हानिकर है परन्तु तेरहपन्थी सब कपाट वाले मकानमे उतरते हैं, उसका परहेज नहीं रखते और कहते हैं कि कपाट सहित मकान की माधुको मनसे भी इच्छा नहीं रखनी चाहिये । इस प्रकार जो अपने कथनसे ही विपरीत आचरण करता है उसका सिद्धान्त कहातक सत्य है यह हर एक बुद्धिमान जीव

जान सकत है । उत्तगाध्ययन मृत्तरी गाथा जो जीमलजीन लिगी है उमका अभिप्राय वह गाथा लिए कर बनाया जाया है । वह गाथा यह है —

मनोहर चित्तरं मल्लभूषण चासिधं

सकवाहं पादुल्लोचं मनसावि न पत्थए”

इमक आगेकी गाथा यह है—

“इन्द्रियाणिउ भिक्खुस्म तारिसमिउवस्सण

डुक्काहं निवारेंउं कामरागविवड्ढणे”

(उत्तगाध्ययन मध्ययन ५ गाथा ३५ । ३६)

अर्थ —

मनोहर, चित्राने युक्त, माल्य धार धूमने चामिन, कपाटयुक्त, और दन्त धधकी चान से दब दुण मयानकी साधु मनसे भी चाहवा नहीं करे ।

क्योंकि ऐसे मकानमें रहने पर साधुकी इन्द्रिया जब चञ्चल होकर अपने अपने विषयों में प्रवृत्त होती है तब उनका निरोध करना कठिन हो जाता है क्योंकि पूर्वोक्त प्रकारका मकान काम रागने बनाने वाला होता है ।

इस गाथाभोमे, साधुको अपनी इन्द्रियोंका निग्रह करनेके लिये मनोहर, चित्र युक्त, सुशामित सकपाट, और दन्त चादनी वाले मकानमें रहना वर्जित किया है कपाट खोलने और बन्द करनेके भयसे रहना वर्जित नहीं किया है । अगली गाथामें साफ साफ लिखा है कि “मनोहर, चित्रयुक्त, माध और धूपसे सुवासित मकानमें रहना, काम राग को बढ़ाने वाला होता है इसलिये साधुको उक्त मकानमें नहीं रहना चाहिये” यदि कपाट खोलनेमें दीप होता तो जीमे शास्त्रकारने यह कहा है कि “ऐसे मकानमें रहने पर काम रागकी वृद्धि होती है” उसी तरह यह भी कह दते कि “ऐसे मकानमें रहने पर कपाट खोलना और बन्द करना पड़ता है इसलिये साधुको उक्त मकान में नहीं रहना चाहिये” परन्तु शास्त्रकारने यह भी कह कर काम वृद्धिके भयसे उक्त मकानमें रहना वर्जित किया है इसलिये उक्त गाथाका नाम लेकर कपाट खोलने और बन्द करने का निषेध करना अज्ञानमूलक समझना चाहिये । आजकल व्यवहारमें भी यही दृष्टा जाता है कि कपाटवाले मकानमें तो साधु जगत है परन्तु अश्लील चित्र वाले माल्य और धूप से सुशामित मकानमें नहीं उतरते अतः कपाट खोलने और बन्द करनेके भयसे कपाट वाले मकानमें उतरनेका निषेध करना मिथ्या समझना चाहिये ।

(बोल २)

गो पीहेण य नावपंगुणे दारं सुन्नभरस्स संजण
पुट्ठेण उदाहरे वयं णसमुच्छे णो संयरे तणं”

(सुय० गाथा १२।१३)

अर्थ—

ब्रह्मसे अकेला विहार करने वाला भावसे राग द्वेष रहित साधु, कायोत्तमादिक भ्रमण ही कर तथा बैठना, सोना, उठना आदि भी अकेला करे धमध्यानसे युक्त होकर तत्पर्यामें अने पराक्रमका पूर्ण उपयोग करे किसीके पूजने पर विचार कर वाक्य बोले अपने मनको गुप्त रखे, किसी कारणवश यदि शून्य गृहमें रहना पड़े तो उसका कपाट न बन्द करे और न लोको उस मकानके कच्चाको न बुझावे, तथा सोनेके लिये गृह आदिकी शय्या न बिठावे। यह इन गाथाभाषा का अर्थ है।

यहां “गोचर” यह लिपि कर अकेला विहार करनेवाले साधुके विषयमें गाथोक्त सभी नियम कहे गये हैं स्थविर कल्पीके लिये उक्त नियमोंका वर्णन नहीं है अतः इस गाथाका नाम लेकर स्थविर कल्पीको कपाट खोलने और बन्द करनेका निषेध करना अज्ञान है। इस गाथामें मकानका कच्चा निकालना, तृणादिकी शय्या बिठाना इत्यादि बातें भी निषेध की गयी हैं फिर जीतमलजीके सम्प्रदायवाले साधु अपने निजामस्थान के कच्चेको क्यों निकालते हैं तथा शयनके लिये तृणादिकी शय्या क्यों बिठाते हैं ? यदि कहो कि यह सब नियम जिनकल्पीका है स्थविरकल्पीका नहीं तो उसी तरह यह भी समझो कि कपाट बन्द करने और खोलने का निषेध जिनकल्पीके लिये है स्थविरकल्पी के लिये नहीं। अतः इस गाथाका नाम लेकर स्थविर कल्पीको कपाट खोलने और बन्द करनेका निषेध करना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये। यदि कोई दुराग्रही उक्त गाथाके तीन चरणोंको स्थविर कल्पीके लिये और एक चरणको जिनकल्पीके लिये कहा जाता बतावे तो उसे कहना चाहिये कि ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि यह बात प्रारम्भ शैलीसे विरुद्ध है। उक्त गाथाके आरम्भ और समाप्तिमें जिनकल्पीका ही नियम बताया गया है फिर जिना किसी प्रकारकी सूचना दिये मध्यमें स्थविर कल्पीका नियम नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात यह है कि स्थविर कल्पीमें साध्वी भी शामिल हैं फिर तो उन्हें भी कपाट नहीं बन्द करना चाहिये। यदि साध्वियोंको कपाट बन्द करने में पाप नहीं होता तो फिर साधुओंको क्यों होगा ? अतः जिनकल्पीके लिये कही हुई गाथाका नाम लेकर स्थविर कल्पीको कपाट बन्द करने और खोलने का निषेध करना जनताकी आराममें प्रत्यक्ष धूल होकर है।

(बोल ४)

(प्रेरक)

आत्ममे यदि कहीं साधुको कपाट खोलने और बन्द करनेका विधान किया हो तो उसे बतलाइये ।

(प्ररूपक)

कपाट खोलने और बन्द करनेका विधान अनेको जगह पर मिलता है । कई यहा भी लिखे जाते हैं —

“साणो पाचार पिहियं अप्पणा नाव पंगुरे

क्काडं नो पणुलिज्जा उगगहंसि अजाइया,,

(दश वैकालिक अ० ५ उ० १ गाथा १८)

अलमके काण्डकी दहीसे या पद आदिसे उके हुए मकानको गृहस्वामीकी आत्माके बिना साधु न खोले तथा धनीकी आज्ञाके बिना कपाट भी न खोले परन्तु गाढ कारण होनेपर गृहस्वामी की आत्मा ऐकर खोलनेमें कोई दोष नहीं है ।

इस गाथामें गृहस्वामीकी आज्ञा लेकर विधिपूर्वक कपाट खोलनेका विधान किया गया है अतः अपने निवास स्थानके कपाटको विधिपूर्वक खोलने और बन्द करनेमें कोई दोष नहीं है । आचार्यग सूरमें गृहस्थका द्वार खोलनेका विधान किया गया है । वह पाठ यह है—

“से भिक्खूवा भिक्खूणीवा गाहावहकुलस्स दुवारवाहं
कंठकधुं दियाए परिपिहियं पेहाए तेसिं पुव्वामेव उगगहं अणुण्ण-
विय अपडिलेहिय अप्पमज्जिय णो अवगुणिज्जवा पविसेज्जवा णि-
क्खमेज्जवा तेसि पुव्वामेव अणुण्णविय पडिलेहिय २ पमज्जिय तओ-
संजयामेव अवगुणेज्जवा पविसेज्जवा णिक्खमेज्जवा”

अर्थ —

(आचाराग सूत्र)

भिक्षाके निमित्त गया हुआ साधु, गृहस्थके मकानको कंठककी शाखासे उका हुआ देख कर गृहस्थकी आत्माके बिना और बिना देखे तथा रजोहरणादिसे प्रमार्जन किये बिना उसका द्वार खोलकर अन्दर न प्रवेश करे और न निकडे क्योंकि इसमें गृहस्वामीका साधुपर क्रोधित होना संभव है परन्तु गृहस्वामीकी आज्ञा लेकर देव माल काके और रजोहरणादिके द्वारा प्रमार्जन करके द्वार खोलकर प्रवेश करनेमें कोई दोष नहीं है ।

इस पाठमें गृहस्वामीकी आज्ञा लेकर प्रमार्जन आदि करके गृहस्थके मकानका द्वार खोलनेका विधान किया गया है अतः कपाट खोलनेसे एकान्तरूपसे सयमकी वि-

राधना बताना अज्ञान है । कारण होनेपर साधु जनकि गृहस्थके द्वारको भी खोलकर समयका विराधक नहीं होता तब फिर अपने स्थानके द्वागको विधिपूर्वक खोलने और बन्द करनेसे वह संयमका विगमक कैसे हो सकता है ? अतः कपाट खोलने और बन्द करनेसे साधुना का विनाश कठना अज्ञान मूलक है ।

(बोल ५)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वसनकार भ्रम० ४६१ पर आचाराग सूत्रका मूलपाठ लिपिकर उसकी समालोचना करते हुए लिखने हैं —

“गतिने विषे अथवा त्रिकालने विषे आवावा पीडाता किमाड खोलना पडे तो खुलो देखि माय तरकर आयेने उताया न बताया अवगुण उपजता कहा । सर्व दोषामे प्रथम दोष किमाड खोलनानो फहो तिम कारणयी साधुने कीमाड खोलनो पडे एहवो धानके रहिवो नहीं”

(भ्र ५० ४६१)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

आचाराग सूत्रके मूलपाठमें साधु और साध्वी दोनोंको गृहस्थके संसर्गवाले मकान में रहनेका निषेध किया है । वह निषेध यदि कपाट खोलने और बन्द करनेके भयसे किया गया हो तो फिर साध्वीको भी अपने निवास स्थानका कपाट नहीं बन्द करना चाहिये । यदि साध्वीको कपाट खोलने और बन्द करनेका निषेध नहीं है तो उसी तरह साधुको भी कपाट बन्द करने और खोलनेका निषेध नहीं है । वास्तवमें आचाराग सूत्रके मूलपाठमें कपाट खोलने और बन्द करनेके भयसे गृहस्थके संसर्ग वाले मकानमें साधुको उतरना वर्जित नहीं किया है किन्तु उस मकानका द्वार खुला हुआ देख कर यदि उसमें चोर प्रवेश करे तो उस चोरको बताने या न बताने दोनों ही हालतमें साधुको दोष लगता है उस दोषकी निवृत्तिके लिये साधु और साध्वीको गृहस्थके संसर्ग वाले मकानमें रहना वर्जित किया है । वह पाठ यह है—

“सेभिकरूवा भिखूणीवा उच्चारपासवणेण उवाहिज्ज-

माणे राओवा धियालेवा गाहावड कुलस्स दुवारचाहं अवगुणिज्जा तेणेय तस्संविचारी अणुप्पविसिज्जा । तस्सभिकवृत्त णो कप्पइ एअं वदत्तए अय तेणो पविसइवा णोचापविसइ उवह्मियइवा णोवा० आवइवा० पयइवा नोवा० तेन हडं अन्नेन हडं अय इत्थमकासी तं

तवस्सिं भिक्खुं अत्तेणं तेणंति संकड अहमिक्खूण पव्वोवदिट्ठा
जाव णो चेत्तेज्जा ।

अर्थ —

साधु या साध्वी गृहस्थके संसर्गवाले मकानमें रहते हुए एषु नीति या बड़ी नीतिसे
पोडित होकर बाहर जाके लिये यदि उस मकानका द्वार खोले और कपाट खोलनेकी प्रतीक्षामें
बैठा हुआ चोर यदि उस मकानमें प्रवेश कर जाय तो साधुको यह कहना नहीं कल्पता है कि यह
चोर घाके अन्दर प्रवेश करता है या नहीं प्रवेश करता है, छिपता है या नहीं छिपता है, मोलता है
या नहीं मोलता है, इसने यह चीज चुराई है या नहीं चुराई है, यह चोर है या चोरका परिचारक है,
यह हथियार लिया हुआ है या नहीं लिया है, यह मार डालेगा, इसने यह कार्य किया है इत्यादि।
जैसा कहनेपर चोरपर आपत्ति आयेगी अथवा क्रोधित होकर वह चोर साधुको ही मार सकता है
और महा कहनेपर कटाक्षित साधुको ही वह गृहस्थ चोर समझ लेने तो इसमें महान् अनश हो
सकता है। अतः साधु और साध्वीको गृहस्थके संसर्ग वाले मकानमें नहीं रहना चाहिये ।

इस पाठमें गृहस्थके मकानमें चोरके प्रवेश करनेपर होने वाले अनर्थके भयसे
साधु और साध्वीको गृहस्थके संसर्ग वाले मकानमें रहना वर्जित किया है कपाट खोलने
और वन्द करनेके भयसे नहीं अतः इस पाठका नाम लेकर साधुको अपने निवास स्थान
के कपाटको खोलने और वन्द करनेका निषेध करना अज्ञान मूलक समझना चाहिये ।

बोल ६ ट्टा समाप्त

(प्रेरक)

भ्रम विचंसककारं घृहत्करूपं सूत्रं मूलपाठं लिख्यन्तं उसकी समालोचना करते
हुए लिखते हैं —

“साध्वीने उघारे वारने रहणो नहीं क्किमाड न हवे तो चिलमिली बाधीने रहिणो
पिण उघाड वागणे रहिवो न कल्पे तिणगे ए परमार्थ शीलादिक राखवा निमित्ते कीमाड
जडणो पिण शीलादिक कारण विना जडनो उघाडनो नहीं । अने साधुने तो उघारे द्वारे
होज रहियो कल्पे इमि फणो”

(भ्र० पृ० ४६०)

इसका क्या समाधान ?

(प्रत्युपक्रम)

घृहत्करूपसूत्रका मूलपाठ लिखकर इसका समाधान किया जाता है । वह पाठ
यह है —

“नो कप्पइ निगंथीणं अवंगुयडुवारए उवस्सए वत्थए एगं
पत्थार मालोकिचा एगं पत्थार वाहिंकिचा ओहाडिय चिलमिलिया-

गंसि एवहणं कप्पह वत्थए कप्पह निगंथाणं अचंगुय दुवारए उवस्सए वत्थए ।

(बृहत्कल्प सूत्र)

अर्थ —

खले द्वार वाले मकानमें साध्वीका रहना नहीं कल्पता है परन्तु स्थानाभाजक कारण यदि खुले द्वार वाले उपाध्यमें साध्वीको रहना पड़े तो बाहर और भीतर घटाई आदिसे दो पदें बाधकर साध्वी उसमें रहे । साध्वीको खुले द्वार वाले मकानमें रहना कल्पता है ।

इस पाठमें कहा है कि “खुले द्वार वाले मकानमें साध्वीको रहना कल्पता है” इसका तात्पर्य यह नहीं है कि खुले द्वार वाले मकानमें ही साध्वी रहे, जिसका द्वार बन्द किया जा सके उस मकानमें न रहे क्योंकि इसी बृहत्कल्प सूत्रमें यह पाठ आया है —

“नो कप्पह निगंथोणं अह आगमणगिहंसिवा, वियडगिहंसिवा, वसिमूलंसिवा, रुक्खमूलंसिवा, अभावगासियंसिवा, वत्थए । कप्पह निगंथाणं अह आगमणगिहंसिवा, वियडगिहंसिवा, वंसिमूलंसिवा रुक्खमूलंसिवा, अभावगासियंसिवा वत्थए ।

अर्थ —

जहां पथिक गंग आकर उतरते हैं, तथा खुले मकानमें, वासके वृक्षके नीचे, दूसरे किसी वृक्षके नीचे, उठ खुले ओर कुछ ठके मकानमें, साध्वीको रहना नहीं कल्पता है, परन्तु साध्वीको रहना कल्पता है ।

इस पाठमें जहां पथिक लोग उतरते हैं, तथा वासके नीचे, वृक्षके नीचे, कुछ खुले ओर कुछ ठके मकानमें साध्वीको रहना कल्पनीय कहा है इसका आशय जैसे यह नहीं है कि “जहां पथिक लोग उतरते हैं और वासके नीचे, वृक्षके नीचे और कुछ ठके ओर कुछ खुले मकानमें ही साध्वी रहे अन्यत्र न रहे” उसी तरह पूर्ण पाठका भी यह आशय नहीं है कि खुले द्वार वाले मकानमें ही साध्वी रहे अन्यत्र न रहे । अतः बृहत्कल्प सूत्रका नाम लेकर खुले किण्डा वाले मकानमें ही साध्वीको रहनेका कल्प घटाना मिथ्या है ।

यदि कोई दुरामही पूर्ण पाठका यही आशय बताए कि “साध्वीको खुले द्वार वाले मकानमें ही रहना कल्पता है वन्द्व द्वार वाले मकानमें रहना नहीं कल्पता” तो उसके हिसाबसे दूसरे पाठका भी यही आशय होना चाहिये कि “जहां पथिक लोग आकर उतरते हैं और वासके नीचे वृक्षके नीचे तथा कुछ खुले और कुछ ठके मकानमें ही साध्वीको रहना चाहिये अन्यत्र नहीं रहना चाहिये” फिर वे लोग, जहां पथिक आकर नहीं उतरते हैं ऐसे मकानमें क्यों रहते हैं ? तथा वासके नीचे और वृक्षके नीचे

ढके और कुछ खुले मकानमे ही वे क्यों नहीं रहते ? अन्धत्र क्यों रहते हैं ? तथा माधु को अटनीमे, विकट दशमे पिचरना स्तपनीय कहा है फिर तेरह पन्थी साधु, अटनीमे और विकट देशमे ही सदा क्यों नहीं विचरते हैं वे सामादिकोमे क्यों आते हैं ? यदि फहो कि यह घात एकान्त नहीं है, इसलिये माधु यदि अटनी और विकट देशोसे अतिरिक्त स्थानमे पिचरे तो भी कोई क्षति नहीं है तो उसी तरह सरल बुद्धिमे यह भी समझो कि खुले द्वार वाले मकानमे रहना साधुके लिये एकान्तरूपसे नहीं कहा है आनन्द वन्द द्वारवाले मकानमे रहे तो भी कोई क्षति नहीं है वास्तवमे साध्वीकी अपेक्षोसे साधुमे विशेषता बतलाई गई है कि साध्वो खुले मकानमे नहीं रह सकती है परन्तु साधु रह सकता है । इसका भाव यही है कि साध्वो तो एकमात्र वन्द द्वार वाले मकान मे ही उतरे ओर साधु वन्द द्वार वाले और खुले द्वार वाले दोनों ही प्रकारके मकान मे अपनी परिस्थितिक अनुसार उतर सकता है । अतः इस पाठका नाम लेकर साधुको कपाट बन्द करने और खोलनेका निषेध करना अज्ञान समझना चाहिये ।

कारण दशमे साधुको कपाट खोलने और वन्द करनेका विधान बृहत्कल्प सूत्र के चौदहवें और पन्द्रहवें सूत्रके भाष्यमे भी किया है वह यहा लिखा जाता है ।

“आह किन्तुकारणं येन द्वारं पिधीयते—

पडिणीय तेण सावय उब्भामग गोण साण सुणगादी

सोयं दुरद्वियासं दीहा पक्खी च सागरिये,, (२२६)

उद्घाटिते द्वारे पत्यनीक, प्रविश्य आहननमपद्रावण वा कुर्व्यात् । स्तेना शरीर-स्तेना वा प्रविशेयु एव श्यापदा, सिंह व्याघ्रादय एङ्गामका पारदारिका गोवलीवर्दा श्यान प्राया तन एतेवा प्रविशेयु अनात्मवश क्षिप्तचित्तादि द्वारेऽपिहिते सति निर्गच्छेत् । शीत दुरधिसहं हिमकणानुसक्त निपतेत् दीर्घा वा सर्पा पक्षिणोवा काक फोत प्रभृतय प्रविशेयु सागारिकोवा कश्चिन् प्रतिश्रयमुद्घाटद्वार दृष्ट्वा प्रविश्य शयीत वा विश्रामवा गृहीयान्”

“एको कम्मि उठाणे चतुरो मासा हवति उग्घाया

अणोऽणोय दोसा विराहणा सयमाऽऽयाए,, (२२७)

आरमस्थगयना मातरोत्ता एकैश्चस्मिन् प्रत्यनीकप्रवेशादौ स्थाने चत्वारो मासः, उद्घातना प्रायश्चित्तं भवति । आजादयश्चात्र दोषा विराधनाच्च सयमात्मनिषया भावनीया गुरुषु पन्नागे मासा उद्घाता इति नवेव नद्वाहुरय मगी कृत्य द्रष्टव्यम् अतोऽप्यवन्नाहं अरि सावय पचत्थिसु गुरुणा सेसेसु होति चउलहुगा

